अनुक्रमणिका

शान्ति के नूतन क्षितिज

अमरीकी क्रान्ति के गूंजते हुए शब्द और नारे, विचार तथा आदर्श उन सभी लोगों के लिए जबर्दस्त भावात्मक महत्व रखते हैं, जो स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

संसार के उन सभी भागों में, जहाँ लोग अत्याचार से पीड़ित हैं, अथवा विदेशी शासन के अधीन हैं या सामंती बंधनों में फँसे हुए हैं और जो स्वतंत्रता के लिए सोचते, षड्यंत्र रचते तथा संघर्ष करते हैं, वे सभी उन्हीं शाश्वत सिद्धान्तों के नाम पर ऐसा कर रहे हैं, जिनकी प्राप्ति के लिए आपकी क्रान्ति हुई थी। संसार के उन भागों में आजकल अमरीकी क्रान्ति के विचार अन्य सभी शक्तियों से अधिक विस्फोटक हैं तथा संसार के रूप को बदलने की क्षमता की दृष्टि से भी वे बी-५२ अथवा अणुबमों से कहीं अधिक विस्फोटक हैं।

ऊ नू- बर्मा के प्रधान मंत्री
स्वतंत्रता भवन,
फिलाडेलफिया, ३-७-१९५५.

आमुख

चार वर्ष पूर्व, जब मैं भारत में अपने देश का राजदूत था तभी मैंने इस पुस्तक को लिखने की बात सोची। मैं इस बात से चिन्तित था कि संसार के जिन लोगों को हमारा मित्र होना चाहिए था, उनसे हम दूर हटते जा रहे थे।

हमारी युद्धोत्तर नीतियों की उत्साहवर्धक सफलताओं और उनके निर्माताओं के प्रति मेरे स्थायी सम्मान और भावना के बावजूद, कुछ ऐसी बातें थीं जो यह प्रकट करती थीं कि जिन बातों पर हम जोर दे रहे हैं, उनमें कहीं कोई कमी है। मैं यह जानना चाहता था कि क्या मैं संसार के प्रयत्नशील ढाई अरब लोगों के लिए उन्नति का कुछ अधिक प्रभावपूर्ण मार्ग सुझा सकता हूँ।

तभी से मैंने लिखना प्रारम्भ कर दिया। बीच में कुछ समय के लिए छोड़ भी दिया था, परन्तु फिर चालू कर दिया। मैं जानता था कि जिन नये नाटकीय तत्वों से राष्ट्र और राजनीतिज्ञ संघर्ष कर रहे हैं, सरल भाषा में उनकी व्याख्या करना बड़ा ही कठिन कार्य है।

गत वर्ष में विश्व की स्थिति में मौलिक परिवर्तन हुआ है। १९५५ में जनेवा का शीर्षस्थ सम्मेलन, जिसके लिए विन्स्टन चर्चिल ने एक लम्बे अर्से से वकालत की थी और जिसके लिए सेनेट की परराष्ट्र समिति के अध्यक्ष वाल्टर जार्ज ने प्रभावशाली ढंग से जोर दिया था, हो चुका था। सोवियत चालों में जबर्दस्त परिवर्तनों और सम्मेलन में राष्ट्रपति आइसनहावर के सच्चे प्रयत्नों ने समस्याओं तथा अवसरों का एक नया क्षेत्र प्रशस्त कर दिया है।

यह मानना कि युद्ध के बादल रातों-रात गायब हो गये हैं, वस्तुतः एक असावधानी की बात होगी। फिर भी मुझे विश्वास है कि संसार के सम्बन्धों में हमें अनुपम परिवर्तन दिखायी पड़ सकता है। स्तालिनवादी आक्रमण की जिन नीतियों के कारण शीत-युद्ध का सूत्रपात हुआ, उनमें परिवर्तन से न सही, रुकावट के द्वारा ही सोवियत नेता हाल ही में जानबूझकर संसार के क्रम को बदलने का प्रयास करते जान पड़ रहे हैं। इससे तो यही जान पड़ता है मानो स्तालिन के अधीन काम करने वाले व्यक्ति उस क्षण की प्रतीक्षा में थे, जब वे उसकी प्रायः घातक लगने वाली भूलों को सुधार सकते थे।

रूस की यह नयी कूटनीति संभव है और भी अधिक क्रान्तिकारी और भयानक सिद्ध हो जिसकी स्तालिन ने कल्पना भी न की थी। जो अमरीकी नीतियां एक वर्ष पूर्व केवल संकीर्ण और अपर्याप्त मालूम होती थीं, आज वे अत्यन्त असामयिक हो गयी हैं।

यदि वास्तविक युद्ध का भय कम हो जाय तो ध्यान केवल क्रैमलिन और साम्यवाद को सीमित करने पर ही केन्द्रित नहीं होगा, बल्कि विश्व के शेप भागों में रचनात्मक और सार्थक स्वतंत्रता की स्थापना के क्रमिक एवं विधेयात्मक कार्यों पर भी केन्द्रित होगा। हमें उन समस्याओं को, यानी संसार की क्रियाशील क्रान्तिकारी शक्तियों को समझना चाहिए जो सर्वत्र ऊपर उभर आयी हैं। संक्षेप में, हमें शान्ति की नयी दिशाओं को समझ लेना चाहिए।

इसका अर्थ यह है कि हममें से अधिकांश को एक नयी पार्श्वभूमि के लिए रास्ता निकालना होगा। मैंने पिछली सदियों में अपनी पत्नी के साथ गोल्ड-कोस्ट स्थित आक्रा से पश्चिम, मध्य तथा पूर्वी अफ्रीका होते हुए पाकिस्तान, भारत, वर्मा तक और अंत में लंदन होकर वापस अपने देश तक की तीन महीने में ३५,००० मील की यात्रा की। तीनों महाद्वीपों की पार्श्वभूमि से यही जोरदार ललकार आ रही थी कि गोरे लोगो, भूरे लोगो, काले लोगो, एशियावासियो, अफ्रिकावासियो, योरोप तथा अमरीकावासियो, अब कार्य करो। अब झमेलों से ऊपर उठकर सक्रियरूप से मिलकर कार्य करो, जिससे कि यह नया अवसर हाथ से न निकल जाये, जिससे कि चीन और हिन्दचीन का दुःखद पतन एक और बड़ी दुखान्त घटना का नमूना न बन जाय। अभी कार्य करो, क्योंकि इन आने वाले दस वर्षों में सृजनात्मक विचार, निःस्वार्थ सेवा और शान्तिपूर्ण कार्य वही स्थिति पैदा कर सकते हैं जो बाद में किसी तरह की गोलाबारी, बमबाजी तथा रक्तपात से कभी पैदा नहीं हो सकती।

क्या अमरीका इस बढ़ती हुई चुनौती का सामना कर सकेगा? क्या हम एक राष्ट्र के रूप में अनेक क्रान्तियों के इस विश्व को समझ सकेंगे और ठीक समय पर निर्णायक ढंग से कार्य कर सकेंगे? मैं विश्वास करता हूँ कि हम ऐसा कर सकेंगे।

सरकारी नौकरी और अपने व्यापारिक जीवन के दौरान में मैंने अपने देश का कोना-कोना देख लिया है। एक राज्य के गवर्नर के रूप में मैं कनेक्टीकट के अपने मित्रों तथा पड़ोसियों की आशाओं, आशंकाओं और पक्षपातपूर्ण भावनाओं के निकट सम्पर्क में रह चुका हूँ।

मई, १९५३ में भारत से लौटने के वाद मैंने संयुक्त राज्य में इस छोर से उस छोर तक पचास हजार मील से अधिक की यात्रा की और मैंने लगभग ३५० अवसरों पर व्यापारियों, किसानों, मजदूरों, दूकानदारों, गृहिणियों तथा विद्यार्थियों के वीच भाषण किये। सर्वत्र मेरा विषय एक ही रहा– संसार की समकालीन वास्तविकताओं का सामना कर सकने योग्य द्विपक्षी परराष्ट्र नीति की अत्यन्त आवश्यकता। अमरीकी जनमत के साथ इन तमाम सम्पर्कों से अनेक निष्कर्ष स्पष्टतः निकले हैं।

पहला–पेशेवर लोगों में आश्चर्यजनक मतैक्य है, चाहे वे विश्वविद्यालयों में हों या सरकार में। विश्व की स्थिति के उन महत्वपूर्ण विस्तारों से सभी परिचित हैं जो किसी प्रकार मुख्य समाचार वनने से रह जाते हैं। वहुत-से लोग इस वात से चिन्तित हैं कि अमरीका का वर्तमान प्रत्युत्तर न तो पर्याप्त है और न पर्याप्त रूप में विधेयात्मक है। वे संकट के क्रान्तिकारी रूप को भी समझते हैं।

दूसरा–अमरीकी लोगों में अत्यधिक सद्भावना तथा जन्मजात समझदारी है। वे सभी समझते हैं कि केवल साम्यवाद-विरोधी निषेधात्मक नीति अपर्याप्त है। प्रायः मुझे विश्वास हुआ है कि विश्व के मामलों में अमरीका का नागरिक कल्पना, समझदारी तथा सहिष्णुता में अपनी सरकार से आगे है। संसार के विषय में अमरीकावासियों की रूढ़िगत जिज्ञासा और अन्य राष्ट्रों की महत्वाकांक्षा के प्रति ऐतिहासिक सहानुभूति में कभी कमी नहीं हुई।

तीसरा–पेशेवर लोगों के विचारों तथा जनता तक पहुँचने वाले समाचारों के वीच एक भयानक खाई है। उन दोनों वर्गों के वीच वाले राजनीतिज्ञों को मैंने प्रायः यह कहते हुए पाया है, "अनेक वातें, जो हम कहते और करते हैं, उनके वारे में मुझे भी शंका है, परन्तु जनमत इससे भिन्न कुछ भी स्वीकार नहीं करेगा।" मैंने सामान्य नागरिकों को प्रायः यह कहते सुना है, "मैं कितना भी प्रयत्न करूँ, अपनी नीति के कुछ पहलुओं पर मुझे असंतोष हुए विना नहीं रह सकता, किन्तु हमारे नेता उसमें ही वहुत प्रसन्न प्रतीत होते हैं।"

यह खाई क्यों नहीं पाटी गयी ?

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रश्न का स्पष्टीकरण अधिकांश रूप से इस तथ्य पर निर्भर करता है कि हमारे वहुत से राजनीतिज्ञ अमरीकी लोगों का वहुत कम मूल्यांकन कर रहे हैं। उनमें से वहुत से लोग, जो हमारी,

स्थिति को बदलने वाली विश्वक्रान्ति को समझते हैं, यह विश्वास करते हैं कि इसको अच्छी तरह समझाने के बाद भी लोग इसे नहीं समझ पायेंगे। अतएव, उनमें से कुछ लोग अच्छी तरह जानते हुए भी यह विचार स्वीकार कर लेते हैं कि वर्तमान संकट दो दशकों के नग्न सैनिकवाद की अधिकतर चक्रवत् पुनरावृत्ति है। आज की अधिक कठिन समस्याओं के राजनीतिक तथा आर्थिक विस्तारों को समझाने का वे सच्चा प्रयत्न ही नहीं करते।

राजनीतिज्ञ संभवतः ठीक हैं और खाई पाटी नहीं जा सकती। यदि यही बात है तो हम संकट की ओर अग्रसर हो रहे हैं; परन्तु मैं सोचता हूँ कि इस मामले में राजनीतिज्ञ शायद गलत हो सकते हैं। किसी भी परिस्थिति में मुझे विश्वास है कि अनेक विचारशील लोगों के लिए अब वह समय आ गया है जब कि वे सच्चाई से, पूर्ण रूप से, और जनता में विश्वास के अभाव से उत्पन्न समझौते के बिना, विश्वजीवन के तत्वों पर विचार करने के लिए संगठित प्रयत्न करें।

यदि परराष्ट्र नीति के मसलों पर अपनी सम्मति द्वारा प्रभाव डालने वाला शिक्षित नागरिक समुदाय हमारे पास नहीं हो सकता तो हमारा जनतंत्र खोखला और दिखावटी हो जायगा। यदि हम अपनी राष्ट्रीय नीतियों को विश्व-स्थिति की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं बना सकते, जैसा कि इन आवश्यकताओं को अधिकांश सुविज्ञ प्रेक्षकों ने समझा है, तो स्वयं हमारा राष्ट्रीय भविष्य ही खतरे में पड़ सकता है।

इस पुस्तक की रचना कुछ वृहद् समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने के प्रयत्न से की गयी है, जिन्हें आज टाला जा रहा है। यह आवश्यक रूप से हमारे समय की महान क्रान्तियों पर मेरे निजी विचारों को प्रतिबिम्बित करती है। इसमें हमारी चालू अमरीकी क्रान्ति भी सम्मिलित है, जिसमें शान्ति की उभरती हुई दिशाओं की काफी सामग्री समाविष्ट है।

नीति सम्बन्धी विस्तृत सुझावों की अपेक्षा मैं मुख्यतया नये समाधान की रूपरेखा पर ही अधिक बल दूंगा। अपने वर्तमान संकटों के लिए दोषी ठहराने के लिए मेरे पास न तो कोई अमरीकी खलनायक है और न कोई राजनीतिक दल; जो कुछ भी मुझे कहना है, मैंने उसमें दलगत राजनीति से बचने का यत्न किया है। जो समस्याएं हमारे सामने हैं, वे हम सबकी हैं और स्पष्टतः यह न्यूनांकन होगा यदि हम कहें कि हम सब मिलकर उनका सामना नहीं कर सकते।

मैंने अपने अनुभवों, वार्ताओं, अध्ययनों तथा यात्राओं के अतिरिक्त अनेक प्रेक्षकों से भी काफी सहायता ली है, जिनमें से कुछ लोगों से कभी मुलाकात नहीं हुई। टामस ह्यूजिज, अवरम चेस, हैरिस वोफर्ड जैसे मित्रों और साथियों के सुझावों तथा सहायता के लिए मैं विशेष रूप से ऋणी हूँ। इन्गेवर्ग वोवी, हिल्डर गियर, जीन स्पेलोन, जोन नैल्सन और फान्सिस ओ'डैल का भी मैं अत्यंत आभारी हूँ, जिन्होंने बड़े धैर्य से पाण्डुलिपि को, जिसके विभिन्न प्रारूप और संशोधन तैयार किये गये, बार-बार टाइप किया।

यद्यपि सहायता और सलाह के लिए मैं बहुतों का ऋणी हूँ, तथापि विश्लेषण और प्रस्ताव मेरे अपने ही हैं और उनके लिए मैं ही उत्तरदायी हूँ। आगामी काल के लिए नीति की प्राथमिकताओं पर ये पृष्ठ एक व्यक्ति की प्रथम पुस्तक (प्राइमर) के रूप में हैं और इस प्रकार की सारी चर्चाएँ श्रेष्ठतर उत्तर के लिए आमंत्रण के रूप में हैं।

सी. बी.

इसैक्स कनेक्टीकट

अगस्त १५, १९५५.
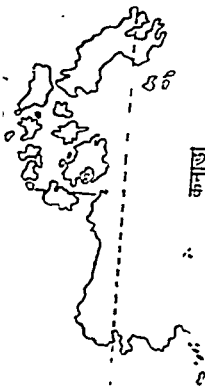
पृथ्वी
कनाडा
यू. एस. ए. (अमरीका)
प्रशान्त महासागर
अटलान्टिक महासागर
दक्षिण अमरीका
अफ्रीका
हिन्द महासागर
भारत
चीन
प्रशान्त महासागर
आस्ट्रेलिया
अमरीका
रूस
चीन
भारत

पहला प्रकरण

योरोप में प्रोत्साहन

१९५५ के जून मास के अंत में संयुक्त राष्ट्र संघ की दसवीं वर्षगाँठ मनाने के लिए साठ राष्ट्रों के प्रतिनिधि सैनफ्रैन्सिस्को में मिले। शीतयुद्ध के वर्षों के संघर्ष के उपरान्त, जब एक के बाद दूसरे वक्ता ने सतर्क आशा-वादिता के साथ संसार के नये दृष्टिकोण के प्रति अपनी आशाएँ प्रकट कीं, तो वायुमंडल में शान्ति की लहर व्याप्त होती दिखायी दी।

यदि, जैसा कि राष्ट्रपति आइसनहावर ने कहा था कि, पौ फट रही है, चाहे धीमी ही गति से क्यों न हो परन्तु मानव मात्र इस बात से सहमत होगा कि यह नव प्रभात बहुत पहले ही आ जाना चाहिए था। १९४५ और १९५५ के दशक में दुनिया बिलकुल उलट गयी है और हममें से अधिकांश को ऐसा अनुभव होता है कि हम एक बुरा सपना देख रहे थे।

हमारे युद्धकालीन मित्र रूस और चीन, शान्तिकाल में हमारे विरोधी बन गये हैं। हमारे युद्धकालीन शत्रु जर्मनी और जापान हमारे शान्तिकालीन मित्र बन गये हैं।

संसार के साम्यवादी आन्दोलन ने लगभग ७० करोड़ और लोगों को अपने वश में कर लिया है, जिसका मतलब है कि अब एक तिहाई मानव समाज साम्यवादी शासन के अन्तर्गत ह। साथ ही साथ ६५ करोड़ एशिया और अफ्रीकावासियों ने पश्चिम के पुराने ढंग के उपनिवेशवाद से स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है।

ये डरावनी घटनाएँ उस युद्ध की पृष्ठभूमि में घटित हुईं, जिसमें ढाई करोड़ मनुष्य मारे गये, उससे दुगुनी संख्या में लोग अपाहिज हो गये और जर्मनी, इटली, पोलैण्ड, बाल्कन, रूस, चीन और जापान का अधिकांश भाग नष्ट-भ्रष्ट हो गया। इस युद्ध ने अगले युद्ध के सम्पूर्ण आणविक विनाश की संभावना से भी हमें परिचित करा दिया।

आज के इस विभाजित विश्व में १९४५ के वातावरण को फिर से पाना आसान नहीं है, परन्तु हमारी वर्तमान पार्श्वभूमि की दृष्टि से इन उथल-पुथल वाले दस वर्षों पर सोच-विचार कर लेना काफी शिक्षाप्रद होगा।

जब युद्धकालीन मित्र राष्ट्रों के सैनिक, स्थल-युद्ध को अन्ततोगत्वा जर्मनी की धरती पर खींच लाने के लिए विपरीत दिशाओं से एकत्र हो गये तब युद्ध के अंत को अमीरीकावासी ने बड़ी आशा की दृष्टि से देखा। वह अपने युद्धरत पुत्रों की वापसी के लिए आँखें बिछाये बैठा था.... सेना पर बढ़े हुए खर्च की कटौती की प्रतीक्षा में था और अपने इच्छानुकूल खरीद सकने के अवसर की ताक में था और उस तनाव से छुटकारा पाना चाहता था, जिसने पर्ल हार्बर के रविवार के दिन से उसे दबोच रखा था।

जिस अमरीकी ने १९४५ के युद्धोत्तर संसार का सामना किया, वह बहुत आगे आ चुका था और बहुत अनुभव प्राप्त कर चुका था। एक सौ सत्तर वर्ष पूर्व उसने मानवीय समता के क्रान्तिकारी सिद्धान्त के आधार पर एक राष्ट्र की नींव डाली थी। उसने एक निस्सीम समृद्धिशाली महाद्वीप की स्थापना की थी, जिसके लाभ में बहुत से लोग सम्मिलित हो सके। उसने अपने देश के किनारों पर करोड़ों योरोपीय प्रवासियों का स्वागत किया।

शासन के जिन सिद्धान्तों का सूत्रपात उसने किया, उनके प्रति संसार के अनेक राष्ट्रों, धर्मों तथा जातियों में उत्साह पैदा हो गया। बहुत ही कड़ुवे और खर्चीले गृहयुद्ध में उसके अपने लक्ष्य स्पष्ट हुए और उसके जन्मसिद्ध अधिकार की पुनः पुष्टि हुई।

उस युद्ध के बाद प्रत्येक पीढ़ी में उसने अपनी आय को दुगुना किया। परन्तु सापेक्ष रूप से विलास का जीवन व्यतीत करने पर भी वह यह कभी नहीं भूला कि उसकी निरन्तर प्रगति कठिन परिश्रम पर निर्भर है।

उसने स्वाधीनता को व्यापकतम रूप में समझा और आवश्यक आर्थिक स्वाधीनता के विस्तार के लिए उस राजनीतिक स्वाधीनता का उपयोग करने में कभी झिझक नहीं दिखायी, जिस पर वह एक मजदूर, किसान तथा व्यापारी के रूप में अपना अधिकार मानता था। यद्यपि उसने सहज भाव से वृहद् शासन पर अविश्वास किया, परन्तु धीरे-धीरे साहस के साथ तथा रचनात्मक ढंग से संविधान के शब्दों में ही 'सामान्य कल्याण की वृद्धि के लिए' शासन का उपयोग करना उसने सीख लिया था।

एक महान संकट से उसे एक ऐसी ठोकर लगी, जिसने न केवल उस व्यक्तिगत स्वामित्व प्रथा का ही अंत कर दिया होता, जिसके आधार पर उसने अब तक प्रगति की, बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में जनतंत्र को भी समाप्त कर दिया होता। फिर भी वह अपनी शक्ति तौलकर, कन्धे झाड़कर फिर खड़ा हो

गया और ऐसी स्थायी आर्थिक स्थिति पैदा करने के लिए उसने प्रयत्न किया, जो सब के हित में होगी और साथ ही गतिशीलता को कायम रख सकेगी। यद्यपि विदेशी मामलों में उसके अनुभव स्वल्प थे, फिरभी सामान्य रूप से सभी राष्ट्रों के अपनी शासन-पद्धति के निर्णय के अधिकार की उसने सदैव रक्षा की है। उसने अनिच्छा से दो विश्व-युद्धों में भाग लिया था, परन्तु एक वार फँस जाने पर विजय के लिए सर्वस्व लगा दिया। अब उसका देश दूसरे महायुद्ध के बाद शक्ति और नेतृत्व की नवीन महानता प्राप्त कर रहा था।

फिर भी भविष्य में अमरीका की इस महानता के व्यवहार के सम्बन्ध में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त संतुलित दशा प्राप्त करने की खोज में हमने पृथकत्व की महँगी राष्ट्रीय नीति अपनायी। योरोप की सीमाओं के पार हिटलर की दहाड़ और पर्ल हार्बर पर मृत्यु बरसाने वाली जापानी बमवर्षा ने क्या हमें यह आखिरी सबक नहीं सिखा दिया कि इस घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध संसार में कोई भी बड़ी शक्ति इसमें रहते हुए, इससे बाहर नहीं हो सकती? जिस प्रकार हमने विजय के यंत्र गढ़े थे, उसी प्रकार क्या हम युद्धकालीन आर्थिक अस्तव्यस्तता को दूर करने के लिए उद्यत हो सकते हैं? क्या अमरीका अपने ऐतिहासिक पृथकत्व से हमेशा के लिए धक्का मार कर जगा दिया गया है?

१९४५ में विश्व की अधिकांश राजधानियों में ये प्रश्न पूछे जाते थे और अपने देश में भी इस विषय में कम चिन्ता नहीं थीं। परन्तु कुछ लोग थे, जिन्होंने अनुमान लगा लिया था कि इन प्रश्नों के उत्तरों की कितनी जल्दी आवश्यकता पड़ेगी। युद्धकालीन मैत्री की अनुकूलता ने उस खतरे की चेतावनी नहीं दी, जो बहुत शीघ्र ही ओडर-नीजे नदी पंक्ति के पार से प्रकट हो जायेगा।

अमरीका के प्रिय अँग्रेज विन्स्टन चर्चिल, जो कुछ वर्ष पूर्व बोलशेविज्म की बाल-हत्या कर देना चाहते थे, पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने स्तालिन को उस समय सहायता का वचन दिया था, जब हिटलर की सेनाओं ने जून, १९४१ में रूस पर आक्रमण किया। नाजी अधिकृत योरोप में प्रतिरोध करने वाले आन्दोलनों में ऐसे कम्यूनिस्ट नेताओं ने सर्वदा भाग लिया और बहुधा नेतृत्व किया, जिन्होंने खतरनाक जीवन व्यतीत किया और जो वीरगति को प्राप्त हुए। लाल सेनाओं की विजयों की कहानियाँ अटलांटिक जगत के अखबारों में प्रति दिन मुखपृष्ठों पर छपतीं थीं।

जिन शब्दों को पढ़कर आज अचरज होता है, उन्हीं शब्दों द्वारा अनेक अमरीकी

नेताओं ने सोवियत रूस की प्रशंसा की होड़ लगा रखी थी। "सम्यता की आशाएँ साहसी रूसी सेना की योग्य पताकाओं पर अवलम्बित हैं," ये शब्द जनरल मैक्-आर्थर ने १९४२ में कहे थे और यह भी कहा था कि, "इस प्रयत्न की विशदता और महानता सारे इतिहास में महानतम सैनिक सफलता की परिचायक है।" १९४३ में स्तालिन से हुए अपने विचार-विनिमय की ओर संकेत करते हुए राष्ट्राध्यक्ष रूजवेल्ट ने कहा था, "मुझे विश्वास है कि हमारी स्तानिल और रूसी लोगों के साथ अच्छी निभ सकेगी।"

उनके हाल के प्रतिपक्षी वैण्डल विल्की ने, जिनका विचार था कि श्री रूज-वेल्ट काहरा और तेहरान में अपने विचारों को काफी दूर तक नहीं पहुँचा पाये थे, ऐसा महसूस किया कि युद्धोत्तर सहयोग की संभावना है, क्योंकि रूसी भी हमारी ही तरह परिश्रमी और सीधे-सादे लोग हैं और पूँजीवादी पद्धति के अतिरिक्त अन्य सभी अमरीकी वातों के प्रशंसक हैं। राकफैलर समारोह में अमरीकी महिला-संस्था 'गोल्ड स्टार मदर्स ने, सोवियत सरकार को लाल सेना के 'शानदार' युद्ध की प्रशंसा में और रूस तथा इस देश के युवकों के समान उद्देश्यों के प्रतीक स्वरूप, एक रकावी भेंट में दी थी।

१९४५ में उनकी मास्को-यात्रा के उपरान्त, जहाँ पर उन्होंने लेनिन स्मारक की छत से रेड स्क्वायर परेड का सर्वेक्षण किया, सेना के जनरल आइसनहावर ने कांग्रेस की समिति को बताया कि संयुक्त राज्य अमरीका से मित्रता जोड़ने की अभिलाषा के समान और कोई बात रूसी नीति का मार्गदर्शन नहीं करती।

यहाँ तक कि वे अमरीकी भी, जो विश्वव्यापी साम्यवादी आभियान के सिद्धान्तों को समझते थे, इस विचार से बहुत आश्वस्त हुए कि सोवियत नेता तथा सैनिक अन्त में व्यापक रूप से लोकतांत्रिक नेताओं, विचारों, उदारता तथा सफलताओं के प्रभाव के अन्तर्गत आ गये। क्या यह अनुभव अत्यन्त कट्टर मार्क्सवादियों को धीरे धीरे कुछ शिथिल नहीं बना देगा? रूसियों का परदेशियों के प्रति रूढ़िगत भय यदि याल्टा में न दफना दिया जाता तो?

विजय के दिन व्हाइट हाउस के चारों तरफ नमस्कार-मुद्रा में खड़े अमरीकी सैनिकों (G. I.) के परिवार, उनकी प्रेयसियों तथा मित्रों से न केवल यह सन्तोष ही परिलक्षित होता था कि युद्ध पीछे छूट गया, बल्कि यह विश्वास भी था कि शान्ति का भविष्य उज्ज्वल है। ऐसे वातावरण में यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी कि कम से कम समय में लोग अपनी तलवारें को हल, खराद और टाइपराइटरों जैसे उपयोगी यंत्रों में परिणत

करने के इच्छुक हों। वाशिंगटन पर जो राजनीतिक दवाव पड़ा, उसको रोका नहीं जा सकता था।

२२ जनवरी, १९४६ को वाशिंगटन स्थित ह्वाइट हाउस भवन में, जनरल आइसनहावर को, जो उस समय सेनाध्यक्ष थे, "ब्रिंग वैक डेडी" (पिताजी को वापस वुलाओ) क्लवों के प्रतिनिधियों ने अचानक घेर लिया। क्रुद्ध महिलाओं दस मिनट तक मांगों और शिकायतों की उन पर वौछार कर दी। वे शर्मिन्दा हुए और वौखला गये और अपने ही शब्दों में, जो उन्होंने वाद में सभा की सैनिक मामलों की समिति की वैठक में कहे थे, भावावेश में किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये थे।

उसी दिन सेनेट की द्विदलीय उपसमिति ने, त्वरित गति से किये जाने वाले सैन्य-विघटन से संतुष्ट न होकर इस वात पर वल दिया कि सेना में अभी भी २० लाख आदमी आवश्यकता से अधिक हैं और उनको हटा देने की माँग की। कांग्रेस के दोनों दलों के नेताओं ने सेनाओं को विघटित करने तथा अधिकांश नौसेना और वायुसेना को सुरक्षित रखने के आन्दोलन में जनता की प्रशंसा प्राप्त करने में मानो एक दूसरे से होड़ लगा दी थी।

यदि दोनों राजनीतिक दलों के कुछ दूरदर्शी नेताओं ने अपनी राजनीतिज्ञता न दिखायी होती और उनके प्रस्तावों के प्रति अमरीकियों की अनुकूल प्रतिक्रिया न होती, तो सामान्य स्थिति प्राप्त करने के दूसरे जवर्दस्त झगड़े का परिणाम और भी हानिकारक हुआ होता।

सरकारी पदाधिकारियों, निजी संस्थाओं और जनता ने साधारणतया योरोप और एशिया की संकटकालीन आवश्यकताओं के प्रति गहरी दिलचस्पी का परिचय दिया। भूतपूर्व राष्ट्राध्यक्ष हूवर, राष्ट्राध्यक्ष ट्रूमन द्वारा यथार्थता का पता लगाने के के उद्देश्य से विश्व का दौरा करने के लिए भेजे गये। वे तत्काल सामूहिक सहायता के लिए प्रभावपूर्ण तर्क लेकर लौटे और अमरीकियों ने भी अपनी परम्परागत उदारता का परिचय दिया। अमरीकी पहल और डालर ने 'उनरा' (UNRRA), विश्व वैंक, मुद्रा-निधि और दूर-दूर तक विस्तृत संयुक्त राष्ट्र संघ की विशिष्ट संस्थाओं को विकसित करने में वहुत महत्वपूर्ण भाग लिया।

जाहिर है कि योरोप में यह कार्य वहुत कठिन था। किसी समय विश्व-सभ्यता के इस केन्द्र को दो ही पीढ़ियों में दो विनाशकारी युद्धों से गुजरते देख कर यदि कोई अमरीकी प्रेक्षक प्रथम दृष्टि में यह धारणा वना ले

कि योरोप नष्ट हो गया, तो उसे क्षमा किया जा सकता है। इस प्रकार के दो भीषण उथलपुथल के बाद योरोपीय जीवन की शक्ति को पुनः कैसे प्राप्त किया जा सकता है?

योरोप का अधिकांश भाग फिर से सुधारा नहीं जा सकता था। बमवर्षा के परिणामस्वरूप खंडहरों के ढेरों में परिणत हो जाने वाले नगर और गांवों का सम्पूर्ण विनाश, मृत्यु और वियोग की वेदना से पीड़ित, अधीन और भूमिगत निवास से थके हुए निराश और विश्वासहीन योरोपियनों ने विजय के दिन 'शान्ति' के वायुमण्डल में प्रवेश किया।

१९१४ के स्थायी वैभव के कभी सुदृढ़ स्मारक आन्तरिक युद्ध के वर्षों में इतने प्रकम्पित हो चुके थे कि अब मलवे के ढेर में चूर होकर गिर पड़े। ब्रिटेन के परराष्ट्र-मंत्री सर एडवर्ड ग्रे ने लंदन में परराष्ट्र विभाग के दफ्तर की खिड़की के पास खड़े होकर, प्रथम विश्व-युद्ध के शुरू होने के पहले कहा था, "समस्त योरोप में प्रकाश-दीप बुझ रहे हैं और हम अपने जीवन-काल में उन्हें फिर से प्रकाशित होते नहीं देख पायेंगे।" सन् १९४५ की पार्श्वभूमि में ऐसा प्रतीत हुआ कि सर एडवर्ड की आशंका अन्त में सही निकली।

दो विश्व-युद्धों में फ्रान्स ने बहुत नुकसान उठाया। १९१४ और १९१८ के बीच, तीन करोड़ बीस लाख की जनसंख्या में से १३ लाख लोगों की बलि देनी पड़ी। १९४० में, जब जर्मन सेनाएँ उसकी सीमाओं के पार उमड़ने लगीं, तब तक वह प्रथम विश्व-युद्ध की आर्थिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं से मुक्त नहीं हो पाया था। द्वितीय महायुद्ध में उसको फिर ब्रिटेन और अमरीका से भी अधिक अपने नवयुवकों की आहुति देनी पड़ी। १९४०-४५ की पराजय, अधीनता और मुक्ति के व्यापक प्रभाव वर्षों तक उसके साथ बने रहेंगे।

वाटरलू और सोमे के बीच की शताब्दी में ब्रिटेन को जो प्रमुखता प्राप्त थी, उसका भी अंत हो गया था। इन दो विश्वयुद्धों ने अंग्रेजों की भीषण जनहानि के साथ-साथ विक्टोरिया-युग में संचित निधि को भी खाली कर दिया था। ब्रिटेन जैसे राष्ट्र के लिए, जो खाद्यान्न के आयात पर निर्भर करता था, युद्धोत्तर आर्थिक संभावनाएँ विशेष रूप से चिन्ताजनक थीं।

१९१४ से अपने अशान्तिपूर्ण इतिहास में जर्मन अनेक बार जीते और हारे। युद्धोत्तरकालीन प्रथम तीन वर्षों में उनकी निराशा पूर्ण हो चुकी थी; सैनिक अधिकार का अपमान, १,२०० कैलोरी के दैनिक राशन से, जो जीवित

रहने के न्यूनतम स्तर से ३३ प्रतिशत कम था, अशान्त भूख, मशीनों के टूट-फूट जाने और कारखानों के विनाश के कारण आर्थिक विशृंखलता, रूसी आतंक से ग्रस्त ७० लाख निराश्रित शरणार्थियों का तीन पश्चिमी भागों में आगमन, जहाँ पहले ही ४० प्रतिशत मकान मित्र-राष्ट्रों की बमवर्षा से ध्वस्त हो चुके थे, इत्यादि महत्वपूर्ण घटनाएँ थीं।

जब अमरीका ने योरोप के पुनरुद्धार के लिए अपना मजबूत कदम उठाया, उस समय योरोप की स्थिति शोचनीय थी और उसके पुनरुज्जीवन की सम्भावनाएँ भी कम थीं। करोड़ों अमरीकियों के लिए योरोप अब भी एक ऐसा 'प्राचीन देश' था, जहाँ फ्रान्स, जर्मनी, इटली, हंगरी, पोलैण्ड, और बाल्कन में उनके सम्बन्धी लोग अभावग्रस्त थे। उदारता, अर्थतंत्र, सांस्कृतिक बंधनों, परम्पराओं तथा दीर्घकालीन सम्पर्क ने हमारे प्रथम प्रयत्न में महत्वपूर्ण योग दिया।

यदि ये बातें पर्याप्त नहीं थीं, तो साम्यवादी दुराग्रह ने शीघ्र ही हमारे कार्य को निश्चित रूप से और भी आवश्यक बना दिया। दूर तक फैले अपने प्रभाव तथा प्रदेश की सीमाओं को सुगठित करने के लिए सोवियत यूनियन ने अपनी भौगोलिक तथा नयी सैनिक शक्ति से पूरा लाभ उठाया।

याल्टा-संधि-पत्र पर मुश्किल से हस्ताक्षर हो पाये थे कि चेतावनी के संकेत यह प्रदर्शित करने लगे कि स्तालिन ने कितनी लापरवाही से प्रतिज्ञाएँ कीं और तोड़ीं। कुछ ही महीनों में जर्मनी के प्रशासन के प्रश्न पर रूसियों के निष्ठुर व्यवहार, हमारे त्वरित निःशस्त्रीकरण के विरुद्ध उनके बराबर सेना पर बल देने, अणुशक्ति-नियंत्रण के लिए अचेसन-लिलियन्थाल बरूच के प्रस्ताव को एकदम ठुकरा देने और पूर्वी योरोप में स्वतंत्र निर्वाचन करने से इन्कार कर देने से हमारी शंका और भी बढ़ गयी थी।

फिर भी युद्धकालीन मित्रता से जो आशाएँ उत्पन्न हुई थीं, वे धीरे-धीरे विलीन हो गयीं। मार्च, १९४६ में मिसौरी के फल्टन में विन्स्टन चर्चिल ने जब हमको बतलाया कि "महाद्वीप के उस पार लौह पर्दा डाल दिया गया है" तब उनके शब्दों से हमें धक्का लगा। अमरीकी इस प्रकार की बात नहीं सुनना चाहते थे।

जब मैंने संयुक्त राष्ट्र की एक बैठक के सिलसिले में नवम्बर, १९४६ में योरोप की यात्रा की, तो मेरे रुखों में भी कुछ तेजी आ गयी। चैम्प्स एलिसीस की ओर कवायद करते हुए जाने वाले गम्भीर मुद्रा में दस हजार साम्य-

वादी कार्यकर्त्ताओं के दृश्य को मैं शीघ्र ही नहीं भूल सकूँगा।

कुछ दिन बाद रूसी पदाधिकारियों से हुए अपने प्रथम सम्पर्क को भी भुलाना मुश्किल है। जनरल वाल्टर बेडेल स्मिथ ने, जो उस समय रूस में हमारे देश के राजदूत थे, हमें एक सप्ताह के लिए मास्को आमंत्रित किया। तुरन्त ही रूसी अनुवेश-पत्र (वीसा) प्राप्त हो गया और राजदूत का हवाई-जहाज हमें लेने के लिए पेरिस आ पहुँचा। हम लोग बर्लिन से आगे नहीं पहुँच पाये। कई दिनों की असफल अपीलों के बाद वहां के रूसी अफसरों ने बिना किसी कारण के हमारे प्रस्थान के लिए अनुमति नहीं दी। एक और अमरीकी के लिए चर्चिल का कथित 'लौहावरण' सत्य सिद्ध हुआ।

तेरह महीने बाद प्राग में जान मसरिक से दो बार लम्बी बातें हुईं। उन्होंने बड़ी उत्सुकता के साथ बार-बार मुझसे पूछा कि आपके विचार से वाशिंगटन और मास्को में लगभग कितने समय में "कुछ समझौता हो सकेगा?" "हम चेक लोग तो बीच में हैं और अधिक कुछ नहीं कर सकते?" उन्होंने दुःख के साथ कहा– "यदि भाग्य ने साथ दिया तो शायद दो वर्ष और स्वतंत्र रह सकें"। परन्तु किस्मत दूसरी ओर जा रही थी और एक महीने के बाद ही कनेक्टीकट में अपने घर पर प्राग में कम्यूनिस्ट विद्रोह और जान मसरिक की मृत्यु का समाचार सुना। उस दिन और लाखों लोगों के दिलों में अटलांटिक राष्ट्रों के सामने उपस्थित भीषण संघर्ष ने एक नया और दर्दनाक रूप धारण कर लिया।

१९४८ के वसंत तक १२ करोड़ लोगों द्वारा आबाद बाल्टिक से एजियन तक विस्तृत क्षेत्र पर अपने अधिकार को दृढ़ बनाने के लिए क्रेमलिन ने पूर्वी योरोप में अपनी अद्वितीय सैनिक स्थिति का प्रयोग किया, परन्तु तब तक और अधिक साम्यवादी कुचक्रों के प्रति हमारी स्थिति कठोर हो चुकी थी।

प्राग पर अधिकार करने के एक वर्ष पूर्व सोवियत सरकार ने यूनान और तुर्की के भीतर तक बढ़ जाने की धमकी दी थी। तुर्की सरकार के विरुद्ध क्रेमलिन ने व्यापक प्रचारात्मक आक्रमण शुरू कर दिया था। पूर्वी तुर्की के प्रांतों पर पुराने रूसी अधिकार का दावा किया और दर्रेदानियाल की सुरक्षा तथा नियंत्रण में अपने हिस्से की मांग प्रस्तुत की।

इसी बीच रूस ने चुपके से साम्यवादी नेतृत्व में कार्य करने वाले हजारों यूनानी गुरिल्लों को शस्त्रास्त्र भेजे और यूनानी सरकार के विरुद्ध एक व्यापक विद्रोह प्रारम्भ हो गया। यूनान और तुर्की की दुःखद स्थिति स्पष्ट थी।

शक्तिशाली विदेश सम्वन्ध समिति के अध्यक्ष सिनेटर आर्थर वैण्डनवर्ग ने अन्य बीस से अधिक रिपब्लिकन सिनेटरों के साथ राष्ट्रपति ट्रूमन के इस ऐतिहासिक निर्णय के समर्थन में कि स्वतंत्र यूनान और तुर्की अमरीकी सुरक्षा के लिए अपरिहार्य हैं, डिमोक्रेटों का साथ दिया। हमने फौरन जोरदार सहायता की और इस संकटपूर्ण क्षेत्र में सोवियत दवाव धीरे-धीरे ढीला पड़ गया।

पश्चिमी क्षेत्रों से वर्लिन तक रेल और सड़क बना कर रूसी सरकार ने शीघ्र ही फिर आघात कर दिया। ज्यों-ज्यों सेना का आधिपत्य स्थापित होता गया, जर्मनी के ऐतिहासिक प्रतीक वर्लिन से, पश्चिमी पदाधिकारियों, सैनिकों, सिपाहियों के भागने की रूसियों ने तीव्र उत्कण्ठा से प्रतीक्षा की। एक बार फिर हमारा उत्तर निश्चयात्मक रहा। कुछ ही दिनों में अमरीकी और ब्रिटिश व्यापारी हवाईजहाज वर्लिन के टैम्पल्हाफ हवाई अड्डे पर प्रति नव्वे सेकण्ड में एक की दर से उतरने लगे और कुछ ही महीनों वाद अचानक प्रतिवन्ध उठा लिया गया।

१९४७ के जून में विदेश-मंत्री मार्शल ने हार्वर्ड का प्रारंभिक ऐतिहासिक भाषण दिया, जिसमें उन्होंने योरोप के आर्थिक पुनरुद्धार के लिए वड़े पैमाने पर एक ऐसे कार्यक्रम की घोषणा की, जो किसी के विरुद्ध नहीं था वल्कि भूख, अराजकता और दरिद्रता के विरुद्ध था। तुरन्त ही पेरिस में एक सभा वुलायी गयी जिसमें सभी योरोपीय राष्ट्र, राजनीतिक विभिन्नताओं के वावजूद, आमंत्रित किये गये। मास्को से मोलतोव आये और कुछ दिन अस्थिर रूप से रहे और फिर चले गये।

अप्रैल, १९४८ में योरोपीय आर्थिक सहकारिता संघ (OEEC) की स्थापना हुई जिसमें मार्शल योजना को कार्यान्वित करने के लिए १७ योरोपीय साझीदारों ने प्रतिनिधित्व किया। ६ वर्षों के वाद इन १७ सदस्य-राष्ट्रों में अन्तर-योरोपीय व्यापार १९४८ की अपेक्षा दुगुना हो गया और १९३८ से ६८ प्रतिशत अधिक हो गया। १९५४ में औद्योगिक उत्पादन १९३८ से ५० प्रतिशत अधिक था और कृषि-उत्पादन ३० प्रतिशत अधिक था। पालहाफमैन तथा अन्य लोगों के सुयोग्य नेतृत्व में मार्शल योजना ने पश्चिमी योरोप को दुगुनी शक्ति दी। इसके विना अराजकता, जिस पर रूस निर्भर कर रहा था, अनिवार्य थी।

पश्चिमी योरोप की सैनिक सुरक्षा के लिए भी निश्चित कदम उठाये गये।

युद्ध के तीन वर्ष बाद इसकी बिलकुल समाप्ति हो गयी। एक ब्रिटिश जनरल के शब्दों में अटलांटिक किनारे तक पहुँचने के लिए रूसी सेना को 'केवल जूतों' की आवश्यकता थी।

४ अप्रैल, १९४९ को उत्तरी अटलांटिक-संधि पर १४ राष्ट्रों ने वाशिंगटन में हस्ताक्षर किये और 'नाटो' (NATO) का जन्म हुआ। छः वर्ष बाद इसके सेनापतियों ने ऐसी सुरक्षा की ढाल तैयार की, जो किसी भी स्थल-सेना पर आधारित सोवियत आक्रमण को रोकने के लिए पर्याप्त थी, भले ही अन्त तक उसे संभाल नहीं सकती थी।

'नाटो' के द्वारा अमरीका ने पहली बार जन-धन के बलिदान का वचन दिया; स्वयं अपनी जन-इच्छा और समय के अनुसार नहीं, बल्कि अटलांटिक समुदाय के किसी भी सदस्य पर कभी भी आक्रमण होने पर। इस प्रकार नाटो संगठन के निर्णय में दृढ़ सैनिक-सुरक्षा के अतिरिक्त और भी कुछ था। अटलांटिक क्षेत्र की समान सभ्यता को किसी भी शत्रु के आक्रमण से बचाने के लिए यह साधन-स्रोतों का एक ऐतिहासिक और ऐच्छिक संचय था।

कूटनीति के इतिहास में पश्चिमी योरोप की अविकल स्वतंत्रता के आश्वासन के लिए अमरीका का प्रयत्न एक अनुपम सफलता है। अमरीका के बहुमत ने इस स्पष्ट द्विदलीय नीतियों का, जिनका उल्लेख हो चुका है, जोरदार समर्थन किया। उन्होंने अपने पुत्रों को भेजना स्वीकार किया। उन्होंने न केवल सैनिक सुरक्षा के लिए, प्रत्युत अपने योरोपीय साथियों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए कर देने में अपनी जेबों को भी खाली कर दिया था।

१९५५ के ग्रीष्म काल में भी योरोप को विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा। जर्मनी विभाजित ही रहा और लाल सेना रूसी सीमा से सैकड़ों मील पश्चिम की ओर पड़ी थीं। फिर भी पश्चिमी योरोप की सैनिक, आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए की गयी जबर्दस्त कार्रवाइयों को कोई इन्कार नहीं कर सकता था और एक शक्तिशाली स्थिति की रचना हो चुकी थी, जहाँ से रूसियों के साथ प्रभावपूर्ण ढंग से वार्ता की जा सकती थी।

अधिकांश अमरीकी इस बात से सहमत होंगे कि हमारी १९४५ के नीति-निर्माण में योरोप ही प्राथमिकता का पात्र था। युद्ध प्रयास का यही सबसे नाजुक क्षेत्र रहा है। विध्वंस के बाद भी, पश्चिमी योरोप विश्व में महानतम औद्योगिक स्रोतों के द्वितीय केन्द्र का प्रतिनिधित्व करता है। अटलांटिक तक पहुँचने के मार्ग इसीके हाथ में हैं; भूमध्यसागर पर इसी का आधि-

पत्य है और विश्व-व्यापार के महत्वपूर्ण मार्गों के पार्श्व में है।

उससे भी अधिक योरोप वह स्थान है, जहाँ स्वतंत्रता और मानववाद के पश्चिमी आदर्शों का जन्म हुआ था। हमारा पारिवारिक मूल, हमारी राज-नीतिक संस्थाएँ, हमारी संस्कृति, हमारे धर्मों की जड़ें योरोप की धरती में गहराई से जमी हुई हैं। योरोपीय भाषाएँ हमारे नगरों में बोली जाती हैं और हमारे स्कूलों में पढ़ायी जाती हैं। हमारे कलाकार, लेखक, प्राध्यापक पढ़ने के लिए योरोप जाते हैं। उसका इतिहास हमारे इतिहास का अंग है।

चूंकि हमारे अधिकांश अनुभव योरोप में हुए हैं, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि हमारी नीति की तत्काल अनुकूल प्रतिक्रिया हो। जनता का सर्वसम्मत समर्थन प्राप्त हुआ और परिणाम अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुआ; किन्तु योरोप में शक्ति-तुला स्थायी संसार की पर्याय नहीं हो सकती। इस शताब्दी की घटनाओं ने नयी बलवती शक्तियों को दूर के विभिन्न महाद्वीपों में 'ईश्वर की पीठ पीछे' जन्म दिया है। यद्यपि एक स्वस्थ और शक्तिशाली योरोप हमारे स्वार्थों के लिए अब भी आवश्यक है, अमरीका के नये उत्तरदायित्वों के पूर्ण विस्तार के लिए संसार के दूसरी ओर इसी तरह के प्रभावपूर्ण और साहसिक समाधान की आवश्यकता है—और वहाँ हम बहुत कम प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं।

दूसरा प्रकरण

मध्यवर्ती संसार में उथल-पुथल

१९४५ के विजय के दिन अमरीका टोकिओ से केपटाउन तक, मध्यवर्ती संसार में प्रतिष्ठा के शिखर पर था। जापानियों के हाथों से लगभग आधे एशिया को मुक्त करने में हमने नेतृत्व किया। फिलीपाइन्स को आजाद करने के हमारे वचन बहुत शीघ्र ही पूर्ण होने वाले थे। हमारी सैन्य-शक्ति अद्वितीय थी। हमारी जनतंत्रात्मक संस्थाएँ एक दर्जन नयी सरकारों के लिए आदर्श थीं।

दस वर्ष बाद, १९५५ में अनुपम शक्ति की यह स्थिति अधिकतर छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। चीन अपने नये नेताओं के अंतर्गत हमारा तीव्र विरोधी था और उसने कोरिया में हमें सैनिक अवरोध प्रदान किया। जब पेकिंग रेडियो ने हमें 'कागजी शेर' के नाम से पुकारा तो करोड़ों एशियावासियोंने हमारा उपहास किया। अन्य करोड़ों लोग हिन्द चीन तथा अफ्रीका में योरोपीय उपनिवेशवाद का हमें समर्थक समझकर हताश हो गये और हम पर अपनी क्रान्ति से मुख मोड़ने का आरोप लगाया।

इस उलट-फेर का स्पष्टीकरण हम कैसे कर सकते हैं? योरोप में अपने युद्धोत्तरकालीन कृत्यों से ही हम क्यों प्रोत्साहन लेते आये हैं? अन्यत्र हमारे कार्य क्यों इतने निराशापूर्ण और कभी-कभी घृणास्पद विफलता के रहे हैं? इतिहासकार इसके अनेक कारण दे सकते हैं।

उनमें यह बात निश्चित रूप से थी कि योरोप में तो हमें अपने कार्यों के प्रति आत्मविश्वास था, जबकि एशिया और एशियावासी अधिकांश अमरीकियों के दिमाग में अगम्य, रहस्यपूर्ण, विदेशी और भौचक्का कर देनेवाले थे। इसने योरोपीय नीति से सहमत होने की बात को अपेक्षाकृत आसान कर दिया, जब कि एशिया के मामले में किसी समझौते पर पहुँचने में कड़वे और दलगत झगड़े-बखेड़े खड़े हो गये। इसका परिणाम यह हुआ है कि हममें से बहुत से लोगों ने योरोपीय नीति के संकुचित विस्तार में ही विश्व-नीति को देखने और समझने की कोशिश की है और जो सीख योरोप में मिली उसीको दुनिया के सभी भागों में लागू करने के प्रयत्न किये, जहाँ वे प्रायः अनुपयुक्त सिद्ध हुए।

१९४७ का हमारा साहसपूर्ण निर्णय एक महत्वपूर्ण उदाहरण है, जो ट्रूमन-सिद्धान्त के माध्यम से योरोप में एक नया शक्ति-संतुलन पैदा करना चाहता है। यह महत्वपूर्ण कदम उठाते समय हम एक प्रकार से उसके महत्व को कम समझ रहे थे और आज के गतिमान शीतयुद्ध के मामले में उन नीतियों को ग्रहण कर रहे थे जिनके आधार पर ब्रिटेन ने न केवल योरोप में, वल्कि सारी दुनिया में लगभग २५० वर्ष तक अपनी स्थिति को कायम रखा। स्पेन के उत्तराधिकार सम्बन्धी युद्ध से, जो १७१३ में समाप्त हुआ, प्रारंभ कर ब्रिटेन ने योरोप पर अधिकार जमाए रखने के लिए उन एक अथवा अनेक सम्मिलित शक्तियों से पांच वड़ी लड़ाइयाँ लड़ीं, जिन्होंने उसे योरोप के साधन-स्रोतों और बाजारों से वंचित रखने की कोशिश की।

१९४७ में जब रूस ने भूमध्यसागर पर ज़ार की पुरानी पद्धति से अधिकार प्राप्त करने के प्रयत्न किये तो हमने भी ब्रिटेन की पुरानी पद्धति से उसका प्रतिकार किया और सोवियत हस्तक्षेप रुक गया। उसी परम्परा के आधार पर हमने योरोप में सोवियत आक्रमण को रोकने के लिए उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन की शक्तियों के साथ मित्रता की।

फिर भी, जिस ऐतिहासिक स्थिति का मुकावला ब्रिटेन को करना पड़ा और युद्ध के वाद जिन परिस्थितियों में हम अपने को पाते हैं, उनमें एक मौलिक भेद था। वहुत से अमरीकी नेता इस भेद पर ध्यान देने में असफल रहे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व, योरोप की राजनीतिक और सैनिक स्थिरता सारे संसार की स्थिरता की प्रायः पर्याय रही है। कई पीढ़ियों से चीन पर शक्तिहीन सम्राटों का अथवा युद्ध में संलग्न सामन्तों का शासन रहा है। १९३२ में एक विश्व-शक्ति के रूप में उठने के पूर्व तक, जब उसकी आक्रामक महत्वाकांक्षाएँ प्रकट हुईं, ब्रिटेन के मित्र के रूप में जापान ने एशिया में रूसी महत्वाकांक्षाओं को प्रभावशाली ढंग से रोक रखा। उपनिवेशवादी शक्तियों ने लंदन, पेरिस, लिस्बन और हेग में प्रमुख निर्णय किये, जिनका प्रभाव स्याम को छोड़ कर शेष एशिया पर पड़ा।

इस प्रकार 'पैक्स ब्रिटेनिका' की लम्बी अवधि में योरोप की नीति वस्तुतः विश्व-नीति हो गयी थी। १९४९ तक फिर भी, इस स्थिति में जबर्दस्त परिवर्तन हो गया था। लगभग ६५ करोड़ एशियावासियों ने अपने औपनिवेशिक बंधन तोड़ डाले थे। भारत और चीन औद्योगिक दृष्टि से भी, विश्व-शक्तियों के रूप में उठने का प्रयत्न कर रहे थे और जापान अपनी पराजय

से वाहर निकल रहा था। अफ्रीका में उथल-पुथल मची हुई थी। इन नवीन यथार्थ परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए एक विश्वव्यापी नीति की आवश्यकता विल्कुल स्पष्ट हो चुकी थी।

उस समय तक, दुर्भाग्य से विचारपूर्ण वाद-विवाद तथा विचार-विनिमय के लिए अनुकूल वातावरण नहीं था, जिसके विना किसी जनतंत्र में प्रभावपूर्ण परराष्ट्र-नीति असंभव है। दिसम्बर, १९४९ तक चीन पर माओ का प्रभुत्व पूर्ण रूप से स्थापित हो गया था। छः महीने वाद कोरिया पर साम्यवादी आक्रमण के प्रथम वर्ग-युद्ध में हमें अप्रत्याशित रूप से कूदना पड़ा और अगले अक्तूवर तक चीनी सेना के विरुद्ध हमारी सेनाएँ युद्ध में संलग्न हो गयीं। दो-दलीय यथार्थवादी विश्व-नीति वनाने में सम्मिलित होने के वजाय अनेक अमरीकी राजनीतिज्ञ नये प्रकार के गाली-गलौज में उलझ गये।

यदि ये दलगत झगड़े हमारी विचारधारा को मदोन्मत्त न भी करते तो भी हमें एक दूसरी भ्रान्त धारणा को शुद्ध करने के लिए योरोप के वाहर एक प्रभावशाली विश्व-नीति की आवश्यकता पड़ती। एशिया और योरोप, दोनों स्थानों के अनुभवों ने हमारे मस्तिष्क में शक्ति की एक खतरनाक संकुचित धारणा पैदा कर दी है।

स्वाभाविक रीति से हमने योरोप को, उसकी लम्वी सैन्य परम्पराओं के साथ एक ऐसे क्षेत्र के रूप में पहचान लिया है, जहाँ राजनीतिक हस्तक्षेप वहुत जोखिम का काम है। योरोप के सैनिक उतने ही दृढ़ तथा सुसज्जित थे, जितने हमारे थे और विशेप रूप से प्रायः संख्या में अधिक थे। योरोप के मामलों में अमरीकी सैनिक हस्तक्षेप का कभी विचार नहीं था और हमने योरोप के दोनों युद्धों में वहुत वादविवाद और हिचक के साथ हिस्सा लिया।

एशिया और लैटिन अमरीका फिर भी भिन्न थे। अमरीका के मामूली साम्राज्य-वादी प्रयत्न इन्हीं क्षेत्रों में हुए। लगभग साढ़े चार सौ वर्षों से एशिया के अधिकांश भाग पर पश्चिम की उच्च सैनिक कूटनीति का प्रभुत्व था और नौसैनिक कूटनीति ही अड़ियल सरकारों से व्यवहार की स्वीकृत पद्धति थी।

योरोप के राष्ट्रों ने दक्षिण अमरीका पर अधिकार जमाने की कोशिश नहीं की; क्योंकि उनके पास अफ्रीका और एशिया का वड़ा भाग था, इसलिए नहीं कि दक्षिण अमरीका वालों में अपनी सुरक्षा की पूरी शक्ति थी, वल्कि इसलिए कि अमरीका ने मुनरो-सिद्धान्त का वन्धन लगा दिया था और इसलिए भी कि यह व्रिटेन के हित में था कि वह अपनी शक्तिशाली नौ सेना को चुपचाप

हमारी सहायता के लिए रख दे।

तुलनात्मक सैनिक जोखिम की दृष्टि से इस प्रकार संभव है कि यह स्पष्ट हो जाय कि योरोप में अमरीकी नीति क्यों इतनी पृथकतावादी है और अन्य स्थानों में इतनी सक्रिय। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि बहुतेरे अमरीकी जब एशिया और योरोप के विषय में सोचते हैं तो अनजान में वे पहले शक्ति की तुलना सैनिक बल से करते हैं।

दो विश्व-युद्धों में हमने अत्यधिक खतरनाक दुश्मनों को परास्त कर देने वाली अपनी सैनिक तथा औद्योगिक शक्ति का पूरा परिचय दे दिया है। दूसरे युद्ध के बाद योरोप में जो प्रथम खतरा दिखाई पड़ा, वह मास्को से सैनिक धमकी थी और हमने उसी रूप में उसका समुचित प्रतिकार भी किया। एशिया में जब और भी अधिक सही सैन्य नीति की आवश्यकता हुई तो स्वाभाविक रूप से हमें आणविक प्रतिकार के विशाल रूप का ही ध्यान आया, जिसने योरोप की अराजक अवस्था में लाल सेना के प्रगति को भंग कर दिया; यद्यपि एशिया में इस कल्पना की सार्थकता नहीं रही है।

इस प्रकार अपने ऐतिहासिक और अर्वाचीन अनुभवों के आधार पर हमने शीत युद्ध की चुनौती के रूप के बारे में एक अतिशयोक्तिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया है, जो न केवल एशिया, दक्षिण अमरीका और अफ्रीका के लिए अपर्याप्त है, बल्कि योरोप के एक विस्तृत तनाव के लिए भी अपर्याप्त है।

आज के संघर्ष के संदर्भ में जब मैंने एक बार वाशिंगटन में ग्यारह प्रतिष्ठित नेताओं से शक्ति की परिभाषा पूछी तो मुझे मालूम हुआ कि किस हद तक इस धारणा ने हमारे मस्तिष्क पर अधिकार जमा रखा है। उन्होंने शीघ्र ही स्वीकार कर लिया कि शक्ति में निम्नलिखित तत्व मिश्रित होते हैं— अणुअस्त्र, वायु सेना, स्थल-सेना, नौ-सेना, 'नाटो' और 'सीटो' जैसी सैनिक-सन्धियों, औद्योगिक उत्पादन, कच्चा माल, संचार-साधन और भूगोल। इनमें न तो जनता का उल्लेख किया गया और न विचारों का।

ये दो भूलें हमारी उन शक्तियों को ग्रहण करने की असमर्थता का महत्वपूर्ण प्रमाण है, जिन्होंने युद्धोत्तर काल में अधिकांश रूप से एशिया के इतिहास का निर्माण किया है और जो आज अफ्रीका में प्रस्फुटित हो रही हैं और जिनके सम्बन्ध में साम्यवादियों का दृढ़ निश्चय है कि अब से विश्व का इतिहास इन्हीं के द्वारा लिखा जायेगा। निम्न लिखित तथ्यों के द्वारा इन शक्तियों की सामर्थ्य बड़े ही नाटचपूर्ण ढंग से संक्षेप में बतायी गयी है :— १९४

२० करोड़ लोगों ने अर्थात् विश्व की आधी जनसंख्या ने अपनी सरकारों के रूप को बदलने के लिए पर्याप्त मात्रा में प्रभावपूर्ण शक्ति का सूत्रपात किया है, यद्यपि जिसको हम व्यापक दृष्टि से शक्ति समझते आये हैं, उसका मूल रूप प्रत्येक मामले में ज्यों-की-त्यों स्थिति बनाये रखने के पक्ष में रहा है।

चीन में माओत्से तुंग ने कुल एक हजार आदमियों, दो सौ बन्दूकों, असाधारण संगठनात्मक प्रवृत्तियों और एक विचार से १९२६ में अपनी गतिविधि शुरू की और १९४९ तक वे चीन के स्वामी हो गये। १९४७ में गांधी ने व्यक्तिगत साहस और शान्तिपूर्ण ढंग से परिवर्तन के विचार के आधार पर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को स्वतंत्र करा दिया और लंका तथा बर्मा की स्वतंत्रता के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

हिन्देशिया और हिन्दचीन में हालैंड और फ्रांस की अत्यधिक प्रबल सैनिक तथा औद्योगिक शक्ति फिर चकनाचूर हो गयी, वरिष्ठ भौतिक शक्ति के कारण नहीं, बल्कि जनता और उसके विचारों की शक्ति के कारण।

सैनिक दृष्टि से कमजोर होते हुए भी एक देश के बाद दूसरे देश के नेताओं ने, जिनका मुख्य विश्वास विचारों में था, चाहे वे अच्छे हों या बुरे, शासन की यथास्थिति को उलट दिया। शक्ति के और भी संकुचित रूप के प्रति अपनी हठधर्मी के कारण हमने उनके मिथ्या अनुमान निकाले हैं। उदाहरण के लिए, १९४५ से सुदूर पूर्व के सम्बन्ध में ही हमने निम्नलिखित हेत्वाभासों पर अपने अधिकांश विचारों को आधारित किया है :—

१९४५—च्यांगकाई शेक की अमरीकी शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सेना माओत्से तुंग को पराजित कर सकती है और चीन को एक जनतंत्रात्मक शासन पद्धति के अन्तर्गत मिला सकती है।

१९५०—कोरिया में यदि संयुक्त राष्ट्र की सेनाएँ ३८ वें अक्षांश को पार करेंगी तो चीन की साम्यवादी सेनाएँ कोरिया-युद्ध में टूट पड़ेंगी, पेकिंग का यह कथन उसकी झूठी धमकी है।

१९५३—च्यांग को शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित तथा स्वतंत्र कर हम चीन की मुख्य धरती पर उसके आक्रमण को सफल बना देंगे।

१९५०-५४—फ्रांस की औपनिवेशिक शक्ति हिन्दचीन पर अपना आधिपत्य कायम रख सकती है, यदि अमरीका उसे काफी शस्त्रास्त्र प्रदान करे। उदाहरणस्वरूप दिये गये इन कुछ भ्रान्त अनुमानों में हमारी एक ही बात सब जगह मौजूद है, और वह है हमारा सैन्य बल में अटूट

विश्वास और हताश एवं भूखे लोगों की महत्वाकांक्षाओं के संयोग से गतिशील विचारों की शक्ति को समझ सकने की हमारी असमर्थता।

श्रेष्ठतम परिस्थितियों में भी एशिया और अफ्रीका में हमारा काम आसान नहीं होता। अनेक राष्ट्र, जिनके साथ हमें काम करना चाहिए, अभी हाल में ही स्वतंत्र हुए हैं और योरोपीय उपनिवेशवाद के लम्बे अनुभवों ने उन्हें संशयालु और प्रायः क्षुब्ध-सा बना दिया है।

इसके अतिरिक्त जब से स्तालिन ने १९३९ में हिटलर के साथ संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किये, तब से चले आने वाले जिस योरोपीय संकट में अटलांटिक देश रहते आये हैं, उससे एशियावासी बौद्धिक तथा भावात्मक दृष्टि से पृथक रहते आये हैं। योरोप में एक लम्बे अर्से से साम्यवादी आक्रमण के भय तथा धमकी ने मास्को के प्रति अमरीकी दृष्टिकोण को अनिवार्य रूप से प्रभावित किया है। फिर भी एशिया में, इतिहास के इस भयानक प्रकरण का अध्ययन नहीं के बराबर हुआ। इन वर्षों में अधिकांश एशियावासी अपनी स्वतंत्रता और जीवनमरण के संग्राम में फँसे रहे।

पश्चिमी योरोप की रिक्तता को भरने के लिए जब हमने अपनी सैनिक तथा आर्थिक शक्ति का प्रयोग किया, तो हम मुख्यतः उन लोगों के बीच कार्य कर रहे थे, जिन्होंने हमारी ही तरह आक्रमण की शंका को देखा और उसका उत्तर दिया; परन्तु जब हमने मध्यपूर्व में सोवियत हस्तक्षेप और कोरिया में चीन के आक्रमण रोकने की कोशिश की तो हम पर अविश्वास किया गया। इन दक्षिणी एशिया के देशों की भावुक सरकारों ने अपने उपनिवेशकालीन कटु अनुभवों की स्पष्टता के कारण अपने प्रायद्वीपों और द्वीपों तथा ऊँची पर्वत श्रेणियों के पीछे विश्व-साम्यवाद के खतरे को बहुत दूर समझा और उनके औपनिवेशिक संस्मरण स्पष्ट रूप से बने रहे।

आज एशिया में योरोप की भाँति हमें एक ऐसे साम्यवादी सिद्धान्त का सामना करना है जिसमें नया लचीलापन आगया है और रूसी तथा चीनी कूटनीति अधिकाधिक चतुर होती जा रही है। मास्को और पेकिंग ने हमारी जनतंत्रात्मक शब्दावली का प्रयोग करने में कभी हिचक नहीं दिखायी। अब वे हमारे छात्र तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान की पद्धतियों को और 'चतुर्थ सूत्र' को भी ग्रहण कर रहे हैं।

लेनिन ने एक बार कहा था कि पेरिस के लिए विश्वव्यापी साम्यवाद का मार्ग पेकिंग और कलकत्ता होकर जाता है। भविष्य में उस मार्ग के खोलने का प्रयत्न

बहुत संभव है विकट हो।

स्तालिन की मृत्यु के उपरान्त क्रेमलिन शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की दिन-रात बात कर रहा है। १९५५ में उसने कार्य भी शुरू कर दिया। उसने आस्ट्रिया से शान्ति-सन्धि की, किसी समय घृणास्पद पश्चिमी जर्मन-सरकार से समझौता किया; अपने चोटी के नेताओं को टिटो के यूगोस्लेविया के साथ संधि करने के लिए बड़े विनम्र भाव से भेजा; असाम्यवादी और साम्यवाद–विरोधी व्यक्तियों को रूस में प्रवेश करने और घूमने की अनुमति देने लगा और जिनेवा में अपनी सद्भावना दिखाकर अपनी नयी कूटनीति को चरम सीमा पर पहुँचा दिया।

विश्व-राजनीति में क्रेमलिन के रुख में परिवर्तन के अनेक कारण दिये जाते हैं। उनमें से कुछ की इसी पुस्तक में आगे चर्चा की गयी है; परन्तु कुछ भी कारण क्यों न हो, भविष्य में इनकी जटिलताएँ और भी बढ़ जायेंगी।

जर्मनी और जापान जैसे देश अधिक तेजी के साथ स्वतंत्र-शक्तियों के रूप में उठेंगे, भारत का प्रभाव निश्चित रूप से विस्तृत होता जायेगा, दक्षिणी एशिया, अफ्रीका, दक्षिणी अमरीका का महत्व बढ़ जायेगा और शीत युद्ध का बिलकुल आसान हिसाब–"या तो तुम हमारे साथ हो या हमारे विरुद्ध" और भी अधिक निरर्थक हो जायेगा।

दुनिया, जिसका क्रमिक विकास हो रहा है, क्रेमलिन के विश्व–साम्यवाद और वाशिंगटन के पश्चिमी गुट के मध्य, स्पष्ट संघर्ष के चित्र से कहीं अधिक जटिल जान पड़ेगी। संभव है, हम और रूस, दोनों परिस्थितियों अथवा घटनाओं को उतना प्रभावित न कर सकें, जितना पहले से करते आये हैं।

यदि नये रूसी नेता सह अस्तित्व की अवधि को केवल एक अल्पकालीन विश्रान्ति की चाल भी मान लें, जिसके बाद रूसीनीति सशस्त्र विस्तार में परिणत हो जायगी, तो भी उन्हें पता चलेगा कि कुछ ऐसी शक्तियाँ कार्य कर रही हैं, जिनको रोक रखना कठिन होगा। जैफरसन ने एक बार कहा था–"स्वतंत्रता की बीमारी काफी आकर्षक है।" इस युद्धाक्रान्त संसार में अगर क्रेमलिन फिर सख्ती का रुख धारण करता है तो शायद उसको पता चलेगा कि शान्ति भी संक्रामक सिद्ध हो चुकी है।

अमरीकी जनता तथा उसके नीति–विधायकों के सम्मुख भी यह एक नयी चुनौती है। हम खुले आक्रमण और आक्रमण की धमकियों के युग से स्पष्ट रूप से निकलकर आतंक की विषम शान्ति की स्थिति में पहुँच गये हैं। बड़े तनाव के ढीले होने पर छोटे तनाव बढ़ सकते हैं। जो कठिनाइयाँ, जटिलताएँ और

संघर्ष अभी तक शीतयुद्ध की राजनीति में दबे हुए थे, वे अब पूर्ण रूप से हमारे बीच तथा हमारे मित्रों में उभड़ सकते हैं। बिल्कुल नयी समस्याएँ खड़ी हो सकती हैं, जिनका सामना करने के लिए अभी हम तैयार नहीं हैं।

इस नये युग में हम स्थिर केन्द्र में खड़े नहीं रह सकते। यह एक कल्पनाशील कार्य का समय होगा, आलस्य का नहीं, जैसा कि १२ वें पोप ने अपने १९५४ के क्रिसमस के खुले सन्देश में कहा था, पारस्परिक भय और कटु जानकारी पर आधारित सह-अस्तित्व को शान्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती। उन्होंने कहा—"सचमुच शान्ति से एक साथ रहते हुए, नैतिकता से सुरक्षित और प्रेरित इसका परिवर्तन होना चाहिए अन्यथा यह असाध्य लकवे की स्थिति में सिकुड़ जायेगी और अंततोगत्वा युद्ध में परिणत हो जायेगी जिससे लोग भयभीत हैं।"

पोप ने जिस शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए सिफारिश की है, उसके लिए विचारों में चतुर्दिक पुनर्व्यवस्था की आवश्यकता होगी। ज्यों ही नयी विश्व-परिस्थिति उन्नति और अवनति के चक्र को प्रकट करती है, उदाहरण के लिए निःशस्त्रीकरण का प्रश्न, जो आशा और संकोच के साथ संलग्न है, प्रतिद्वंद्वी ध्वनियों का शोर प्रारम्भ हो जायेगा। कुछ तो इस बात पर जोर देंगे कि हम शीघ्र ही अपनी नेकनीयती का सबूत देने के लिए अपनी सैन्य-शक्ति की वर्तमान स्थिति को समझौते की बातों के लिए त्याग दें और दूसरे इस बात पर जोर देते रहेंगे कि शान्ति मनुष्य के लिए दुर्लभ ही रहेगी। इसलिए रूस और अमरीका दोनों को अणु-प्रतिद्वंद्वी के रूप में बना ही रहना चाहिए और इस प्रकार वे दोनों इस प्रकम्पित विश्व में एक दूसरे को अनिश्चित काल तक बुरी निगाह से देखते रहेंगे।

नयी स्थिति में नये तर्कों के बीच में जिम्मेदारी के साथ नीति-निर्माण के लिए निश्चित रूप से साहस, धैर्य और उच्च कोटि की कल्पना की आवश्यकता होगी। सबसे अधिक, अमरीकावासी तथा उनके नेता इस नयी स्थिति के सम्बन्ध में एक चेतना पैदा करें कि हमारे समाज के जीवित रहने की सामर्थ्य साम्यवाद की सीमाओं के बाहर रहनेवाली दो तिहाई मानवता के साथ हमारे सम्बन्ध पर निर्भर है। जो अमरीकी नीति क्रेमलिन की प्रतिक्रिया स्वरूप स्थिर होगी, वह अपने पक्ष को ही पराजित करने वाली होगी।

इसी प्रकार नीति के सैन्य-पक्ष पर केन्द्रीयकरण, जो १९४८-५५ के दशक में अपर्याप्त सिद्ध हो चुका है, आने वाले १९५५-६५ के दशक के परिवर्तन-काल में सर्वनाशी सिद्ध हो सकता है। वे लोग किस प्रकार सोचते हैं और

अनुभव करते हैं, उनकी इच्छाएँ क्या हैं, उनकी शंकाएँ क्या हैं और विचारों की कौन सी शक्ति और रूप उन्हें प्रभावित करते हैं, इन बातों को समझ सकने की हमारी सामर्थ्य पर मध्यवर्ती दुनिया से हमारे सम्बन्ध अधिक निर्भर करेंगे, न कि हमारे अणु-अस्त्रों के भंडार पर।

उन शक्तियों को, जो आज पूर्व स्थिति को पलट रही हैं, समझने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि बीसवीं सदी की तीन क्रान्तियों से, जिन्होंने दो पीढ़ियों में यूरेशिया की धरती के लोगों को बदल दिया है और आशा, भय, स्पर्धा और उत्तेजना की लहरों को दूसरे महाद्वीपों तक भेजा है, मौलिक परिचय प्राप्त किया जाय। इनमें से दो क्रान्तियाँ साम्यवादियों द्वारा ही की गयीं और तीसरी को वे चतुरता से अपने पक्ष में करने में तल्लीन हैं। नयी और कल्पनाशील पद्धतियों के आधार पर मास्को और पेकिंग अपने-अपने ढंग से एशिया और अफ्रीका के मध्यवर्ती संसार तक अपने प्रभाव को फैलाने का प्रयत्न कर रहे हैं, जहाँ पर अमरीकी नीति कम से कम प्रभावशाली रही है। इस स्थिति में यह मान लेना मूर्खता होगी कि उनके इस अंतिम उद्देश्य कि, संयुक्त राज्य अमरीका को उसके मित्रों से धीरे-धीरे अलग कर दिया जाय और विश्व साम्यवाद की अन्तिम विजय हो, में परिवर्तन आ गया है।

बीसवीं शताब्दी की इन क्रान्तियों के उद्‌गमों, शक्तियों, दुर्बलताओं तथा जटिलताओं के तुलनात्मक अध्ययन और उनके संदर्भ में हमें अपनी संक्षिप्त समीक्षा की ओर अब मुड़ना है।

दूसरा भाग

मास्को में मार्क्स का आगमन

रूस, तू किधर जा रहा है ? जवाब दे। कोई उत्तर नहीं मिलता। घंटियों की आवाज संगीत में विलीन हो जाती है, हवा बिखर कर बवण्डर की भाँति दौड़ती है; धरती पर जो कुछ है, वह सब उड़ा जा रहा है और दूसरे राज्य तथा राष्ट्र चकित हो निहार रहे हैं।

निकोलाई गोगोल, १८०९–५२

रूसी लोगों का अतीत अन्धकारमय है। इनका वर्तमान भयानक है, परन्तु भविष्य पर इनका दावा है। ये अपनी वर्तमान स्थिति में विश्वास नहीं करते। ये....समय से अधिक अपेक्षा करते हैं।

अलेक्जेण्डर हर्जेन १८१२–१८७०.

तीसरा प्रकरण

रूसी प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी की क्रान्ति का प्रथम विस्फोट रूसी लोगों में ही हुआ और मास्को आज भी इसका विश्वजनीन प्रधान स्थल है। यदि हमें इस क्रान्ति और उसके अभिप्रायों को समझना है तो हमें उस देश के बारे में भी जानना चाहिए जिसने इसे जन्म दिया।

रूस शब्द मात्र अमरीकियों तथा पश्चिमी योरोपियनों के मस्तिष्क में एक ठण्डे, सख्त और निस्सीम देश, एक पूरे महाद्वीप का चित्र उपस्थित करता है, जिसका पश्चिमी योरोप एक प्रायद्वीप मात्र है। इसके प्रबल, प्रतिभाशाली तथा प्रायः महान व्यक्तियों ने बेहद तकलीफें उठायी हैं। जैसा कि इतिहास से प्रकट है, रूसी-साहित्य भी एक हजार वर्ष की खून-खराबी, युद्ध, अत्याचार और क्रूरता को ध्वनित करता है। १९१७ के अंतिम दिनों में जब कि साम्राज्य-वादी सिंहासन लड़खड़ा रहा था, जरीना ने अपने पति निकोलस से सुदृढ़ रहने के लिए इस बात की याद दिलाते हुए कहा था कि, रूसियों को कोड़ों की मार प्यारी है। कोड़ों की मार प्यारी रही हो अथवा नहीं, परन्तु शताब्दियों तक वे कोड़ों की मार सहते रहे।

फिर भी वही लोग अपने स्वदेश की रक्षा में प्रथम १८१२ में और फिर १९४३ में आधुनिक योरोप के महानतम युद्ध-यंत्रों का सामना करनेके लिए तैयार हो गये।

पिछली शताब्दी के अंत तक अधिकांश रूसी किसान थे, जो उदरपूर्ति के लिए मध्ययुगीन पश्चिमी योरोप तथा आज के एशिया के कुछ भागों, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका की भाँति प्राचीन तथा भोंडे साधनों से धरती से अन्न खुरचते थे। १८६१ तक अधिकांश रूसी लोग गुलाम थे, जो दासों की भाँति सरलतापूर्वक बेचे जा सकते थे, अन्यथा अपने सामन्ती स्वामी से तथा जिस धरती को वे जोतते थे, उसके साथ जन्म से मृत्यु पर्यन्त बँधे रहते थे। उस वर्ष के बाद, वे कानूनी तौर पर आजाद थे, परन्तु अन्य परम्पराओं में जकड़े तथा पिछड़े हुए समाजों की भाँति अज्ञान और प्राचीन रिवाजों के नाम पर दास रूप में ही रखकर उनका शोषण होता रहा।

जारशाही के अंतिम वर्षों में यद्यपि किसानों को जमीन काफी वेची जाने लगी थी, तथापि किसानों का जीवन वहुत कठोर था। जहाँ शिक्षा तथा स्वास्थ्य–सुविधाएँ जैसी वातें धीरे-धीरे विकसित हुईं, वहाँ दूसरी ओर निर्द्वन्द्व क्रूरता के द्वारा निरंकुश शासन को प्रायः प्रोत्साहन मिला। दरिद्रता और पैतृकवाद का सम्मिलन हो गया। वहाँ पर वेकारी और काहिली थी तथा कभी-कभी दुर्भिक्ष भी।

महान पीटर और कैथरीन के इस देश के पश्चिमीकरण करने के १८ वीं शताब्दी के प्रयत्नों तक, आधुनिक युग के योरोप के साथ निकट सम्पर्क प्रारम्भ नहीं हुआ था। १६९७ में जार पीटर ने छद्मवेश में योरोप की यात्रा की। उन्होंने कारखानों का निरीक्षण किया, हालैण्ड में साधारण जहाज वनाने वाले का काम किया और ब्रिटेन को समृद्ध तथा शक्तिशाली वनाने वाली विधियों का पता लगाने के लिए लन्दन की यात्रा की। रूस में विद्रोह दवाने के लिए उन्हें वापस वुला लिया गया। उन्होंने अपने हाथों से विद्रोहियों को सजाएँ दीं और तुरन्त ही पश्चिमी पद्धतियों का, जिनका अध्ययन उन्होंने किया था, प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। आज के पिछड़े हुए देशों के अनेक नेताओं के पैगम्वरी व्यवहार की भाँति उन्होंने लगभग एक हजार ब्रिटिश, फ्रांसीसी, जर्मन निष्णातों को अपनी पिछड़ी हुई प्रजा को योरोप की समसामयिक कला तथा उद्योगों को सिखाने के लिए नियुक्त किया।

फिर भी वर्षों तक इस प्रकार प्रचारित नयी शक्तियाँ तथा विचार आवादी की अपेक्षाकृत छोटे समुदाय तक ही सीमित रहे। सेना के अफसर, सामन्त–पुत्र, सरकारी-पदाधिकारी और युवक विद्यार्थी योरोप की यात्रा से नये राजनीतिक तथा सामाजिक विचार लेकर वापस लौटे और साथ-ही-साथ अपने दरिद्र देशवासियों से पृथक् करने वाली दूरी के प्रति, जो न केवल शिक्षा के क्षेत्र में थी, वल्कि जीवन की स्थितियों में भी थी, गंभीर जागरूकता भी लेकर लौटे।

धीरे-धीरे ज्योंही वर्तमान शताब्दी प्रारम्भ हुई, रूस ने औद्योगिक क्षेत्र में वड़े लम्वे-लम्वे डग भरना शुरू किया। मास्को, सेंट पीटर्सवर्ग तथा डानेस के तटीय-स्थल अपनी प्रारम्भिक देहाती स्थिति से उठकर आधुनिक औद्योगिक केन्द्र वन गये, जिस प्रकार आज उत्तरी भारत में दामोदर घाटी के औद्योगिक क्षेत्रों के गाँवों में हुआ है।

इस औद्योगिक विकास ने कारखानों में काम करने वाले नगरवासी मज-

दूरों के एक नये वर्ग को जन्म दिया। उनमें से अधिकांश कार्यकुशल नहीं थे। कुछ ही वर्ष पूर्व वे गाँवों से लाये गये थे और प्रायः अपने ग्रामीण जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद पर घबड़ा उठते थे। उनके मालिक उनसे निर्दयतापूर्वक काम लेते थे और उनकी हालत जर्मनी, फ्रान्स तथा इंग्लैंड के प्रारम्भिक विद्रोह काल के मजदूरों से मिलती-जुलती थी।

अभी हाल के वर्षों में इस संयोग की राजनीतिक विस्फोटात्मकता अन्य स्थानों में भी परिलक्षित है; कभी-कभी इसके परिणाम दुखपूर्ण होते हैं। दक्षिणी एशिया, अफ्रीका, दक्षिणी अमरीका और रूस तथा चीन में भी, दलित तथा भूमिरहित किसान वर्ग, गंदे वाड़ों में रहने वाले, कम वेतन पाने वाले कारखानों के मजदूर और पश्चिमी शिक्षा प्राप्त हताश बुद्धिजीवी वर्ग, यह ऐसी सामग्री है, जिससे बीसवीं शताब्दी की क्रान्तियों का उद्भव होता है।

रूस में क्रान्तिकारी गतिविधि २० दिसम्बर, १८२५ से ही प्रारम्भ हो गयी थी, जब कि सैनिक-अफसरों के गुट ने, जिसने नेपोलियन के साथ युद्ध के समय की बढ़ती उदारता का उपयोग किया था, ज़ार निकोलस प्रथम के सत्तारूढ़ होने के दिन ही विद्रोह कर दिया। जब उनकी योजनाएँ लगभग असफल हो गयीं तब ये तथाकथित 'दिसम्बरिस्ट्स' बुरी तरह से दबा दिये गये।

परन्तु विद्रोह की आग सुलगती गयी। प्रत्येक युद्ध के बाद, जिसमें रूस उलझा हुआ था, ज़ार की सरकार की ओर से हर बार रियायतों की घोषणा होती रही– १८५६ का क्रीमियन युद्ध, १८७८ का रूस और तुर्की का युद्ध, १९०५ का रूस और जापान का युद्ध–हर बार ये रियायतें, वापस ले लेने की शर्तों के साथ, बेमन से दी गयीं थीं। १९१४ के पूर्व शान्ति के अन्तिम वर्ष में, कुछ उदार योजनाएँ, जैसे–भूमि-सुधार, जूरी द्वारा न्याय, इत्यादि अन्ततोगत्वा प्रारम्भ की गयी थीं, परन्तु सचमुच बहुत विलम्ब के साथ। जब रूसी क्रान्ति हुई तो उसने उस अनिश्चयात्मक सरकार को उखाड़ फेंका, जिसमें शासन-संचालन का ज्ञान नहीं था।

ज़ार की कमजोरी और असमर्थता का, सचमुच, मतलब यह था कि ज़ार का आतंक उनके उत्तराधिकारी साम्यवादियों के आतंक के मुकाबले का नहीं था। संसदीय सदस्यों ने विशेष रूप से राजतंत्र के पिछले दस वर्षों में सीमित आधार पर स्वतंत्र राजनीतिक कार्य किये। प्रेस पर यद्यपि पूर्ण सरकारी नियंत्रण नहीं था, तथापि उसकी बहुत ध्यानपूर्वक काट-छाँट होती थी। वाम-पक्षी पत्र

भी थे—१९०५ तक छिपे रूप में और उसके वाद अधिक खुले रूप में।

असन्तुष्ट रूसियों का रूस के वाहर और भीतर निरन्तर आन्दोलन चल रहा था और देश में रहने वाले स्तालिन जैसे क्रान्तिकारियों तथा अस्थायी रूपसे निर्वासित लेनिन जैसे व्यक्तियों के वीच आदेशों और सूचनाओं का आदान-प्रदान चलता रहता था। जव ज़ार ने स्तालिन को पकड़ा भी तो उसे साइवेरिया भेजकर संतोप कर लिया। स्तालिन के कितने विरोधी उसका दुवारा विरोध करने के लिए वच रहे?

फिर भी ज़ार के अन्तर्गत साम्राज्य-शक्ति का आधार अक्षुण्ण रहा—सेना, राजतंत्र तथा ज़ार का अपने किसानों के साथ 'माईवाप' वाला रूप सभी कुछ कायम था। परिणामस्वरूप सरकार का मौलिक विरोध छिप कर किया गया।

ज़ार की गुप्त पुलिस ने जिस हद तक क्रूरता की तथा फाँसी की सजाएँ दीं, विरोधी दल ने स्वभावतः वम से उसका प्रतिकार किया। अन्तिम चारों ज़ारों पर हत्या के छिट-पुट प्रयत्न किये गये, जिनमें से दो का भयानक अंत हुआ। रूस में, दुनिया के दुर्भाग्य से, लोगों ने हिंसा की आदतें खूव अच्छी तरह सीख लीं।

१९१७ में ज़ार निकोलस द्वितीय को उलट देने के वाद वोलशेविकों ने निर्देश दिया कि उसके घृणित पिता अलेक्जेण्डर की मूर्ति को, जो स्वाभाविक मृत्यु पाने वाले अन्तिम दो रोमनोव शासक थे, लेनिनग्रेड के रेलवे स्टेशन के सामने पार्क में खड़ा रहने दिया जाय, परन्तु उस पर के आलेख को इस प्रकार वदल दिया जाय—

हौवा

"मेरे पुत्र तथा पिता को जीवित फाँसी पर चढ़ा दिया गया और अव मृत्यु के वाद भी मैं अपमानित हूँ। यहाँ पर मैं अकेले उस देश के लिए, जिसने निरंकुशता के जुए को उतार फेंका है, एक पीतल के हौवे की भाँति खड़ा हूँ।"

परराष्ट्र के मामलों में रूस का विस्तार और उसकी सैनिक शक्ति उन्नीसवीं शताब्दी में योरोपीय शक्ति के संतुलन में महत्वपूर्ण अंश वनने के लिए पर्याप्त थी। नेपोलियन के विरुद्ध युद्धमें विजयी गुट का रूस प्रमुख सदस्य था और अलेक्जेण्डर प्रथम उन तीन राजाओं में था, जिन्होंने इस पवित्र गठवन्धन की स्थापना की थी और जिन्होंने योरोप को लोकप्रिय शासन और राजनीतिक स्वाधीनताओं की संक्रामक नयी धारणाओं से मुक्त रखने का संकल्प कर लिया था।

१९ वीं शताब्दी में रूस में विस्तार की ध्वनियाँ और भी अधिक संक्रामक रूप में जारी रहीं। रूसी साम्राज्य की तीन पवित्र राजधानियाँ "मास्को, सेंट पीटर्सवर्ग तथा कुस्तुनतुनिया हैं," ऐसा पान-स्लेविस्ट त्यूचेव (Pan-Slavist Tyutchev) ने लिखा था। उसने कहा, "उत्तर, पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में इसकी सीमाए कहाँ हैं? भाग्य यह दिखायेगा कि भावी मार्ग हमें सात आन्तरिक समुद्रों तथा सात महा नदियों की ओर ले जायेगा। नील से नेवा तक, एल्व से यांगटिसी तक, वोल्गा से दजला फरात तक, गंगा से डैन्यूव तक, यही रूसी साम्राज्य है और वह युगों तक कायम रहेगा।"

गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, इस विस्तारवान साम्राज्य का दवाव एक ओर तुर्की, वालकन और मध्यपूर्व की ओर वढ़ता गया और दूसरी ओर चीन तथा सुदूर पूर्व की ओर। पूर्वी भूमध्यसागर में उसके प्रवेश को जव योरोपीय शक्तियों ने क्रिमिया अथवा सान स्टेफनों में रोक दिया, तो रूसी साइवेरिया में उपनिवेश-विस्तार के अथवा विघटनशील मंचू राज्य से अधिक रियायतें ऐंठ लेने के चक्कर में पड़ गये। इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि जापान की वढ़ती हुई शक्ति से ज़ार की मुठभेड़ हो गयी और १९०४ में उससे पराजित होना पड़ा।

फिर इस विचित्र अनिवार्यता के साथ रूसी कूटनीतिक प्रयास दक्षिण-पश्चिम की ओर हुआ। इसके हथियारों में केवल ज़ार की सैनिक धमकी नहीं थी, वल्कि यूनानी, लेवनानी और काप्टिक कट्टर चर्चों के चचेरे भाई रूसी कट्टर चर्च पर आधारित सैद्धान्तिक अपील तथा स्लाव लोगों के संयुक्त राष्ट्र का सपना भी था। हमारी शताब्दी के प्रथम वर्षों में आस्ट्रिया, हंगरी तथा तुर्की के वालकन साम्राज्य के अवशेषों के विरुद्ध ज़ार सरकार के स्लाविक पक्षीय षड्यंत्रों ने प्रथम विश्व-युद्ध के आगमन में योग दिया।

इसी वीच रूस का सैद्धान्तिक अभियान, अफ्रीका में भी इथिओपिया की काप्टिक क्रिश्चियन चर्च के साथ भाईचारे का रिश्ता जमाने के लिए पहुँच गया था। १९१० में ज़ार निकोलस ने एडिस अवावा में प्रथम आधुनिक अस्पताल वनवाया और एक विशाल कूटनीतिक मिशन स्थापित किया। उसने आशा की थी कि इसको आधार वनाकर अफ्रीका में ब्रिटेन फ्रांस, वेल्जियम, स्पेन, पुर्तगाल के अफ्रीकी साम्राज्यों के विरुद्ध प्रतिद्वंद्वी प्रभाव-क्षेत्र का निर्माण किया जा सकेगा। १९५५ में, जव मैं इथिओपिया गया, तव

मिशन की ये चौकियाँ क्रेमलिन के मार्गदर्शन में अब भी समृद्ध हो रही थीं, यद्यपि उनकी चाल धीमी प्रतीत होती थी।

इस प्रकार साम्यवादी होने के बहुत पहले रूस ने मिशन की एक रहस्यात्मक भावना विकसित कर ली थी। दोस्तोवस्की के कथनानुसार करोड़ों लोगों को यह विश्वास था कि रूस और उसके पवित्र कट्टरपंथी चर्च ईसा मसीह के रूप को सुन्दर और शुद्ध ढंग से सुरक्षित रख रहे हैं और जब समय आयेगा तब वे इसको विश्व के लड़खड़ाते धर्मों को दिखायेंगे। रूस में नया "सितारा" निकलेगा। १९ वीं शताब्दी के अनेक रूसी लेखकों ने अपने देश की तुलना एक अज्ञात लक्ष्य की ओर जाने वाले और तेज घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले रथ से की थी जिसको मार्ग देने के लिए सम्मान के साथ संसार के सभी राष्ट्र अगल-बगल खड़े थे।

परन्तु दोस्तोवस्की ने रूस के विश्व-मिशन के आशावादी दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हुए लिखा था कि रूस आगे बढ़ने की दौड़ में बेतहाशा कदाचित् विध्वंस की ओर दौड़ता चला जा रहा है, क्योंकि अतीत में लोगों ने विनम्रता और आग्रह के साथ इस बेपनाह मार्ग से विचलित होने के लिए कहा था। १८४९ में उस महान उपन्यासकार को १८४८ की घटनाओं तथा योरोपीय विचारों से प्रेरित क्रान्तिकारी षड्यंत्रों में भाग लेने के अपराध में साइबेरिया भेज दिया गया। साइबेरिया की बंजर धरती की वेदना में उसकी राजनीतिक एवं भौतिक समाधान की सारी आशाएँ जाती रहीं।

इसी प्रकार के देश-निकालों से दूसरे लोग अपनी नयी क्रान्तिकारी आशाओं के साथ वापस आये और दोस्तोवस्की ने जो यह आशंका की थी कि जार-शाही का तख्ता उलट जायगा, उसकी पूर्ति हुई। ज़ार का स्थान एक कम्यूनिस्ट डिक्टेटर ने लिया; किन्तु इसके लिए अन्य धारणाएँ, विचार और व्यक्ति कारण बने थे।

चौथा प्रकरण

मार्क्स के सिद्धान्त

वह निश्चय ही क्रान्तियों का एक अत्यन्त अद्‌भुत जनक था; अपने देश जर्मनी से निष्कासित, दाढ़ी बढ़ाये हुए, लंदन की गन्दी बस्तियों में रहने वाला वह रूखा व्यक्ति ब्रिटेन के उदार पत्रों में परराष्ट्र-नीति पर आलोचनाएँ लिख-लिख कर किसी तरह अपना जीवन-निर्वाह कर रहा था। वह प्रतिदिन सुनसान ब्रिटिश म्यूजियम में जाता, पुस्तकों और पत्रिकाओं के अध्ययन में लग जाता तथा अपने क्रान्तिकारी सिद्धान्तों की विशाल और विस्तृत रूपरेखा तैयार करने में बड़े परिश्रम से जुट जाता था।

कार्ल मार्क्स केवल इसीलिए क्रान्तिकारी नहीं था कि उसने हिंसात्मक क्रान्ति के उपदेश दिये और लोगों का संगठन किया और न इसलिए कि उसके नाम पर क्रान्तियाँ हुईं, बल्कि इसलिए कि उसकी रचनाओं ने भविष्य के सभी राजनीतिक तथा आर्थिक विचारधाराओं को बहुत प्रभावित किया है।

आजकल आधे से अधिक संसार में शिक्षितों ने न्यूनाधिक रूप में उसके विचारों को स्वीकार किया है। यदि हम उन मौलिक तत्वों को हृदयंगम करना चाहते हैं जो वर्तमान इतिहास का निर्माण कर रहे हैं, तो इस अनोखे व्यक्ति तथा उसके विचारों की कम से कम प्रारम्भिक जानकारी अवश्य होनी चाहिए।

मार्क्स की विचारधारा शक्तिशाली थी, क्योंकि वह उसके आसपास के जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित थी। वह जीवन सीमित था, क्योंकि उसने केवल उन्हीं तथ्यों को देखा जो समय, स्थान तथा उसकी रुचि के अनुकूल थे। ये तथ्य औद्योगिक क्रान्ति के भयानक युग में जीवन की दर्दनाक वास्तविकताएँ थीं। उसने लंदन की गंदी बस्तियों में रहनेवाले अपने उन पड़ोसियों को देखा जो कम से कम साधनों पर जीवन निर्वाह करते थे; तंग कोठरियों में घुटते रहते और काम करते-करते थक कर चूर हो जाते थे। उसने बाध्य गति से फैलते हुए अर्थतंत्र के घातक प्रभाव को भी देखा। उसने इसके शिकार उन व्यक्तियों के आतंक और आधारहीनता को भी देखा, जो अपने कारखानों के मालिकों और शासन के नियंत्रकों की शक्ति के सम्मुख व्यक्ति

के रूप में विल्कुल असहाय थे।

आधी शताब्दी के उपरान्त विलकुल वैसी ही परिस्थितियां रूस में भी दिखायी देने लगीं। वस्तुतः न्यूनाधिक मात्रा में अधिकांश देशों में भी वैसी ही परिस्थितियाँ देखी जा सकती थीं, जो कृषि से यंत्र पर आधारित अर्थतंत्र के कठिन संक्रान्ति-काल से गुजर रही थीं। इन मानवीय कठिनाइयों की सहानुभूति तथा चतुराई के साथ व्याख्या करते हुए और उनसे निस्तार पाने के लिए युक्ति प्रस्तुत करने का दावा करते हुए, मार्क्स ने अपनी अपील का एक टिकाऊ आधार प्रदान किया।

मार्क्सवाद विकासशील कारखाना-पद्धति के कटु अन्यायों के विरुद्ध एक जोरदार आवाज से कुछ अधिक तो है ही; परन्तु समाजवादी समाधान की अपील से भी अधिक है। राबर्ट ओवेन तथा अनेक अंग्रेजी और फ्रांसीसी विचारकों ने इन दोनों बातों की ओर संकेत किये थे। मार्क्स ने इन कारखानों के मालिकों और शक्तिशाली लोगों के अधिकारों में भाग लेनेवाली बातों को काल्पनिक माना। मार्क्स ने कहा कि कुछ व्यक्ति ऐसे आत्मत्यागी हो सकते हैं, परन्तु पूरा वर्ग कभी नहीं हो सकता।

उसके स्थान पर, जिस प्रकार डारविन ने जीवन में विकासवादी प्रक्रिया को कार्य करते देखा, मार्क्स ने भी आर्थिक इतिहास में उसी प्रकार के तत्वों को कार्य करते हुए देखा। इसके कारण उसे विश्वास था कि व्यापक सीमाओं के अन्तर्गत घटनाओं की संभावना पर भविष्यवाणी की जा सकती है।

जर्मन दार्शनिक हीगेल के सिद्धान्त मार्क्स को वहुत सार्थक प्रतीत हुए। हीगेल का मत था कि इतिहास में प्रत्येक महान विचार, जिसे वह 'वाद' (Thesis) कहता था, अपना 'प्रतिवाद' (Antithesis) साथ लाता है। जब ये दोनों विचार प्रभुत्व के लिए संघर्ष करते हैं, तब एक समन्वयवाद (Synthesis) विकसित होता है, जिसमें दोनों के सच्चे तत्व होते हैं। यह समन्वयवाद वाद में नया वाद बन जाता है और इसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती रहती है, जिसमें प्रत्येक के परिणामस्वरूप प्राप्त 'समन्य-वाद' अपने पहले वाले से अधिक शुद्ध और सम्पूर्ण होता जाता है। यही वह प्रक्रिया है, जिसे हीगेल ने द्वंद्वात्मक कहा था।

बाद में मार्क्स ने यह दावा किया था कि उसने हीगेल को "सिर के बल खड़ा कर दिया है।" ऐतिहासिक विकास के नियंत्रक तत्व के रूप में विचारों के संघर्ष के स्थान पर मार्क्स ने इस तत्व को समाज की अस्थिर आर्थिक

शक्तियों में पाया। प्रत्येक प्रकार का आर्थिक संगठन केवल एक वर्ग को सत्ता प्रदान करता है, जिसके सदस्य उस विशिष्ट पद्धति के अन्तर्गत उत्पादन के साधनों के स्वामी होते हैं।

मार्क्स ने कहा था कि अपनी आर्थिक शक्ति के कारण यह वर्ग समाज की राजनीतिक बागडोर भी अपने हाथ में रखता है। चाहे कितने ही जनतंत्रात्मक नियंत्रण क्यों न रखे जायें, शासक वर्ग इस राजनीतिक सत्ता का अनिवार्य रूप से अपने प्रभुत्व को बढ़ाने में ही प्रयोग करता है। किसी समाज की कला, संस्कृति और रहन-सहन मुख्य रूप से शासक वर्ग की रुचि तथा आवश्यकताओं को प्रतिबिम्बित करती हैं, जो उन आर्थिक प्रयत्नों से संचालित होते हैं जिनके आधार पर वे सत्ताधीश बने थे।

फिर भी इस प्रकार की प्रत्येक आर्थिक-पद्धति में मार्क्स के अनुसार, 'आन्तरिक विरोध' तो रहते ही हैं। जैसे-जैसें उत्पादन के साधन बदलते हैं, वैसे ही वैसे प्राविधिक सुधारों से एक नवीन आर्थिक वर्ग का विकास होता है। ज्यों ज्यों यह उदीयमान शासक-वर्ग संख्या और शक्ति में बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह नये यांत्रिक सुधारों के लाभों में अधिक से अधिक भाग लेना चाहता है। पुराना शासक वर्ग उसे रोकने की कोशिश करता है। पहले वह राज्य के पद और बल को इन नये विरोधियों के विरुद्ध लगा देता है और जब वह अपर्याप्त सिद्ध होता है तो शक्ति और हिंसा का प्रयोग करता है। मार्क्स के अनुसार काल्पनिक (यूरोपियन) समाजवादियों ने इसे कभी समझा ही नहीं।

उदीयमान आर्थिक वर्ग ने सदैव अपने स्वार्थों की सुरक्षा प्रमुखतः हिंसा से की है और अन्ततः सत्ता हथिया ली है, जो इसके लिए पूर्व ही निर्धारित की गयी थी। इस प्रकार हिंसात्मक क्रान्ति ने प्रत्येक नयी आर्थिक व्यवस्था के जन्म पर दाई का काम किया है और एक बार नयी व्यवस्था कायम हो जानेपर पुनरावृत्ति का यह चक्र चलता रहता है।

मार्क्स ने पाश्चात्य इतिहास में इस प्रक्रिया का ज्वलन्त आदर्श सामन्तवादी से पूँजीवादी व्यवस्थाओं की ऐसी संक्रान्ति में देखा, जो संसार के अनेक भागों में अभी पूरी नहीं हुई थी, या हमलोगों के जीवन काल में उपेक्षित थी और उसे अपने देश में तो और भी कम दिखायी दी। सामन्तवाद के अन्तर्गत उस समय और आज भी आवश्यक आर्थिक संगठन कृषि-उत्पादन के चतुर्दिक चक्कर काटता रहता है। अतएव मार्क्स के लिए, उसकी अपनी परिभाषा के अनुसार, सामन्ती उच्च वर्ग, जो उत्पादन के साधनों का स्वामी था, शासक भी था।

मार्क्स ने कहा कि सामन्तवादी सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन केवल एक ही बड़े उद्देश्य के लिए बने थे--धरती के जोतने वालों को इस प्रकार बाँध रखा जाये कि वे निश्चित रूप से उन अल्पसंख्यकों के हित में कार्य कर सकें जो धरती के मालिक हैं।

अस्तु, अनिवार्यतः विरोधों का विकास हुआ। विलास-सामग्री की खरीद तथा सेना के संरक्षण के लिए जमीन के स्थान पर नकद धन की आवश्यकता, व्यापार तथा परिवहन के बेहतर साधनों तथा कृषि-उत्पादन की बचत ने धीरे-धीरे व्यापारियों, कारीगरों तथा महाजनों के एक नये वर्ग के साथ नगरों का विकास किया। परश्रमजीवियों के इस नये वर्ग ने (Bourgeoisie) उत्पादन के नये साधनों, पूंजी तथा कारखानों पर नियंत्रण कर लिया। उसके स्वार्थ भूमिस्वामित्व पर आधारित प्राचीन सामाजिक तथा राजनीतिक ढँचे के बिलकुल विपरीत थे।

जमींदार की दिलचस्पी सदा से इसीमें रहती आयी है कि किसी प्रकार व्यवस्था और स्थायित्व कायम रहे और अर्ध-दासों के साथ उसके सम्बन्ध पूर्ववत् बने रहें और साथ ही इस प्रकार की जीवन-प्रणाली को कायम रखने-वाली उच्च वर्गीय राजनीतिक सत्ता अक्षुण्ण बनी रहे। अब नया मध्य-वित्तीय वर्ग जहां कहीं भी अपना व्यापार चलाना या बढ़ाना चाहता है, मजदूरों को भाड़े पर रखने के अधिकार के लिए आग्रह करता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वह पहले सामन्तों के विरुद्ध राजा को तैयार करता है और तदनन्तर राज्य व्यवस्था में राजा के विरुद्ध अपने अधिकार मांगता है। नगर की जनसंख्या उच्चवर्गीय जन-संख्या से अधिक होने के कारण उनका हित इसी में है कि वे अन्ततोगत्वा अपनी राजनीतिक माँगों को जनतंत्रात्मक प्रतिनिधि-शासन के रूप में प्रस्तुत करें, जिससे उनके उद्देश्य की ओर अन्य वर्ग भी आकृष्ट हो जायें।

मार्क्स के अनुसार इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि मध्यवित्तीय वर्ग अभिजातीय समाज-व्यवस्था को हिंसात्मक ढंग से उखाड़ फेंकेगा। उसने फ्रान्सीसी क्रान्ति को सुन्दर दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया। मार्क्स की व्याख्या के अनुसार ही, यह नया 'समन्यवाद' (Synthesis) भी स्थिर नहीं रहा। लगभग तुरन्त ही इसके भी विरोधी तत्व एकत्र होने लगे और क्रान्ति की उसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति हुई।

उदाहरणस्वरूप, औद्योगिक क्रान्ति की पूर्ण सफलता के लिए जो आर्थिक

शक्तियाँ कार्य कर रहीं थी, उनके लिए बड़े-बड़े कल-कारखानों के निर्माणार्थ नित्यप्रति अधिक पूँजी की आवश्यकता थी। जिन थोड़े-से लोगों के पास कुछ पूँजी थी, वे नये शासकवर्ग के रूप में आ गये। अनिवार्यतः समाज के इस नये आर्थिक ढाँचे ने स्वयं अपनी कब्र खोदने वाले तैयार कर लिये, जो-कल कारखानों में काम करने वाले मजदूर थे।

देहातों से नयी भर्तियों तथा जनसंख्या की वृद्धि के कारण उनकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती गयी और मार्क्स ने देखा कि वे पश्चिमी योरोप के औद्योगिक यंत्रों के जबड़ों में समाते चले जा रहे हैं। उसने विश्वास के साथ यह भविष्य-वाणी की कि भूमिहीन श्रमिकों का यह सर्वहारा वर्ग नये मालिकों द्वारा शोषित किया जायेगा; क्योंकि लाभ ही इन मालिकों का एकमात्र उद्देश्य था। निरन्तर विकासमान उद्योग एकाधिकार में परिणत होते जायेंगे और मजदूरों को केवल जिन्दा रखने भर के लिए वेतन मिलेगा। परन्तु मार्क्स की यह मौलिक आर्थिक भविष्यवाणी १९ वीं शताब्दी के ब्रिटेन में ही असत्य सिद्ध हो चुकी है।

छोटे-छोटे व्यापारी, पूंजीपति की केन्द्रीभूत पूँजीवादी आर्थिक शक्ति के मुकाबले न ठहर सकने के कारण समाप्त हो जायेंगे और श्रमिकवर्ग में शामिल हो जाने के लिए विवश हो जायेंगे। अब पूरा समाज धीरे-धीरे, उत्पीड़ित श्रमिक और उनके उत्पीड़क पूँजीवादी, इन दो विरोधी वर्गों में विभाजित हो जायगा।

मार्क्स ने अपने विश्वास के अनुसार आर्थिक उथलपुथल के चक्र में पूँजी-वाद का आन्तरिक विरोधाभास देखा, जो १९ वीं शताब्दी में ही स्पष्ट हो चुका था। मार्क्स ने कहा कि नये औद्योगिक यंत्रों से उत्पादन इतना बढ़ जायेगा कि उसे न तो पूँजीवादी वर्ग स्वयं खपा सकेगा और न वह मजदूरों को खरीदने देगा। उसने कहा कि "अधिक उत्पादन की महामारी" का अनिवार्य परिणाम मन्दी होगा तथा यह मन्दी सामूहिक बेकारी के साथ श्रमिक और पूंजीवादी वर्गों के बीच संघर्ष को और भी अधिक तीव्र और कड़वा बना देगी।

मार्क्स ने भविष्यवाणी की कि "श्रमिक वर्ग में ज्यों-ज्यों प्रतिरोध की शक्ति बढ़ती जायेगी, त्यों-त्यों पूँजीवादी वर्ग दमन के लिए शासन यंत्र पर अपने नियंत्रण का अधिक से अधिक प्रयोग करेगा। जब ये शान्तिपूर्ण तरीके श्रमिक को शान्त रखने में अपर्याप्त सिद्ध होंगे, तब पूँजीवादी वर्ग सेना और पुलिस की नग्न शक्ति का, जिन पर उनका कब्जा होगा ही, प्रयोग करने के लिए विवश होगा। श्रमिक वर्ग भी स्वत्व का अपहरण करने वालों को अधिकार-वंचित

करने के लिए तीव्र हिंसात्मक विरोध करेगा और 'सर्वहारा का अधिनायकतंत्र' स्थापित करेगा जिसमें उत्पादन के साधनों पर श्रमिक वर्ग की ओर से राज्य का अधिकार होगा।

फिर भी, प्रत्येक पिछली क्रान्ति के विपरीत यह पहली क्रान्ति होगी, जिसमें केवल सर्वहाराओं का ही एक वर्ग बचा रहेगा जब कि अन्य सभी वर्ग विनष्ट हो जायेंगे। चूँकि राज्य स्वयं वर्ग-शासन का साधन है जिसकी फिर कोई जरूरत नहीं रह जायेगी, लेनिन के शब्दों में, वह कुछ दिनों में लुप्त हो जायेगा और अन्तिम समन्वय के रूप में एक वर्गविहीन साम्यवादी समाज ऐतिहासिक प्रक्रिया की शाश्वत विजय के परिणामस्वरूप रह जायेगा।

× × ×

फरवरी, १८४८ की क्रान्तियों में से, जो उस वर्ष योरोप भर में फैल जाने वाली थीं, प्रथम क्रान्ति जर्मनी और फ्रान्स में फूट पड़ी। उसी महीने में मार्क्स का कम्यूनिस्ट घोषणापत्र प्रकाशित हुआ। ऐसे अधिकतम महत्व की पुस्तिका कदाचित् ही कभी प्रकाशित हुई हो। इसमें मार्क्स ने सर्वप्रथम अपने सिद्धान्तों की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की, जिसका अन्त इन अशुभ शब्दों में हुआ,—"साम्यवादी इस बात की खुली घोषणा करते हैं कि वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों को शक्ति द्वारा उखाड़ फेंकने से ही उनके उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकती है। शासक-वर्ग को साम्यवादी क्रान्ति से प्रकम्पित कर दो। सर्वहाराओं का बेड़ियों के सिवाय और कुछ नहीं जायगा। संसार के मजदूरो एक हो।

विश्वक्रान्ति के लिए यह एक खुली ललकार थी। घोषणापत्र ने यह स्वीकार किया कि प्रत्येक देश के सर्वहाराओं को पहले अपने देश के मध्यवर्गीय लोगों से अपने मामलों को निबटाना चाहिए, जिसका रूप राष्ट्रीय आन्दोलन की भाँति ही है। फिर भी, सारांश में यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय था। घोषणापत्र के अनुसार श्रमिकों का कोई देश नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी के राष्ट्रीय राज्य पूंजीवादी अत्याचार के साधनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। नये विजयी सर्वहारा अब इनमें से किसी के प्रति आस्था नहीं रखेंगे।

इसके विपरीत, वर्गहित तथा सहानुभूति से संसार के अन्य सभी देशों में श्रमिकों की एकता स्थापित होगी, जिनके लिए सभी राष्ट्रीय पूंजीवादी सरकारें एक जैसी दुश्मन होंगी। जिस प्रकार आर्थिक स्थितियों ने विश्वव्यापी क्रान्ति को जन्म दिया, उसी प्रकार उसका विश्वव्यापी इलाज भी हो सकता है। इस प्रकार अन्त में सफल क्रान्ति विश्वव्यापी वर्गविहीन समाज, अभिनव शासन

तथा विश्व अर्थतंत्र की स्थापना करेगी।

राष्ट्रीयता द्वारा उत्पन्न समस्याओं के मार्क्सवादी समाधानों ने इसके प्रभाव को सदैव एक नया विस्तार प्रदान किया है। फ्रांस, वेलजियम, जर्मनी, इंग्लैण्ड से आये हुए प्रतिनिधियों के अन्तर्राष्ट्रीय दल के द्वारा ही इस घोषणा-पत्र का सूत्रपात हुआ था। १५ वर्षों वाद मार्क्स ने श्रमिक वर्ग की एक प्रथम अन्तरराष्ट्रीय संस्था (इण्टरनेशनल वर्किंग मेन्स असोसिएशन) की नींव डाली, जिसका उद्देश्य, उसके साथी एंजिल्स के शब्दों में, 'योरोप और अमरीका के श्रमिकों की विशाल सेना को एक सूत्र में संगठित करना था।'

इस प्रकार मार्क्स ने सिद्धान्त से वहुत कुछ अधिक कहा। विश्व-क्रान्ति के लिए आन्दोलन की नीति भी उसके पास थी। उसने कहा, "आज तक संसार के समझने तथा समझाने का यह काम दार्शनिकों का था और अव इसको वदलना हमारा काम है।"

मार्क्स ने भविष्य के चित्र को वड़े मजे से अस्पष्ट ही रहने दिया। भविष्य के साम्यवादी समुदाय के ढाँचे तथा उसके नेताओं की नीतियों की अपेक्षा वह संघर्ष की प्रक्रिया के प्रति अधिक चिन्तित था। इन मामलों में अटकल लगाना उसकी दृष्टि में एक वुरा जुआ था।

इसी प्रकार मार्क्स की विचारधारा का एक और महत्वपूर्ण सन्दिग्ध प्रस्ताव भी विलकुल अस्पष्ट रह गया। मार्क्स ने अपने साथियों को समाजवाद के हेतु से संघर्ष करने के लिए प्रेरित और संगठित किया और उन्हें समझा-वुझा कर यह भी दिखाने का प्रयत्न किया कि यह अनिवार्य है। परन्तु पूर्व निश्चित परिणाम की प्राप्ति के लिए परिश्रम तथा वलिदान करने का क्या महत्त्व है?

इस विरोधाभासपूर्ण अस्पष्ट सिद्धान्त ने मार्क्सवादी आकर्षण को और अधिक वढ़ा दिया है। अनेक वुद्धिजीवी तथा आदर्शवादी लोग उस पवित्र नैतिक लक्ष्य से, जो उन्होंने इस सिद्धान्त में देखा, अत्यधिक प्रभावित हुए, जवकि हताश क्रान्तिकारी इस जानकारी से आश्वस्त हो लेते हैं कि इतिहास उन्हीं के पक्ष में है।

अनिवार्यता की यह भावना कम्यूनिज्म के इस गुण के साथ कि साध्य ही साधन का औचित्य है, भलीभाँति घुलमिल गयी। चूँकि वह अन्तिम परिणाम पर शंका नहीं करता, इसलिए एक पक्का साम्यवादी साधनों के सम्वन्ध में अविवेक से कभी नहीं घवरायेगा।

अनेक दुःख भोगने वाले योरोपीय लोगों के लिए मार्क्सवादी विकल्प की संभावना ने उसमें तात्कालिक प्रभावोत्पादकता पैदा कर दी। जब मार्क्सवादी विचारों की भनक मध्य विक्टोरिया युग के इंगलैण्ड की शान्ति प्रक्षुब्ध कर रही थी, तब स्वतंत्रता और सुख-सम्पत्ति के देवदूत जॉन स्टूअर्ट मिल ने अपने समकालीनों को एक तीव्र चेतावनी दी—

"समस्त संभावनाओं के साथ साम्यवाद और तमाम तकलीफों और अन्यायों के साथ वर्तमान समाज, जिसके साथ निजी सम्पत्ति की संस्था भी संलग्न है, जिसमें परिश्रम का फल, जैसा कि हम अभी भी देखते हैं, मजदूर को सबसे कम और जो परिश्रम बिल्कुल नहीं करते उनको सबसे अधिक मिलता है, उससे कम भाग उन्हें प्राप्त होता है, जो नाममात्र के लिए काम करते हैं और इसी प्रकार निम्न अनुक्रम में. . . . यदि इन दोनों के बीच किसी को चुनना पड़े—यदि यह समाज अथवा साम्यवाद ही दो विकल्प हैं, तो साम्यवाद की सभी छोटी-बड़ी कठिनाइयाँ तराजू में केवल धूल मात्र होंगी।"

एक प्रकार से साम्यवाद-विरोधी प्रजातंत्रात्मक समाजवादी दलों का, जिनमें से अधिकांश ने अपने को मार्क्सवादी बताया है, यही देखना विशेष लक्ष्य रहा है कि चयन का यह कटु प्रश्न ही न उठे। यदि यह बात उलटी प्रतीत होती है, तो हमें याद रखना चाहिए कि मार्क्स ने स्वयं एक बार कहा था कि मैं मार्क्सवादी नहीं हूँ और इस पर उसके अनुयायी अपने गुरु की मन-चाही विवेचना करने का अधिकार अपने पास ही सुरक्षित रखना चाहते हैं।

ब्रिटेन के राजनीतिक सिद्धान्तवादी विचारक हैराल्ड जे. लास्की, जो कभी मजदूर दल के अध्यक्ष भी थे, एक बार जब न्यूयार्क में व्याख्यान दे रहे थे, तब कुछ साम्यवादी प्रदर्शनकारियों ने प्रश्नों से उनके व्याख्यान में बाधा डाली। जब बाकी श्रोता प्रश्नकर्त्ताओं की हँसी उड़ाने का प्रयत्न कर रहे थे, लास्की ने कहा, "छोड़ो इनको; आखिर हम सभी मार्क्स के अनुयायी हैं। वे अपने ढंग से मार्क्स का अनुसरण करते हैं और मैं मार्क्स के ढंग से।"

जबसे मार्क्स ने लिखा, तब से उसके विभिन्न अनुयायियों ने भिन्न-भिन्न ढंग से उसके विचारों पर मत व्यक्त किये हैं, जिनके परिणाम भी विभिन्न रहे हैं। प्रजातंत्रात्मक समाजवाद, जो हिंसात्मक परिवर्तन की कल्पना को अस्वीकार करता है, पश्चिमी योरोप के श्रमिक आन्दोलनों का नियंत्रक सिद्धान्त बन गया है और इसके महत्व ने अमरीकी राजनीति को भी प्रभावित किया है। यह एक ऐसा विषय है जिस पर हम किसी अगले प्रकरण में विचार करेंगे।

पाँचवाँ प्रकरण

लेनिन ने चिनगारियों को लपटों में बदल दिया

यह भविष्यवाणी करने के लिए कि रूस में मार्क्सवादी सिद्धान्त की एक नम्र, सहिष्णु और विकासवादी व्याख्या रूस में लागू नहीं हो सकती, हम वहां की १९ वीं शताब्दी के षड्यंत्रमय वातावरण को काफी देख ही चुके हैं।

१८७० और १८८० के दशकों में मुट्ठी भर आतंकवादियों ने ज़ार के सम्पूर्ण दमनकारी क्रूर यंत्र को उससे लड़ कर तथा १८८१ में स्वयं ज़ार अलेक्जैण्डर द्वितीय और अन्य उच्चाधिकारियों की हत्याएँ कर ठप कर दिया। तब जार का भयानक दमनचक्र क्रूरता के साथ चल पड़ा और उसने एक-एक आतंकवादी को पकड़कर फाँसी पर लटकवा दिया। उनमें से लेनिन का २१ वर्षीय जवान भाई अलेक्जैण्डर अलिवानोव भी था।

रूस में मार्क्स के सिद्धान्तों ने इस प्रकार कल्पनाहीन या योजनाहीन छिटपुट आतंक की निरर्थकता को सिद्ध कर दिया, जो उस समय छिप कर कार्य करने वाले क्रान्तिकारियों में चरमोत्कर्ष तक पहुँच गयी थी। टॉलस्टॉय जैसे शान्तिवादी ईसाई की जनतंत्रात्मक प्रार्थना निष्फल-सी ही गयी।

ऐसा मालूम होता था कि केवल मार्क्सवादी ही व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत कर सकते थे और वह समाधान था, विचारों का ऐसी चतुरता से गढ़ा जाना कि उससे मजदूरों में एक जनव्यापी आन्दोलन उत्पन्न हो सके और इन सिद्धान्तों में दीक्षित, अनुशासित और संगठित लोगों के द्वारा उन विचारों को बड़ी तेजी के साथ कार्यान्वित किया जा सके। इन दीक्षित लोगों का कार्य ही यह था कि कारखानों के मजदूरों को इस लोकप्रिय विप्लव की जरूरत समझने के लिए शिक्षा दें और ऐसे तरीके सिखलायें कि यह क्रान्ति उपयुक्त समय पर हो सके।

निकोलई लेनिन ने अकेले ही इस अवसर को किसी भी रूसी क्रान्तिकारी की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से पहिचाना। सेण्ट पीटर्सबर्ग में "श्रमिक वर्ग की मुक्ति के लिए यूनियन" नामक एक संस्था के संगठनकर्त्ता के नाते १८९५ में २७ वर्ष की आयु में लेनिन को साइबेरिया भेज दिया गया। अपने बन्दीजीवन के इन पाँच वर्षों में लेनिन को मार्क्स की महान विचारधारा को आत्म-

सात करने, रूस में पूंजीवाद के विकास पर अपना मुख्य विश्लेपण लिखने तथा भावी योजना तैयार करने का अवसर मिला।

गुप्तरीति से कार्य करने की क्रान्तिकारी परम्परा में पले, किन्तु विशुद्ध आतंक के दिवालियेपन से निराश बुद्धिवादी नौजवानों को उसने प्रभावित किया और सोशल डिमोक्रेटिक पार्टी के अत्यन्त क्रान्तिकारी पक्ष का वह अध्यक्ष वन गया। १९११ में जिस रूसी क्रान्ति ने संसार को प्रकम्पित कर दिया उसका कुशल संचालक वनने के लिए यह पद वहुत उपयोगी और श्रेष्ठ था।

१९०० में कुछ ही लोग लेनिन का मुकावला कर सकते थे। साइबेरिया से मुक्त होने पर उसने एक मार्क्सवादी पत्रिका "इस्करा", जो पहले जर्मनी से, फिर इंगलैण्ड से और अन्त में स्विट्जरलैण्ड से प्रकाशित हुई थी, को शुरू किया। उसका मुख्य नारा था "चिनगारी से लपटों तक।" वह तया अन्य रूसी प्रवासी क्रान्ति के सिद्धान्तों तथा कूटनीति पर परस्पर झगड़ते रहे और अपनी-अपनी चालों को किसी प्रकार चोरी से रूस पहुँचाते रहे, जहाँ मुट्ठी भर उत्सुक वुद्धिवादी लोग मिलकर उन्हें गुप्त रूप से पढ़ते थे।

ये निर्वासित व्यक्ति तया इनकी विस्तृत कुशल योजनाएँ प्रायः हँसी-मज़ाक का विपय वन जाती थीं। सम्मानित आस्ट्रियाई सोशलिस्ट, विक्टर एडलर ने अपने विदेश-मंत्री काउंट वर्चटोल्ड को समझाने की कोशिश की कि योरोपीय युद्ध का अर्थ होगा रूस में क्रान्ति। वर्चटोल्ड ने तिरस्कार के साथ पूछा—"इस क्रान्ति का नेतृत्व कौन करेगा? शायद काफे सेन्ट्रल में वैठे हुए श्री ब्रोन्स्टीन!" इतिहास में श्री ब्रोन्स्टीन लिओ ट्रॉट्स्की के नाम से मशहूर हुए।

अक्तूवर, १९१७ की क्रान्ति के केवल दो महीने पूर्व ही ट्रॉट्स्की एकदम वामपक्षी के रूप में लेनिन से आकर मिले थे; परन्तु परिस्थितियाँ गुप्त क्रान्तिकारियों को विरोधी दलों में विभाजित कर रही थीं।

१९०३ में ब्रुसेल्स में होने वाली रूसी सोशलिस्ट पार्टी की दूसरी वैठक तक वातें काफी ऊपर आने लग गयी थीं, किन्तु वह वैठक, जो वाद में लन्दन में हुई, पुलिसके द्वारा तितर-वितर करदी गयी। वहाँ लेनिन के गुट ने, जो वाद में वोलशेविक (वहुसंख्यक) के नाम से प्रसिद्ध हुआ, नरमवादी दल को, जो वाद में मैनशेविक (अल्पसंख्यक) के नाम से मशहूर हुआ, ४३ व्यक्तियों की सभा में वहुत कम मतों से हरा दिया। उन दोनों के वीच मतभेद का मौलिक प्रश्न क्रान्ति के तरीकों के सम्वन्ध में था। क्रान्ति जन–आन्दोलन पर निर्भर करे, जिसमें मैनशेविकों का विश्वास था, या थोड़े से षड्यंत्रकारी लोगों के दल

पर, जिसका पक्ष बोलशेविकों ने ग्रहण किया और जिसे पूरा करने के लिए वे तैयार भी थे।

वोलशेविकों और मैनशेविकों में अन्तिम रूप से फूट पड़ जाने के पूर्व १९०५ में, क्रान्ति के लिए नये मार्क्सवादी कार्यक्रम की प्रथम परीक्षा हुई। जापान के साथ युद्ध में रूस की हार के वाद सेंट पीटर्सवर्ग और मास्को के मुद्रकों ने सरकार के विरुद्ध हड़ताल कर दी। क्रान्तिकारी योजनाओं को सफल वनाने के उद्देश्य से श्रमिकों ने प्रत्येक कल-कारखानों से सामान्य समिति के लिए प्रतिनिधि चुन कर भेजे। इसका नाम श्रमिकों की सहायक पंचायत (सोवियत आफ वर्कर्स डिप्टीज) रखा गया और इसका संगठन मैनशेविकों ने किया जिसमें ट्रॉट्स्की भी शामिल था। अर्ध—सरकार के रूप में, उसने ९० दिनों तक राजधानी में शासन भी किया।

स्वेच्छा से प्रेरित एवं जनतंत्रात्मक ढंग से निर्वाचित, मजदूरों की इस छोटी-सी संस्था ने अल्पकाल में ही, राजनीतिक और सामाजिक सुधार के असाधारण कार्य किये, यद्यपि वे कुछ ही दिनों तक रहे। मुद्रण की पूर्ण स्वतंत्रता स्थापित हुई और उदार, समाजवादी तथा रूढ़िवादी सभी राजनीतिक विचारों के दैनिक पत्र प्रकाशित होने लगे। आठ घण्टे के दिन की घोपणा कर दी गयी। १९०६ में अन्य नेताओं के साथ ट्रॉट्स्की ने अपनी गिरफ्तारी के वाद, भारतीय अहिंसक क्रान्तिकारियों की भाँति अपने मुकदमे को क्रान्तिकारी विचारों के प्रचार के माध्यम का अच्छा साधन वनाया।

अपने अन्य भागे हुए नेताओं के साथ क्रान्ति के संचालन और विस्तार में सहायता के लिए लेनिन अन्य निर्वासित नेताओं के साथ विदेश से लौट आया। मास्को सोवियत की सशस्त्र क्रान्ति कुचल दी गयी थी, परन्तु इस असफलता के वावजूद, क्रान्तिकारियों के दुर्व्यवस्थित सोवियत में अपने अनुशासित वालशेविकों को सम्मिलित कर भविष्य की क्रान्ति के संचालन की वागडोर हथिया लेने की संभावना को लेनिन ने भलीभाँति समझ लिया था।

१९०५ की हार से लेनिन ने एक सवक सीखा। जिन सिपाहियों ने इस विप्लव को दवाया था और सोवियत को उखाड़ फेंका था, वे सिपाही किसान थे। यद्यपि १९०४ से १९०६ तक की अवधि में रूस में यत्रतत्र अनेक किसान-विद्रोह हुए थे, परन्तु मुख्य वात यह थी कि जो क्रान्तिकारी उत्साह और मानसिक उत्तेजना शहर के मजदूरों में आगयी थी वह पिछड़े गाँवों तक नहीं पहुँच पायी थी, जहाँ से ये सिपाही आये थे। यह निश्चित था कि किसान ज़ार—सरकार के

वफादार बने रहे।

लेनिन ने इस बात को समझ लिया था कि केवल कारखानों के मजदूरों से सफल क्रान्ति नहीं हो सकती। इसके लिए रूस के बड़े जनसमुदाय के सहयोग की आवश्यकता होगी और ऐसे किसानों की जरूरत होगी जो सामन्ती उच्चवर्ग की रियासतों में दीन-हीन जीवन बिता रहे हैं। उसका अनुमान था कि इन किसानों का सहयोग तथा समर्थन पाना कठिन नहीं होगा।

बोलशेविकों का सत्ता प्राप्त करने का सफल प्रयत्न ठीक बारह वर्ष बाद हुआ। यह पैट्रोग्रेड में हुआ जो पहले पीटर्सबर्ग था और २४ अक्तूबर, १९१७ को जिसे लेनिनग्रेड नाम दिया गया। यह लगभग छः महीनों की उत्तेजित राजनीतिक गतिविधियों तथा आन्दोलनों के उपरान्त हुआ। जैसा कि एंजिल्स ने कहा था, यह विश्व-युद्ध के परिणामस्वरूप हुआ। एक बार उसने लिखा था कि अब विश्व-युद्ध के सिवाय प्रशा-जर्मनी में कोई दूसरा युद्ध सम्भव नहीं और ऐसा भीषण विश्व-युद्ध जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

योरोप के अमीरों और शरीफों को एंजिल्स ने एक बार चेतावनी दी थी कि परिस्थितियाँ उन्हें 'अन्तिम विशाल युद्ध-नृत्य में ढकेल ही देंगी'। उसने स्वीकार किया था कि संभव है, कुछ समय के लिए युद्ध हमें पृष्ठभूमि में ढकेल दे, परन्तु उसे विश्वास था कि ऐसी शक्तियाँ उन्मुक्त होंगी, जिन पर कोई भी नियंत्रण नहीं कर सकेगा। "इस भयानक दुर्घटना के पश्चात् तुम बरबाद हो जाओगे और सर्वहाराओं को या तो विजय प्राप्त होगी या उसका प्राप्त होना अनिवार्य हो जायेगा।"

१९०५ के बाद रूसी बोलशेविकों और मैनशेविकों के बीच की भेदक रेखा और भी कठोर हो गयी। कुछ तो क्रान्तिकारी गतिविधियों के पराभव के कारण और कुछ लेनिन के कुचक्र के कारण कमजोर और प्रभावहीन लोग बाहर निकाल फेंके गये। अब बहुसंख्यक बोलशेविक अपेक्षाकृत कट्टर उग्र-वादियों के एक छोटे-से दल में परिणत हो गये, जिसका सम्बन्ध विदेश स्थित केन्द्रीय समिति से बना रहा और जिस पर लेनिन का ही प्रभाव था।

फिर भी वर्षों तक भूमिगत कार्य से बहुत से सदस्यों की वफादारी और कठोरता की परीक्षा हुई। कुछ तो प्रचारक तथा आन्दोलक के रूप में दीक्षित हो चुके थे। ज़ार का खजाना ले जाने वाली गाड़ी की लूट के समय कुछ लोगों ने गुरिल्ला युद्ध देखा था। इसी लूट के धन से क्रान्तिकारी कार्य चलता था।

सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह थी कि उनमें से प्रत्येक व्यक्ति केन्द्रीय समिति की आज्ञा मानने के लिए तैयार था।

पूँजीवादी समाज के विरुद्ध वर्गयुद्ध जीतने के लिए लेनिन ने अपनी पार्टी के लिए एक केन्द्रीय कमान तथा आन्तरिक अनुशासन पर बहुत अधिक बल दिया, जैसा कि युद्ध-क्षेत्र में लड़ने वाली सेना में होता है। साधन पूर्ण-रूपेण साध्य के अन्तर्भूत थे। सभी प्रकार के नैतिक शील-संकोच को दबाना था। उसके जनतंत्रात्मक केन्द्रवाद के अन्तर्गत उच्चतम विचार-परिषद ने एक बार जो भी निर्णय कर लिया, तो उन गोपनीय तथा हिंसात्मक कार्यों में से किसी को भी पूरा करने के लिए दल का कोई भी सदस्य तैनात किया जा सकता था जो युद्ध-नीति के अन्तर्गत अनिवार्यतः स्वीकृत होते हैं। १९१७ के अक्तूबर तक लेनिन की सेना हमला करने के लिए मौके की ताक में थी।

उसी वर्ष की फरवरी में ज़ार का शासनतंत्र जर्मनी की सेनाओं के साथ छिटपुट युद्धों से जर्जरित हो, टूट गया था और निष्क्रिय बन गया था। कारखानों के मजदूरों तथा युद्ध-पीड़ित किसानों से विप्लव प्रारम्भ हुआ। सैनिकों ने अपने उच्चाधिकारियों के आदेशों को मानने से इन्कार कर दिया; नौसेना ने पैट्रोग्रेड के महत्वपूर्ण नौसैनिक स्थल कोन्सटाट में विद्रोह कर दिया। एक सप्ताह की उथल-पुथल के बाद रामानोव राजवंश ध्वस्त कर दिया गया। उदारवादी तथा नरमवादी समाजवादियों की अस्थायी सरकार ने इसका स्थान ग्रहण किया। उन्होंने बालशेविकों को अस्वीकार कर दिया और नरमवादी मैनशेविकों का विशेष स्वागत किया।

कुछ ही दिनों बाद लेनिन स्विट्ज़रलैण्ड से एक बन्द गाड़ी में जर्मन सैनिक अधिकारियों की मदद से योरोप पार करते हुए रूस जा पहुँचा। कुशल बोल-शेविक आन्दोलनकारी, जिनके साथ क्रान्तिका उपदेशक ट्रॉट्स्की भी बाद में आकर मिल गया, कारखानों और सेनाओं में घुस गये। राजधानी में प्रायः होनेवाली जन-सभाओं में उन्होंने क्रान्ति की भावना से उत्तेजित, अव्यवस्थित तथा दिग्भ्रान्त जनता के सामने रोटी, जमीन तथा शान्ति के नारों को बारबार दुहराया।

अस्थायी सरकार संकोच में थी। उसने यह प्रस्ताव रखा कि भूमि-सुधार एक विधान-परिषद के संयोजित होने तक न किये जाँय, क्योंकि विधान-परिषद ही जनतंत्रात्मक ढंग से भूमि-वितरण पर विधान बना सकती है। परन्तु देर-पर-देर होती गयी और विधान परिषद की बैठक न बुलायी जा सकी।

मुद्रा-प्रसार का जोर बढ़ता गया। युद्ध के तीन वर्षों के बाद की क्रान्ति ने गाँवों से शहरों तक अनाज के प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया। शहरों में भूख और लगभग अकाल की स्थिति पैदा हो गयी। एक ओर रूस के थके हुए सिपाही तथा उनके किसान-परिवार शान्ति के लिए चिल्ला रहे थे, दूसरी ओर अस्थायी सरकार ने वफादारी के साथ जर्मनी के विरुद्ध युद्ध जारी रखने के लिए पश्चिमी शक्तियों की दिये गये वायदे को फिर से दुहराया।

जबकि यह नयी सरकार सुदृढ़ होने की कोशिश कर रही थी, उसके मैनशेविक समर्थकों के सामने एक परिचित विरोधी संस्था पैट्रोग्रेड सोवियत, जिसमें विद्रोही सेनाओं तथा हड़ताली कारखानों के निर्वाचित सदस्य थे, एक चुनौती के रूप में खड़ी थी। बालशेविकों का सोवियत सदस्यों के एक बहुत बड़े दल पर नियंत्रण था। १९१७ में ग्रीष्मकाल का अन्त होते-होते उन्होंने बहुमत प्राप्त कर लिया था और वे नयी सरकार के आदेशों के विरुद्ध आदेश दे रहे थे।

इस प्रकार सोवियत ने रूसी सैनिकों तथा नौसैनिकों को आदेश दिया कि वे अपने अफसरों की आज्ञाओं को न मानें, अपनी इकाइयों के प्रशासन के लिए रेजिमेण्टल समितियाँ चुनें और क्रान्तिकारी अनुशासन कायम करें।

१९०५ के विपरीत, इस बार पैट्रोग्रेड सोवियत को अन्य सोवियतों से बल प्राप्त हो रहा था, जो न केवल अन्य औद्योगिक केन्द्रों में प्रस्फुटित हो चुकी थीं, बल्कि उन गाँवों में भी फैल गयी थीं, जहाँ पर किसान सदस्यों की सोवियतों ने जमीन जब्त करना शुरू कर दिया था।

"सारी सत्ता सोवियत की" का एक चौथा नारा गढ़ कर लेनिन ने जानबूझ कर इस अस्थायी सरकार को नष्ट करने का प्रयत्न शुरू कर दिया। कारखानों और सेनाओं में बोलशेविकों की सरगर्मी बढ़ने लगी। पैट्रोग्रेड में प्रायः प्रतिदिन जनता के प्रदर्शन होने लगे।

जुलाई, १९१७ के प्रारम्भिक दिनों में सरकार ने वोलशेविक दल के विरुद्ध दमन-चक्र चलाने के लिए एक ऐसे ही मौके से लाभ उठाया। लेनिन तथा अन्य नेताओं पर यह अभियोग लगाया गया कि वे जर्मनी के वेतनभोगी हैं। तमाम लोगों के साथ ट्रॉट्स्की भी जेल में ठूँस दिया गया। लेनिन बड़ी होशियारी के साथ फिनलैण्ड निकल भागा और फिर अक्तूबर में तभी वापस आया, जब उसके दल ने सत्ता हथिया ली।

इस बीच पहली अस्थायी सरकार टूट कर एक मैनशेविक वकील करेन्स्की के हाथ में आ गयी थी। सितम्बर में जनरल कोर्नीलोव ने, जो ज़ार की वापसी

का विरोधी था, किसी प्रकार के सोशलिस्टों द्वारा संचालित अस्थायी सरकार से कोई आशा न देख, अपनी सेना के साथ पैट्रोग्रेड की ओर कूच कर दिया। राजधानी की प्रतिरक्षा के लिए करेन्स्की को उस सोवियत की सहायता लेनी पड़ी, जिसमें पहली बार बालशेविकों को बहुमत प्राप्त हुआ था।

अब लेनिन फिनलैण्ड के अपने गुप्त स्थान से बोलशेविक केन्द्रीय समिति को, अन्तिम कदम उठाने के लिए प्रेरित करने लगा, जो नयी सरकार के विरुद्ध एक सशस्त्र विद्रोह ही था। समिति में सख्त विरोध के बाद लेनिन की योजना स्वीकृत हुई, जिसका समर्थन उसकी अनुपस्थिति में ट्रॉट्स्की तथा स्तालिन ने किया।

करेन्स्की को व्यवस्थित ढंग से दमन के लिए उकसाया गया और २४ अक्तूबर की रात में बालशेविकों ने आक्रमण कर दिया। उन्होंने बड़ी सावधानी से राजधानी पर सैनिक अधिकार की योजना बनायी, जिसमें कम से कम रक्तपात हुआ। कुछ ही घण्टों में करेन्स्की भाग निकला। पैट्रोग्रेड की सोवियत ने नगर पर नियंत्रण कर लिया और लेनिन ने अपनी सुदृढ़ टुकड़ी के जरिये सोवियत पर नियंत्रण रखा। दूसरे दिन लेनिन तथा उनके अनुयायी अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में, जिसकी बैठक उन दिनों चल रही थी, रूस की नयी सरकार के रूप में प्रतिनिधियों से स्वीकृति पाने के लिए गये।

कारखानों के मजदूरों तथा सेना के सिपाहियों के साथ बोलशेविक अब भी सबसे मजबूत थे। उनका संगठन रूस के भीतर अधिक दूर तक प्रवेश नहीं कर सका था। ८० प्रतिशत रूसी किसान थे। १९०५ के पराभव ने लेनिन को सिखा दिया था कि शहरी क्रान्तियों का दुर्भाग्यपूर्ण अन्त होगा यदि इसे किसानों का कम से कम निष्क्रिय समर्थन भी न प्राप्त हो। मार्क्स ने किसानों को गँवार और भोंदू मानकर छोड़ दिया था।

इस मामले की सचाई तो यह है कि मार्क्स ने किसानों को अपनी गणना से लगभग बहिष्कृत ही कर दिया था। मुख्यतः ब्रिटेन और जर्मनी के औद्योगिक समाज से परिचित होने के कारण मार्क्स ने अपने सिद्धान्तों की रचना केवल कारखानों के मजदूरों के आधार पर की थी। १८४८ के साम्यवादी घोषणापत्र में किसानों की ओर केवल संकेत मात्र हुआ है। खेती तथा उत्पादक उद्योगों के सम्मिलन का बड़े चलते ढंग से उल्लेख मात्र हुआ है जिसमें गाँवों और नगरों के भेद को मिटाने की चर्चा की गयी है।

परिणामस्वरूप शायद रूसी क्रान्ति के पूर्व समस्त पूर्वी योरोप में किसान

आन्दोलन के नेताओं ने मार्क्स की ओर या तो ध्यान नहीं दिया या उनका विरोध किया। यह तो लेनिन की प्रतिभा थी, जिसने मार्क्सवादी सिद्धान्तों में इस गम्भीर भूल को समझा और उसको सुधारने का यत्न किया। उसने वड़ी होशियारी से भूमि के पुनः वितरण को वोलशेविक कार्यक्रम में अन्य प्रमुख वातों के साथ रखा।

लेनिन-सरकार के प्रथम कार्यों में ७ नवम्वर, १९१७ को जमींदारों की वेदखली और किसानों में भूमि-वितरण की पुष्टि थी। उसने अपने साथियों से कहा—"हमें इस आज्ञा को सारे देश में प्रसारित करना चाहिए। तव उन्हें भूमि पर कब्जा करने की कोशिश करने दो। यह हमारी क्रान्ति की सवसे महत्वपूर्ण सफलता है। आज वोलशेविक क्रान्ति पूर्ण होगी जिसे फिर कभी उलटा नहीं जा सकेगा।"

वाद में कठिन परिस्थितियों में किसान साधारणतया तटस्थ रहे। ब्रिटेन, फ्रान्स तथा जापान के धन-जन तथा शस्त्रों की सहायता से तया (Archangel) अर्चेन्जल में साहसिक अभियान के लिए अमरीकी सेना के प्रोत्साहन से ज़ार के अफसरों ने वोलशेविकों की नयी सरकार के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। परन्तु किसानों ने उनकी सहायता करने से इन्कार कर दिया और अधिकतर इसीलिए प्रतिक्रान्ति धीरे-धीरे एक गम्भीर खतरा वनने से रुक गयी।

लेनिन ने अपने जिस वोलशेविक को प्रभावित करने के लिए 'जमीन, रोटी और शान्ति' का नारा वुलन्द किया था, उसका नाम वदल कर कम्यूनिस्ट क्रान्ति रख दिया गया। सशस्त्र संघर्ष के दौरान में इन विचारों ने लोगों को कार्य के लिए प्रेरित किया और ये ही विचार निर्णायिक तत्व सिद्ध हुए। अपनी कुशलता के प्रमुख रहस्य को वताते हुए लेनिन ने कहा, "युद्ध सम्पूर्ण का एक अंश मात्र है और वह सम्पूर्ण राजनीति है।"

किसान उस 'सम्पूर्ण' के अत्यावश्यक अंग है। जिस प्रकार शहर के मजदूर कारखानों पर सामूहिक स्वामित्व प्राप्त करके क्रान्ति के माध्यम से सुरक्षा प्राप्त करने की कोशिश करते हैं, उसी प्रकार शिथिल, रूढ़िवादी तथा राजनीतिक दृष्टि से अचेत किसान अपनी-अपनी धरती पर व्यक्तिगत स्वामित्व के द्वारा सुरक्षा प्राप्त करने की कोशिश करते हैं।

परन्तु युद्ध और राजनीति को केवल घर तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता और न रूसी क्रान्ति के उन्नायकों ने उसे केवल रूस के ही लिए माना था।

छठा प्रकरण

निर्यात के लिए क्रान्ति

"दुनिया के मजदूरो! एक हो।" यह न केवल सबसे बुलन्द मार्क्सवादी नारा था, प्रत्युत वास्तव में इसने कार्य के ढंग में नाटकीयता पैदा कर दी थी और मार्क्स की राय में उसने कम्यूनिस्टों को अन्य क्रान्तिकारियों से पृथक कर दिया। घोषणा-पत्र के अनुसार कम्यूनिस्ट, "समस्त सर्वहाराओं के सामान्य स्वार्थों के हित में ही कार्य करेंगे, चाहे वे किसी भी राष्ट्र के क्यों न हों।"

परन्तु अन्तरराष्ट्रीय श्रमिक संघ, जिसका संगठन मार्क्स ने अपने जीवनकाल में ही किया था, असफल रहा। उसकी मृत्यु के ६ वर्ष उपरान्त १८८९ में संगठित द्वितीय 'इण्टरनेशनल' अधिक सफल रहा। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व के वर्षों में योरोप की सभी प्रमुख सोशलिस्ट पार्टियाँ इसके सदस्यों में थीं।

१९१२ में, बसेल में, कैसर की सेनाओं के बेलजियम पर आक्रमण करने के दो वर्ष पूर्व इण्टरनेशनल कांग्रेस ने 'युद्ध के विरुद्ध युद्ध' का एकमत से निश्चय किया। इस बात को न समझना कि विश्व-युद्ध की पैशाचिकता की कल्पनामात्र से निश्चय ही श्रमिक वर्ग विद्रोह कर बैठेगा, सरकारों का पागलपन होगा। बसेल की घोषणा में यही चेतावनी दी गयी थी और यह भी कहा गया था कि मजदूर पूंजीपतियों के लाभ के लिए, राजाओं की महत्वाकांक्षाओं अथवा रहस्यपूर्ण कूटनीतिक संधियों के महान् गौरव के लिए, एक दूसरे पर गोली चलाना अपराध समझते हैं। प्रतिनिधियों ने बड़े उत्साह के साथ हर प्रकार से युद्ध का मुकाबला करने को, यहाँ तक कि सारे योरोप में हड़ताल तक कर देने की प्रतिज्ञाएँ कीं।

इस मसले पर तथा अन्य मामलों में भी नरमदली जनतंत्रात्मक सोशलिस्टों तथा क्रान्तिकारी सोशलिस्टों के बीच मतभेद बना रहा। लड़ाकू वामपक्षी दलों ने भावी क्रान्ति के राष्ट्रविरोधी रूप पर बहुत बल दिया। दूसरी ओर नरम विचारवाले सोशलिस्टों में अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, उन राष्ट्रों के प्रति आस्था बढ़ती जा रही थी जिनकी संसदों में वे भाग ले रहे थे। उनकी

युद्धविरोधी भावनाएँ यद्यपि सच्ची थीं, तयापि वे रूढ़िगत शान्तिवादी दृष्टिकोण को ही अधिक परिलक्षित करती थीं।

जब योरोप में शान्ति थी, तब ये मतभेद अस्पष्ट ही रहे और प्रायः होटलों तथा शराबखानों में सैद्धान्तिक तर्क-वितर्क के विषय से अधिक नहीं थे। फिर भी, युद्ध के अचानक आगमन ने, सिद्धान्त को एक तरफ फेंक दिया और यह दिखा दिया कि लोग क्या सोचते हैं और किन आधारों पर कार्य करते हैं।

द्वितीय इण्टरनेशनल की पच्चीसवीं वर्षगाँठ के अवसर पर अगस्त, १९१४ में कैसर ने अपने बर्लिन के छज्जे से घोषित किया, "मैं कोई दल नहीं जानता, मैं केवल जर्मनों को जानता हूँ।" और अधिकांश जर्मन सोशल डिमोक्रेट, जो योरोपीय सोशलिस्ट पार्टियों में सबसे बड़े और अपने ढंग के थे, तुरन्त ही चुपचाप युद्ध के लिए चल पड़े।

फ्रान्स के प्रमुख युद्ध-विरोधी व्यक्ति जुआरेस (Juares) का किसी कट्टर राष्ट्रवादी ने कत्ल कर दिया और अन्य मित्र राष्ट्रों के समाजवादी अपने देश के झंडों के नीचे एकत्र हो गये। द्वितीय इण्टरनेशनल के अध्यक्ष, बेलजियम के वाण्डरवेल्डे (Vandervelde) ने प्रतिज्ञा की कि जब तक बेलजियम के श्रमिकों के घरों में जर्मन सिपाही घुसे रहेंगे, तब तक इण्टरनेशनल की कार्यसमिति की बैठक बुलाने की बात नहीं हो सकती।

सभी तटस्थ देशों के मार्क्सवादी अन्तरराष्ट्रीय समाजवाद के इस विशाल प्रासाद के पतन से भयभीत हो उठे। युद्धरत राष्ट्रों में भी १९१७ में अमरीका के इयूजीन डेब्स (Eugene Debs) जैसे थोड़े से लोगों ने युद्ध के विरुद्ध कार्य करना और परिणामस्वरूप जेल जाना जारी रखा।

क्रान्ति के साथ नरमदली पश्चिमी सोशलिस्टों के विश्वासघात के सम्बन्ध में लेनिन ने बड़ी कटुता से लिखा। यह युद्ध का विचार नहीं था, जो लेनिन को नापसन्द था, बल्कि अधिकांश पश्चिमी सोशलिस्टों की दयनीय तथा संकीर्ण राष्ट्रीयता उसे नापसंद थी। उसे उन समाजवादी शान्तिवादियों के प्रति भी कोई सहानुभूति न थी, जिन्हें वह "युद्ध से भयभीत भावुक हुल्लड़बाज" कहा करता था। "द्वितीय इण्टरनेशनल का पतन" (Collapse Of The Second International) शीर्षक पुस्तक में उसने लिखा—"दुनिया में बहुत कुछ बच गया है, जिसे आग या तलवार से नष्ट कर ही देना चाहिए।" उसने यह मन्तव्य रखा—"विश्वव्यापी सर्वहारा—क्रान्ति ही विश्व-युद्ध की भयानकता से

बचने का एक मात्र उपाय है।"

किन्तु यह विश्वव्यापी क्रान्ति कैसे और कहाँ से आरम्भ होगी ? विश्वव्यापी युद्ध से उत्पन्न विनाश और अव्यवस्था को किस प्रकार ऐसे प्रारम्भ में परिणत किया जा सकता है ?

साम्यवादी घोषणापत्र ने पूँजीवाद को एक विश्वव्यापी प्रणाली माना, जिसमें उसके उत्पादनों के लिए "बाजार की निरन्तर बढ़ती हुई जरूरत मध्यवित्तीय वर्ग (बुर्जुआ) से सारी दुनिया की खाक छनवा डालती है। यह पद्धति सर्वत्र अपना जाल बिछायेगी और सभी जगहों से अपना सम्बन्ध स्थापित करेगी। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि यह अपने रूप के अनुसार सारी दुनिया को बना लेती है। जिस प्रकार इस प्रणाली ने गांवों को शहरों पर निर्भर बना दिया, उसी प्रकार इसने असभ्य तथा अर्ध-सभ्य देशों को सभ्य देशों पर निर्भर बना दिया; किसान राष्ट्रों को 'बुर्जुआ' राष्ट्रों पर और पूर्व को पश्चिम पर आश्रित करवा दिया।"

सामान्यरूप से मार्क्सवादियों द्वारा यह माना जाता रहा है कि सफल क्रान्ति सर्वप्रथम जर्मनी जैसे अत्यधिक औद्योगिक देशों में होगी, जहाँ मजदूरों की एक बड़ी सुसंगठित संस्था आधार का काम देगी। फिर भी, लेनिन ने मार्क्स की व्याख्या को यह कह कर और आगे बढ़ाया कि क्रान्ति पूँजीवादी श्रृंखला की सबसे कमजोर कड़ी से प्रारम्भ होगी। उसने कहा, 'रूस में, जहाँ पूँजीवाद कमजोर और दमन सबसे अधिक है, औद्योगिक योरोप से पहले क्रान्ति फलीभूत होगी।

प्रक्रिया किस प्रकार कार्यान्वित होगी, इसका चित्र लेनिन ने वर्षों पूर्व, प्रस्तुत कर दिया था। यह एक ऐसी व्याख्या थी जो औपनिवेशिक क्षेत्रों में आज भी आकर्षक है। एशिया के बुद्धिजीवियों को पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों के शोषण का प्रत्यक्ष अनुभव बहुत कम था, परन्तु लेनिन का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त उनके अपने साम्राज्यवादी शोषण को समझने के लिए एक प्रशंसनीय तर्क प्रस्तुत करता है।

लेनिन ने कहा था कि राष्ट्र के भीतर ज्यों-ज्यों आर्थिक स्पर्धा कम होती जाती है, त्यों-त्यों अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्रों में बड़े राष्ट्रों के बीच सर्वाधिकार के लिए स्पर्धा और भी तीव्र होती जाती है। बाजारों तथा कच्चे माल के लिए निश्चित दबाव, जो पूँजीवादी उत्पादन के विस्तार में ही सन्निहित है, अर्धविकसित देशों पर और कम उन्नत राष्ट्रों पर अधिकार प्राप्त करने के अन्तरराष्ट्रीय

संघर्ष में प्रतिफलित हो जाता है।

चूँकि प्रत्येक राष्ट्र में पूँजीपतियों को अपना लाभ जारी रखने के लिए उपनिवेशों तथा परतंत्र देशों की नितान्त आवश्यकता होती है, इसलिए उनकी प्राप्ति को अवसर अथवा अस्थायी आर्थिक मोलभाव करने की शक्ति पर नहीं छोड़ दिया जायेगा। प्रत्येक देश में शासक वर्ग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राज्य की पूरी शक्ति का उपयोग करेगा।

पहले तो झगड़ा आयात-निर्यात-करों तथा व्यापारिक प्रतिवन्धों के जरिये होगा। अन्त में प्रतिद्वंद्वी राष्ट्रों के पूँजीपतियों पर विजय के लिए सेनाओं का उपयोग किया जायगा। इसके परिणामस्वरूप अनेक विनाशकारी साम्राज्यवादी युद्ध होंगे, जिनके कारण सारी दुनिया का पूँजीवाद अत्यधिक रक्तश्राव से श्वेत हो जायेगा और विद्रोही सर्वहारा का सरलता से शिकार वन जायेगा।

वढ़ती हुई विश्व-क्रान्ति सर्वप्रथम पूँजीवादी देशों में सवसे अधिक कमजोर कड़ी पर प्रहार करेगी। पिछड़े हुए तथा औपनिवेशिक क्षेत्र क्रान्ति के समर्थन के लिए एकत्र होंगे। विदेशी शासन तथा देशी सामन्तवाद के विरुद्ध विद्रोह योरोपीय पूँजीवाद के किले में मजदूरों के विप्लव की आग भड़का देगा। इस प्रकार जव औपनिवेशिक क्रान्ति पश्चिमी सर्वहाराओं की विजय के लिए निर्णायक कार्य कर सकती है, तव उपनिवेशों में सामन्तों के विरुद्ध विद्रोह को पश्चिमी क्रान्ति के निर्देशन की आवश्यकता होगी और वह क्रान्ति उन देशों को औद्योगिक विकास कठिन स्थिति से अन्त में साम्यवाद तक पहुँचा सकेगी।

स्तालिन ने वाद में कहा, "लेनिनवाद ने यह सिद्ध कर दिया है कि पश्चिम में क्रान्तिकारी सफलता का मार्ग उपनिवेशों तथा गुलाम देशों में साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वतंत्रता के आन्दोलनों के साथ क्रान्तिकारी संधि से प्राप्त होगा।"

लेनिन की दृष्टि में प्रथम विश्व-युद्ध इसी प्रकार का एक साम्राज्यवादी युद्ध था; औपनिवेशिक एशिया तथा अफ्रीका पर कब्जा वनाये रखने के लिए यह जर्मनी तथा अन्य मित्र पूँजीवादियों के वीच संघर्ष था। इस प्रकार यह युद्ध पूँजीवाद की मरणपीड़ा का सूचक है। रूसी क्रान्ति की अन्तिम विजय का आश्वासन देने वाली योरोपीय राज्यों की क्रान्ति अव वहुत पीछे नहीं रह सकती।

सर्वप्रथम घटनाएँ लेनिन की भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध करती जान पड़ीं। ठीक उसी समय, जव वह वोलशेविकों की केन्द्रीय समिति को अक्तूबर-क्रान्ति के लिए प्रेरित कर रहा था, जर्मन नौसेना में विद्रोह हो गया। वाल्शेविक

विद्रोह प्रारम्भ करने के उचित समय के सम्बन्ध में उसने निश्चय ही इस घटना का प्रभावपूर्ण तर्क के रूप में प्रयोग किया।

पूर्वी तथा मध्य योरोप में अगले कुछ महीनों के लिए क्रान्ति की लपटें फैल गयीं। प्रथम सोवियत परराष्ट्र मंत्री ट्रॉट्स्की ने अपने साथियों की आशावादिता को प्रकट किया। उसने कहा कि अब मेरा काम आसान हो जायेगा; मैं कुछ क्रान्तिकारी घोषणाएँ प्रकाशित करूँगा और तब दूकान बन्द कर दूँगा।"

जर्मनी में अधिकतर रूसी सोवियतों के आधार पर शहरों में श्रमिक परिषदें तथा पिछड़े क्षेत्र में सैनिक परिषदें स्थापित हुईं। जनवरी, १९१९ तक, बर्लिन की गलियों में क्रान्तिकारी विद्रोह प्रारम्भ हो गये और भीड़ ने सरकारी इमारतों पर अधिकार कर लिया।

मार्च में, साम्यवादी नेता बेलाकुन के नेतृत्व में हंगेरी में श्रमिकों, किसानों तथा नौसैनिकों की परिषदों का गणराज्य घोषित कर दिया गया। इटली में हड़ताल, दंगे तथा स्थानीय विद्रोह फैल गये। फ्रान्स में भी सोशलिस्ट पार्टी के लड़ाकू पक्ष को, जो बाद में कम्यूनिस्ट हो गया, मजदूरों का बहुमत प्राप्त हो गया। लेनिन ने विश्वास के साथ घोषित किया—"न केवल योरोपीय देशों में, प्रत्युत सबकी आँखों के सामने समस्त संसार के सर्वहाराओं की क्रान्ति सुदृढ़ हो रही है।"

इस उथलपुथल के दौरान में ही लेनिन ने मास्को में योरोपीय समाजवादी दलों की एक सभा बुलायी, जिसने विश्वक्रान्ति को बल प्रदान करने के लिए तृतीय इण्टरनेशनल, 'कोमिण्टर्न' की घोषणा कर दी। अपने प्रथम वर्ष में 'कोमिण्टर्न' काफी अशक्त बना रहा। रूस में गृह-युद्ध चलता ही रहा और नयी सरकार की सारी ताकत इसका मुकाबला करने में खर्च होती रही।

इस बीच योरोपीय क्रान्तियाँ ठंडी पड़ने लगीं। जर्मन विद्रोह का केन्द्र तोड़ डाला गया और उसके नेता कत्ल कर दिये गये। फिनलैण्ड की क्रान्ति भी समाप्त हो गयी। मार्क्सवादी सिद्धान्त के चकमे में आकर बेलाकुन का अन्त हुआ। किसानों के साथ अपने व्यवहार में लेनिन ने अपने आपको उस चकमे से बचाया। बेलाकुन ने अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने के पहले ही अपने इस वादे का खण्डन किया कि किसानों को अपनी जमीन पर स्थायी अधिकार प्राप्त होगा और उसने जबरदस्ती सामूहिक खेती को किसानो पर लादने की कोशिश की। हंगेरी में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई; अन्य कठिनाइयाँ भी उठ खड़ी हुईं और अगस्त, १९१९ तक उसकी सरकार उखाड़ फेंकी गयी।

इटली में संघर्षशील समाजवादी गतिविधियां १९२० के अन्त तक नेतृत्व के अभाव में छिन्नभिन्न हो गयीं। पहले के समाजवादी मुसोलिनी ने शक्ति-संचय प्रारम्भ कर दिया, जिसके द्वारा बाद में उसने रोम पर फासिस्टों की चढ़ाई कर दी।

लेनिन की दृष्टि में १९२० में एक आशाप्रद शक्ति जो शेष रह गयी थी, वह थी लाल सेना, जो उस समय पोलैण्ड की ओर बढ़ रही थी और रूसी साम्यवादी शक्ति का जर्मनी की बची-खुची क्रान्तिकारी शक्ति से गठबंधन की संभावना पैदा कर दी थी। रूसी सेना वारसा के दरवाजे पर थी जब कोमिण्टर्न की दूसरी कांग्रेस बुलायी गयी थी। इस कांग्रेस ने इक्कीस शर्तें लगायीं थीं, जिनका सभी कोमिण्टर्न पार्टियों द्वारा पालन अत्यावश्यक था; परन्तु एक सप्ताह बाद ही रूसी सेना विस्चुला में बुरी तरह से परास्त हुई और इस प्रकार सारे योरोप में फैल जाने की तात्कालिक सर्वहारा-क्रान्ति की आशाएँ लुप्त हो गयीं।

फिर भी, ये इक्कीस शर्तें, साम्यवादी क्रान्तिकारी चालों के विकास की महत्वपूर्ण प्रतीक थीं। योरोपीय समाजवाद के नरम दलीय तथा उग्रवादी क्रान्तिकारी तत्वों को एक दूसरे से सदैव के लिए पृथक् करने की दृष्टि से, लेनिन ने इन शर्तों को बनाया था। यद्यपि वह जानता था कि वीरतापूर्ण लड़ाई के लिए इस संख्या में बहुत कमी आ जायेगी, जैसा कि उसकी बोलशेविक पार्टी में एक बार हुआ था, परन्तु उदार आदर्शवादी के लिए उसकी योजना में स्थान नहीं था।

बोलशेविक आधार पर सदस्य-पार्टियों का संगठन और स्थानीय पार्टियों द्वारा कोमिण्टर्न के आदेशों को वफादारी के साथ पालन करने की स्वीकृति मुख्य शर्त थी। फिर भी, इस स्थिति तक, यह नहीं मान लिया गया था कि ये निर्णय रूसी पार्टी के द्वारा निर्देशित होंगे, बल्कि कोमिण्टर्न की केन्द्रीय कार्य-कारिणी में स्वतंत्र मतदान से होंगे, जिसमें सभी सदस्य-पार्टियों के प्रतिनिधि शामिल होंगे।

क्रान्ति की सफलता के लिए लेनिन की किसानों के महत्व की स्वीकृति तथा समझदारी इन इक्कीस शर्तों में द्रष्टव्य है। किसानों का समर्थन प्राप्त करने के लिए सभी पार्टियों का प्रयत्न करना आवश्यक था। एशिया और अफ्रीका में योरोप के औपनिवेशिक अधिकारों के राजनीतिक ह्रास सम्बन्धी लेनिन के सिद्धान्त का पालन करते हुए सभी सदस्य-पार्टियों के लिए उत्पी-

ड़ित राष्ट्रों तथा गुलाम देशों की स्वतंत्रता का समर्थन करना तथा उसको प्राप्त करने के उद्देश्य से कार्य करना भी आवश्यक था।

× × × ×

१९२४ में लेनिन की मृत्यु के कारण रूस के वाहर क्रान्तिकारी उत्तेजना दव गयी। वे रूसी नेता अमान्य कर दिये गये, जो इस दकियानूसी वोलशेविक सिद्धान्त पर अभी भी जोर दे रहे थे कि कि नयी सोवियत यूनियन का जीवन योरोपीय देशों में तुरन्त होनेवाली क्रान्तियों पर निर्भर करता है—पर वह क्रान्ति कभी नहीं हुई।

परिणामस्वरूप स्तालिन अपने अधिकृत सिद्धान्त को नये तथ्यों के अनुकूल वनाने के लिए, एकदेशीय साम्यवाद की नयी विचारधारा को प्रस्तावित करने के लिए विवश हुआ। वाहर की सभी साम्यवादी पार्टियों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपने देश में क्रान्ति के उद्देश्य को क्रान्ति की मातृभूमि रूस की सुरक्षा की आवश्यकता पर आश्रित कर दें। यद्यपि वाकी दुनिया के साम्यवादियों ने कठिनाई से इस प्रत्यागमन को गले के नीचे उतारा, तथापि अधिकांश ने यही माना कि यह सव परिस्थितियों के कारण ही हुआ। माओ-त्सेतुंग के इन शब्दों में उनकी यही भावना प्रतिविम्वित है, "समाजवाद की शिक्षा देना वेकार है, जव तक कि समाजवाद के प्रयोग के लिए कोई देश न हो।"

चूँकि १९२० और १९३० के दशकों में विश्व-क्रान्ति का जोश ठंडा पड़ गया इसलिए विदेशों में सोवियत संघ के प्रति अधिक दोस्ती का रुख पैदा हुआ। वोलशेविकवाद का 'जो भय विल्सन और हार्डिंज के प्रशासनों के अन्तर्गत अमरीका सहित पश्चिम में व्याप्त था, वह धीरे धीरे समाप्त हो गया।

अमरीकी कार्पोरेशनों ने विकास के नये कार्यक्रमों को पूरा करने में सहायता करने के लिए इंजीनियरों को रूस भेजा। जनरल एलेक्ट्रिक तथा फोर्ड को वड़े-वड़े ठेके मिले। १९३० के दशक में सोवियत संघ की हमारी अधिकृत मान्यता के वाद की अपेक्षा १९२० के दशक में सोवियत रूस और अमरीका में अधिक व्यापार हुआ।

सम्मानित व्यापारी तथा उनके परिवार ग्रीष्मकालीन परिभ्रमण के लिए लेनिनग्रेड गये और स्तालिन-शासन की सफलताओं की प्रशंसा के साथ लौटे। १९३० के दशक में मंदीग्रस्त अमरीका की कठोर वास्तविकताओं से परिचित तथा वेकार नौजवान लेनिनग्रेड गये विना ही, सोवियत के प्रचारा-

नुसार, 'वर्गविहीन, जातिमुक्त स्वर्ग' के बारे में सब कुछ मान लेने के लिए तैयार थे।

स्तालिन ने अपने दूसरे तर्क को कि सोवियत संघ एक देश से कहीं अधिक है, कभी नहीं छोड़ा। यह न केवल विश्व-क्रान्ति का केन्द्र है, बल्कि जैसा कि वह जोरों के साथ कहा करता था, एक ही विश्वव्यापी अर्थप्रणाली के आधार पर भावी राष्ट्र संघ का सजीव प्रतिरूप भी है।

घटनाओं की यथार्थता ने रूसी राष्ट्रवाद तथा विश्व-साम्यवाद की विजय-दुंदुभी बजा ही दी। सोवियत यूनियन ने एक विशाल राष्ट्र-राज्य तथा एक विश्वव्यापी विचारधारा, दुनिया की इन दो प्रबलतम शक्तियों को एक साथ मिला दिया। रूसी नेतृत्व तथा एक विस्तारवान साम्राज्य के लिए ऐतिहासिक रूसी अभियान अब एक संगठित आन्दोलन से सम्बद्ध सिद्धान्त के हथियार से लैस थे, जो मामूली 'पंचम स्तम्भ' (Fifth Column) मात्र नहीं था। अब विश्व-साम्यवाद के पास साधन के रूप में लाल सेना से युक्त एक राष्ट्र का सहारा भी था।

१९३५ की इण्टरनेशनल की सातवीं विश्व कांग्रेस में बलगेरिया के साम्यवादी नेता जिऑर्जी डिमीट्रोव ने कहा था कि, "इतिहास-चक्र आगे की ओर बढ़ रहा है और जब तक सोवियत समाजवादी गणतंत्रों का एक विश्वव्यापी संघ नहीं स्थापित हो जाता और जबतक सारे संसार में समाजवाद की अन्तिम विजय नहीं हो जाती, तब तक वह बढ़ता ही रहेगा।"

परन्तु निरन्तर चक्रवत् प्रगति के स्थान पर कोमिण्टर्न में शीघ्र ही आन्तरिक विरोध कार्य करते हुए दिखाई पड़ने लगे। ट्रॉट्स्की रूस के लिए कोई भी खतरा मोल लेकर विश्व-क्रान्ति करना चाहता था। उस पर स्तालिन की विजय का अर्थ था विदेशों में कम्यूनिस्ट पार्टियों के लिए स्वतंत्रता की आशा का अन्त। उसके बाद उत्तरोत्तर वे मास्को के शासन के अधीन होती गयीं और कोमिण्टर्न स्तालिन के आदेशों को प्रेषित करनेका साधन बन गया।

इसके परिणामस्वरूप रूस के हित के लिए नीतिमें कोई भी परिवर्तन या तोड़-मोड़ अथवा कोई भी चाल स्वीकृत हो जाती। जर्मनी में अपनायी गयी चालों में इन तोड़-मोड़ तथा परिवर्तनों के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

१९२७ से १९३२ तक, जब कि हिटलर और नाजी धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे, रूसी कोमिण्टर्न ने जर्मन साम्यवादियों को नाजियों पर आक्रमण करने के लिए आज्ञा न देकर सोशल डेमोक्रेटों पर आक्रमण की

आज्ञा दे दी। इसके लिए प्रायः यही सफाई दी गयी है कि कम्यूनिस्टों का विश्वास था कि हिटलर एक ऐसी अव्यवस्था पैदा कर रहा था जिसके कारण वे स्वयं विजय प्राप्त कर सकेंगे। परन्तु यह भी सच है कि सोशल डेमोक्रेट एक प्रमुख जर्मन गुट था, जो इंग्लैण्ड और फ्रान्स से समझौता करना चाहता था, जिनसे १९१८ के गृह-युद्ध के वाद से सोवियत संघ की शत्रुता चली आ रही थी। कारण चाहे कुछ भी हो, सत्ता के लिए नाजी अभियान को साम्यवादियों ने आसान वना दिया था।

मार्च, १९३३ में, जव स्तालिन ने समझा कि उसने एक वहुत भयंकर शत्रु के उत्पन्न करने में मदद की है, तो तुरन्त ही उसने अपनी चालों को हिटलर के विरुद्ध उलट दिया। फिर भी यह चाल सैकड़ों ट्रॉट्स्कीवादियों को जर्मन 'गेस्टापो' के हाथों मारे जाने से रोक न सकी।

सोवियत संघ के विरुद्ध हिटलर के दवाव का मुकावला करने के लिए स्तालिन ने अपने पुराने शत्रु फ्रान्स और ब्रिटेन को नाजी जर्मनी के विरुद्ध लगाने की कोशिश की। ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी साम्यवादियों को, अपनी सरकारों की वुराई न करने तथा लोकप्रिय मोर्चा आन्दोलनो में उनसे सहयोग करने की आज्ञाएँ दी गयीं।

वाद में सीधे हिटलर से वातचीत के पक्ष में यह चाल भी छोड़ दी गयी। अगस्त, १९३९ में इस चाल का अन्त उन्मत्तपूर्ण नाजी-सोवियत संधि में हुआ, जिसने दो सप्ताह वाद पोलैण्ड पर जर्मनी के आक्रमण के लिए तथा द्वितीय विश्व-युद्ध के सूत्रपात के लिए रंगमच तैयार कर दिया।

अव दुनिया भर की साम्यवादी पार्टियों से कह दिया गया कि वे जर्मनी के विरुद्ध फ्रान्स और ब्रिटेन के युद्ध-प्रयासों से अपने समर्थन को वापस ले लें, क्योंकि यह साम्राज्यवादी युद्ध है। जून, १९४१ में, जव नाजी पैंजर सेनाओं ने सोवियत सीमाओं को पार किया तो वफादार साम्यवादियों को अपनी चाल वदलने की फिर आवश्यकता हुई। जर्मनी के विरुद्ध यह युद्ध अव जन-युद्ध हो गया।

१९४३ में, विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के वाद कोमिण्टर्न को अविकृत और औपचारिक ढंग से भंग कर दिया गया। ऐसा मालूम होता है कि १९४७ और १९५५ के वीच इस चक्र की पुनरावृत्ति हुई और उसका उत्तराधिकारी कौमिनफॉर्म भी अव शीघ्र ही समाप्त कर दिया जायेगा।

इस प्रकार संसार की साम्यवादी पार्टियाँ सोवियत की परराष्ट्र नीति का

उपकरण बन गयीं, जिनके उद्देश्य ज़ार के उद्देश्यों से शायद ही भिन्न थे। साम्यवादी दलों द्वारा संचालित श्रमिक वर्गों की विश्वव्यापी क्रान्ति के ज्वलन्त सपने हवा हो गये। निस्सन्देह बहुत से देशों में यह सपना आदर्शवादी साम्यवादियों के लिए अब भी जीवित था; परन्तु इसका नया तथा और भी भयानक रूप स्तालिन के रूस द्वारा संचालित विश्व-साम्यवाद का स्वप्न था, जो लाल सेना के ध्वंसात्मक कार्य और शक्ति के द्वारा लादा गया था।

सातवाँ प्रकरण

स्तालिन की योजनाएँ तथा शुद्धीकरण

जनवरी, १९२४ में जब लेनिन की मृत्यु हुई तो स्तालिन, ट्रॉट्स्की, जीनोवीव तथा कामेनेव, इन चार व्यक्तियों में उत्तराधिकार के लिए संघर्ष चला। इनमें से प्रत्येक क्रान्ति का नायक था, लेनिन का सहयोगी था और था अपनी सरकार का नेता।

लेनिन की मृत्यु के बाद उनमें से विशेषरूप से एक को अधिक स्वतंत्रता थी और उसका कारण भी था और वह था स्तालिन। एक ही वर्ष पूर्व लेनिन ने लिखा था कि स्तालिन ने अपने हाथ में "जबरदस्त शक्ति संचित कर ली हैं।" उसने यह भी लिखा कि स्तालिन बड़ा उद्दण्ड है और उसकी यह बुराई, साम्यवादियों में आपस के सम्बन्धों की दृष्टि से बिल्कुल समर्थनीय होते हुए भी महा मंत्री के पद के लिए असमर्थनीय है। इसलिए मैं अपने साथियों के समक्ष प्रस्ताव रखता हूँ कि स्तालिन को इस पद से हटाने की कोई युक्ति निकाली जाय।" चार वर्ष बाद उत्तराधिकार का झगड़ा स्तालिन की पूर्ण विजय में समाप्त हुआ। यही वह आदमी था जिसने अपने आपको फौलाद कहा था।

उसकी अन्तिम विजय, १९१७ की लेनिन की जैसी चतुर चालों और सिद्धान्तों के समन्वय पर आधारित थी। साम्यवादी दल का मंत्री होना भी उसे बहुत सहायक सिद्ध हुआ। लेनिन ने सचमुच ही बड़ी होशियारी से इस तरीके को प्रस्तुत किया था :—"यदि पाँच दल हैं तो पाँचवें का अन्त करने के लिए तीन से मिल जाओ। तब बाकी दो का साथ दो और चौथे को निकाल बाहर करो। तीसरे को समाप्त करने के लिए दो में से एक के साथ हो जाओ। फिर केवल एक ही विरोधी दल बचता है, जिसको आसानी से ठिकाने लगाया जा सकता है।"

लेनिन की पुस्तक से सबक लेकर स्तालिन ने पहले जीनोवीव तथा कामनेव से, जो क्रमशः लेनिनग्रेड तथा मास्को के पार्टी-अध्यक्ष थे, ट्रॉट्स्की के विरुद्ध साँठ-गाँठ शुरू की। उस समय ट्रॉट्स्की ही इन चारों में सबसे अधिक शक्तिशाली विरोधी प्रतीत होता था। लेनिन की मृत्यु के एक वर्ष के भीतर ही ट्रॉट्स्की को क्रान्तिकारी युद्ध-परिषद के अध्यक्षपद से इस्तीफा देना पड़ा और इस प्रकार उसकी प्रभावपूर्ण शक्ति का खातमा हो गया। विदेशों में

वर्षों तक निष्कासित जीवन व्यतीत करने के बाद, एक दिन, मैक्सिको में क्रैमलिन के गुप्तचरों द्वारा आखिरकार उसकी हत्या कर दी गयी।

स्तालिन तब अन्य दो की ओर मुड़ा, जो एक तरह से ट्रॉट्स्की को प्रतिध्वनित करने लगे थे—जो चाहते थे उग्र समाजवाद तथा औद्योगीकरण, विदेशों में क्रान्ति और दल में विचारों की अधिक स्वतंत्रता। यद्यपि अन्तिम बात अधिक लोकप्रिय थी, तथापि पहली दोनों नहीं। १९२५ के अन्त में साम्यवादी दल की १८वीं कांग्रेस में स्तालिन के वफादार समर्थकों ने इन तर्कों को अस्वीकृत कर दिया और दो ही वर्षों के भीतर जीनोवीव तथा कामनेव बड़े ही व्यवस्थित ढंग से अपने अधिकार के पदों से पृथक् कर दिये गये।

विरोधी के अभाव ने नीतियों में अचानक उलटफेर कर दिया जिनका प्रयोग स्तालिन ने अपनी शक्ति जमाने में किया। सबसे पहले किसानों पर इसका असर हुआ। १९१७ के नवम्बर में लेनिन के भूमि-वितरण के बाद, जिसने 'क्रान्ति को अटल बना दिया था,' गृहयुद्ध के समय में किसानों पर अतिरिक्त कर लगाये गये और उनका बहुत-सा अनाज छीन लिया गया। गृह-युद्ध के समाप्त होते ही इन नीतियों ने प्रतिरोध करने की काफी शक्ति विकसित कर ली थी। १९२१ के अशान्त दिनों में क्रान्सटाड्ट के नौसैनिक विद्रोह, पैट्रोग्रेडकी आम हड़ताल और तम्बोव प्रान्त में किसानों के विद्रोह के पश्चात लेनिन ने नयी आर्थिक-नीति के पक्ष में इन चालों को त्याग दिया और किसानों को अपनी उपज के वितरण में पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान की।

रूस में क्रान्ति को सुदृढ़ बनाने की इच्छा से स्तालिन ने इन उदार तरीकों को जारी रखने का अस्थायी रूप से समर्थन किया। इसीलिए उसने सत्ता के लिए अपने संघर्ष की नाजुक अवधि में रूसी जनमत के एक महत्वपूर्ण भाग का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की और आधुनिक क्रान्ति में किसानों के योग के महत्व को प्रदर्शित कर दिया।

अब यह घोषणा करके कि रूस पर पूँजीवादी देशों द्वारा आक्रमण का ख़तरा है, एक ऐसा सिद्धान्त जो आज भी चल रहा है, स्तालिन ने पंचवर्षीय योजनाओं की प्रथम कड़ी को प्रारम्भ किया जो संसार के इतिहास में अपूर्व थीं और जिसमें बलात् औद्योगीकरण के विशालतम कार्यक्रम का समावेश था।

इस तीव्र औद्योगिक विकास की सफलता के लिए आवश्यक था कि किसानों के प्रति स्तालिन की हाल की उदार नीति में परिवर्तन किया जाय। निर्माण तथा औद्योगीकरण के लिए अधिक मजदूरों को प्राप्त करने के लिए किसानों

को अपनी उपज का एक बड़ा हिस्सा शहरों में वितरण के उद्देश्य से कम दामों पर देने के लिए मजबूर किया गया। सरकार को सामूहिक खेती के लिए तथा ट्रेक्टर स्टेशनों पर खेती के औजारों को एकत्रित करने में बहुत अधिक प्रयत्न करना पड़ा। स्तालिन की दृष्टि से, खेती के जबर्दस्त शोषण के फल-स्वरूप बढ़े हुए राजनीतिक अधिकार ने किसानों की दुश्मनी का भी मुआवजा पूरा कर दिया। यद्यपि कुल उपज में काफी कमी आ गयी थी, तथापि शहरों में पहुँचनेवाली उपज के अनुपात में वृद्धि हुई।

पंचवर्षीय योजना ने सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए, प्रत्येक आर्थिक क्षेत्र के लिए, प्रत्येक उद्योग के लिए और प्रत्येक कारखाने के लिए आर्थिक लक्ष्य निर्धारित कर दिया। एक बार लक्ष्यों के निर्धारित हो जाने पर, उन्हें पूरा करने और उनसे भी आगे बढ़ने के लिए शक्ति और अनुनय के प्रत्येक श्रोत का प्रयोग किया गया और विडम्बना तो यह थी कि अमरीकी पूँजीवादी पद्धति की नकल करने के लिए भी अपीलें की गयीं। अप्रैल, १९२४ में स्वर्डलोव विश्वविद्यालय में "लेनिनवाद की नींव" पर अपने व्याख्यानों में स्तालिन ने कहा कि "अमरीकी दक्षता" एक ऐसी अजेय भावना है, जो न तो कोई बाधा जानती और न किसी बाधा से रुकती है और तबतक निरन्तर अध्यवसाय से कार्य करती रहती है जबतक बाधा दूर नहीं हो जाती ; एकबार जिस कार्य में जुट गये उसी में खप जाना, चाहे वह कितने ही साधारण महत्व का कार्य क्यों न हो। ऐसी लगन के बिना गम्भीर रचनात्मक कार्य का प्रश्न ही नहीं उठता। स्तालिन ने यह चेतावनी देते हुए अपनी इस प्रशंसा को मर्यादित कर दिया कि "अमरीकी दक्षता में जबतक व्यापक रूसी क्रान्तिकारी कार्यक्षेत्र का समावेश नहीं होता, तबतक उसके संकीर्ण और सिद्धान्तहीन 'व्यापारवाद' में परिणत हो जाने का खतरा है," किन्तु उसका यह निष्कर्ष सफल रहा। "व्यापक रूसी क्रान्तिकारी कार्य-क्षेत्र और अमरीकी दक्षता, इन दोनों का समन्वय ही पार्टी में और राज्य-कार्य में लेनिनवाद का मूल तत्व है।"

जब पुरानी सैद्धान्तिक कट्टरता कुछ ढीली हुई, तब नियमित साप्ताहिक वेतन के स्थान पर आंशिक कार्य-दर का हिसाब रख दिया गया। जो मजदूर अपने 'कोटे' से अधिक कार्य कर लेते थे, उन्हें अतिरिक्त वेतन द्वारा पुरस्कृत किया जाता था। इसका परिणाम मजदूरी का ह्रास ही था, क्योंकि नया कोटा उनके पिछले अद्वितीय उत्पादन के आधार पर ही नियत किया जाता था। हर प्रकार के पुरस्कार और तमगे मुक्त हस्त से दिये जाते थे, परन्तु गाजर के

भीतर सदैव सख्त लकड़ी भी होती है। छोटे-बड़े सभी जानते थे कि शासन हीलाहवाली नहीं जानता। योजना की पूर्ति में विफलता का अर्थ था शीघ्र तथा पूर्ण विनाश।

ये तरीके भद्दे अवश्य थे, किन्तु संसार के इतिहास में कम से कम समय में एक शक्तिशाली आधुनिक औद्योगिक राज्य के निर्माण में सफल रहे। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान में सोवियत अर्थतंत्र का युद्ध सम्बन्धी भारी उत्पादन उनकी सफलता को प्रमाणित करता है। फौलाद जैसे भारी-भारी उद्योगों में ही नहीं, बल्कि अणु तथा उद्‌जन अस्त्रों तथा फौजी हवाई जहाजों के निर्माण में भी रूस की युद्धोत्तर प्रगति उसकी और भी अशुभ सिद्धि है।

यह औद्योगिक प्रगति नृशंस मानवीय मूल्य तथा रूस की सम्भाव्य आन्तरिक घृणा से प्राप्त हुई थी, परन्तु मनुष्य का यंत्रवत् उपयोग तथा मानवीय भावनाओं का तिरस्कार उस स्तालिनवादी सिद्धान्त के अनुसार उचित माना गया, जिसका महान तथा एकमात्र उद्देश्य क्रान्ति की सुरक्षा तथा सफलता थी। राज्यशक्ति विरोध को समाप्त करने में काफी मजबूत सिद्ध हुई।

समय-समय पर कमजोर तथा ढुलमुल विचार के पार्टी-सदस्यों का शुद्धीकरण सर्वदा बालशेविक संगठन का मुख्य सिद्धान्त रहा है। कोमिण्टर्न की इक्कीस शर्तों में विदेशी साम्यवादी पार्टियोंसे इसकी पूर्ति की माँग की गयी थी। सत्ता-संघर्ष में स्तालिन के विरोधियों के विरुद्ध उपयोग की जानेवाली यह एक प्रत्यक्ष युक्ति थी। पहले का शुद्धीकरण दलगत तथा राजनीतिक प्रतिबन्ध पर निर्भर करता था न कि सरकारी सजाओं पर। दल (पार्टी) और राज्य के विकासमान एकीकरण से उत्पन्न यह स्तालिन की नयी देन थी।

जब बलात् औद्योगीकरण की गति का प्रतिरोध बढ़ गया, तब जीनोवीब तथा कामनेव जेल में डाल दिये गये। अगस्त, १९३६ में प्रथम खुले आम शुद्धीकरण के मुकदमों ने संसार को भयभीत करना शुरू कर दिया। उनके विरुद्ध तोड़-फोड़, अनास्था तथा फूट के आरोप लगाये गये। चमत्कारपूर्ण ढंग से चकित करनेवाली स्वीकारोक्तियों द्वारा स्तालिन के प्रतिद्वंद्वियों ने एक-एक करके अपने आपको दण्डित किया।

कानूनी जगत 'अभियोक्ता' विशिन्स्की की प्रतिवादी से निम्नलिखित बातचीत द्वारा स्वीकृति प्राप्त करा लेने की अद्‌भुत सफलता पर आश्चर्य करेगा :—

विशिन्स्की—"१९३३ में, तुमने जो वक्तव्य तथा लेख लिखे थे और जिनमें

तुमने पार्टी के प्रति वफादारी व्यक्त की थी, उनका अब क्या अर्थ लगाया जाय, धोखेबाजी ?"

कामनेव–"नहीं, धोखेबाजी से भी बुरा।"

विशिन्स्की–"विश्वासघात ?"

कामनेव–"उससे भी बुरा।"

विशिन्स्की–"धोखेबाजी से भी बुरा, विश्वासघात से भी अधिक? देश-द्रोह शब्द ठीक होगा ?"

कामेनेव–"आपको उपयुक्त शब्द मिल गया।"

इन नेताओं की स्वीकृतियों ने अधिक नरम विचार के राजनीतिज्ञों को फँसा दिया, जिनको पंचवर्षीय योजना के विरोधी के रूप में भी माना गया था। नरमविचार के ये लोग स्तालिन के दूसरे जत्थे के शिकार हुए। सोवियत समाज के सभी अंचलों पर हमले किये गये। स्वयं पार्टी को, जिसके अधिकांश कम क्रियाशील कार्यकर्त्ता स्तालिन द्वारा ही नियुक्त किये गये थे, नीचे से ऊपर तक पीस दिया गया। डिवीजन कमाण्डर तथा उससे भी ऊँचे पद के ३०० सैनिक पदाधिकारियों में से १८३ पदाधिकारी फाँसी पर चढ़ा दिये गये।

अन्त में यह 'शुद्धीकरण' स्वयं अपने ऊपर गिरा और भयानक एन. के. वी. डी. (N.K.V.D.) को भी अपने पंजों में फँसा लिया–उसी संस्था को जिसने उसके लिए योजना बनायी और उसकी देखरेख भी की।

एन. के. वी. डी. के अध्यक्ष येजोव, जिसके नाम पर शुद्धीकरण का रूसी शब्द 'येजोवश्चीना' बना, १९३८ में पागलपन के कम होने के साथ-साथ हमेशा के लिए गायब हो गया।

इस शुद्धीकरण के पैशाचिक अत्याचारों के लिए अनेक प्रकार की बातें बतायी जाती हैं–स्तालिन का मानसिक उन्माद, आर्थिक विकास के विकट दबाव से बचने के लिए बलि के बकरे की आवश्यकता, एन. के. वी. डी. के निहित स्वार्थ तथा षड्यंत्र और देशद्रोह के कार्यों में मातहत अधिकारी। स्पष्टीकरण चाहे कुछ भी हो, शुद्धीकरण, औद्योगिक विकास के लिए रूस द्वारा रक्त और पीड़ा के भयानक मूल्य के रूप में चुकता की गयी एक और किश्त थी। फिर भी इस धक्के से हमें इतनी महँगी खरीदी गयी आर्थिक शक्ति को कम नहीं समझना चाहिए।

सोवियत औद्योगिक विकास के एकमात्र गुरुत्व ने एशिया, अफ्रीका,

दक्षिणी अमरीका के करोड़ों लोगों पर गहरा प्रभाव डाला है। उनके लिए सोवियत आर्थिक सफलताएँ, एक अर्धविकसित राष्ट्र अपने ही बल पर किस प्रकार तेजी से उत्थान कर सकता है, इसकी प्रतीक बन गयी हैं। उनमें से इस प्रकार के अनेक लोग हैं, जो यह निष्कर्ष निकालने के लिए तैयार हैं कि उनके लिए सोवियत मार्ग ही एकमात्र मार्ग है और परिणामों को देखते हुए खून के रूपमें चुकता किया गया मूल्य उचित ही था।

आठवाँ प्रकरण

रूस और शीतयुद्ध

विजय-दिवस के वाद अपनी स्थिति पर विचार करने पर स्तालिन को पर्याप्त आत्मसन्तोष हुआ, जिसके लिए ययेष्ट कारण थे। युद्ध के कठिन दिनों में रूस की शक्ति आशातीत सिद्ध हुई। रूस को वहुत अविक नुकसान उठाना पड़ा, परन्तु उसका अस्तित्व वच गया था। सैनिक प्रतिरोव के इतिहास में थेर्मोपली के वाद स्तालिनग्रेड एक महाकाव्य वन गया था।

मित्र राष्ट्रोंने रूस के युद्ध-प्रयत्नों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। रूसी जनता तया लालसेना की प्रतिष्ठा चरमोत्कर्ष पर थी। तेहरान और याल्टा में उच्चतम युद्ध-परिषदों में स्तालिन ने उन तीन महान शक्तियों के साय वरावरी का स्थान ग्रहण किया, जिनके निर्णय समस्त विश्व के भाग्य-नियामक थे। रूसी सैनिकों ने पूर्वी योरोप तया वालकन में नाजी आविपत्य को अविकतर समाप्त कर दिया था। इटली और फ्रान्स की प्रतिरक्षा में कम्यूनिस्टोंने रोमांचकारी सहयोग दिखाया। नयी सोवियत औद्योगिक यंत्र-व्यवस्था ने विशाल पैमाने पर युद्ध सामग्री का उत्पादन किया था। कुछ अशुभ असन्तोषवादी आन्दोलनों के अतिरिक्त, जिन्हें नाजी अविक न वढ़ा सके, रूसी जनता अपने देश की प्रतिरक्षा में वरावर संगठित रही।

यद्यपि रूसी युद्ध से क्षत-विक्षत हो गये थे, तयापि उन्होंने योरोप और एशिया की ओर देखा जो अराजकता की सीमा तक पहुँच गये थे। पीढ़ियों के आर्थिक तथा राजनीतिक अन्याय पर नये कष्ट और विनाश का ढेर लग चुका था। पश्चिम के लिए दक्षिण तथा पूर्व राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से खोखले थे, जो एक प्रकार से सोवियत हस्तक्षेप की माँग कर रहे थे।

२८ वर्ष पूर्व, अक्तूवर, क्रान्ति के दिनों में, जव कि वालशेविक चिन्ता और आशा से पश्चिम में अपने समर्थन में सर्वहारा विद्रोहों की प्रतीक्षा कर रहे थे, ट्रॉट्स्की दहाड़ उठा था– "यदि जर्मनी नहीं उठता अयवा अत्यन्त कमजोरी से उठता है तो हम अपनी रक्षा के लिए नहीं, वल्कि एक क्रान्तिकारी आक्रमण आरम्भ करने के लिए अपनी सेनाओं को भेजेंगे।"

अपने-आप होनेवाले स्थानीय साम्यवादी विद्रोहों के समर्थन में ट्रॉट्स्की ने

अपने आक्रमण को सैनिक गतिविधि का एक क्रम माना था; किन्तु उस समय लाल सेना में न तो इतनी शक्ति थी और न इतनी इच्छा कि वह वारसा को बाहरी सीमा से आगे बढ़ सके, जहाँ वह १९२० में पहुँची थी।

मई, १९४५ में स्थिति विल्कुल भिन्न थी। विजयी लालसेना ने सोवियत सीमा से एल्ब तक अधिकांश क्षेत्र पर वस्तुतः आधिपत्य जमा लिया था। उनके साथ मास्को-प्रशिक्षित और स्वदेश लौटनेवाले लोग भी आये, जो शासन को सँभाल लेने के लिए अथवा आवश्यक होने पर 'संयुक्त मोर्चों' में अस्थायी रूप से सम्मिलित होने के लिए तैयार थे।

जबकि विश्व युद्धोत्तरकालीन सोवियत कूटनीति की भद्दी चालों को प्रकट होते देख रहा था, तो यह स्पष्ट हो गया कि प्रायः किसी भी समसामयिक समस्या को साम्यवादी हित में बदला जा सकता है। मार्क्स के सिद्धान्तों, लेनिन् की चालों तथा स्तालिन की सेनाओं का मनमाने ढंग से इस्तेमाल करते हुए, सोवियत नीति स्तम्भित कर देनेवाले विभिन्न तरीकों से संचालित हो रही थी।

आणविक शक्ति के नियंत्रण के लिए अचसेन-लिलिन्थाल-वरुच के कल्पनाशील प्रस्ताव से लेकर वर्लिन घेरेवन्दी की जानबूझ कर की गयी क्रूरता तक, संयुक्त राष्ट्र की विशिष्ट समितियों के वहिष्कार से लेकर यूनान के गृह-युद्ध में प्रच्छन्न आक्रमण तक और ईरान में खुलमखुल्ला छानवीन करने तथा तुर्की को धमकी देने से लेकर दक्षिणी कोरिया में किसी दूसरे से आक्रमण कराने तक—इन सभी में विस्तारशील रूसी साम्राज्यवादी स्वार्थों की अधीर भावना कार्य कर रही थी।

फिर भी, जव युद्ध की धूल साफ हो गयी, तो पता लगा कि पूर्वी योरोप में लाल सेना की युद्धकालीन प्रगति की सीमाएँ तथा सोवियत के पश्चिमी प्रदेश की सीमाएँ एक हो गयी हैं। इन सीमाओं के बाहर ईरान, तुर्की, यूनान, इटली और वर्लिन नगर में इनके प्रवेश को रोक दिया गया और जनता तथा सरकारों के दृढ़ प्रयत्नों, रूसियों की ज्यादतियों, ट्रूमैन-सिद्धान्त के सावनसम्पन्न समर्थनों, मार्शल योजना, 'नाटो' (उत्तरी अटलांटिक सन्धि-संगठन) आदि ने मिल कर उनके मुंह मोड़ दिये। टिटो का यूगोस्लाविया, जो कभी पिछलग्गू जगत का आदर्श था, अपनी पुरानी परिधि से निकल भागा और पश्चिम की ओर मुड़ गया।

टिटो ने सदैव मार्क्स के प्रति अपनी आस्था स्वीकार की थी। सचमुच १९५४ में

निकली टिटो की जीवनी सम्बन्धी फिल्म में दिखाये गये अमूल्य संस्मरण मार्क्स की 'डास कैपिटल' पुस्तक के विकृत प्रतिरूप थे जिससे मार्शल टिटो ने १९२० में अपने राजनीतिक वंदी जीवन-काल में साम्यवादी सिद्धान्त सीखा था।

रूस से सम्वन्ध-विच्छेद होने तक एक मान्य मार्क्सवादी के रूप में टिटो ने पूर्वी योरोप के अन्य साम्यवादी दलों पर गहरा प्रभाव डाल रखा था। जनवरी, १९४८ में अपने बुडापेस्ट के दफ्तर में हंगरी के सुदृढ़ साम्यवादी मात्यास राकोसी ने मुझे वताया था कि वालकन राष्ट्र शीघ्र ही रूस के साथ नहीं, टिटो के साथ जायेंगे। राकोसी ने कहा, "दक्षिणी पूर्वी योरोप के संयुक्त राज्य के नाम से एक नया संघ स्थापित होगा जो स्वतंत्र रह कर रूस से संवद्ध होगा।"

अन्य वालकन राष्ट्रों के विपरीत, टिटो के यूगोस्लाविया ने विना लाल सेना की सहायता के जर्मनों को अपनी धरती से निकाल वाहर करने में सफलता पायी थी। १९४५ और १९४८ के वीच यूगोस्लाविया की प्रतिष्ठा का मान किसी आकस्मिक दर्शक के लिए भी स्पष्ट था।

जनवरी, १९४८ में संयुक्त राष्ट्रसंघ के काम से उस क्षेत्र की दो सप्ताह की यात्रा में मैंने स्तालिन के प्रत्येक उल्लेख के साथ टिटो का दर्जनों वार उल्लेख सुना था। यद्यपि वहाँ पर सामान्य विश्वास था कि लोग चाहें या नहीं, साम्यवाद आनेवाला है, तथापि सर्वत्र यही आशा प्रकट होती थी कि किसी न किसी प्रकार ये देश टिटो के झण्डे के नीचे संगठित हो जायेंगे और किसी हद तक सोवियत संघ से अपने को मुक्त रखेंगे।

प्राग में जान मसारिक ने मुझे वताया कि मास्को में तीन वर्ष पूर्व स्तालिन ने प्रायः अचानक एक शिथिल "सोवियत विश्व संघ" की संभावना का उल्लेख किया था। यद्यपि प्रधान कार्यालय मास्को में ही होगा तथापि प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपने आन्तरिक मामलों में स्वतंत्र रहेगा। मसारिक का विचार था कि ऐसे प्रस्ताव का उन युद्ध-पीड़ित योरोपवासियों पर विजली का-सा प्रभाव पड़ेगा, यदि उन्हें साम्यवाद के साथ आनेवाले रूसी राष्ट्रवाद का भय न होता तो वे साम्यवादी विचारधारा को स्वीकार कर लेते।

मसारिक का अनुमान था कि स्तालिन इतना सिद्धान्तवादी था कि स्वयं अपने ही सुझाव को स्वीकार नहीं करेगा और उसका ख्याल ठीक सावित हुआ। कुछ ही महीनों वाद सारी विपरीत आशाएँ चूर-चूर हो गयीं जब स्तालिन

अचानक टिटो पर टूट पड़ा। पिछलग्गू कोमिनफोर्म-नेताओं ने एक परेड की, जिसमें टिटो की "विपथगामिता" को धिक्कारा और पड़ोसी साम्यवादी देशों में शुद्धीकरण का आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया गया। चेकोस्लोवाकिया में रुडोल्फ स्लैन्स्की तथा अन्य दस 'टिटोवादी' फाँसी पर लटका दिये गये और हंगरी में भी गृह-मंत्री राजक सहित अन्य नेताओं का भी वही हाल हुआ।

जून, १९५३ में आखिरकार पूर्वी जर्मनी के मजदूरों ने सोवियत तानाशाही के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। सचमुच ट्रॉटस्की के ३० वर्ष बाद लाल सेना दुर्भाग्य से साथी की हैसियत से विश्व-क्रान्ति में जर्मन सर्वहाराओं की सहायता के लिए नहीं, वल्कि रूस के दुश्मनों की हैसियत से उन्हें गोली से उड़ा देने के लिए योरोप के बीचोबीच पहुँच गयी।

× × × ×

१९५० तक योरोप में सोवियत अभियान के क्रमशः घटते प्रभाव ने रूसियों को ज़ार के दिनों वाली निष्ठुर गति से अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के उद्देश्य से पूर्व की ओर मुड़ने के लिए प्रेरित किया। योरोप में स्तालिन को अपनी आशा से बहुत कम प्राप्त हुआ, परन्तु एशिया में निश्चित रूपसे बहुत अधिक।

इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि जिस प्रकार अमरीका ने चीन की घटनाओं को ठीक से नहीं समझा, उसी प्रकार सोवियत सरकार ने भी गलत समझा। निश्चय ही मास्को इस कल्पना के आधार पर कार्य करता मालूम होता था कि चीनी साम्यवादी अपने आप सत्ता नहीं प्राप्त कर सकेंगे और कुछ वर्षों तक राष्ट्रीय शासन के प्रतीक के रूप में च्यांग को ही स्वीकार किया जायेगा। यद्यपि रूस ने १९४९ में सत्तारूढ़ होने के चीनी साम्यवादियों के अन्तिम प्रयत्नों में विलम्ब से समर्थन प्रदान किया तथापि चीनी अथवा रूसी नेताओं को भी इस बात पर विश्वास कर लेने में कठिनाई होती कि अन्तिम विजय के लिए रूसी प्रयत्न, शक्ति अथवा दूरदर्शिता अत्यावश्यक थी।

परन्तु पश्चिम में साम्यवादी प्रगति ठप हो जाने और चीन में साम्यवादी शासन का नियंत्रण सुदृढ़ हो जाने के साथ रूस का विस्तारवाद (Drang natch Osten). तेज रफ्तार पर पहुँच गया। जून, १९५० में ३८ वीं समानान्तर रेखा के पार उत्तरी कोरिया के अभियान में इसका प्रदर्शन हुआ जो रूसी शस्त्रों से सज्जित था और सम्भवतः रूस ने ही उसके लिए समय निश्चित किया था।

अन्य स्थानों की भाँति कोरिया में भी सोवियत चालें बहुत कुछ मौके से

लाभ उठाने की घात में थीं। कुछ अर्थों में कोरियाई अनुमान रूसी नीति के लिए लाभदायक ही रहा। इसने पश्चिमी जगत की उपलब्ध सैन्य-शक्ति के एक बड़े हिस्से को सुदूरवर्ती तथा नगण्य मोर्चों पर ही उलझा रखा और इसने चीन तथा पश्चिमी विश्व के अन्तर को और भी पक्का कर दिया। सोवियत सहायता की चीनी आवश्यकता स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गयी, जब कि साम्यवादी साधन-स्रोतों के दिन-प्रति-दिन के शोषण का भार चीन पर ही आ पड़ा।

कोरिया ने सोवियत सैनिक नेताओं को, बिना एक भी रूसी सिपाही की प्राणहानि के, उनके अपने नवीनतम अस्त्रों के परीक्षण का एक अवसर दिया। चीन का आर्थिक शोषण सोवियत कुचक्रों के अनुकूल ही था, क्योंकि आखिर रूस भी तो यही चाहता था कि चीन इतना वफादार हो कि वह मास्को के ढंग के विश्व-साम्यवाद को सुदृढ़ समर्थन प्रदान करे, पर इतना प्रबल न हो कि स्वयं रूस के लिए ही खतरा बन जाय।

अन्त में कोरिया ने सोवियत संघ को प्रचार करने का मौका दिया, जिसका उपयोग बहुत ही प्रभावपूर्ण ढंग से किया गया। पश्चिमी इरादों से भयभीत और उपनिवेशवाद के संस्मरणों से परिपूर्ण एशिया में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेनाओं को, उत्तरी कोरिया के आक्रमण के स्पष्ट प्रमाण होते हुए भी, साम्राज्य-वादी करार देना कठिन नहीं था।

फिर भी, हिसाब लगाने पर मास्को कोरिया सम्बन्धी प्रयत्नों को शायद ही सफल समझे। सोवियत यूनियन के लिए कमसे कम दो बड़ी हानियाँ स्पष्ट रूपसे सामने थीं। पहली, कोरिया आक्रमण ने ही योरोप में शिशु 'नाटो' के प्रयत्नों को नवीन बल प्रदान किया और साथ ही अमरीकी सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए प्रेरित किया। इस सैनिक तैयारी ने अटलांटिक राष्ट्रों को सुसंगठित कर दिया; क्रेमलिन के समक्ष एक बिल्कुल नयी शक्ति-संतुलन की स्थिति पैदा कर दी और स्वयं सोवियत संघ को एक विशाल और व्ययसाध्य सैन्य-विस्तार के लिए विवश किया। ये प्रतिकूल बातें ही रूस को कोरिया से होनेवाले लाभों से अधिक भारी प्रतीत होंगी।

दूसरी, कोरिया में साम्यवादी चीन के लिए एक नयी प्रतिष्ठा, शक्ति और महत्व का प्रश्न था, जिसका परिणाम था कि सुदूर पूर्व में रूस का प्रभाव उठ गया और साथ ही पेकिंग को आर्थिक सहायता का नया वचन देना पड़ा। कोरियाई संधि के बाद से मास्को वर्तमान खर्च तथा साम्यवादी चीन की अशुभ शक्तिशाली स्पर्धा से भलीभाँति अवगत है।

दूसरी बात पर अधिक जोर देने की जरूरत नहीं। १९५५ की गर्मियों में, एशिया के एक उच्च पदस्थ कूटनीतिज्ञ ने, जो कुछ पेकिंग का पक्षपाती था, मुझे बताया कि वह "रूस द्वारा चीन के बेचे जाने पर" चिन्तित था। उसने कहा कि क्रेमलिन में अब विरोधी ध्वनियाँ प्रतिध्वनित हो रही होंगी—कुछ कहते होंगे कि पैकिंग की बढ़ती हुई माँगों को पूर्ण रूप से स्वीकार किया जाय और कुछ कहते होंगे कि अन्त में ब्रिटेन और अमरीका से स्थिर सम्बन्ध के लिए कोई आधार ढूँढ़ लेना अधिक सस्ता तथा सुरक्षापूर्ण होगा।

मुझे तो यह असम्भव लगता है कि क्रैमलिन में इस समस्या पर इतना तीव्र मतभेद होगा, किन्तु इसमें तो शंका की गुंजाइश नहीं है कि सोवियत यूनियन के शासक साम्यवादी चीन के उत्थान से बहुत बेचैन हैं। पूर्व और पश्चिम के बीच रूसी नीति का ज्वारभाटा शताब्दियों तक चीनी तथ्य को इच्छानुसार उपेक्षित कर सकता था, परन्तु अब यह संभव नहीं था। पेकिंग और मास्को मिलकर अपनी समान नीतिओं की एक ही धारणा विश्व के समक्ष क्यों न प्रस्तुत करें, यह सम्भव प्रतीत होता है कि धरातल के नीचे का तनाव दोनों ही राजधानियों की प्रवृत्तियों को पहले ही से प्रभावित कर रहा होगा।

१९५० से चीन और रूस के सम्बन्धों में सफलताएँ तथा तनाव हमारे युग की परराष्ट्रनीति के मुख्य तत्त्व बन गये हैं। सोवियत संघ की असंदिग्ध युद्धोत्तर औद्योगिक प्रगति इसीके समान एक दूसरी महत्वपूर्ण बात है जो विश्व-स्थिति को प्रभावित करती है।

१९४५-५५ के बीच रूस एक औद्योगिक शक्ति के रूप में उठा जो केवल संयुक्त राज्य अमरीका से कुछ कम है। रूस में बार-बार उत्पन्न होनेवाली आर्थिक समस्याओं के बावजूद यह सोचना मूर्खता होगी कि रूस के गाँव गन्दे हैं, पिछड़े हुए हैं, बल्कि इससे तो रूसी सफलता की हमारी समझ पर ही पर्दा पड़ जायगा।

१९५२ में मालेनकोव ने कहा, "सभी आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि रूस (संयुक्त समाजवादी सोवियत गणतंत्र) तथा जन-प्रजातंत्रों के औद्योगिक विकास की गति के सामने, संयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य पूँजीवादी देशों में औद्योगिक उत्पादन की गति काफी पिछड़ी हुई है।" मालेनकोव का पतन हो चुका है, परन्तु हमारी सूचना के अनुसार वर्षों से साम्यवादी नेताओं के डींगभरे दावों में यह दावा बहुत कम बढ़ा-चढ़ा कर किया गया है।

उच्च अमरीकी आर्थिक अधिकारियों द्वारा सरकारी सोवियत रिपोर्ट

से निकाले गये आँकडों से पता लगता है कि दो विश्व-युद्धों, गृह-युद्ध तथा क्रान्ति के बावजूद १९१३ से रूसी अर्थतंत्र ने अपना कोयला उत्पादन दसगुना, कच्चा लोहा सातगुना, फौलाद नौगुना, पैट्रोल छ:गुना और विद्युत-शक्ति साठगुना बढ़ाने की व्यवस्था की है।

१९५४ में अमरीकी उत्पादन में अस्थायी गिरावट के फलस्वरूप सोवियत उद्योग ने प्रथम बार अमरीका के फौलाद उत्पादन के आधे अर्थात् लगभग साढ़े चार करोड़ टन से कुछ अधिक उत्पादन करने में सफलता पायी। १९५५ में कोयले के उत्पादन में रूस अमरीका के करीब पहुँच रहा था।

कुशलतम विश्लेषणकर्ताओं को अब विश्वास हो गया है कि अभी हाल में रूस के कुल राष्ट्रीय उत्पादन में वार्षिक औसतवृद्धि ७ या ८ प्रतिशत हुई है जब कि ऐतिहासिक अमरीकी आँकड़ा ३ और ४ प्रतिशत के बीच रहा है।

ये मोटे आँकड़े और भी बड़े हो जाते हैं जब हम रूस के भारी उद्योग के कहीं अधिक उत्पादन पर ध्यान देते हैं। सोवियत के योजनाकार, जिनके दिमागों में अभी भी विश्व-क्रान्ति के सपने हैं, अपना समय सोडा-लैमन की मशीनों तथा "ज्यूक" बक्स बनाने में नहीं नष्ट कर रहे हैं।

रूसी औद्योगिक उत्पादन को असीम कच्चे मालों का सहारा प्राप्त है। साम्यवादी राष्ट्र सचमुच एक गुट के रूप में काफी लम्बे भविष्य के लिए स्वावलम्बी हैं, जब कि हम अब भी अपनी महत्वपूर्ण आवश्यकताओं का लगभग ५० प्रतिशत माल बाहर से मंगाते हैं।

औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि के साथ ही जटिल तथा विकसित आधुनिक यंत्रों के मामलों में भी रूसी कौशल बढ़ता जा रहा है। उनके उत्तम लड़ाकू जेट विमान तथा बमवर्षक और उद्जन बम पर अप्रत्याशित शीघ्रता से उनका प्रभुत्व, इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

वैज्ञानिक तथा यांत्रिक प्रशिक्षण में भी रूस की प्रगति भविष्य के लिए कम महत्वपूर्ण नहीं है। १९५० में सैनिक (जी. आई.) अधिकार-विधेयक की सहायता से अमरीकी विश्वविद्यालयों ने ५२,००० इंजीनियर स्नातक निकाले। जून, १९५४ में संख्या घटकर २०,००० तक पहुँच गयी। रूस में हमारे सर्वोत्तम अनुमान के अनुसार यह प्रवृत्ति विपरीत दिशा में रही है; १९२८ में यह संख्या ११ हजार थी जो १९५० में २८ हजार हो गयी और १९५४ में तो यह ५४ हजार के आश्चर्यजनक आंकड़े तक पहुँच गयी।

रूसी कार्यक्रम इतना विस्तृत हुआ कि उसमें चीन तथा अन्य पिछलग्गू

देशों के सैकड़ों विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं और अमरीकी वैज्ञानिकों के शब्दों में टेक्निकल शिक्षा का स्तर अमरीकी स्तर से कम नहीं है। आणविक तथा भौतिक-शास्त्र वेत्ता और कोलम्बिया यूनिवर्सिटी स्कूल आफ इंजीनियरिंग के डीन, डा. जॉन आर. डनिंग ने तो यहाँ तक कह डाला कि "वैज्ञानिक जन-शक्ति के युद्ध में हम लोग मैदान लगभग हार चुके हैं। रूस में लगभग उतने ही वैज्ञानिक तथा इन्जीनियर हैं जितने हमारे यहाँ और वह और भी तेजी से उन्हें पैदा कर रहा है।"

संभवत: अमरीकी तथा रूसी आर्थिक एवं यांत्रिक विकास के बीच कतिपय तुलनाएँ अनावश्यक रूप से निराशाजनक हैं। कुछ तो १९५५ के आरम्भ में सोवियत सामरिक उत्पादन में एकदम वृद्धि कर देने से, कृषि-उत्पादन तथा नागरिक औद्योगिक उत्पादन, १९५४ की वृद्धि-दर की तुलना में औसतन घट गया। सोवियत तेल-उत्पादन को भी आघात पहुँचा। सोवियत यातायात प्रणाली दूरियों को देखते हुए अपर्याप्त हैं। सोवियत राष्ट्रीय आय को देखते हुए उनके मकानों का स्तर बहुत ही गिरा हुआ है। मकान-निर्माण और यातायात के अंचल मे काफी दिलचस्प बात यह है कि सोवियत योजनाकारों ने पर्याप्त प्रगति ज़ारों से विरासत में पायी थी।

इसके अतिरिक्त कोरिया-युद्ध के समय में भी संयुक्त राज्य अमरीका रूस के मुकाबले कहीं कम उत्पादन कर रहा था। संयुक्त राज्य अमरीका का ४० घंटे का श्रम-सप्ताह रूस के ४८ घंटे के श्रम-सप्ताह की तुलना में इस अन्तर को स्पष्ट कर देता है। रूस की अधिकांश स्त्रियाँ मजदूरी कर रही हैं। यह गर्व के साथ कहा जा सकता है कि संकटकाल की लम्बी अवधि में, अमरीका अपने मौजूदा कारखानों और सामग्रियों की क्षमता से औसतन रूस से अधिक उत्पादन कर सकता है।

दूसरी ओर रूस में अपेक्षाकृत निम्न जीवन-स्तर के कुछ सैनिक लाभ हो सकते हैं। पश्चिमी उपभोक्ता अपने जीवनयापन के लिए कहीं और अधिक चाहता है। फिर भी एक स्पष्ट राजनीतिक प्राणी के नाते एक पश्चिमी नागरिक किसी भी नागरिक मितव्ययता की प्रक्रिया में सैनिक ढंग से अनुशासित एक रूसी की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण तत्व होता है, जिसको मैं अपने युद्धकालीन मूल्य तथा राशनिंग प्रशासक की हैसियत से प्राप्त अनुभवों से सिद्ध कर सकता हूँ।

रूसी अर्थ-व्यवस्था कम से कम कृषि में विशेषरूप से दोषपूर्ण हो सकती

है। जिस किसान की मौन सम्मति ने लेनिन की क्रान्ति को बढ़ावा दिया, वही सुनिश्चित विकास और आन्तरिक स्थिरता के मार्ग में एकमात्र जबर्दस्त रोड़ा रहा है। रूस के भविष्य के लिए निर्णायक होते हुए वह आज भी रूस का विसराया हुआ आदमी है।

सोवियत विकास की प्रारम्भिक स्थितियों में, रूसी भौमिक साधनस्रोत इतने विशाल थे और प्रति व्यक्ति खाद्यान्य-उत्पादन इतना अधिक था कि साम्यवादी योजनाकारों ने किसानों का बड़ी क्रूरतासे आर्थिक शोषण किया और आज भी वे नगरवासियों के लिए पर्याप्त किन्तु, साधारण खुराक के लिए किसानों से काफी अनाज खींच रहे हैं। मांस, मुर्गी, अण्डे तथा दूध-मक्खन इत्यादि का उत्पादन कम कर दिया गया और तरकारियों तथा अनाज पर अधिक जोर दिया जाने लगा जिनसे पर्याप्त पोषक तत्व कैलोरी, खनिज और प्रोटीन प्राप्त हो सकते हैं।

परन्तु लोगों की सहनशक्ति की भी एक सीमा है। इस प्रकार सीधे जीवन-निर्वाह की आरोपित अर्थ-व्यवस्था हमेशा नहीं चल सकती, चाहे विदेशी शत्रुओं तथा आन्तरिक संकटों का कितना ही प्रचार क्यों न किया जाय। परिणामस्वरूप १९५५ में मांस के, जो उच्च जीवनस्तर का परिचायक है, उत्पादन को दुगुना कर देने का व्यापक प्रयत्न प्रारम्भ हुआ।

सोवियत योजनाकारों के दृष्टिकोण से यह समस्या कहने में आसान, किन्तु समाधान में कठिन है कि किसान को अधिक उपभोक्ता-सामग्री न प्रदान कर तथा क्रय-विक्रय की अधिक स्वतंत्रता न देकर, अधिक अन्न कैसे प्राप्त किया जाय। खेती सोवियत अर्थतंत्र की सम्भवतः कठिन समस्या ही बनी रहेगी।

यदि क्रैमलिन कपड़े धोने की मशीनों, मोटर-कारों तथा मकानों के अधिक निर्माण की अनुमति देने का निर्णय करे—जैसा कि उसने १९५४ में कुछ समय के लिए किया था, तो और भी नयी समस्याएँ पैदा होने लगेंगी। आर्थिक अन्याय और भी फैल जायेगा। उच्च जीवनस्तर की लालसा और भी बढ़ेगी। सैन्य अनुशासित साम्यवादी समाज में भी, उस समय झगड़े पैदा होने लगेंगे, जब आर्थिक उन्नति का प्रारम्भ दिखाई देने लगेगा और जब और अधिक सुधार के अवसर पहलेपहल पूर्ण रूप से समझ लिये जायेंगे।

हर हालत में, सोवियत अर्थतंत्र की स्थिति, अद्भुत सफलताएँ तथा उसकी मर्यादाएँ सोवियत परराष्ट्रनीति के निर्णय में अधिकाधिक महत्वपूर्ण सिद्ध

होंगी। दोनों स्थितियाँ शीतयुद्ध को ढीला करने पर मजबूर करेंगी। जैसा कि बाद में मैं विस्तार से चर्चा करूँगा, विरोधाभास के रूप में दोनों ही शीतयुद्ध की शिथिलता के लिए जोर दे सकती हैं।

× × ×

रूसी इतिहास, मार्क्सवादी सिद्धान्त और सोवियत व्यवहार की इस संक्षिप्त रूपरेखा में हमने देखा कि मास्को से चलनेवाला साम्यवाद संगठित क्रूरता से भी कहीं अधिक जटिल घटना है। मार्क्सवादी सिद्धान्त ने रूसी नीति को एक सैद्धान्तिक आकर्षण प्रदान किया है, यद्यपि यह आकर्षण प्रायः दूकानों में पड़ा रह गया और जहाँ इसके अनुभवों ने लोगों को सचेत ही किया है। सोवियत आर्थिक प्रगति के आँकड़ों तथा भौतिक प्रमाणों का, उन राष्ट्रों पर, जो इसी प्रकार की उन्नति के लिए लालायित हैं, जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है। सैन्यशक्ति की विशालता उसकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा देती है।

इनके विपरीत दूसरा चित्र भी है, जिसमें धोखेबाजी, षड्यंत्र, हिंसा जिनका प्रयोग इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया गया है, के साथ बढ़ती हुई खिन्नता है। कम से कम योरोप के सबन्ध में यह कहना ठीक होगा कि बुद्धिजीवी आदर्शवादियों में साम्यवाद का प्रभाव कम हो रहा है। एशिया में, जैसा कि हम आगे चलकर देखेगें, एक दूसरी ही कहानी है।

इसके बाद हमारे समक्ष एक मौलिक प्रश्न उठता है: द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद के दूसरे दशक में मास्को की सम्भाव्य चाल क्या होगी? यह बढ़ती हुई आशा कहाँ तक उचित है कि मास्को शीतयुद्ध को सचमुच ही कम कर देना चाहता है?

पश्चिमी विचारधारा की परम्परा में गहराई से समायी यह धारणा है कि रूस की विशाल और कठोर सुदृढ़ शक्ति अपने निश्चित उद्देश्यों की ओर निर्द्वन्द्व बढ़ती चली जा रही है। फिर भी, रूसी क्रान्ति के उद्‌गम तथा प्रवाह की इस संक्षिप्त झाँकी में हमने देख लिया है कि सोवियत नीति अपनी टेक्नीकों में असाधारण परिवर्तन करने में समर्थ है, जिनमें से कुछ लक्ष्यों को प्रभावित करने की दृष्टि से काफी मौलिक हैं।

अब हम, कुछ परिवर्तनों पर, जो आज की स्थिति से अधिक सम्बन्वित हैं, संक्षेप में विचार करें। हम यह देख ही चुके हैं कि लेनिन ने किस प्रकार प्रथम

विश्व-युद्ध के वाद मध्य योरोप में राजनीतिक दृष्टि से रिक्त स्थानों में क्रान्तिकारी अवसरों को देखकर सोवियत सेना तथा राजनीतिक तंत्र को विश्वव्यापी क्रान्ति के अभियान में लगा दिया। जव जर्मनी और हंगरी में लाल सेनाएँ परास्त हुईं तो लेनिन ने इन प्रयत्नों को छोड़ दिया।

लेनिन के वाद स्तालिन ने रूस में ही साम्यवाद की स्थिरता के लिए सोवियत नीति में और भी मौलिक परिवर्त्तन कर दिया। सह-अस्तित्व की यह अवधि १९४१ में समाप्त हो गयी, जव हिटलर ने अपनी दहाड़ती हुई वख्तरवन्द सेनाओं को सोवियत संघ के मध्य तक पहुँचा दिया। अगर युद्ध की वात न होती तो कौन जानता है कि आन्तरिक विकास पर पोलित व्यूरो का ध्यान कव तक केन्द्रित रहता? फिर भी, युद्ध ने प्राचीन योरोप-शासित संसार को जड़ से हिला दिया और अन्तिम विश्व-क्रान्ति की अपनी धारणा के अनुसार, सोवियत नीति योरोप के इस पार से उस पार तक और मध्य पूर्व में राजनीतिक दृष्टि से रिक्त स्थानों को भर देने के प्रयास के रूप में वदल गयी।

१९४८ में पूर्वी योरोप में सोवियत शक्ति के सुदृढ़ीकरण, अन्य स्थानों में इसके धक्के तथा अगले वर्ष चीन में माओत्सेतुंग की अप्रत्याशित विजय के वाद युद्ध-पूर्व-काल के सह-अस्तित्व के प्रति इसकी चालों में भारी परिवर्तन अपेक्षित था। फिर भी, मालूम होता है कि सोवियत सैनिक तथा राजनीतिक चालों की आंशिक सफलता के कारण स्तालिन ने कुछ समय के लिए अपनी आक्रामक नीति को जारी रखना उचित समझा।

फिर भी, १९५२ तक, अधिकांश प्रेक्षकों को यह स्पष्ट हो गया कि स्तालिनवादी दुराग्रह से न केवल लाभ मिलना वन्द हो गया था, वल्कि वह अत्यन्त खतरनाक भी हो गया था। मुझे नयी दिल्ली में उस वर्ष की जुलाई की शाम याद है, जिसे मैंने एक दर्जन या अधिक साथियों के साथ विताया था, जिनमें ६ या ७ सरकारों के प्रतिनिधि भी थे। हमने वात ही वात में उन कारणों की सूची वनायी कि पोलितव्यूरो के दृष्टिकोण से रूसी चालों में जवर्दस्त उलटफेर क्यों तर्कसंगत प्रतीत हो सकता है। कारणों की सूची इस प्रकार थी:—

(१) आणविक अस्त्रों का विकास तथा उनके उपयोग की क्षमता किसी भी प्रमुख युद्ध को शीघ्र ही विजयी और विजित दोनों के लिए विनाशकारी वना देगी। वाशिंगटन की गल्पकथाओं के अनुसार रूस की हवाई शक्ति के पूर्णतया विकसित होने के पूर्व कतिपय अमरीकी उग्रवादियों में यह चर्चा वढ़ती जा रही थी कि किसी वहाने से एक अवरोधक युद्ध आरम्भ कर दिया जाय।

(२) 'नाटो' (Nato) की बढ़ती हुई शक्ति के द्वारा पश्चिमी योरोप में अपेक्षाकृत अधिक सैनिक सुरक्षा प्राप्त हुई थी और चैनल तथा अटलांटिक पर सोवियत स्थल सेनाओं के शीघ्र ही तीव्र प्रहार का प्रलोभन बहुत कम हो गया।

(३) कोरिया-युद्ध दो वर्ष बाद बन्द हो गया और रूस और चीन दोनों के लिए खर्च का कारण बन गया और वह आसानी से अनपेक्षित बड़े युद्ध का रूप धारण कर सकता था।

(४) ज्यों-ज्यों योरोप आर्थिक दृष्टि से धीरे-धीरे अपने पैरों पर खड़ा होने लगा, त्यों-त्यों हिंसात्मक वर्ग-क्रान्ति के द्वारा गृह-युद्ध पैदा करा देने की मास्को की क्षमता भी कम होती गयी। एशिया के नये स्वतंत्र देशों में, कोमिनफार्म-प्रेरित साम्यवादी क्रान्तियाँ वहाँ की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना के सामने न ठहर सकीं; केवल उन देशों में उनके लिए अवसर रह गया, जहाँ अभी भी उपनिवेशवाद है।

(५) युद्ध की लगातार धमकी ने योरोप में मित्रराष्ट्रों की प्रतिरक्षा को सुदृढ़ बनाने के सिवाय और कुछ भी न किया और पश्चिमी राष्ट्रों की मित्रता को और पक्का बना दिया। अब पश्चिम को, न तो योरोप में और न एशिया में रूसी धमकियों का डर रहा।

(६) इसके विपरीत, अनुभव से यह मालूम हुआ कि पश्चिम राष्ट्रों की मित्रता में तनाव के ढीले होने पर फूट पैदा होने लगी है।

(७) सैनिक तैयारी का दबाव सोवियत आर्थिक व्यवस्था पर बहुत बड़ा बोझ था और आर्थिक विकास की गति उतनी ही धीमी पड़ गयी थी। सोवियत कृषि की स्पष्ट कठिनाइयों के साथ साम्यवादी चीन में भारी आर्थिक संकट की सम्भावना पैदा हो गयी थी।

(८) सैनिक तैयारी में ढिलाई के फलस्वरूप बचत से ही सोवियत संघ, चीन तथा योरोपीय पिछलगू राष्ट्रों को अपनी सहायता बढ़ा सकता था और भारत जैसे तटस्थ राष्ट्रों के लिए ठोस और राजनीतिक दृष्टि से प्रभावपूर्ण सहायता का कार्यक्रम तैयार कर सकता था।

(९) रूस की पूर्वी सीमाओं पर संगठित चीन के विकास की बढ़ती हुई शक्ति ने, यद्यपि वह साम्यवादी बंधनों द्वारा रूस से संवद्ध था, रूस के नियामकों के लिए अनेक नयी समस्याएँ पैदा कर दी थीं। रूस के पिछले दरवाजे पर शक्तिशाली चीन बहुत ही महत्वपूर्ण भौगोलिक तथा राजनैतिक तत्व होगा।

इस पर सर्वदा नियंत्रण नहीं रखा जा सकता था।

(१०) मार्क्सवादी सिद्धान्त में इस वात पर जोर दिया गया है कि पूँजी-वादी अर्थ-व्यवस्था की स्वस्थता युद्ध की तैयारियों पर आश्रित होती है और मास्को सम्भवतः समझेगा कि पश्चिमी प्रतिरक्षा-मोर्चे पर ढिलाई अमरीका को मंदी के गहरे गर्त में गिरा देगी। १९२९ से अमरीका में युद्ध के समय अथवा उसके वाद की तात्कालिक अवधि में वेकारी समाप्त हो गयी थी जब कि नागरिकों की अपूर्ण माँगों को पूरा करना था।

(११) अन्त में, सोवियत संघ प्रचार की दृष्टि से विश्व के समक्ष सुदृढ़ स्थिति में पहुँच जायेगा, यदि उसका शान्ति-अभियान विश्वासपूर्वक चलता रहा; यदि शान्ति स्थापित हुई तो क्रेमलिन को इसका अधिक से अधिक श्रेय तो मिलेगा ही, साथ ही अमरीका को कूटनीति के द्वारा धीरे-धीरे पृथक् करने का उसे अवसर भी प्राप्त हो जायेगा। यदि शान्ति कभी नहीं आयी तो उसका दायित्व अमरीका तथा उसके अटलांटिक साथियों पर डाला जायगा और सोवियत स्थिति और भी मजबूत हो जायेगी।

यद्यपि हमको ऐसा मालूम हुआ कि तर्कों की सच्चाई रूस के नीति-निर्माताओं को स्पष्ट रूप से मालूम होगी, फिर भी उस समय मास्को में ढिलाई का कोई लक्षण नहीं था। इसके विपरीत, ठीक उसी समय मास्को के साथ अमरीका के सम्बन्ध विशेषरूप से गम्भीर स्थिति में थे।

यह नयी दिल्ली सहित विश्व की सभी राजधानियों में प्रकट था। सामाजिक समारोहों में सोवियत प्रतिनिधियों ने अत्यन्त औपचारिक शिष्टता से भी इन्कार कर दिया। नवम्बर, १९५२ में, कोरिया-युद्ध में संयुक्त राष्ट्र के द्वारा मध्यस्थता करने के नेहरू के प्रयत्नों को भी विशिन्स्की ने उद्दण्डतापूर्वक ठुकरा दिया।

फिर भी, मार्च, १९५३ में स्तालिन की मृत्यु के पूर्व ही परिवर्तन दिखायी देने लगा। सोवियत प्रतिनिधि अचानक सद्भावना दिखाने लगे। भारत में अमरीकी दूतावास के एक दर्जन या कुछ अधिक सदस्यों को उन्हीं के पद के सोवियत प्रतिनिधियों से क्रिस्मस कार्ड मिले। जुलाई, १९५३ में उसी आधार पर, जिसे सोवियत ने आठ महीने पहले ठुकरा दिया था, कोरिया में संधि हो गयी।

८ अगस्त को स्तालिन के उत्तराधिकारी मालेनकोव ने नयी चाल के आधार की व्याख्या की : "अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में तनाव की परिस्थितियों में, यदि

आज उत्तरी अटलांटिक गुट आन्तरिक कलह तथा विरोधों से फूटग्रस्त है, तो इस तनाव की कमी से संभवतः वह बिखर सकता है।"

कुछ ही महीनों में सोवियत शान्ति-अभियान ने कठोर वचनों की अपेक्षा स्तालिनवाद की चापलूसियों से कुछ दूर हटने की व्यवस्था की। उन अनेक उदाहरणों में से कुछ ये हैं :— चीन को पोर्टआर्थर लौटा दिया गया, कतिपय बलगेरियन उद्योग स्थानीय नियंत्रण में दे दिये गये और ट्रिअस्ट समझौता सम्पन्न हो गया। अपनी पिछली स्थिति को उलटते हुए रूस ने यूनेस्को तथा संयुक्त राष्ट्र की टेकनिकल सहायता में भाग लेनेका निश्चय किया। तुर्की और दर्रेदानियाल के विरुद्ध दावों को त्याग दिया गया। डेन्यूब नदी में आवागमन खोल दिया गया।

८ फरवरी, १९५५ को मोलोतोव ने मास्को में सुप्रीम सोवियत की बैठक में कहा कि यदि पश्चिमी जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण सम्बन्धी पेरिस-समझौते की पुष्टि की गयी तो 'नाटो'—शक्तियों पर उसके भयानक परिणाम देखने को मिलेंगे। उसने इस बात पर जोर दिया कि आस्ट्रिया का मामला जर्मनी की समस्या के सन्तोषप्रद समाधान पर निर्भर है। तीन महीने बाद ही, मोलोतोव ने अचानक बड़ी रियायतें दीं और आस्ट्रियाई संधि पर हस्ताक्षर हो गये।

ब्रिटेन, फ्रान्स, पश्चिमी जर्मनी, स्केन्डिनेविया, यूगोस्लाविया, यूनान, मिस्र तथा अर्जेण्टाइना के साथ सोवियत व्यापारिक सम्बन्ध पूरे हो गये हैं। टेक्निकल तथा आर्थिक सहायता का न केवल साम्यवादी गुट के अन्दर ही प्रयोग हुआ, बल्कि इसके बाहर अफगानिस्तान और भारत को भी पर्याप्त सहायता पहुँचायी जा रही है। १९५५ में भारत को अपने पक्ष में करने के सोवियत प्रयत्न अधिक तेज कर दिये गये। चूँकि साम्यवादी चीन की भौगोलिक तथा राजनीतिक महत्ता बढ़ती जाती है, इसलिए संभव है कि क्रेमलिन भारत की ओर, चीन की बढ़ती हुई माँगों के पलड़े को बराबर करने के लिए और अधिक झुके।

मई, १९५५ में बेलग्रेड में एक बिलकुल नाटकीय चाल चली गयी। मार्शल जोसेफ ब्रोज टिटो को, जिन्हें सात वर्षों के अधिकांश समय में "भद्दा", "छिछोरा", "जनखा", "बदमाश", "फासिस्ट", "नरभक्षी" तथा "बेलग्रेड का तुतलाने वाला तोता" कहकर पुकारा जाता था, अचानक क्रेमलिन-क्षेत्र में वापस आने के लिए आमंत्रित किया गया।

एक सप्ताह की खींचातानी के बाद एक समझौते की घोषणा की गयी जिस पर टिटो तथा सोवियत प्रधान मंत्री बुलगानिन के हस्ताक्षर थे और जिसमें कहा गया था कि समाजवादी विकास के विभिन्न रूपों का सम्बन्ध एकमात्र सम्बन्धित देशों से ही है। सैद्धान्तिक मतभेदों अथवा सामाजिक व्यवस्था के भेदों की परवाह किये बिना उन्होंने राष्ट्रों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के विकास और मान्यता के लिए जोर दिया।

बेलग्रेड में ख्रुशेव तथा बुलगानिन के पश्चात्तापपूर्ण अभिव्यक्ति के साथ यह नया परिवर्तन निश्चय ही सोवियत परिधि में काफी व्यग्रता तथा उलझन पैदा करनेवाला था। ट्रियस्ट का इटालियन साम्यवादी नेता विट्टोरिओ विडाली, जिसके समाचारपत्र ने उसके ये भाव उगल दिये कि टिटो सम्बन्धी ख्रुशेव की नीति ने हमारी पार्टी को उसी तरह झकझोर डाला जिस प्रकार ऐड्रियाटिक की हवा वृक्षों को झकझोर डालती है, औरों के सम्बन्ध में इसी तरह उलटासीधा बोल रहा था।

यह संभव है कि टिटो की सफलता, अनपेक्षित ढंग से मास्को के प्रति अन्य पूर्वी योरोपीय दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन कर दे। उनमें से कुछ उस व्यापक मार्क्सवादी परम्परा की ओर मुड़ने के लिए आकर्षित हो सकते हैं, जिसकी व्याख्या यूगोस्लाविया के अत्यन्त प्रभावशाली सिद्धान्तवादी एडवर्ड कार्डेल्ज ने की थी। अक्तूबर, १९५४ में ओस्लो में स्कैन्डिनेविया के सोशल डेमोक्रेटों (Social Democrats) के समक्ष भाषण करते हुए कार्डेल्ज ने राज्य के नौकरशाही वाले रूप पर चोट की और क्रान्ति को विदेशों में हिंसात्मक ढंग से बढ़ाने के मास्को के पुराने सिद्धान्त का खण्डन किया।

उसने कहा, "क्रान्तिवादी तथा विकासवादी समाजवाद के बीच के झगड़े को इतिहास ने दोनों को स्वीकार करके मिटा दिया।" पिछलग्गुओं पर मास्को के नियंत्रण के सारे आधार को इससे कड़े शब्दों में अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

× × ×

१९५३ में जो नयी सोवियत चालें शुरू हुईं और जो जुलाई, १९५५ में जिनेवा के शीर्षस्थ सम्मेलन में समाप्त हुईं, उनका चाहे जो भी अन्तिम अर्थ हो, अमरीका तथा उसके अधिकांश अटलांटिक सहयोगियों ने धोखे के खतरे को समझ लिया है और अब वे फिर कभी भी अपनी सेनाओं को मनमाने ढंग से विघटित नहीं करेंगे, जबकि सोवियत नेता शान्ति की बातें करते हैं। साथ

ही पश्चिमी नीति-निर्माताओं के लिए, सोवियत चालों में अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा दीर्घकालिन परिवर्तनों की संभावनाओं की उपेक्षा करना भी घातक होगा। अगले दशक के भाग्य-निर्माण में यह एक प्रमुख तत्व हो सकता है।

२४ अक्तूबर, १९५७ को रूसीक्रान्ति चालीस वर्ष पुरानी हो जायेगी और अधेड़ अवस्था को पहुँच जायेगी। अधेड़ावस्था प्रायः रूढ़िवादिता को अपने साथ लाती है और उसमें अधिकाधिक सम्मान पाने की इच्छा रहती है। साम्यवादी राष्ट्र में भी, समाज के अनेक प्रादेशिक, सांस्कृतिक तथा कुशल तत्वों में व्याप्त आन्तरिक मतभेदों पर इसका और अधिक प्रभाव पड़ सकता है।

आज सोवियत संघ में ही, आय-वितरण, दल में पद, अर्धनिष्णात श्रमिक वर्ग में सामाजिक पुरस्कार, मध्यवर्ती तथा उच्चतम प्रबंध के प्रश्न पर तीव्र मतभेद हैं और सेना, जिसके प्रभाव को १९३७ के शुद्धीकरण तथा युद्ध-कालीन विजयों के बाद स्तालिन ने व्यवस्थित रूप से कम किया, स्तालिन के बाद के युग में बहुत बढ़ा दी गयी है। इसी प्रकार के विभाजन उद्योग, खान, यातायात और संचार में भी पाये जाते हैं। १९५५ के मध्य-ग्रीष्म में अमरीकी मिडवैस्ट में जिन सोवियत किसान प्रतिनिधियों का स्वागत किया गया था, उनकी उच्चतर जीवन-स्तर की भूख तीव्र हो गयी होगी। संघर्ष की अन्य रेखाएँ नागरिक तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था तथा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भावनाओं को पृथक् कर रही हैं।

रूस से प्राप्त समाचारों में सोवियत नागरिकों के जीवन की असली झाँकियाँ शायद ही कभी मिलती हों। अमरीकी किसानों को, जो १९५५ की कृषि-विनि-मय की योजना के अन्तर्गत रूस गये थे, वहाँ की वास्तविक दशाओं की शायद उतनी ही अच्छी जानकारी हुई, जितनी अभी हाल में गये हुए पर्यवेक्षकों को हुई थी। पश्चिमी प्रेक्षकों की सूचनाओं से यह मालूम होता है कि रूस में साधारण मनुष्य का जीवन निरन्तर संघर्षमय है और उसे अधिक घण्टों तक कार्य करना पड़ता है; अत्यन्त महँगा खाद्यान्न खरीदना पड़ता है और उसका पारिवारिक जीवन अभी तक युद्ध की विभीषिका से पुनः व्यवस्थित नहीं हो पाया है। शहरों में दरिद्रता तथा भीड़ की जीवनदशा, सफाई की आदिकालीन सुविधाएँ, खरीददारों को थका देने वाली पंक्ति में खड़े होने की पद्धति, इन सबने मिलकर वहां जीवन में एक अरुचि पैदा कर दी है; हाँ, मद्यपान के उत्साह ने इस अरुचि को कुछ कम अवश्य कर दिया है।

उपभोक्ता के सामानों में वृद्धि के लिए मालेनकोव के वायदे, सैनिक प्रतिरक्षा के भारी दवाव और विशेपकर विमान-निर्माण के जवर्दस्त कार्यक्रम के कारण, जिसके परिणामों ने हमारे विशेपज्ञों को भी भौचक्का और आश्चर्य-चकित कर दिया है, झूठे पड़ गये हैं। कहा जाता है कि १९५५ में उपभोक्ता माल-उत्पादन में केवल ५ प्रतिशत की वृद्धि हुई, जो युद्ध के वाद किसी भी वर्प से कम ही है। रूस की आवादी प्रतिवर्प १½ प्रतिशत के हिसाव से वढ़ रही है, जिसका अर्थ यह है कि शीतयुद्ध की परिस्थितियों में ठोस सुवार की आशा नहीं की जा सकती।

स्तालिन की मृत्यु के वाद इस मानवीय पक्षको विशेप रूप से सार्थक कर देनेवाले अनेक परिवर्त्तन देखे गये हैं। संवाददाता तथा दर्शक, जो कुछ वर्षों के वाद रूस लौटे हैं, परिवर्तनों से अविकतर सहमत हैं। उनका कहना है कि प्रारम्भिक यात्राओं में उन्हें सर्वदा यह महसूस होता रहा कि वे पहले साम्य-वादियों से और वाद में रूसियों से वातें कर रहे हैं, परन्तु अव उन्हें ऐसा लगता है कि वे पहले रूसियों से वातें कर रहे हैं और युद्ध के वाद किसी भी समय से अव उनसे वातें करना अविक आसान है।

इस वात से भी वे काफी प्रभावित हुए कि जिन रूसियों से उन्होंने वातचीत की, उनमें से वहुत कम राजनीतिक मामलों से चिन्तित थे। इसके वजाय, जैसा कि 'लन्दन टाइम्स' के एक संवाददाता ने हाल ही में लिखा था, वे भी उन्हीं चीजों की चर्चा कर रहे हैं, जिनकी सभी जगह, सभी लोग करते हैं: "दफ्तर की, वच्चों की, शिक्षा की, लड़की के प्रेमी की, छुट्टियों में कहीं जाने की, टेलीविजन खरीदने की या कल कसाई गोस्त लायेगा या नहीं, इत्यादि।"

इस संवाददाता ने आगे लिखा, "जवकि राजनीतिक दिलचस्पी का यह अभाव उत्साही लोगों को पसन्द न था, फिर भी किसी को भी यह आभास होता था कि रूस में क्रान्ति का ज्वार फिलहाल समाप्त हो गया है, शायद वहुत समय के लिए और वर्पों के तूफान के वाद समाज ने अपनी गति के साथ, अपने स्थापित पदों तथा अविकारों के साथ, अपनी नयी और पुरानी परम्पराओं के साथ और अपनी वढ़ती हुई सुविधाओं के साथ एक सुस्थिर रूप ग्रहण कर लिया है।

आजकल सोवियत संघ में उनलोगों ने, जिन्होंने वहाँ की यथातथ्यता पर दाँव लगा रखा है, हो सकता है वहाँ की कम साहसपूर्ण परराष्ट्रीय नीति पर भी

सानुपात दाँव लगा दिया हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि सोवियत नीति किसी बढ़ते हुए मर्यादावादी साँचे में ढाली जा सकती है। इसका निश्चित रूप से यही अर्थ है कि बढ़ती हुई नरमी की चालें, यद्यपि वे कभी-कभी ही दिखाई देती हैं, बहुत संभव है कि अच्छी तरह से स्पष्ट न हों। कुछ समय के लिए नरमी हो सकती है, फिर अचानक कठोरता और फिर बाद में वही मुस्कानों और रियायतों का युग आ सकता है।

बदलती हुई चालों की ऐसी नीति के लिए क्या सोवियत सरकारी सिद्धान्त में आमूल संशोधन की आवश्यकता होगी? आवश्यक रूप से नहीं। जैसा कि हम देख चुके हैं, यह बार-बार सिद्ध हो चुका है कि साम्यवादी मस्तिष्क एक साथ ही विरोधी विचारों को ग्रहण करते हैं और साथ ही बात एक तरह से कहने तथा आचरण दूसरी प्रकार से करने में भी समर्थ हैं।

व्यावहारिक साम्यवाद की दोहरी चाल से सोचनेवाली सामर्थ्य उन पर्यवेक्षकों को आश्चर्य में डाल देनेवाली होती है, जो तथ्य, तर्क और युक्ति में प्रशिक्षित होते हैं। हम लोग यदि कोई विचार जाँचने पर गलत, झूठा या अपर्याप्त साबित होता पाते हैं, तो या तो हम उसे फिर से जाँचते हैं या फिर उसे छोड़ देते हैं। दूसरी ओर साम्यवादी किसी भी प्रमाण के सही होने पर भी उसे ठुकरा सकता है, यदि वह उसके पूर्व विचारित सिद्धान्त से मेल नहीं खाता।

"दोहरी चाल से सोचने" की शक्ति साम्यवादी सैद्धान्तिक को अपनी परिभाषा के अनुसार अपनी समस्या को हल कर देने के योग्य बना देती है। इस तरह चूँकि साम्यवादी नेता साम्यवादी परिभाषा से अपने अथवा अन्य लोगों को नहीं दबा सकते अथवा आक्रमण नहीं कर सकते, इसलिए जो आलोचक यह आरोप लगाते हैं कि वे यही करते हैं, वे अवश्य ही द्वेषपूर्ण, पूँजीवादी, बदनाम करने वाले लोग होंगे। इस प्रकार सरकारी सोवियत सिद्धान्तवादिता इस तथ्य में दोहरी चाल नहीं समझती कि दूसरे के आक्रमण की निन्दा करते हुए रूस ने १९४० तथा १९४८ के बीच अपनी सीमाओं पर प्रत्येक योरोपीय राष्ट्र से या तो कुछ हड़प लिया या उन्हें प्रादेशिक रियायतें देने के लिए मजबूर कर दिया था।

ब्रिटेन और अमरीका में पर्यवेक्षक अनजाने ही सोवियत विचारधारा में एक ऐसा तर्क लगा सकते हैं जो पश्चिमी पर्यवेक्षकों की दृष्टि से तर्क ही नहीं। साम्यवादी नेता ऐसी बातें करते हैं मानो वे शान्ति और साम्यवादी शक्ति

का सीमा-विस्तार, दोनों ही एक साथ चाहते हैं। क्या वे अपने सिद्धान्त के प्रति वफादार रह सकते हैं और इन विपर्ययों का सन्तुलन कर सकते हैं? साम्यवादियों की यह अपूर्व 'दोहरी चाल से सोचने की शक्ति' हमारी शान्ति की आशाओं पर क्या प्रभाव डालेगी? क्या विश्व की स्थिरता के लिए आवश्यक होगा कि कम्यूनिस्ट सिद्धान्तवादी अपने सूक्ष्म आक्रमक सिद्धान्तों का परित्याग करें?

सार्वजनिक रूप से परित्याग संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त अविकृत मार्क्सवादी सिद्धान्त के कुछ अंशों का औपचारिक त्याग भी आवश्यक नहीं है, यद्यपि इससे कुछ काम वन सकता है। साम्यवाद के कूटनीतिक विरोधियों को यह समझ लेना चाहिए कि यद्यपि "दोहरी चाल से सोचने' की वृत्ति उनमें गहराई से जमी हुई है, फिर भी साम्यवादियों के 'कहने' से 'करना' अधिक महत्वपूर्ण है। जैसा कि अन्य सिद्धान्तों के साथ है, उदाहरण के लिए इस्लाम धर्म के "अनिवार्य" जेहाद (धर्म-युद्ध) में, साम्यवाद के कुछ मौलिक नियमों को केवल मौखिक श्रद्धा प्राप्त है, परन्तु व्यवहार में उन्हें काट दिया जाता है और भुला दिया जाता है।

इस बीच असाम्यवादी कूटनीतिज्ञों को चाहिए कि वे साम्यवादी नेताओं में से 'दोहरी चाल से सोचने' की उन विचारधाराओं को निकालने का प्रयत्न करें जिनका प्रभाव वास्तव में उनकी नीति पर पड़ता है। उनको मौखिक के वजाय सार्थक विकल्पों के स्पष्ट निर्वाचन की ओर प्रेरित करें। यद्यपि निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, फिर भी अभी जिन प्रमाणों की हमने परीक्षा की है, उनके आधार पर हमारे पास इस परिणाम पर पहुँचने के कारण हैं कि सोवियत संघ के नये नेता शान्ति और संगठन का युग चाहते हैं। मालेनकोव के अधीन उन्होंने उपभोक्ता सामग्रियों की माँग पेश की। वुलगानिन के अधीन उन्होंने अपने उसी स्वार्थ को छोड़ देने की क्षमता प्रदर्शित की है, जिससे जवर्दस्त वायु-सेना का कार्यक्रम संचालित हो सके और जिससे यह सावित हो सके कि विदेशों में विपरीत अफवाहों के वावजूद सोवियत अर्थव्यवस्था 'टूटे पैरों' पर नहीं खड़ी है।

इस लचीलेपन को प्रदर्शित करने के वाद, जुलाई, १९५५ में सोवियत नेता जनेवा गये और शान्ति के लिए प्रतिज्ञाएँ कीं। 'दोहरी चालसे सोचने' की विचारधारा से दवे होने पर भी सोवियत नेताओं के सामने ठोस कार्य के द्वारा अपनी शान्ति की घोषणाओं को पूरा करने का मौका था।

शीतयुद्ध के दवाव में कमी, कोमिनफॉर्म की समाप्ति और निःशस्त्रीकरण पर बातचीत करने की सच्ची इच्छा तथा मतभेद की मौजूदा बातों को ठीक कर लेना, ऐसी बातें हैं, जो सोवियत स्थिति के उक्त अनुमान से सर्वथा मेल खाती है। इसके अलावा, यह १९२० से लेकर १९३९ के हिटलर-स्तालिन सन्धि तक, जिससे संसार को यह मालूम हुआ कि रूस एक अच्छा और शान्ति-प्रिय पड़ोसी है और जिसके विचार मौलिक होते हुए भी अधिकांश में अपने ही देश में उपयुक्त होने के लिए हैं, रूसी चालों के अनुसार ही है।

निःशस्त्रीकरण में सोवियत संघ की दिलचस्पी यदि सच्ची साबित होती है, तो हमें याद रखना चाहिए कि रूस में निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव, साम्यवादी सरकार के वर्षों पूर्व की एक दीर्घकालीन कूटनीतिक परम्परा के रूप में हैं। १८१६ में ज़ार अलेक्जैण्डर प्रथम ने लॉर्ड केसलरे (Caselereagh) के समक्ष, बड़ी शक्तियों द्वारा निर्मित हर प्रकार की सैनिक शक्ति को एक साथ ही कम करने का सुझाव रखा। १८६८ में, अलेक्जैण्डर द्वितीय ने विस्फोटक गोलों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव रखा था और ६ वर्ष बाद में ब्रुसेल्स में यह सुझाव रखा कि जो अस्त्र अनावश्यक कष्ट पैदा करते हैं, उन पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए। १८९९ में निकोलस द्वितीय ने हेग सम्मेलन बुलाकर शान्ति निर्माता के रूप में अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली।

१९१६ में सत्ता प्राप्त करने के पूर्व लेनिन ने कहा था कि निःशस्त्रीकरण तभी संभव है, जब सर्वहारा वर्ग मध्यवित्तीय वर्ग को निःशस्त्र कर देगा, इसके पहले कदापि नहीं। फिर भी, १९२७ में राष्ट्रसंघ (लीग आव नेशन्स) के समक्ष मास्को ने बड़े नाटकीय ढंग से सभी भूसेना, नौसेना तथा वायुसेना की बिलकुल समाप्ति, वर्तमान सभी अस्त्रों, युद्धपोतों, वायुयानों तथा अस्त्र-शस्त्र बनाने वाले कारखानों का नाश, सभी प्रकार के सैनिक प्रशिक्षण का अन्त और इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए एक अन्तरराष्ट्रीय संस्था के निर्माण का प्रस्ताव रखा।

रूसी नेताओं ने १९५५ के जनेवा-सम्मेलन और उसके आगे के संसार की ओर देख कर सोचा होगा कि इस परम्परा की पुनरावृत्ति के लिए समय आया या नहीं। इस ढील से, अनेक लाभों के अतिरिक्त जिनकी मैं चर्चा कर चुका हूँ, लाल सेना की उत्साहहीन और जबर्दस्त धमकी तथा व्यापक रूप से अविश्वसनीय तथा असम्मानित कोमिन्फार्म द्वारा संचालित प्रायः नृशंस देशद्रोही कार्य की अपेक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण मध्य-

विश्व की जनता को आकृष्ट करने के लिए आधार मिल गया होगा।

सोवियत नेता सदा बचाव की काफी गुंजाइश रख कर कार्य करते हैं। इस प्रकार की लचीली नीति न केवल उनके बचाव की गुंजाइश को बढ़ायेगी, बल्कि कुछ लोगों को तो ऐसा भी प्रतीत होगा कि इससे मूल साम्यवादी लक्ष्यों को प्राप्त करने की संभावनाएँ भी बढ़ जायेंगी। अपने को खतरे में डालकर हम अमरीकी साम्यवादी चुनौती की बढ़ती वास्तविकताओं की उपेक्षा कर सकते हैं; अपनी इच्छा के बिलकुल विपरीत हम अपने आपको ऐसी स्थिति में पाते हैं, जहाँ से हम क्रेमलिन का प्रभावशाली ढंग से मुकाबला कर सकते हैं, चाहे वह आक्रमणकारी विस्तार की मनोदशा में हो अथवा प्रति-स्पर्धात्मक सह-अस्तित्व की।

आज भी कोई नहीं जानता कि इन राष्ट्रों तथा विचारों के बीच प्रतियोगिता के कितने विभिन्न रूप होंगे, परन्तु यह अत्यन्त असंभव है कि औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में सर्वहारा– क्रान्ति की विशिष्ट मार्क्सवादी पद्धति पर मुख्य संघर्ष होगा।

सोवियत नेता स्वयं इस बात को स्वीकार करते मालूम होते हैं। "लेनिनवाद की नींव" विषय पर १९२४ में व्याख्यान देते हुए स्तालिन ने कहा था कि विश्व दो शिविरों में विभक्त है; एक शिविर है मुट्ठीभर सभ्य राष्ट्रों का, जिनके पास पूँजी है और जो संसार की अधिकांश आबादी का शोषण करते ह और दूसरा शिविर है उपनिवेशों तथा पराधीन देशों के उन शोषित तथा उत्पीड़ित लोगों का, जो बहुमत में हैं।" उसने कहा कि साम्यवादियों को इस दूसरे शिविर का निश्चय ही नेतृत्व करना चाहिए।

अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध अटलांटिक राष्ट्र यह जानते हैं कि रूस की गुप्त पुलिस तथा बन्दी-शिविर, मार्क्स की इस कल्पना के उसके अनुयायी सफलताएँ प्राप्त करेंगे, उपहास हैं। परन्तु अर्धविकसित राष्ट्रों का विशाल बहुमत, जो स्तालिन के दिमाग में था, सोवियत संघ की सफलताओं के सम्बन्ध में अपने अनुमान में खतरनाक अदूरदर्शिता से पीड़ित था और यह अदूरदर्शिता मानवीय पीड़ा की अपनी विकट समस्याओं के दबाव से पैदा हुई है।

एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमरीका के करोड़ों लोग प्रायः अपने दुखों से छुटकारा पाने के लिए किसी भी परिवर्तन के तत्काल स्वागत के अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकते। सोवियत संघ के बारे में वे यह जरूर देखते हैं कि २० करोड़ लोगों का वह देश, जो पिछड़ा हुआ था, आज एक

ही पीढ़ी में बढ़ कर बीसवीं शताब्दी के उद्योगवाद की प्रथम श्रेणी में पहुँच गया है। वे एक विश्व-राजनीतिक दल को देखते हैं, जो जातिगत भेदभाव का विरोध करता है, मानवता के लिए चिन्ता व्यक्त करता है तथा भूमि, रोटी और शान्ति का वादा करता है। वे यही चीजें देखते हैं और प्रभावित होते हैं।

जिन अन्य आश्वासनों, द्रुत विकास के दृष्टान्त तथा अन्य क्रान्तियों को अधिकांश मानव-समाज देखेगा, वे ही न केवल समस्त अर्धविकसित महाद्वीपों के भाग्यनिर्णायक बनेंगे बल्कि उन दो महान् राष्ट्रों के, जो आज अणु-गतिरोध में उलझे हुए हैं, भाग्य का फैसला भी करेंगे।

तीसरा भाग

चीनी क्रान्ति रास्ता भूल गयी

चीन—वह एक दैत्य पड़ा सो रहा है। उसको सोने दो; क्योंकि जब वह उठेगा तो दुनिया को हिला डालेगा।

—नैपोलियन बोनापार्ट

नवाँ प्रकरण

चीनी प्रस्तावना

द्वितीय विश्व-युद्ध के वाद के अशान्तिपूर्ण दशक में, जब हमारी आशाएँ चूरचूर हो गयीं और अपेक्षाएँ असत्य सिद्ध हुईं तो सोवियत यूनियन के प्रति अमरीकी रुख में अचानक परिवर्तन हुआ, परन्तु रूसी व्यवहार पर क्षोभ, इतिहास की कोई नयी घटना नहीं थी।

साम्यवादी चीन का उद्भव हुआ। १९४५ में अमरीकावासी सम्भवतः इसके लिए तैयार नहीं थे, जिस प्रकार वे अणु-विभाजन के लिए तैयार नहीं थे। तथापि, रूस की भाँति अपनी विशाल जन-संख्या तथा साधन-स्रोत-सम्पत्ति के कारण चीन के भाग्य में विश्व के मामलों में प्रमुख भाग लेना वदा था।

थोड़े से दूरदर्शी लोगों ने इसे स्पष्ट रूपसे समझा। जैसे ही इतिहास ने वीसवीं शताब्दी में प्रवेश किया, एक अमरीकी विदेश-मंत्री ने घोषणा की "विश्व की शान्ति चीन पर आश्रित है और जो कोई चीन को समझ सकेगा, उसी के हाथ में आगामी पाँच शताब्दियों तक विश्व-राजनीति की कुंजी होगी।" पिछली पाँच शताब्दियों के "नैसर्गिक साम्राज्य" के साथ अपने स्वयं के अनुभवों ने, योरोप और अमरीका की आत्मतुष्ट दुनिया को कुछ ऐसा वना दिया था कि उसने जान हे की चेतावनी को मिश्रित उदासीनता और अविश्वास के साथ सुना। अभी हाल तक वही निषेधात्मक प्रतिक्रिया हम में दृढ़ता से वनी रही।

कुछ ईसाई धर्म-प्रचारकों, व्यापारियों तथा मुट्ठी भर विदेश-सेवाके पदाधिकारियों के अतिरिक्त, हे के समय के कुछ ही अमरीकियों को चीन के बारे में कुछ मालूम था। यह ठीक है कि अधिकांश हाईस्कूल के विद्यार्थी जानते हैं कि मानवजाति का पाँचवाँ भाग चीन में है और उनकी सभ्यता दो या तीन प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक है, फिर भी कुछ ही लोगों को ऐसा लगा कि चीन कभी विश्व के मामलों में विशेष महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकेगा।

चीनी सभ्यता की परम्परागत निष्क्रिय विशेषताओं के वारे में जो लोग पढ़ चुके हैं और जो चीन पर विदेशी आक्रमणकारियों की लम्बी शृंखला से

परिचित हैं, उनके लिए हे की भविष्यवाणी और भी सोच-विचार में डाल देने वाली सिद्ध हुई। चीनी इतिहास के अनेक विद्यार्थी, जिन्हें इस बात का विश्वास होगया था कि तांग राज्य-वंश की विचक्षणता को न तो कोई पा सका है और न पा सकेगा, यह निष्कर्ष निकालते हैं कि एक हजार वर्ष की इस सफलता से प्रेरित आत्मतुष्टि का अचानक सशक्त परिवर्तनों में प्रस्फुटन सम्भव नहीं है। (Tang) तांग-काल के संबंध में जैसा कि एक टीकाकार ने कहा है, " वे पहले ही से क्लान्त और निर्भ्रान्त थे। सब कुछ अनुभव कर लेने वाले लोगों की शिथिलता से पस्त हो चुके थे, सभी भौतिक पदार्थों की निस्सारता से, परिचित लोगों के अवसाद से जर्जरित थे। उनके लिए सभी प्रश्नों के समाधान हो चुके हैं; उन्होंने संसार की पदार्थ योजना में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर लिया है, उनके लिए और कुछ नहीं हो सकता, उनकी अभी इच्छाएँ तो हैं, किन्तु महत्वाकांक्षाएँ नहीं।"

प्राचीन चीन अपने को मध्य राज्य (मिडिल किंगडम) कहा करता था और उसे विश्वास था कि वह विश्व-सभ्यता का प्रकाश-विकीरण केन्द्र है। कनफूसियन दर्शन के राजनीतिक तथा सामाजिक कल्पनाओं में तल्लीन वह परम्पराओं का सम्मान करता था और प्रयोगों तथा नवीनताओं से घृणा करता था। साक्षरता और उच्चतम ज्ञान सत्ताधिकार तथा शासन-क्षमता के सूचक थे। पारिवारिक स्वार्थ, जिनकी रक्षा उच्चतम सद्गुणों की भाँति की जाती थी, पक्षपात तथा संगठित भ्रष्टाचार के द्वारा सरकार का निर्माण करते थे और राष्ट्रीय चेतना को सर्वथा निरुत्साहित करते थे।

प्राचीन दर्शनशास्त्रों द्वारा व्यवस्थित स्पष्ट वर्ग चेतना द्वारा सामाजिक प्रगति को उसी तरह निरुत्साहित किया गया। कनफ्यूसिअस ने कहा था—"शिष्टता साधारण व्यक्तियों के साथ नहीं बरती जाती और प्रभुओं (लॉर्ड्स) को दण्ड नहीं दिया जाता।" उसके अनुयायी मैनशिअस ने तर्क पेश किया, "भद्रजनों के बिना साधारण लोगों पर शासन करने के लिए कोई न रहेगा और साधारण आदमियों के बिना भद्र जनों को कोई खिलानेवाला नहीं रहेगा।"

१९४३ तक च्यांग काई शेक ने इस पैत्रिक विचारधारा के अत्यधिक आदर्शवादी तथा मोहक सद्गुणों की अपने देशवासियों के लिए सिफारिश की। च्यांग ने लिखा कि कनफ्यूसिअस द्वारा विकसित और मैनोशिअस द्वारा विस्तृत और प्रचारित चीन का जीवन-दर्शन स्वतः एक उच्च प्रणाली के रूप में परिणत हो गया जो संसार के किसी भी अन्य दर्शन से श्रेष्ठ है।

यदि चीन के उत्सर्ग और सापेक्षवाद के प्राचीन गुण क्रान्ति के निकृष्ट बीज थे, तो वे आत्मरक्षा के मामलों में भी उतने ही बेकार थे। गत हजारों वर्षों में आधे से अधिक समय तक उत्तरी चीन पर विदेशी आक्रमणकारियों का शासन रहा है। दो बार समस्त चीन को रौंद डाला गया था।

अपने पितामह चंगेजखान के एशिया और अधिकांश योरोप में साम्राज्य स्थापित कर चुकने के बाद १३ वीं शताब्दी में कुबलाई खां के नेतृत्व में मंगोल सारे चीन पर छा गये। यह साम्राज्य उपने उत्कर्ष-काल में इतना सुव्यवस्थित था कि एक चीनी इतिहासकार ने प्रशंसा करते हुए लिखा, "एक कुमारी कन्या अकेली हाथ में स्वर्ण-पात्र लेकर मंगोल साम्राज्य के इस छोर से उस छोर तक निर्विघ्न जा सकती थी।"

१७ वीं शताब्दी के मध्य में मिंग राज्यवंश उत्तर से मंचू आक्रमणकारियों द्वारा पदाक्रान्त हुआ। मंचू, जो प्रारम्भ में एक छोटा सा कुल था, किस प्रकार मध्यवर्ती मैदानों को जीत सकने की शक्ति एकत्र कर सका, च्यांग काई शेक ने उसका इन शब्दों में वर्णन किया है, जो स्वयं उसके पतन का आंशिक कारण बना, "इसका कारण यह था कि मिंग राज्यवंश के अन्त में राजनीति भ्रष्ट हो चुकी थी, आपस में मतभेद थे, राजनीतिक दल झगड़ते रहते थे, डाकेजनी फैली हुई थी, हिजड़ों ने सत्ता हथिया ली थी और सेनाधिकारी आज्ञा का पालन नहीं करते थे।"

यह विचित्र समानान्तर स्थिति आगे भी जारी रही। मञ्चुओं से हार जाने पर च्यांग की भाँति १६६१ में मिंग राज्यवंश के बचे-खुचे लोग फारमोसा चले गये जहाँ से एक पीढ़ी तक और, उन्होंने मुख्य भूमि के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा।

मञ्चुओं के अधिकार में चीन सबसे बिलकुल अलग रह कर दो शताब्दियों तक बराबर विकसित होता रहा। अपनी सीमा पर 'बर्बरों' को मिलाने या मिटाने के अतिरिक्त चीन का बाहरी दुनिया से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। इस अलगाव ने चीनियों के दिमाग में यह बात भर दी कि वे ही विश्व-राज्य हैं और उनका सम्राट सर्वसत्ताप्राप्त 'स्वर्ग-पुत्र' है।

मञ्चू सम्राटों में से दो सम्राट, कान से और चियान लंग (Kan Hse and Chien Lung) महान ऐतिहासिक शासक थे, जिन्होंने बीच के १४ वर्षों को छोड़कर १६६२ से १७९६ तक शासन किया। दोनों ही असाधारण प्रतिभासम्पन्न प्रशासक थे। उनकी प्रजा का उन्हें अलौकिक पुरुष कहना

उचित ही था।

उदाहरण के लिए, ब्रिटिश सरकार ने १७९२ में जब एक व्यापारिक मण्डल चीन भेजा, तब चियान लंग ने चीनी सभ्यता की उपलब्धियों से लाभान्वित होने की विनम्र इच्छा के लिए जार्ज तृतीय को अभिनन्दन करते हुए एक सन्देश भेजा। संदेश का अंतिम भाग इस प्रकार था–'हे राजन्, आपको यही शोभा देता है कि आप भविष्य में और अधिक भक्ति तथा निष्ठा का प्रदर्शन करें, जिससे हमारे राजसिंहासन के प्रति आपकी चिरन्तन अधीनता आपको शान्ति और समृद्धि को सुरक्षित रख सके।.....भयभीत हो हमारी आज्ञा पालन करें और किसी प्रकार की असवाधानी न करें।'

मञ्चू शासन के महान् युगों का, भ्रष्टाचार और न्यायालय के पक्षपात के फलस्वरूप सामान्य पतन के कारण १८ वीं शताब्दी में अन्त हो गया। १८४० के दशक में जब पश्चिम ने ब्रिटिश युद्धपोतों के साथ ललकारा तो मञ्चुओं ने शीघ्र ही आत्मसमर्पण कर दिया।

यह सैनिक पराजय से भी कहीं अधिक था। सरकार की प्रतिष्ठा छिन्नभिन्न हो गयी और उसकी कमजोरियाँ सब की निगाहों के सामने आ गयीं। सम्राट ने न केवल विदेशी बर्बरों को निकालने में अपनी असमर्थता दिखायी, बल्कि चीनी तथा ब्रिटिश व्यापारियों के अफीम पर लगाये बंधनों को तोड़ने के षडयंत्र को भी वह न रोक सकी।

१८४२ में अफीम-युद्ध के बाद चीन ने ब्रिटेन के साथ अपनी संधि में हांगकांग द्वीप को दे दिया और व्यापार के लिए पाँच बन्दरगाह खोल दिये। चीन ने, जो अफीम नष्ट हो गयी थी उसके लिए मुआवजा देना स्वीकार किया और बाद में इसके नियमित आयात को कानूनी बना दिया। व्यापार के ये नये स्थल शीघ्र ही अनेक प्रकार की विशेष सुविधाओं से भर उठे और जब ब्रिटेन को सीमित चीनी तट-कर एकत्र करने का अधिकार प्राप्त हो गया और चीन में रहने के लिए वहाँ के कानूनी प्रतिबन्धों से छूट मिल गयी तो संयुक्त राज्य अमरीका, फ्रान्स और रूस भी इसी प्रकार की सुविधाओं की माँग करने लगे।

संयुक्त राज्य अमरीका ने सर्वप्रथम चीन के साथ एक ऐसी संधि तैयार की जिसके अनुसार यदि चीन किसी राष्ट्र को कोई अधिक सुविधा देता, तो वह सुविधा संयुक्त राज्य को भी तुरन्त मिलती। १८६० में, जब सम्राट ने, एक नयी संधि को, जिसके अनुसार राजधानी में विदेशी राजदूतों के लिए

निवासस्थान प्रदान करना था, स्वीकार करने में आनाकानी की, तो इंग्लैण्ड और फ्रान्स की फौजों ने टियण्टसीन (Tieentsin) से पैकिंग की ओर कूच कर दिया। यहाँ उन्होंने चीन के एक अत्यन्त प्रसिद्ध महल तथा अमूल्य कला-वस्तुओं को भी विनष्ट कर दिया। इस प्रकार परेशान सम्राट ने शीघ्र ही स्वीकृति दे दी।

व्यापारिक सुविधाओं के लिए इस सिद्धान्तविहीन संघर्ष ने पश्चिम को चीन के सम्पर्क में ला दिया। आज भी उसकी प्रतिक्रियाएँ हमारे साथ हैं और वर्षों तक हमारे साथ रहेंगी।

दुर्भाग्य से पश्चिमी सैन्य शक्ति के अधीन रहने की अवधि में ईसाई धर्म भी अनेक चीनियों के गले पड़ गया। अन्य स्वीकृत सुविधाओं में एक यह भी थी कि विदेशी ईसाई धर्म प्रचारकों को अपने धर्म के निर्विरोध प्रचार और प्रसार का आश्वासन दिया गया।

अधिकांश मिशनरियों की दृष्टि में इस व्यवस्था का इससे अधिक महत्व नहीं है कि उन्हें उचित संरक्षण का आश्वासन मिला। इसके लिए वे उसी समय से प्रयत्न कर रहे थे जबकि महान पादरी 'इण्डीज़ का देवदूत' फ्रांसिस जेवियर, तीन शताब्दी पूर्व 'निषिद्ध राज्य' में प्रवेश का व्यर्थ प्रयत्न करने के बाद, चीनी तट से परे पहाड़ी सान्सियन द्वीप में मर गया था। किन्तु अधिकांश चीनी लोगों की निगाहों में ये धर्म-प्रचार सबन्धी सुविधाएँ, जो एक विदेशी सैनिक तथा आर्थिक शक्ति द्वारा एक असहाय सरकार से छीन ली गयी थीं, स्वयं उनके लिए तथा उनकी युगों प्राचीन परम्पराओं के लिए भी अपमान के रूप में थीं।

जब ये सुविधाएँ प्रायः चीन के सरकारी और पारिवारिक अधिकार से लेकर धर्मपरिवर्तित चीनी ईसाइयों के विशेष संरक्षण के लिए प्रदान की गयीं, तब विरोध भीतर ही भीतर सुलगने लगा। इस प्रकार ईसाई धर्म प्रचारक, जिनमें से अधिकांश बलिदान और आदर्शवाद की सर्वश्रेष्ठ ईसाई परम्पराओं से प्रेरित थे, धीरे धीरे बढ़ते हुए अविश्वास के बोझ के नीचे काम करने लगे।

जब १८४० के दशक में पश्चिम ने चीन में प्रवेश किया, तब चीनी समाज साक्षर शासक वर्ग तथा निरक्षर किसानों में विभक्त था। किसान रोजमर्रा की कठिनाइयों के आदी हो गये थे और किसी तरह जीवन-निर्वाह की क्रूरताओं के अनुकूल बन गये थे। "हवा ही मेरा वस्त्र, बर्फ मेरा कम्बल, और मेह मेरा पेय था।" यह एक पुरानी यथार्थवादी चीनी कहावत है।

पश्चिम के अनधिकार प्रवेश ने चीनी समाज की गहरी मान्यताओं को जड़ से हिला दिया। पश्चिम के सैनिक तथा आर्थिक आक्रमण ने चीन की विनम्र पैंकिंग सरकार को न केवल जनता की निगाहों से गिरा दिया, वल्कि पश्चिमी विचारों के धीमे विनाश-चक्र ने चीनी जीवन के मूल तत्व को ही नष्ट करना शुरू कर दिया।

पश्चिम से सम्पर्क के कारण चीनियों में राष्ट्रीयता की एक नयी भावना पैदा हुई, जिसने संधियों के विरुद्ध तीव्र क्षोभ वढ़ाया। इस प्रकार अफीम-युद्ध के कुछ ही वर्षों के अन्दर चीनी परम्परा में एक नया सामाजिक जोश काम करने लगा। यद्यपि उस समय पर्यवेक्षक कुछ भी भविष्यवाणी नहीं कर सकते थे, फिरभी चीन में परिवर्तन के एक नये युग का प्रारम्भ हो चुका था जिसको पश्चिम ने ही पैदा किया था, किन्तु, अन्त में जिसे वह नियंत्रण में नहीं रख सका।

+ + +

माओत्स-तुंग की लाल सेनाओं द्वारा च्यांगकाई शेक को फारमोसा में विश्रान्ति के लिए खदेड़ दिये जाने के ठीक एक शताब्दी पूर्व, १८४९ में, भोंड़े हथियारों से लैस कट्टर किसानों की सेना दक्षिणी चीन के पर्वतों की ओर चल पड़ी। उन्होंने गाँवों पर अधिकार किया, ग्रामीणों को एक नवीन राजनीतिक विचारधारा में दीक्षित किया और फिर वे उसी प्रकार अचानक वापस चले गये, जिस प्रकार आये थे।

ये छिट-पुट हमले मञ्चुओं के विरुद्ध तायपिंग (Taiping) विद्रोह के प्रारम्भ थे। उनका नेता एक विचित्र आदमी, हुंग सिआ चुआन (Hung Hsia Chuan) था जो अपने को ईसामसीह का छोटा भाई समझता था और अपने को "स्वर्ग का राजकुमार" वताता था।

यह ठीक है कि एक वर्ष पूर्व ही साम्यवादी घोषणा-पत्र प्रकाशित हो चुका था, परन्तु यह असंभव ही मालूम होता था कि हुंग ने कभी कार्ल मार्क्स का नाम भी सुना था। फिर भी, यह ध्यान देने योग्य वात है कि, तायपिंग-कार्यक्रम की अनेक वातें साम्यवादी कार्यक्रम की परिकल्पना सी प्रतीत होती थीं, जिसने माओत्सतुंग को, एक शताब्दी वाद, चीन पर अधिकार प्राप्त करने में सहायता की।

अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में हुंग को सपने दिखायी देते थे कि मञ्चुओं के अत्याचार से चीन को मुक्त करने के लिए ईश्वर उसे पुकार रहा है। कैण्टन

में प्रोटेस्टैण्ट प्रचारक के साथ दो महीने रह कर उसने ईसाई उपदेशों से परिचय प्राप्त किया और वह स्थानीय मन्दिरों में मूर्तियों को तोड़ने के लिए निकल पड़ा। अपने आप बने हुए ईसाई तथा बाइबिल की कल्पनाओं में डूबे हुए हुंग ने एक राजनीतिक सिद्धान्त की रचना की जिसमें सुधार, कट्टरता और ईसाई सिद्धान्त की प्रायः त्रुटिपूर्ण टीका भी शामिल थी। उसने अपने उपदेशों (Gospels) को प्रकाशित करवाया और 'ईश्वर के समाज' के रूप में अपने अनुयायियों को संगठित किया।

मञ्चुओं को शीघ्र ही मालूम हो गया कि हुंग मामूली धार्मिक प्रवंचकों से कहीं अधिक शक्तिशाली है। किसानों तक उसकी जबर्दस्त पहुँच थी। हुंग ने विश्वास दिलाया कि हम पतित समाज का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं, जिससे कि संसार ईमानदार हो जाये, बलवान निर्बल को सता न सके, बुद्धिमान लोग भोलेभाले लोगों का शोषण न कर सकें या निडर भीरु को न दबा सके।

बीमारी, सूखा, बाढ़ तथा दुर्भिक्ष ने जनता की गरीबी को और बढ़ा दिया था और १८४० के दशकान्त में वह विनाशकारी स्थिति तक पहुँच गयी थी। पश्चिमी अनधिकार प्रवेश के समक्ष पैकिंग-सरकार के ढीलेपन से जनता में व्यापक निराशा के कारण असन्तोष और अशान्ति बढ़ गयी थी। हुंग किसानों के इस धीरे-धीरे उबलते हुए विद्रोह का नेता बन गया और तायपिंग की तेजी से बढ़ती हुई उन्मत्त सेनाओं ने शीघ्र ही सम्राट की हताश तथा अधःपतित सेनाओं को एक के बाद दूसरे युद्ध में हराना शुरू कर दिया। हुंग के अनुयायियों ने क्वांगसी से उत्तर की ओर हमले किये और यांगटिसी की घाटी में अपनी सत्ता स्थापित कर ली।

१४ वर्ष बाद विद्रोह दबा दिये जाने के पूर्व ग्यारह प्रान्त पदाक्रान्त हुए थे और एक विशाल क्षेत्र बरबाद कर दिया गया। लाखों व्यक्तियों की हत्या कर दी गयी। १८५३ तक तायपिंग के लोगों ने हांकाओ, वूचांग, हानयांग और अन्त में नानकिंग पर कब्जा कर लिया। नानकिंग को ही नयी राजधानी बनाया गया।

हुंग के कठोर, शुद्धतावादी नैतिक नियमों को उसके अनेक अनुयायियों ने व्यावहारिक रूप प्रदान किया। पहले पहल पतित मंचुओं की तुलना में उनके अकलुष आचार का गाँवों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। अभी हाल में हुए चीनी गृह-युद्ध में साम्यवादियों की भाँति, तायपिंग नेताओं ने अपनी

१८५८

सेनाओं को ग्रामीणों को सताने से रोका और उसी प्रकार उनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ गयी। १८५३ में एक ब्रिटिश नौसेना के अधिकारी ने तार्यपिंग की राजधानी देखकर कहा था, "वे तो बिल्कुल दूसरी जाति के लोग हैं।" यह परिकल्पना उसी प्रकार की है जिस प्रकार द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद ही माओ के 'कृषि-सुधारों' के बारे में कुछ पश्चिमी लोगों ने झूठी आशाएँ की थीं।

कुछ ही वर्षों में हुंग ने प्रारम्भिक कृषि सुधारों की घोषणा कर दी, जिसमें भूमि के उपयोग में भावी समानीकरण, भूमि का नौ वर्गों में विभाजन और भूमि की उर्वरता के अनुसार उसके वर्गीकरण की ओर संकेत था। हुंग ने घोषणा की–"सभी को खाना मिलेगा, सभी को कपड़े मिलेंगे, और धन में सभी का हिस्सा होगा; सभी चीजों में बराबरी होगी, कोई भूखा या नंगा नहीं रहेगा।"

जमीन्दारों के अधिकारों को उसी तरह समाप्त कर दिया गया जिस तरह एक सौ वर्ष बाद चीनी साम्यवादियों ने किया। परिवार की सदस्य-संख्या के आधार पर धरती दी जाती और किसानों के पच्चीस घरों का एक सामाजिक घटक बनता था। इनमें से प्रत्येक में जमीन साथ-साथ मिल कर जोती जाती थी। उपज की बचत समाज के खजाने में जाती थी। यह प्रणाली उन क्षेत्रों में स्थापित की गयी जिन पर तार्यपिंग सैन्य-संगठन का नियंत्रण था और इस आशा से कि यह प्रणाली चीन के बाहर भी फैलेगी, सभी स्थानों में लाखों नये धर्मपरिवर्तित लोग इस विद्रोह में शामिल हो गये।

अभिभावकों द्वारा पक्की की गयी शादियों, गुलामी, रखैल प्रथा, पाँव बाँधने की परिपाटी तथा मन्चू के आज्ञानुसार चोटीधारण तथा अफीम के प्रयोग पर हुंग ने प्रतिबन्ध लगा दिया। उसने स्त्री-पुरुषों के बीच समानता बढ़ाने के लिए कानून बनाने का समर्थन किया।

परन्तु हुंग के सुधार मुश्किल से पूरे होने वाले ही थे कि विद्रोह में शिथिलता दिखाई देने लगी। तार्यपिंग लोगों में सुदृढ़ तथा सुयोग्य नेतृत्व का अभाव था। वे विद्वानों को तथा मन्चू-विरोधी गुप्त संस्थाओं तथा विदेशी धर्मप्रचारकों को भी, जिनके ईसाई उपदेशों ने उनके कार्यक्रम को आंशिक रूप से प्रेरित किया था, आकृष्ट करने में असमर्थ रहे। विदेशी शक्तियों ने कूटनीतिक संचालन में उनको नौसिखिया पाया। आखिरकार तार्यपिंग के कुछ नेता पुनः उसी प्राचीन भ्रष्टाचार में फँस गये, जिसनें चीन को शताब्दियों से प्रभावित कर रखा है।

हुंग की सेनाएँ धीरे-धीरे नृशंस युद्धों में जर्जरित हो गयी थीं। मंचुओं द्वारा

भाड़े पर रखी गयी पश्चिमी सेना और नौसेना, जिसके सेनापति अमरीकी फ्रेडरिक टाउनसेंड वार्ड और ब्रिटिश मेजर, चार्ल्स जार्ज 'चीनी' गोर्डन जैसे साहसी व्यक्ति थे, शीघ्र अन्तिम पराजय का कारण बनीं। जून, १८६४, में दुश्मनों द्वारा घिरी हुई राजधानी नानकिंग में हुंग ने आत्महत्या करली।

१९ वीं शताब्दी बीत गयी। चीन की परिस्थितियाँ, जिनके कारण तायपिंग विद्रोह हुआ, अधिकतर वैसी ही बनी रहीं। कुछ दिनों के लिए दबी अशान्ति फिर उभड़ने लगी।

हुंग तथा उसके क्रान्तिकारियों के प्रति व्यापक अमरीकी सहानुभूति थी। विद्रोह की असफलता के बावजूद, मिशनरी स्कूलों तथा ब्रिटिश और अमरीकी विश्वविद्यालयों के अनेक चीनी छात्रों ने हुंग के काम को, स्वतंत्रता की पश्चिमी कल्पनाओं तथा व्यक्तिगत अधिकारों के साथ, जिनकी वे शिक्षा पा रहे थे, मिला दिया।

इस प्रकार मञ्चू विरोधी सुधार आन्दोलन प्रच्छन्न रहते हुए भी बिलकुल सजीव था। एक टीकाकार ने लिखा है, "मञ्चू पालतू बिल्लियों की भाँति थे और चीनियों ने यह जानते हुए उन्हें वैसे ही बनाये रखा कि जब अधःपतन पूर्ण हो जायगा, एक चीनी क्रान्तिकारी इस सड़े हुए ढाँचे को उलट फेंकने के लिये आ जायगा।"

दसवाँ प्रकरण

सुन यात सेन की विरासत

सुन यात सेन के नेतृत्व में चीन की क्रान्तिकारी राजनीतिक चेतना एक बार फिर वड़े उन्मुक्त रूप से भड़क उठी। तायपिंग विद्रोह की समाप्ति के बाद १८६७ में उसका जन्म हुआ और माओ के अधीन हुनान में साम्यवादी दल के द्वारा आयोजित किसानों के प्रथम विद्रोह के ठीक पहले १९२५ में उसका देहान्त हो गया। इस प्रकार सुन का जीवन चीन की इन दो महान क्रान्तियों के वीच वीता।

हुंग की भाँति सुन भी अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह के लिए पश्चिमी प्रजातंत्र के आदर्शों से प्रेरित था। "मैं स्वयं कुली हूँ और कुली का वेटा हूँ।" उसने वड़े गर्व के साथ घोषित किया –"मैं गरीव के यहाँ पैदा हुआ और आज भी गरीव हूँ। मेरी सहानुभूति सर्वदा संघर्षशील जनता के साथ रही है।"

होनोलुलू के एक अंग्रेजी स्कूल में दाखिल होने के लिए सुन ने युवावस्था में घर छोड़ दिया। सुन ने कदाचित वुडरो विल्सन के अतिरिक्त अपनी पीढ़ी के सभी राजनीतिज्ञों की अपेक्षा पाश्चात्य राजनीतिक साहित्य का अधिक अध्ययन किया। अमरीकी राजनीतिक आदर्शों के प्रति उसकी सहानुभूति ने उन्हें चीनी स्थितियों पर लागू करने के लिए उत्साह के साथ और कभी-कभी दवाव के साथ प्रेरित किया। आधुनिक युग के किसी चीनी की अपेक्षा, सुन विश्व-राजनीति में चीन के प्रवेश का और पश्चिमी तथा सुदूर पूर्वी संस्कृतियों की कोमल और अवर्णनीय अन्तरक्रिया का भी प्रतीक वन गया।

इसलिए सुन के लिए यह स्वाभाविक ही था कि उसके अनुसार निश्चित रूप से आनेवाली क्रान्ति की तैयारी के लिए जापानी सहायता पर ही, जो वहुत काफी थी, निर्भर न करे, वल्कि पश्चिमी, विशेष कर अमरीकी नैतिक तथा आर्थिक सहायता पर भी निर्भर करे। परन्तु शताब्दी के व्यतीत होते ही, इसके पूर्व कि वह विल्कुल वड़ी खुली क्रान्ति के लिये तैयार हो पाये, चीन में ऐसी घटनाएँ प्रारम्भ हुई कि चीन का राजनीतिक क्षेत्र अत्यन्त क्षुव्ध हो उठा। ये 'द्वार खोलो' ('Open doors') पत्रों तथा वॉक्सर विद्रोह के साल थे।

एक वार एक भारतीय इतिहास के प्राध्यापक ने मुस्कराते हुए कहा कि

कम से कम भारत ने चीन की अपेक्षा अपने औपनिवेशिक शोषकों के साथ अच्छा सुलूक किया है। उसने कहा कि भारत एक ही शक्ति द्वारा शोषित हुआ; चीन का लगभग सभी ने शोषण किया।

ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीय अर्थतंत्र पर दवाव पड़ने के वावजूद, अनेक भारतीय साधन-स्रोत विकसित किये गये, एक सुयोग्य नागरिक सेवा का निर्माण हुआ और आधुनिक संवाहन प्रणाली की स्थापना हुई। मञ्चूरिया के आंशिक विकास के अतिरिक्त, यह वात चीन के सवंध में नहीं कही जा सकती। पश्चिमी साम्राज्यवाद के इस सम्मिलित उपनिवेश में किसी एक शक्ति ने एकाधिकार के लाभ नहीं उठाये कि जिससे निरन्तर अधिक से अधिक पूँजी लगाने का आकर्षण पैदा हो। वहाँ प्रभाव के क्षेत्रों के लिए इतनी भीषण प्रतियोगिता थी कि १८९८ तक यह सम्भव प्रतीत होने लगा था कि, चीन अटलांटिक क्षेत्र के व्यापार के लिए लालायित राष्ट्रों तथा रूस के बीच औपचारिक रूप से विभाजित हो जायगा।

इस स्थिति में जॉन हे के 'द्वार खोलो' पत्रों से, जिनमें अन्त में प्रार्थना की गयी थी कि वड़ी शक्तियाँ चीन की प्रादेशिक एकता के समर्थन के लिए प्रतिज्ञाएँ करें, योरोप की राजधानियों में भ्रान्तिपूर्ण और अनिश्चित प्रतिक्रिया हुई। परम्परा के रूप में इन पत्रों को अमरीकी कूटनीति की प्रथम श्रेणी की विजय माना गया है, जिसने किसी हद तक चीनी स्वतंत्रता की रक्षा की।

सुयोग्य आलोचकों की वाद की पीढ़ी ने अमरीकी कूटनीतिक विजय के सूत्रधारों को यह कह कर तिरस्कृत किया कि यह तो मूल ब्रिटिश सिद्धान्त से चोरी किया गया है। १९०० के राष्ट्राध्यक्षीय चुनाव के समय इसे राजनीतिक ढंग से रखा गया और इसे नीति के एक सुदृढ़ आश्वासन के लिए एक सूक्ष्म नैतिक प्रतिज्ञा समझने की भूल की गयी। ये सारे आरोप केवल आंशिक रूप से ही सत्य हैं, किन्तु मैं सोचता हूँ कि यह आलोचना कहीं अत्यधिक कड़ी तो नहीं है।

'द्वार खोलो' की नीति हमारी सर्वश्रेष्ठ प्रवृत्तियों की प्रतिविम्ब मात्र है। इसका अखण्डनीय खोखलापन इस वात में है कि हे तथा उनके उत्तराधिकारियों को यह मालूम था कि अमरीका इच्छा-शक्ति अथवा सैनिक शक्ति से इतने व्यापक वन्धन की पूर्ति का समर्थन करने के लिए तैयार नहीं था। इसका मतलव यह नहीं है कि नैतिक सिद्धान्तों वाले कूटनीतिक वक्तव्य आवश्यक रूप से गलत या मूर्खतापूर्ण हैं या हम अपनी परराष्ट्रीय नीति के संचालन के लिए ऐसे सिद्धान्तों की सार्थकता की उपेक्षा कर सकते हैं। दूसरे

राष्ट्रों के साथ हमारे संबंधों में कुछ कम सिद्धान्तों की हमें जरूरत नहीं है, वल्कि एक वार जानबूझ कर महत्वपूर्ण वादा कर लेने पर अधिक सुदृढ़ता तथा अपनी क्षमता की और अधिक यथार्थवादी जानकारी की आवश्यकता है।

'वॉक्सर' नाम का चीनियों का एक दल हर हालत में यह सोचता था कि उसने चीन की एकता के पुनस्संस्थापन का एक अधिक सुन्दर ढंग निकाल लिया है। उसका विश्वास था कि विदेशियों को समझने का एक ही तरीका है, या तो उन्हें मार डाला जाय या उन्हें वाहर निकाल दिया जाय और उनके प्रत्यक्ष संघर्ष की पद्धति उनके नाम "वॉक्सर" से ही प्रकट है– "तने हुए घूंसे का औचित्य"।

"वॉक्सरों" में तायपिंग आन्दोलन के सामाजिक उद्देश्यों का अभाव था और इसीलिए व्यापक आन्दोलन में विकसित होने के जो भी मौके हाथ आये, उन्होंने खो दिये। इसके अतिरिक्त १९०० के वॉक्सर विद्रोह का नेतृत्व दक्षिण-पन्थी गुप्त संस्थाओं के उन उग्रवादी सदस्यों ने किया, जिन्होंने अपनी वार्ता से सम्राज्ञी डोवागर को विश्वास दिला दिया कि उनका जादू विदेशी वन्दूकों से चीन को वचा सकता है।

अचानक पागलपन के झोंके में वॉक्सरों ने २४२ ईसाई धर्म प्रचारकों तथा उत्तरी चीन और मंचूरिया के अन्य विदेशी नागरिकों की हत्या कर दी। पचास वर्षों में यह चीन का पश्चिम के विरुद्ध विद्रोह का अन्तिम निराशापूर्ण प्रयास था। पीकिंग में विदेशी दूतावास घेर लिये गये और कुछ समय तक सभी पश्चिमी लोग आतंकित रहे। एक अमरीकी ईसाई धर्म प्रचारक की उस समय आठ वर्षीय कन्या, पर्ल वक ने वाद में लिखा कि उसने जीवन के प्रथम और प्राथमिक अन्याय का अनुभव किया। "क्योंकि मेरा रंग गोरा था, आँखें नीली थीं और अपनी जाति के से सुनहले वाल थे, मुझसे घृणा की जाती थी और अपने तथा अपने समान दूसरों के भय के कारण मैं खतरे में जी रही थी।"

वर्षों वाद चीनी–अमरीकी मैत्री के प्रति अपने जीवन को उत्सर्ग करने वाली पर्ल वक ने इन घटनाओं की याद करते हुए आगे लिखा, "चीनी लोगों के हृदयों में एक शताव्दी से भी अधिक समय से क्षोभ की आग सुलगती रही है, और यह क्षोभ ही, जिसे न तो गोरे समझ सकते थे और न समझेंगे, अपने देश में च्यांग काई शेक की पराजय और कम्यूनिस्टों की विजय का मुख्य कारण था। हमको एशिया वालों के सामने यह सावित करने के लिए कि हम वैसे गोरे नहीं हैं, जसे कि दूसरे थे, वहुत कुछ करना होगा।"

वॉक्सरों का शीघ्र ही पतन हो गया। अन्त में एक जर्मन सेनापति के नेतृत्व में एक अन्तरराष्ट्रीय अभियान बलात् टीएन्ट्सिन से पीकिंग पहुँचा और राजधानी को घेर कर परम्परागत क्रूरताओं का प्रदर्शन किया तथा ३३ करोड़ डालर जबर्दस्ती हर्जाना वसूल किया, जो वॉक्सरों द्वारा पहुँचायी गयी क्षति से कहीं अधिक था।

मञ्चू दरवार के लोग जो डर के मारे पश्चिमी प्रान्त के निरीक्षण के वहाने भाग गये थे, अपने विजेताओं के निर्देशानुसार अपने 'मृत्यु-पत्र' पर, हस्ताक्षर करने के लिये वापस आगये। वाद में अमरीका ने इस सैनिक कार्रवाई में अपने योगदान की स्मृति मिटा देने का सच्चा प्रयास अपने हर्जाने के हिस्से को अमरीका स्थित चीनी छात्रों के अध्ययन के लिए निर्धारित कर किया। किन्तु वॉक्सर विद्रोह के वाद दस वर्ष तक चीन में शान्ति उसी तरह छायी रही जिस तरह उफनती हुई नदी के ऊपर वर्फ जमी हो।

सुन यात सेन ने विदेशियों द्वारा वार-वार किये गये इन अपमानों के सम्वन्ध में अपने क्रान्तिकारी विश्वासों को विशेषरूप से प्रस्तुत किया। १९०५ में उसने अपनी तुंग मेंग हुई (Tung Meng Hui) नाम की क्रान्तिकारी संस्था की रचना की, जो वाद में 'कुओमिन्तांग' वन गया। फिर भी वर्षों तक वह पश्चिम के विरुद्ध अपने लोगों को संगठित करने के लिए जापान, अमरीका तथा योरोप में रहने वाले चीनियों तथा पश्चिमी या पश्चिमी देशों द्वारा शासित देशों में रहने वाले अपने मित्रों पर आर्थिक सहायता के लिए आश्रित रहा। वास्तव में हांगकांग और फ्रांसीसी हिन्दचीन के अड्डों से सुन ने मञ्चुओं के विरुद्ध अपने विद्रोहों का संचालन किया।

१९११ में, जव सुन क्रान्ति-निधि एकत्र करने के लिए अमरीका की ओर चला, तव तक ऐसे दस विद्रोह असफल हो चुके थे। जव वह चला गया तव चीन में उसकी सैनिक टुकड़ियों ने अचानक यांगटिसी (Yaugtse) प्रान्त में राज्यवंश के प्रतिनिधियों को उलट दिया। जर्जरित साम्राज्य ताश के महल की तरह ढह गया। क्रान्तिकारियों ने अनुपस्थित सुन को चीनी गणतंत्र का प्रथम राष्ट्रपति घोषित कर दिया। सुन का अपनी नयी स्थिति के सम्वंध में एक अमरीकी समाचारपत्र से उस समय ज्ञात हुआ जव उसकी ट्रेन डेनवर पहुँच गयी थी।

एशिया के अन्य स्थानों में लोगों की आँखें चीन की घटनाओं की ओर लगी थीं। नेहरू ने वाद में भारतीय जनता को इसका सादृश्य समझाते हुए

मञ्चुओं के वारे में लिखा, "वे आये तो शेर की दहाड़ के साथ लेकिन गायव हो गये साँप की पूंछ की तरह।"

सुन की नयी सरकार विभिन्न प्रकार के अनेक दलों पर आश्रित थी, जो मञ्चुओं को उलटने के एक सामान्य उद्देश्य से अस्थायी लाभ के लिए संगठित हो गये थे। किसानो, मजदूरों, वुद्धिजीवियों, सेनानियों, ज़मींदारों, वैकरों, और शंघाई के चीनी तथा विदेशी व्यापारियों के प्रतिद्वंद्वी स्वार्थों ने एक संगठित आर्थिक तथा राजनीतिक कार्यक्रम को असंभव वना दिया। सुन ने स्वयं वाद में शिकायत की कि मेरे चार अनुयायियों में से तीन मञ्चुओं को निकाल कर स्वयं सम्राट वनाना चाहते थे।

सुन जानता था कि वह किसके विपय में वोल रहा है। १९१२ में उत्तरी चीन की सेना के नेता, युआन-शी-काई (Yuan Shih Kai) के पक्ष में वह राष्ट्रपति-पद छोड़ने के लिए मजवूर हुआ, जिसने तदुपरान्त अपने आपको सम्राट के रूप में स्थापित करने के लिए अगले चार वर्षों तक कोशिश की।

× × ×

१९१६ में युआन की मृत्यु के वाद सेनानियों तथा युद्ध-प्रभुओं का फिर कुचक्र आरम्भ हो गया और वे स्थानीय लाभ के लिए लक्ष्यहीन और रक्तरंजित युद्ध में एक-दूसरे को परास्त करने के लिए अपनी निजी सेनाएँ तैयार करने में जुट गये। प्रान्तीय सेनाओं के नेताओं में एकता का प्रतीक वनाये रखने के असफल प्रयत्नों के वाद १९१९ तक सुन के मन में निश्चय हो गया कि जनता के व्यापक समर्थन की नितान्त आवश्यकता है।

कुओमिन्तांग अभी भी एक प्रादेशिक दल था, जिसका अस्पष्ट उद्देश्य गंणतत्रवाद तथा समाजवाद था और जिसका युवक किसानों, व्यापारियों, मजदूरों तथा छात्रों पर अनिश्चित प्रभाव था। अपनी सैन्य-शक्ति के अभाव में पार्टी को अधिक भ्रष्ट सेनाओं के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के लिए कम भ्रष्ट सैनिक गुटों के साथ गठवन्धन करने के लिए विवश होना पड़ा।

इन दुर्वलताओं को दूर करने के लिए सुन वहुत अधिक परिश्रम करने लगा। पाँच वर्षों की अवधि में उसने "राष्ट्रीय पुनर्निर्माण-कार्यक्रम", "पंच शक्तीय संविधान" और "जनता के तीन सिद्धान्त" प्रकाशित किये। उन्होंने मिलकर आर्थिक तथा राजनीतिक मंच की रचना की, जिसके आधार पर सुन ने कुओमिन्तांग को पुनर्जीवन प्रदान करने की आशा की।

सुन की रचनाओं में पश्चिमी उदार सिद्धान्तों में एकाधिपत्यवाद के भाव विचित्रता के साथ मिल गये। सुन ने स्वयं अपने राष्ट्रवाद, प्रजातंत्र तथा जीविका के तीन सिद्धान्तों की तुलना लिंकन की "जनता की, जनता द्वारा और जनता के लिए" सरकार की रूपरेखा से की। तथापि उसकी कुछ रचनाएँ लिंकन की अपेक्षा लेनिन के सदृश अधिक मालूम देती हैं।

यह अस्पष्टता आश्चर्यजनक नहीं है। संभव है कि १९२४ में कैण्टन में दिये गये सुन के व्याख्यानों में सोवियत गुप्तचर माइकेल वोरोडीन के सुझाव रहे हों, जो कुओमिन्तांग को क्रान्ति के सिद्धान्त, प्रचार तथा दलगत अनुशासन की शिक्षा देने के लिए एक ही वर्ष पूर्व आया था।

अपनी पुस्तक "दी पीपुल्स डिमोक्रेटिक डिक्टेटरशिप (जनता की प्रजातंत्रात्मक तानाशाही) में लिखते समय माओत्स-तुंग के दिमाग में यही सोवियत मिशन रहा होगा कि, किस तरह १९२१ के पूर्व चीन के बुद्धिजीवी सत्य के लिए पश्चिम की ओर व्यर्थ ही ताक रहे थे। माओ ने आगे लिखा है कि सुन यात सेन को अपने जीवनकाल में केवल एक वार अन्तरराष्ट्रीय मदद मिली और वह सोवियत रूस से मिली।

यद्यपि माओ का कथन असत्य है, तथापि जितनी मात्रा में कुओमिन्तांग नेताओं ने प्रारम्भिक दिनों में योरोप और अमरीका से नैतिक, आर्थिक तथा सनिक मदद की आशा की थी, वह नहीं मिली। १९२० और १९२१ में सुन ने न्यूयार्क, लन्दन तथा पेरिस में चीनी आर्थिक विकास के लिए ऋण प्राप्त करने के व्यर्थ प्रयत्न किये। पश्चिमी सहायता न मिलने पर निश्चय ही सुन को निराश हो कर मास्को से अपील करनी पड़ी।

१९२२ में चीन में प्राप्त ज़ार की पुरानी रियायतों को लेनिन ने अपनी वुद्धिमानी और स्वेच्छा से त्याग कर वह कार्य कर दिखाया। अपनी आर्थिक निर्वलता से लाभ उठाते हुए रूस ने एक ही झटके में अपने आप को अधिक सुदृढ़ वना लिया और अटलांटिक शक्तियों पर ऐसे समय पर गहरा आघात किया जव सुन पश्चिमी सहायता से निराश होकर "असमान संधियों" की कड़ी आलोचना करने लग गया था। सुन ने अनुमान लगाया कि इन संधियों ने पश्चिमी शोषकों को चीनी जनता से प्रतिवर्ष १-२ अरव डालर की अपार धनराशि खींचने के योग्य वनाया। अमरीकी जनता के प्रति उसकी सम्मान की भावना अभी भी वनी रही, जो इस वात से प्रकट होता है कि संयुक्त राज्य अमरीका को उसने इन अभियोगों से अधिकतर मुक्त रखा।

संभवत: सोवियत रूस और अटलांटिक राष्ट्रों के वीच किसी एक समान तत्व ने विकासमान चीनी राजनीतिक जागरूकता पर इतनी गहराई से प्रभाव नहीं डाला, जितना कि प्रादेशिक विशेषाधिकार और निर्धन चीनी अर्थतंत्र के कानूनी शोषण की इस विस्फोटक समस्या के प्रति उनके परस्पर-विरोधी रुखों ने डाला है। यद्यपि १९३० के दशक में चीन में योरोपीय राष्ट्रों तथा अमरीका द्वारा की गयी संधियों ने चीन को संघाई जसे नगरों पर जापानी कुचक्रों से वचाया, तथापि वह केवल एक संयोग था।

अव हर हालत में चीनी इस द्वेषात्मक तुलना की ओर ही देखते हैं कि रूस के स्वेच्छापूर्वक चीन से हट जाने के २० वर्षों वाद तक पश्चिम अपने विशेषाधिकारों से चिपका रहा। १९४२ तक अमरीका तथा उसके योरोपीय साथियों ने अविकृत रूप से असमान संधियों को नहीं त्यागा और न चीन की अपमानजनक अर्ध-औपनिवेशिक स्थिति को समाप्त किया। चीनियों का कहना है कि उस समय तक जापानियों के सैनिक आधिपत्य ने इन विशेषाधिकारों को निरर्थक वना दिया था।

सुन यात सेन अपने वाद के दिनों में विदेशियों के इन विशेषाधिकारों के प्रश्न में इतना व्यस्त रहा कि उसने साम्राज्यवाद-विरोधी मंच का उपयोग पश्चिमी अत्याचारियों के विरुद्ध उत्पीड़ित एशियावासियों के वर्गयुद्ध के लिए आवाहन करने में किया। अव उसके कम्यूनिस्ट उत्तराधिकारी पेकिंग में इसी भाषा का प्रयोग और भी कटु रूप में प्रतिदिन कर रहे हैं।

फिर भी सुन का प्रवल राष्ट्रवाद, मास्को से संचालित एकतंत्रवादी विश्व के कम्युनिस्ट उद्देश्य के स्पष्टत: प्रतिकूल था। जो भी हो, क्रेमलिन की क्रूर चालों के साथ एक ऐसे व्यक्ति के सिद्धान्तों का सामञ्जस्य नहीं हो सकता था, जिसे कुछ लोग उदारतम क्रान्तिकारी कहते थे और जो उस समय की प्रतीक्षा में था, जव चीन की विशाल और व्यापक भूमि पर प्रत्यक्ष लोकतंत्र के सुपरिचित सावन, पहल, मतगणना और वापसी के अविकार का राजनीतिक नियंत्रण होगा। सुन मानवता, उदारता, विद्वानों की सरकार और कन्फ्यूशियस-परम्परा के अनुसार आनुवंशिक निष्ठा का अनुयायी था, जो मार्क्सवादी सिद्धान्त से और भी मेल नहीं खाती था।

सुन ने पश्चिमी ढंग के पूंजीवाद का विरोध किया और उसके लिए चीन का रास्ता वन्द वताया यद्यपि अमरीका में उसकी महान सफलताओं की उसने भूरिभूरि प्रशंसा की। अगस्त, १९२४ में, अपनी मृत्यु के आठ मास पूर्व, "सामा-

जिक प्रश्न" पर अपने प्रथम व्याख्यान में उसने हैनरी फोर्ड के प्रयत्नों की विशेषरूप से प्रशंसा की।

यह बताते हुए कि मार्क्स बदलती हुई परिस्थितियों की पूर्वकल्पना करने में असमर्थ रहा, उसने कहा, फोर्ड-कारखानों की समृद्धि कम से कम तीन बातों में मार्क्स का खण्डन करती है। अधिक काम के घण्टों, कम मजदूरी तथा उच्च मूल्य पर ज़ोर देने के बजाय फोर्ड-कारखानों ने काम के घण्टों को कम किया, मजदूरी बढ़ायी और अपने उत्पादन का मूल्य घटाया। उसने मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को "बेहूदा" बताया और उसके अनिवार्य वर्ग संघर्ष के मौलिक विश्वास पर आघात किया।

सुन ने योरोप और अमरीका के पूंजीवाद के दुःखद विकास से बच कर सुव्यवस्थित औद्योगीकरण द्वारा अपनी समृद्धि की क्रान्ति को सफल बनाने की आशा की थी। उसने एक बार कहा था, "भौतिक सभ्यता का लक्ष्य व्यक्तिगत लाभ नहीं, सार्वजनिक लाभ है और उस लक्ष्य तक पहुँचने का छोटे से छोटा रास्ता स्पर्धा नहीं, सहयोग है।" नियोजित सहयोग, बैंकों, संचार-साधनों और रेलवे के राज्य-नियमन आय पर प्रत्यक्ष कर तथा सहकारी समितियों के द्वारा वितरण का रूप धारण करने वाला था।

जिन किसानों के पूर्वजों ने तायपिंग के साथ युद्ध किया था, उनके लिए सुन ने भूमि-व्यवस्था, अन्नोत्पादन का नया कार्यक्रम प्रस्तुत किया। खाद और कृषि औजारों के उपयोग में चीजों के उन्मूलन में, संवाहन के सुधार में, नदी के घटाव को रोकने तथा पुनः वृक्षारोपण में सरकार सहायता करने वाली थी।

अमरीकी अर्थशास्त्री तथा दार्शनिक हैनरी जार्ज से विचार ग्रहण करते हुए, सुन ने भूमि-मूल्य की अनुपार्जित वृद्धि पर कर लगाने का अनुरोध किया, बशर्ते यह मूल्य-वृद्धि राजनीतिक सुधारों अथवा सामाजिक उन्नति के कारण हुई हो। सुन ने अन्त में कहा, "संक्षेप में मेरा यह विचार है कि चीनमें पूंजीवाद समाजवाद को जन्म दे ताकि मानवीय विकास की ये दो आर्थिक शक्तियाँ भावी सभ्यता में साथ-साथ कार्य कर सकें।"

जेफर्सन और लिंकन का यह विचित्र एशियाई प्रशंसक इस तथ्य से प्रोत्साहित हुआ कि चीन में प्रजातंत्रवादी विकास के मार्ग में कुछ अत्यधिक विकट रूढ़िगत बाधाएँ उपस्थित नहीं थीं। २३ शताब्दियों पूर्व सामन्तवादी प्रणाली के भंग हो जाने के बाद से चीन में पश्चिमी नमूने पर न तो वंशानुगत कुलीन समाज (Aristocracy) था और न भारत और जापान की भाँति जाति-प्रथा

ही थी। आर्थिक, शैक्षणिक तथा राजनैतिक स्तरों के भेद तथा परिवारों के सीमित प्रभावों के बावजूद चीनी समाज में सर्वदा से पर्याप्त मात्रा में गतिशीलता रही है। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्राट के हाथों में निरंकुश सत्ता थी तथापि चीनी लोगों ने पर्याप्त मात्रा में स्वायत्तशासन का उपभोग किया है।

सुन का विश्वास था कि लम्बे दौरान में यह सन्निविष्ट प्रजातान्त्रिक परम्परा चीन के नये नेताओं के लिए विशेष रूप से सहायक सिद्ध हो सकती है; परन्तु उसने निर्णय किया कि विघटनशील राजनीतिक स्थिति के अनुसार एक महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्रवाई के लिए यह कोई विकल्प नहीं प्रदान करती।

सोवियत संघ से सुन की सहमति ठोस राजनैतिक बुनियाद के संगठन का अन्तिम प्रयत्न था। यह सुविधा का मेलमिलाप था।

यह व्यवस्था केवल पाँच वर्षों तक सुविधाजनक सिद्ध हुई; किन्तु १९२३ में यह मूर्खतापूर्ण भविष्यवाणी होती जब कि युवक च्यांग काई शेक लेनिन के नाम सुन का परिचय पत्र लेकर सैनिक प्रशिक्षण के लिये मास्को रवाना हुआ। उसी समय सुयोग्य बालशेविक बोरोडीन सुन के कुओमिन्तांग का संगठन करने के लिए मास्को से कैण्टन आया। रूस से विशेष मैत्री, कुओमिन्तांग में साम्यवादी पार्टी के सदस्यों के प्रवेश तथा मजदूरों और किसानों की राजनीतिक मुक्ति ये तीनों बातें सुन की अन्तिम "दोहरी नीति" का उदाहरण मात्र थीं।

१९२३ में सुन तथा सोवियत राजदूत जोफे का एक संयुक्त वक्तव्य अति विनम्र एवं आश्वासनों से युक्त प्रतीत हुआ। इसमें कहा गया कि चीन में न तो साम्यवादी व्यवस्था लागू की जा सकती है और न सोवियत पद्धति; क्योंकि यहाँ वे स्थितियाँ नहीं हैं, जो साम्यवाद अथवा सोवियतवाद की सफल स्थापना के लिए आवश्यक हैं।

परन्तु कौमिण्टर्न के मार्गदर्शन में, कुओमिन्तांग का नया ढांचा शीघ्र ही सोवियत रूप धारण करने लगा। वह पार्टी की गुप्त बैठकों तथा पोलितब्यूरो से पूर्ण था। कुछ ही महीनों में यह संभावना दिखायी देने लगी कि कुओमिन्तांग पर साम्यवादी दल का प्रभुत्व हो जायेगा।

मार्च, १९२५ में इस अशुभ विकास के बीच सुन यात सेन की मृत्यु हो गयी। बोरोडीन के साथ उसकी मैत्री ने एक संघर्षशील परम्परा छोड़ी और हम अनुमान लगा सकते हैं कि यदि सुन यात सेन कुछ वर्षों तक और जीवित रहा होता तो उसकी क्रान्ति का क्या रूप होता।

एक ओर सुन के अन्तिम उत्तराधिकारी च्यांग काई शेक ने उसके सिद्धान्तों के प्रति भक्ति पर बार-बार जोर दिया। राष्ट्रवादी चीन के उच्च पुरोहित के रूप में स्मारकों, शब्दों तथा गीतों में उसे पूजनीय बना कर कुओमिन्तांग ने सुन यातसेन के मत के प्रसार के लिए सुव्यवस्थित प्रयत्न किये।

दूसरी ओर श्रीमती च्यांग काई शेक की बहन, सुन की विधवा पत्नी ने आज एक निर्भ्रान्त लोकतंत्रवादी, पीपुल्स कांग्रेस की स्थायी समिति की सदस्या तथा कम्यूनिस्ट प्रचार के लिए उपयोगी प्रतीक के रूप में पेकिंग में रहना पसंद किया है।

सिद्धान्तवादी के रूप में सुन यात सेन वर्गीकरण को चुनौती देता था। व्यक्तित्व के रूप में वह अपने घोषित पश्चिमी जनतंत्रवादी सिद्धान्तों तथा भ्रान्तिपूर्ण मार्क्सवाद के बीच चढ़ता-उतरता रहता था। नेता के रूप में, उसके जीवन के अन्तिम क्षणों तक उसकी लोग प्रशंसा करते, घृणा करते, मजाक उड़ाते और पूजा भी करते थे। मञ्चू-विरोधी क्रान्ति के सूत्रधार के रूप में तथा मृत्यु के बाद देवदूत एवं कानून-निर्माता के रूप में आज भी वह अपने विभक्त करोड़ों देशवासियों के लिए चीन का जार्ज वाशिंगटन है।

ग्यारहवाँ प्रकरण

विवादास्पद उत्तराधिकार

सुन की मृत्यु के बाद दो वर्ष तक रूस और चीन की मुश्किल से निभ पायी। १९२५-२६ में सोवियत प्रचारकों ने मुख्यतः ब्रिटेन के विरुद्ध चलाये गये जबर्दस्त साम्राज्यवाद-विरोधी अभियान का नेतृत्व किया था और ब्रिटेन ने हैंकाओ तथा यांगट्सी बन्दरगाहों पर बड़ी रियायतें देकर प्रत्युत्तर दिया।

इसी बीच भूस्वामी कुलीन वर्ग की पृष्ठभूमि से, चार वर्ष के जापानी सैनिक प्रशिक्षण, शंघाई में एकान्तवास और अपनी मास्को-यात्रा से जनता की निगाहों में चढ़कर च्यांग काई-शेक अपने को सुन का उत्तराधिकारी सिद्ध करने के लिए शक्तिशाली ढंग से आगे बढ़ा। बोरोडीन की आपत्ति पर, जिसने सतर्कता और संगठन की सलाह दी, च्यांग ने उत्तरी अभियान आरम्भ किया, जिसने केन्द्रीय सत्ता को शंघाई और नानकिंग तक बढ़ा दिया।

मध्यचीन का शासक होने पर, एक बार च्यांग ने सोवियत मिशन से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। वामपक्षी कुओमिन्तांग और हैंकाओ में साम्यवादी नेताओं के सरकार बनाने के प्रयत्नों का विरोध करने के लिए उसने नानकिंग में अपनी राजधानी बनायी। अप्रैल, १९२३ में "फ्रांसीसी कन्सेशन" के पुलिस-प्रधान से प्राप्त हथियारों की सहायता से च्यांग ने शंघाई के बढ़ते हुए मजदूर-आन्दोलन को, हजारों को फाँसी देकर निष्ठुरता के साथ कुचल दिया, और एक मधुर भाषी भद्रजन, जो बाद में चू एन लाई के नाम से प्रसिद्ध हुआ, द्वारा आयोजित कम्यूनिस्ट विप्लव को भी कुचल दिया। हैन्काओ शासन एक स्थानीय जनरल द्वारा भंग कर दिया गया और बोरोडीन मास्को की ओर भाग गया।

घटनाओं का यह उलटफेर स्तालिन और पोलितब्यूरो के लिए करारा आघात था। कुओमिन्तांग के अन्तर्गत कार्य करने के प्रत्येक प्रयत्न का ट्रॉट्स्की ने विरोध किया था। शायद उसको इस बात का आभास था कि वह साम्यवादी प्रवेशकर्त्ताओं को निगल जायेगा; परन्तु स्तालिन ने बोरोडीन के दृष्टिकोण का इस आधार पर समर्थन किया था कि चीन एक स्वदेशी साम्यवादी आन्दोलन

के विकास के लिए अभी वहुत पिछड़ा हुआ है और इसलिए धीरे-धीरे घुस कर स्थिति पर अधिकार प्राप्त करना चाहिए। उसने कहा कि चीन पर सत्तारूढ़ होने के लिए रूसी कम्यूनिस्टों को कुओमिन्तांग के साथ गठवन्धन करना चाहिए। तव उपयुक्त अवसर आने पर अपने साथियों को 'चूसे हुए नीवुओं' की तरह दूर फेंक देना चाहिए; परन्तु अभी कुछ समय के लिए साम्यवादी ही नीवुओं की तरह निचोड़ कर फेंक दिये गये थे।

स्तालिन के क्रमलिन में अपना प्रभुत्व जमा लेने के वाद, कौमिण्टर्न ने चेएन तू शियू (Chen Tu shiu) को, जो चीनी साम्यवादी दल का संस्थापक था, वलि का वकरा वना कर निकाल दिया। वोरोडीन तक की वड़ी फजीहत की गयी और वर्षों वाद अत्यन्त मामूली अपराधों के लिए उसे पूर्वी साइवेरिया के एक कैम्प जेल में भेज दिया गया, जहाँ वह १९५२ में स्तालिन से कुछ महीनों पूर्व मर गया।

लेनिन जसी शुभ परिस्थितियों के सपने देखा करता था वैसी ही परिस्थितियों में चीन ने सोवियत संघ को आमंत्रित किया। वास्तव में एशिया की प्रथम और प्रमुख लोकप्रिय क्रान्ति की पूर्णता और स्थापना का सारा संचालन-भार मास्को को सौंप दिया गया।

इस अपमानजनक असफलता के क्या कारण थे ? निश्चय ही, इतनी दूर से इतने विशाल कार्य के प्रयत्नों के संचालन में मास्को के क्रान्तिकारी विचारकों की असमर्थता एक कारण था। क्रेमलिन के आन्तरिक संघर्ष से, जो उस समय चरम सीमा पर था, यह समस्या और भी जटिल हो गयी।

परन्तु, इस पतन का सवसे महत्वपूर्ण कारण था कौमिण्टर्न का संकीर्ण मार्क्सवाद पर आग्रह करना, जो ग्रामीण चीन के लिए अनुपयुक्त तो था ही, रूस में भी सफल नहीं हो सकता था। यह तो लेनिन जैसे लचीले व्यक्ति को ही मालूम था कि मार्क्स का अनुसरण कव किया जाय और कव उसमें सुधार किये जाँय। जैसा कि हम देख चुके हैं, जव तक १९१७ के नवम्वर में किसानों को जमीन देने वाली उसकी घोषणा नहीं हो गयी, तव तक लेनिन ने क्रान्ति को "अटल" नहीं माना।

परन्तु १९२३ में लेनिन मर रहा था, और उन शक्तियों के समझने की उसकी चतुराई को, जो प्रारम्भिक ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को संचालित करती थी, विसरा दिया गया। विद्यार्थियों और शहर के मजदूरों को क्रान्तिकारी आधार मानने वाले मार्क्स के संकीर्ण सिद्धान्त से चिपके हुए चीन में वोरोडीन

के कौमिण्टर्न सलाहकारों ने उन किसानों के महत्व को कम समझा, जो अपनी विशाल संख्या तथा महत्वपूर्ण आर्थिक शक्ति के कारण एशिया में किसी भी क्रान्ति की सफलता या विफलता की कुंजी हैं।

जैसा कि हम वार-वार देखेंगे कि वे ही लोग, जो किसानों की शक्ति के सिद्धान्त को समझते तथा अपनाते हैं, एशिया में क्रान्ति के ज्वार में ऊपर चढ़े हैं और अब भी चढ़ रहे हैं। यह चीन के लिए दुःख की बात है कि १९२९ से १९४९ तक के दो दशकों में, जिन्होंने इस सिद्धान्त को समझा वे माओत्सेतुंग के साम्यवादी शिविर में सम्मिलित हो गये। बीस निर्णायक वर्षों तक च्यांगकाई शेक इस सिद्धान्त को या तो समझ न सका या विरोधी दवाव में इतना उलझा हुआ था कि वह उसको निश्चित नीति में परिणत न कर सका। माओत्से-तुंग, १८९३ में हुनान गाँव में किसान के घर पैदा हुआ था और अल्पायु में ही काफी अध्ययनशील तथा प्रतिभाशाली लेखक वन गया था। मार्क्स और लेनिन के अध्ययन ने उसके उत्साह की ज्वाला प्रज्ज्वलित कर दी। जब बोरोडीन मास्को से आया, तो माओ का नाम भी कुओमिन्तांग की केन्द्रीय समिति की सदस्यता के लिए प्रस्तावित किया गया। १९२४ तक सुन यात सेन तथा च्यांग काई शेक से उसका परिचय कराया जा चुका था और वह चुपचाप साम्यवादी दल और कुओमिन्तांग दोनों के सदस्य के रूप में काम करता रहा।

उसी वर्ष वाद में बीमारी के कारण माओ को हुनान प्रांत में अपने गाँव, शाओशान जाना पड़ा। यहीं पर सर्वप्रथम माओ ने खुले आम मार्क्स के इस कट्टर सिद्धान्त की सच्चाई का खण्डन किया, जो सोवियत गुप्तचरों द्वारा सिखायी जाती थी कि वड़े शहरों में सर्वहारा विद्रोहों से ही क्रान्ति आयगी। उसको पूरा विश्वास हो गया था कि सफल विद्रोह के बीज कैण्टन और शंघाई के मजदूरों में नहीं हैं, वल्कि करोड़ों किसानों अथवा उसके अपने शाओशान जैसे छोटे-छोटे गाँवों में हैं। इस पर माओ ने उसी सवक को पढ़ा और याद रखा जिसे लेनिन जानता था और जिसे स्तालिन ने शुद्ध मार्क्स की ओर लौट जाने पर भुला दिया था।

स्वस्थ होते ही माओ ने विद्यार्थियों, मजदूरों और खनिकों का संगठन छोड़ दिया और किसानों को संगठित तथा आन्दोलित करने के लिए गाँवों में चला गया। अक्तूबर, १९२६ तक उसकी किसान-संस्थाओं का हुनान के अधिकांश भाग पर नियंत्रण था और लगभग बीस लाख तक सदस्यता पहुँच गयी थी।

इस अनुभव ने माओ के विश्वास को पक्का बना दिया कि चीन में क्रान्ति-कारी शक्ति का व्यापक आधार किसानों में है। उसने उनके विकास का दृढ़ निश्चय कर लिया। "जनता से पहले सीखो और बाद में उसे सिखाओ" माओ ने एक बार लिखा था।

साम्यवादी दल को क्रेमलिन ने निर्देश देकर, इस आधार पर कृषि-सुधार के विरुद्ध चेतावनी दी कि चीनी किसान अभी तैयार नहीं हैं। इससे थोड़े समय के लिए माओ के प्रयत्न धीमे हो गये। बाद में माओ ने घोषित किया कि सिद्धान्त गोबर से भी अधिक अनुपयोगी हैं; गोबर का उपयोग कम से कम खाद के रूप में तो किया जा सकता है। वह खुद कौमिण्टर्न द्वारा अपनी विपथगामी नीतियों के कारण दो बार निकाल दिया गया।

परन्तु शीघ्र ही क्रान्ति के लिए बुलाये गये सोवियत विशेषज्ञ तिरस्कृत होकर चले गये और माओ को अच्छा मौका मिला। दो सौ से कम बन्दूकों और एक हजार अनुयायियों तथा ऐसे स्फूर्तिदायक विचार के साथ, जो करोड़ों चीनी किसान-परिवारों के लिए उपयुक्त था, वह एक संगठन-केन्द्र की तलाश में दक्षिण की ओर चल पड़ा।

मध्य दक्षिणी चीन में हुनान-किआंग्सी सीमा पर चिंगकानशान पर्वत की चोटी पर, माओ और चूते, जो १९५५ की पैकिंग सरकार में द्वितीय महत्व-पूर्ण अधिकारी था, के मिलन में साम्यवादी चीन का भावी नेतृत्व तैयार हुआ। चू चवान जमीन्दार के धनाढ्य परिवार में उत्पन्न हुआ था। उसने यूनान की सीमा पर युवक सेनानी की हैसियत से गुरिल्ला युद्ध के तत्वों को सीख लिया था। ३३ वर्ष की आयु में उच्च जीवन की अभिरुचि के साथ वह एक ब्रिगेडियर था और १९२४ में जब तक वह जर्मनी नहीं गया, एक पेशेवर सैनिक साहसिक था। वहाँ गोटिन्जेन में उसने समाजशास्त्र का अध्ययन किया, अपनी व्यक्तिगत आदतों में सुधार किया और बर्लिन की साम्यवादी पार्टी में शामिल हो गया।

अपने ग्रामीण युवा-जीवन से लेकर ट्रान्स साइबेरियन रेल से चीन वापस आने तक चू ने *ग्रामीण एशिया* का इतना पर्याप्त दर्शन कर लिया था कि वह भी माओ की तरह मानने लगा था—"जनता समुद्र है। हम लोग मछली हैं। जब तक समुद्र उष्ण और मैत्रीपूर्ण होता है तब तक हम उसमें तैर सकते हैं और जी सकते हैं।" अपने मिलन के दिन से ही चू और माओ ने निश्चय कर लिया कि वे कुओमिन्तांग को नष्ट करके रहेंगे और साम्यवादी चीन की स्थापना करेंगे।

यद्यपि अभी भी उसके सिपाहियों की संख्या बन्दूकों से अधिक थी, तथापि चू ने चार वर्षों में एक लाख आदमियों की सुदृढ़ लाल सेना का संगठन कर एक केन्द्रीय शक्ति का निर्माण कर लिया था। १९५५ में चू साम्यवादी चीन के ४० लाख सैनिकों की सेना के सेनापति के रूप में चौथाई शताब्दी के संयुक्त प्रयत्नों के वाद भी माओ का अडिग सहयोगी वना रहा।

उन्हीं दिनों हुनान में भावी कम्युनिस्ट सत्ता के दो अन्य प्रमुख सदस्य भी उनसे आकर मिल गये। इनमे से एक था, कठोर साधक लिउ शाओ ची, (Liu Shao Chi) जो पार्टी का सिद्धान्त-निर्माता था; दूसरा था पेरिस-प्रशिक्षित चाउ एन लाई, जो विदेश-नीति का प्रवक्ता था।

१९२८ से चीनी साम्यवादी दल के नेतृत्व ने किसी भी देश के साम्यवादी दल की क्रान्ति तथा सरकार के अत्यन्त व्यापक व्यावहारिक अनुभव प्राप्त किये थे। किसान-क्रान्ति पर आधारित, लाल सेना के निर्माण की अपनी प्रमुख नीति का पालन करते हुए माओ तथा उसके समर्थकों ने किआंग्सी तथा हुनान में दक्षिणी चीन के पर्वतों पर किसानों के विद्रोहों को उभारा, जिनमें से अनेक हिंसात्मक थे।

उनकी नयी क्रान्तिकारी सरकार ने, जो अपने को हुनान किआंगसी प्रदेश श्रमिक तथा कृषक-सरकार कहती थी, धीरे-धीरे जमीन्दारों की जमीनों को जब्त करना और उन्हें किसानों में बाँटना शुरू किया। मार्क्स के सम्मान में कागजी विधान स्वीकार कर लिया गया जिसमें उन अधिकतर अस्तित्वहीन कारखाना-मजदूरों का समर्थन किया गया था, जो कभी एक भावी कम्यूनिस्ट सरकार के अन्तर्गत एक राजनीतिक शक्ति के स्रोत के रूप में विकसित हो सकते हैं।

१९३१ में माओ ने चीनी सोवियत गणराज्य की घोषणा की। क्यांग्सी के जुई-चिन में इसकी राजधानी थी और उस समय इसका छः जिलों पर नियंत्रण था। मञ्चूरिया पर जापानियों के आक्रमण के वाद इसने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

× × ×

इसी वीच नानकिंग में, १९२७ से १९३७ के दशक में च्यांग काई शेक की राष्ट्रवादी सरकार, चीन की सभी पिछली सरकारों की अपेक्षा अनेक प्रकार से अधिक आधुनिक तथा प्रभावशाली सिद्ध हो रही थी। पार्टी तानाशाही के आधार पर कुओमिन्तांग द्वारा नियंत्रित सरकार अपनी वित्तीय शक्ति के

लिए शंघाई के नये चीनी व्यापारी वर्ग पर निर्भर थी।

च्यांग ने काफी उन्नति की। चीनी प्रभुसत्ता पर 'असमान संधियों' द्वारा प्रस्थापित अनेक प्रतिबन्ध, जिनके विरुद्ध सुन ने कहा था, समाप्त कर दिये गये। अनेक विदेशी रियायतें चीन को वापस मिल गयीं। शंघाई स्थित प्राचीन चीनी-विदेशी मिश्रित न्यायालय बन्द कर दिया गया और सरकार ने अपने अधिकांश तट-कर और चुंगी क्षेत्र वापस ले लिये।

दीवानी और फौजदारी के कानूनों में सुधार कर उन्हें कार्यान्वित किया गया। पश्चिमी प्रशिक्षित वित्तीय प्रशासक टी. वी. सुंग जैसे व्यक्तियों के प्रभाव के अन्तर्गत मुद्रा-एकीकरण के प्रयत्न किये और आधुनिक आयव्यय के लेखा-जोखा की प्रणाली चलायी गयी। रेलों तथा सड़कों के निर्माण का एक साधारण कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। नागरिक सेवा को विस्तृत किया गया। अफीम-उत्पादन, पग-बन्धन और अभिभावकों द्वारा तय की गयी शादियों की प्राचीन समस्याओं के विरुद्ध प्रयत्न किये गये। ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता, जनस्वास्थ्य, वृक्ष तथा पशुपालन के जबर्दस्त प्रयास किये गये और फसलों के उत्पादन में सुधार किये गये। डाक्टर जेम्स वाई. सी. येन के प्रशंसनीय प्रयत्नों से दो करोड़ लोगों को ग्राम-विकास योजना के अन्तर्गत लाया गया जिस तरह आज भारत में सफलतापूर्वक किया जा रहा है।

च्यांग के अधीन इनमें से अनेक सफलताएँ वास्तविक एवं उत्साहप्रद थीं। फिर भी, तत्कालीन आवश्यकताओं को देखते हुए वे अशान्त, अधीर लोगों के लिए केवल छिट-पुट, अल्पकालीन संकेत मात्र प्रतीत हुई। सच तो यह है कि किसान जीवन को पीसने वाली कठिनाइयाँ बनी रहीं।

बहुतों के लिए भूमि-लगान अत्यधिक रहा और किसानों के नकद चुकता न करने पर उन्हें मजदूरी या पदार्थ में चुकता करना पड़ता था। लगान-अदायगी के वास्ते, लिये गये ऋण या अग्रिम पर ब्याज की दर १५ से ३० प्रतिशत तक थी। अभी भी ग्रामीण क्षेत्रों में 'सैनिक सेवा कर' वसूल किया जाता था। सेना में भर्ती करने वाले स्थानीय अफसर ही तय करते थे कि 'छूट की दर' के आधार पर किसको भर्ती करना चाहिए और किसको नहीं। प्रायः यह दिया गया धन अफसरों की जेबों में ही चला जाया करता था।

इन सभी कारणों के अतिरिक्त किसानों की उदासीनता और असहयोग के कारण, च्यांग ने वास्तव में जो भी सुधार किये, वे प्रायः असंतोषजनक ही सिद्ध हुए और ज़ार के अधीनस्थ रूस की तरह चीन में भी अधिक व्यापक

परिवर्तनों को तीव्र वनाने का कारण वने। एक टीकाकार ने लिखा है, चीन के गाँवों की समस्यायें इतनी व्यापक थीं और परिवर्त्तन के लिए दवाव इतना अधिक था कि सुधार प्राय: क्रान्ति की दिशा में सम्भवत: प्रतिक्रियाओं की शृंखला ही उत्पन्न करने वाले थे।

चीन की प्रभावशाली छात्र-संस्थाएँ भी पृथक् रहीं और प्राय: विरोधी ही वनी रहीं। सरकार छात्र-मत की तीव्र धाराओं को प्रेरणात्मक तथा रचनात्मक प्रगति की दिशा में मोड़ने की आवश्यकता के प्रति पर्याप्त रूप से जागरूक नहीं थी। १९१९ में ४ मई के प्रदर्शन के वाद से विद्यार्थी कई वार विदेशी प्रभावों तथा घरेलू प्रतिक्रिया के विरोध में सामूहिक रूप से खुले आम भड़क उठे थे। १९३६ तक वे जापान से लड़ने में च्यांग की झिझक के विरुद्ध भी भड़क गये थे।

चीन के अधिकांश लोगों ने वस्तुत: च्यांग को धीरे-धीरे ठुकरा दिया, यद्यपि इसमें काफी समय लगा और यह कोई अद्भुत वात नहीं जान पड़ी। शनैः शनैः कुओमिन्तांग लोकप्रिय कल्पनाओं और मूलभूत आदर्शवाद से वंचित हो गयी।

च्यांग में आवश्यक रूप से संकल्प का अभाव नहीं था, यद्यपि उसकी अनेक विडम्वनाएँ स्वयं उसीकी वनायी हुई थीं। ऐतिहासिक घटनाओं, राजनीतिक शक्तियों और व्यक्तिगत दवावों ने अन्त में उसे इस हद तक घेर लिया कि उनको रोकने में वह असमर्थ हो गया। अन्ततोगत्वा घटनाओं ने स्वयं असमर्थता के एक 'दुखान्त' नाटक की रचना की।

च्यांग एक सनिक था और अन्य अधिकांश सैनिकों की भाँति उसने सुदृढ़ राष्ट्रीय सेना के निर्माण को उच्चतम प्राथमिकता प्रदान की। प्राय: विचारों के महत्व तथा उनसे प्रभावित लोगों की कठोर शक्ति की ओर ध्यान न देते हुए, उसने माना, जसा कि हमारे वहुत-से सेनानी (जनरल) आज भी मानते हैं, कि साम्यवाद की पराजय मुख्यत: एक सैनिक समस्या है। एक कुशल सेना के निर्माण के कार्य में सहायता के लिए उसने खर्चीले और पेशेवर विदेशी सलाहकारों को वुलाया। अमरीकी सेनानियों ने १९४० और १९५० के दशकों में इस कार्यभार को ग्रहण किया, जवकि वहाँ पर १९२० के दशक में रूसी तथा १९३० के दशक में जर्मन पूर्वाधिकारी रह चुके थे।

च्यांग ने यह जान कर जुआ खेला कि अन्य सामाजिक तथा आर्थिक तत्वों से वंचित देशभक्ति सुदृढ़ सेना के निर्माण के लिए पर्याप्त आधार प्रदान

करेगी। इस सम्बन्ध में माओ का निर्णय अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुआ,। च्यांग ने यह आशा की थी कि राष्ट्रीय सेना उस राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में सहायक होगी जो जनता के प्रति आस्था के कारण युद्ध-स्वामियों को हटा देगी और इस प्रकार कुआमिन्तांग सरकार की शक्ति को बढ़ायेगी।

च्यांग यह भी जानता था कि चाहे जापानी शत्रु हों या अपने ही देश के साम्यवादी, उनके विरुद्ध उसकी सेना अपरिहार्य होगी। १९३१ के आरम्भ में मञ्चूरिया पर जापानी आक्रमण के समय उसे निश्चय करना पड़ा कि किसके साथ युद्ध किया जाय। स्पष्ट ह कि उसकी सेनाएँ अकेले दोनों खतरों का सामना करने में असमर्थ थीं।

जापानियों ने अपने आक्रमण-काल को बड़ी बुद्धिमानी से निश्चित किया था। पश्चिमी शक्तियाँ अपनी बढ़ती हुई मन्दी मे उलझे रहने अथवा अपने ही आन्तरिक संघर्षों को शान्त करने या साहस बटोर सकने में अशक्त होनें के कारण चीन को नैतिक सहायता के सिवाय और कुछ नहीं दे सकती थी। जनेवा में राष्ट्र संघ के अधिवेशन में जब रूसी परराष्ट्र मंत्री लित्विनाफ नें जापानी आक्रमण के विरुद्ध सामूहिक मोर्चा बनाने का अनुरोध किया, तब ब्रिटेन और फ्रांस ने अस्वीकृति प्रकट करने के सिवाय, और कुछ करने से इन्कार कर दिया। और हमारा विदेश-विभाग इतना ही कह कर सन्तुष्ट हो गया कि वह जापानी आक्रमणों के परिणामों को मान्यता नहीं देगा।

चीन की मदद करने में अटलांटिक राष्ट्रों की उन अधिकांश असमर्थताओं से सोवियत संघ ने बराबर लाभ उठाया। २२ जुलाई, १९३७ को "इजवेस्तिया" ने कहा, "जापान मञ्चूरिया में अपनी योजनाओं में पश्चिमी शक्तियों की निष्क्रियता के कारण ही सफल हो सका। १९३१ और १९३२ की जापानी विजय में इंगलैण्ड की मौन सहमति का कम हाथ नहीं था।"

लित्विनाफ ने जनेवा में अभियोग लगाया कि ब्रिटेन ने जापान के साथ गुप्त समझौता किया था कि जब जापान मञ्चूरिया को हड़पेगा तो वह अलग रहेगा, यदि जापान इसके बदले में यह वचन दे कि वह मध्यचीन से, जहाँ पर ब्रिटेन के व्यापक व्यापारिक स्वार्थ हैं, अलग रहेगा। यद्यपि सोवियत प्रतिनिधि ने, जापानी आक्रमण को रोकने के लिए नौ ताकतों की 'नौ शक्ति संधि' के प्रयोग के लिए विदेशमंत्री स्टिम्सन के प्रयत्नों का स्वागत किया, फिर भी उसने चतुराई से संकेत किया कि संयुक्त राज्य अमरीका ने इन वर्षों में जापान को तेल तथा युद्ध सामग्री प्रदान करके काफी लाभ उठाया है।

अमरीकी-चीनी सम्वन्धों के लिए यह सारा किस्सा हलके मन से दिये गये आश्वासनों की निरर्थकता तथा प्रवंचना का एक महँगा सवक था। मन्चूरिया निश्चित रूप से वह स्थान था जहाँ पर संयुक्त राज्य अमरीका ने १९०० में हे की "द्वार खोलो नीति" और १९२२ में वाशिंग्टन में की गयी नौ शक्तियों की संधि द्वारा अपने कूटनीतिक वचनों को अत्यधिक विस्तृत किया था। दोनों ही में चीन की प्रादेशिक एकता का आश्वासन विशेष रूप से दिया गया था।

तथापि इन महत्वाकांक्षापूर्ण दायित्वों के अनुसार अपनी सैन्य शक्ति को सुदृढ़ करना तो दूर रहा, उसी वाशिंग्टन सम्मेलन के परिणामस्वरूप, निःशत्रीकरण-समझौता हुआ, जिससे संयुक्त राज्य अमरीका सैन्य शक्ति की दृष्टि से पश्चिमी प्रशान्त महासागर में निःशक्त वन गया।

१९३१ में जापानियों ने ठीक ही अनुमान लगाया था कि हमारी प्रतिक्रिया भौंह चढ़ाने और दाँत पीसने तक ही सीमित रहेगी। विभक्त, निःशक्त तथा असहाय चीन आक्रमणों के प्रथम क्रम का मुकावला करने के लिए अपने ही साधनों पर छोड़ दिया गया, जिससे अन्त में द्वितीय विश्व युद्ध का सूत्रपात हुआ। सोवियत संघ ही एक मात्र अकेला राष्ट्र है, जो उसके लिए कुछ करने के लिए तैयार दिखाई पड़ा। इस तथ्य ने चीनी जनता पर गहरा प्रभाव डाला।

बारहवाँ प्रकरण

लम्बी यात्रा

दो शत्रुओं का सामना होने पर च्यांग ने हुनान और क्यांग्सी में साम्यवादी शक्ति के अंचलों को समाप्त कर देने के उद्देश्य से "विनाशकारी अभियानों" की ओर सर्वप्रथम ध्यान दिया। जिस प्रकार की प्रतिरक्षा का उसको सामना करना पड़ा, उसका संकेत उन चार नारोंसे मिलता है जिनका उपयोग उस समय चिग्कानशान में माओ के सदर मुकाम में होता था। वे गुरिल्ला युद्ध-प्रणाली की आकर्षक पूर्व-झाँकियाँ हैं, जिनका बाद में लाल सेना ने बड़े पैमाने पर उपयोग किया और फ्रांसीसियों को हिन्दचीन से निकाल बाहर करने में हो-ची-मिन्ह ने जिनको ग्रहण किया :-

१. जब शत्रु बढ़ता है तो हम पीछे हटते हैं।

२. जब शत्रु रुकता और डेरा डालता है तब हम उसे परेशान करते हैं।

३. जब शत्रु युद्ध से बचने का प्रयत्न करता है, हम हमला करते हैं।

४. जब शत्रु पीछे हटता है तब हम उसका पीछा करते हैं।

दो या तीन वर्षों तक इन तरीकों ने माओ और चू तेह को ठहर सकने के योग्य बनाया; परन्तु १९३४ के अन्ततक "चीनी सोवियत गणतंत्र" च्यांग के निरन्तर प्रहार से ध्वस्त हो गया। इस स्थिति में पीछे हटने की अत्यन्त आवश्यकता थी और ऐतिहासिक 'लम्बी दौड़' का निश्चय हुआ। यह एक चाल थी जिसने अन्ततोगत्वा पराजय को विजय में परिणत कर दिया।

उनके पास २० हजार चुने-चुनाये लोग बच गये थे जो दो वर्ष बाद उत्तरी-चीन के येनान में अपने नये शक्तिशाली अड्डे पर प्रकट हुए और जिन्होंने दुर्भिक्ष और महामारियों का तथा अनेक छिपे आक्रमणों और युद्धों का सामना किया था। छः हजार मील अर्थात् अमरीकी महाद्वीप की चौड़ाई के दुगुने फासले की पैदल यात्रा करके उन्होंने चीन के बारह प्रान्त पार किये, अस्थायी रूप से बासठ शहरों पर कब्जा जमाया, २४ विशालतम नदियों और एशिया की सबसे बड़ी १८ पर्वत श्रेणियों को पार किया। कुओमिन्तांग की लाखों सेनाओं से लड़ते हुए यह सशस्त्र देशान्तरगमन बीस करोड़ की आबादी वाले क्षेत्रों से हुआ।

युद्धों के दौरान में साम्यवादियों ने अपनी ग्राम्यक्रान्ति तथा अपनी जापान-विरोधी नीति को समझाने के लिए प्रत्येक अधिकृत नगर में आम सभाएँ वुलायीं। उन्होंने नाटकों का प्रदर्शन किया, वहुत से कैदियों को आजाद किया, व्यापारियों, कुओमिन्तांग अफसरों, वड़े-वड़े जमीन्दारों और कर वसूल करने वालों की सम्पत्ति जव्त कर ली और उनके सामानों को गरीवों में वाँट दिया। नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से इस 'लम्वी दौड़' की तुलना नहीं की जा सकती।

वचे हुए लोगों की संख्या के चौगुने आदमी अर्थात् अस्सी हजार व्यक्ति तो मार्ग में ही चल वसे। उन तीस औरतों में माओ तथा चाऊ एन लाई की पत्नियाँ भी थीं, जो येनाम पहुँचने के लिए जीवित रहीं। माओ के तीन वच्चे इस लम्वी यात्रा में स्थानीय किसानों को दे दिये गये, जिनके पुनः पाने के सभी प्रयत्न व्यर्थ रहे। निर्वल और अनिश्चित लोग मार्ग में ही गिर गये।

वचे हुए लोग थक कर चूर-चूर हो गये थे, किन्तु वे भावी युद्ध के लिए सन्नद्ध थे। अविश्वसनीय आपत्तियों के वीच माओ को अपनी सेना पर अपने नियंत्रण का विश्वास था, और लाल सेना तथा इसके नेतृत्व ने कठोरतम प्रशिक्षण प्रदान किया था। भविष्य में लम्वी यात्रा के सामान्य अनुभव लाल चीन के अन्त में होने वाले शासकों को सत्ता की दीर्घ यात्रा के लिए असाधारण शक्ति का एक सूत्र प्रदान करेगा।

१९३१ से १९३६ तक जव कि च्यांग ने माओ की साम्यवादी सेनाओं से युद्ध किया, वह मन्चूरिया तथा उत्तरी चीन में जापानी आक्रमण के सामने पराजित हुआ। दिसम्वर, १९३६ तक उसकी सेनाएँ माँग करने लगी थीं कि उनकी वन्दूकें घर के विद्रोहियों पर न चलकर विदेशी आक्रमणकारियों पर चलनी चाहिएं।

उसी समय मन्चूरिया की सेना के सेनापति च्यांग सुए-लिआंग ने च्यांग को उड़ा दिया। इसी स्थिति से जापानियों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा वनाने का समझौता हुआ जिसके लिए च्यांग तथा चाऊ एन लाई ने वातचीत की थी। च्यांग का जीवन खतरे में था और चाऊ इस स्थिति में था कि उस पर पिस्तौल चला दे। शायद इसीलिए वाद में च्यांग ने उसे एक समझदार साम्यवादी कहा था, जिसका अभिप्राय था कि फिलहाल और कम से कम चाऊ के साथ सह-अस्तित्व संभव है।

येनान में नया साम्यवादी अड्डा लम्वी यात्रा से वच हुए लोगों के लिए दूरस्थ शरणस्थल मात्र नहीं था। उसकी स्थिति सामरिक दृष्टि से भी वहुत

ही महत्वपूर्ण थी। येनान में चीन, जापान और रूस की भाग्यरेखाएँ भौगोलिक दृष्टि से एक साथ गुँथी हुई थीं। यह जान कर और कदाचित् इस बात से आतंकित होकर कि च्यांग के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चा कहीं और अधिक दृढ़ राष्ट्रीय चेतना न पैदा कर दे, जापानियों ने खास चीन पर शीघ्रता से आक्रमण कर दिया। १९३७ में पेकिंग के पास मार्कोपोलो पुल पर आक्रमण के साथ चीनी-जापानी युद्ध सचमुच शुरू हो गया।

नयी राष्ट्रीय एकता के प्रमाणस्वरूप, लाल सेना तांत्रिक दृष्टि से केन्द्रीय सरकार की कमान में रखी गयी और क्रान्तिकारी साम्यवादी कार्यक्रम कुछ ढीला हो गया; परन्तु इसके सिद्धान्त बड़ी सावधानी से सजीव बनाये रखे गये। लम्बी यात्रासे चीनी-शक्ति के मौलिक स्रोत के सम्बन्ध में माओ के प्राचीन विश्वास और भी दृढ़ हो गये थे। उसने घोषणा की कि केवल जागृत किसानों से ही हम जापानियों का मुकाबला कर सकते हैं।

अगस्त, १९४५ तथा जापान के अन्तिम पतन तक ही चीन में कुओमिन्तांग तथा साम्यवादियों के बीच ऊपरी सहयोग कायम रह सका। यह आकस्मिक सहयोग था, जो कभी-कभी युद्ध के रूप में भी दिखायी पड़ता था, क्योंकि संयुक्त मोर्चे में तो १९४० में ही दरार पड़ चुकी थी। दोनों पक्ष निरन्तर प्रतियोगात्मक लाभ के लिए चालें चला करते थे।

१९३८ में समुद्रतट तथा संचार-साधनों पर जापानियों के नियंत्रण ने च्यांग को और भी भीतर की ओर जेचवान तक खिसक जाने के लिए मजबूर कर दिया। यहाँ चुंकिग की अपनी नयी राजधानी में वह अधिकृत केन्द्रीय सरकार का प्रतिनिधि बना रहा। येनान के अपने सदर मुकाम में माओ-त्से-तुंग, साम्यवादी नियंत्रण के अन्तर्गत विशाल और बढ़ते हुए क्षेत्र का प्रभावशाली नेता था।

इन्हीं दिनों माओ ने अनेक छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं जिनमें उसने तर्क पेश किया कि जापानियों के विरुद्ध युद्ध के लिए जिस चाल की जरूरत है, वही चीन के स्थगित आन्तरिक युद्ध पर भी लागू होती है। उसने भविष्यवक्ता की भाँति कहा, "गाँव तथा देहाती क्षेत्र कस्बों और शहरों को हरा देंगे। प्रतिरोध का युद्ध सचमुच किसानों का युद्ध है। प्रतिरोध में हम जिन चीजों का इस्तेमाल करते हैं, जिन चीजों पर हम जिन्दा हैं, वे सभी वास्तव में हमको किसानों से मिलती हैं—जो हमारे सर्वस्व हैं।"

जापानियों द्वारा तटीय शहरों पर अधिकार हो जाने पर, च्यांग को न

केवल सीमा-शुल्क मिलना बन्द हो गया, बल्कि उसके स्वदेशी समर्थन का प्रमुख स्रोत भी बन्द हो गया। तटीय नगरों के अनेक व्यापारी तथा महाजन (बैंकर) आधुनिक व्यापार-वृत्ति की पीढ़ी की अपेक्षा प्रगतिशील रूढ़िवादी बन गये थे। पश्चिमी प्रान्तों के जमींदार मृत अतीत के प्राचीन रूढ़िवादी थे।

इस प्रकार, जब च्यांग चुंकिंग गया, तो वहाँ पर उसे अधिकाधिक ऐसे लोगों पर निर्भर रहना पड़ा, जो क्रान्तिकारी घटनाचक्र के सम्पर्क में नहीं थे। इसके बदले इस स्थिति ने राष्ट्रीय सरकार को धीरे-धीरे किसानों का शत्रु बना दिया।

जापान पर अन्तिम विजय के बावजूद, चुंकिंग मध्यान्तर ने, जो सैनिक दृष्टि से अनिवार्य था, एक संयुक्त असाम्यवादी चीन के निर्माणार्थ च्यांग के प्रयत्नों में गम्भीर बाधा उत्पन्न कर दी। कर तथा भर्ती की नीतियों ने किसानों को और भी भड़का दिया। भ्रष्टाचार ने देश से नैतिकता का सफाया कर दिया। मुद्रास्फीति ने आर्थिक ढाँचे को छिन्न-भिन्न कर दिया और नागरिक सेवा को बढ़ा दिया।

साम्यवादी यातनाओं, अपर्याप्त साधनों, अनाज्ञाकारी प्रादेशिक सेनाधिपतियों, उसके अपने राज भवन से प्रसारित व्यापक घूसखोरी और जन समर्थन प्राप्त करने के विचारों के अभाव के कारण, अत्यधिक आवश्यक नैतिक उत्साह प्रदान करने में च्यांग उत्तरोत्तर असमर्थ होता गया। च्यांग की इस दुर्बलता के कारण उसकी पहले की सफलताओं की याद तथा प्रशंसा को धीरे-धीरे भुला दिया गया। उत्तर में माओ तथा उसके साथियों की विश्वासपूर्ण प्रतिज्ञाओं ने, चुंकिंग के राष्ट्रवादियों की शंकाओं तथा उनकी आपस की फूट की तुलना में बड़ा अनुकूल प्रभाव पैदा किया।

एक विचार की दृढ़ता के कारण कम्यूनिस्ट लगभग एक शताब्दी पूर्व हुंग द्वारा संचालित क्रान्तिकारी शक्तियों के साथ घुलमिल गये। अगस्त, १९४५ में युद्ध के बाद 'लम्बी यात्रा' में सत्ता के लिए बोये गये बीजों ने चीन की धरती को शीघ्र फसल के लिए तैयार कर दिया था।

\+ + +

अक्तूबर, १९४५ में माओ तथा च्यांग ने शान्ति और एकता की इच्छा का वचन देते हुए एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया, किन्तु मन्चूरिया पर अधिकार जमाने की होड़ में साम्यवादियों तथा राष्ट्रवादियों के बीच पहले ही संघर्ष शुरू हो गये थे और महीने के अन्त तक ग्यारह प्रान्तों में लड़ाई शुरू हो गयी।

पहले तो जापानियों द्वारा खाली किये गये प्रदेशों में लोगों ने लौटनेवाले राष्ट्रवादियों का स्वागत किया, परन्तु शीघ्र ही विकर्षण भी प्रारम्भ हो गया। चुंकिंग से लौटने वाले नेताओं में कुछ नये चेहरे भी थे। १९३८ से १९४५ तक कुओमिन्तांग के अधिकांश प्राचीन और प्रभावहीन प्रशासनाधिकारियों ने न केवल अपनी स्थिति को कायम रखा, वल्कि उसे और भी सुदृढ़ वना लिया। सत्ता-ग्रहण के साथ ही जिस घूसखोरी और शासन की अकुशलता ने उन्हें कलंकित कर दिया था उससे आजादी की चमक में धुंधलापन आ गया। युद्ध के पुनरारम्भ के साथ ही मुद्रा-प्रसार अधिक वढ़ गया।

दिसम्वर में राष्ट्रपति के विशेष प्रतिनिधि के रूप में अमरीका के अत्यन्त ख्यातिप्राप्त सनिक तथा राजनीतिज्ञ, जनरल जार्ज मार्शल को चीन भेजा गया। उन्होंने स्थायी युद्धवन्दी की व्यवस्था करने तथा संयुक्त सरकार के निर्माण के लिए और निर्माण में धैर्यपूर्ण तथा अथक वातचीत में एक वर्ष विता दिया। कुछ महीनों के लिए युद्ध वन्द हो गया। तव दोनों पक्षों ने एक दूसरे पर फिर से युद्ध शुरू करने का अभियोग लगाया।

धीरे-धीरे यह स्पष्ट हो गया कि मिलीजुली सरकार वनाने के लिए कोई उचित आशा नहीं है, चाहे उसका नेता च्यांग हो या अन्य कोई उदार नरम-वादी। जव जनवरी, १९४७ में जनरल मार्शल विदेश-मंत्री के पद को सुशोभित करने के लिए चीन से रवाना हुए, तो उन्होंने अपने कार्य की विफलता के लिए पारस्परिक अविश्वास तथा दोनों पक्षों के उग्रवादियों को दोषी ठहराया।

जव देश खुले गृह-युद्ध में फँस गया, उस समय कोई आकस्मिक पर्यवेक्षक यही निष्कर्ष निकालता कि राष्ट्रवादियों को अभी भी हर तरह का लाभ था। कानूनी ढंग से मान्य सरकार उन्हीं की थी। उनके पास अधिक शासन क्षेत्र था। उनके पास अपेक्षाकृत वड़ी और सुसज्जित सेनाएँ थीं जिनके पीछे नौ-सेना तथा वायु-सेना की शक्ति थी। साम्यवादियों के पास इन दोनों का अभाव था।

केन्द्रीय सरकार को संयुक्त राज्य अमरीकी कांग्रेस द्वारा निर्धारित दो अरव डालर का माल तथा आर्थिक सहायता प्राप्त थी। इसके अतिरिक्त राष्ट्र-वादियों को अमरीकी वचत सम्पत्ति में से यह भी स्वतंत्रता प्राप्त थी कि जहाँ कहीं भी उपलब्ध हो, एक डालर में २५ सैन्ट के अनुपात से, वे एक अरव अमरीकी युद्ध वचत सामग्री में से १ अरव डालर का सामान खरीद सकेंगे। १९४६ के पतझड़ तक अमरीकी सैनिक मिशनों ने उन वीस डिवीजनों के अलावा जो

जापान के विरुद्ध युद्ध के समय प्रशिक्षित और सुसज्जित किये गये थे, चालीस कुओमिन्तांग सैनिक डिवीजनों को प्रशिक्षित किया।

फिर भी १९४७ के अन्त तक माओत्से-तुंग की लाल सेनाएँ साधारणतया आक्रमक थीं। च्यांग की देखने में विशाल, किन्तु प्राय: निरुत्साहित सेनाओं के विरुद्ध उन्होंने न केवल गोलियाँ, हथगोले और गोले फेंके, वल्कि विस्फोटक विचार भी फैलाये। राष्ट्रवादी केवल वन्दूकों से जवाव दे सकते थे और वे वन्दूकें भी ऐसे लोगों के हाथ में थीं, जिनमें किसी प्रकार का विश्वास न था।

दो वर्षों वाद, अनेक जवर्दस्त विजयों के उपरान्त पेकिंग से चीनी जन-गणतंत्र की घोषणा की गयी। ७ दिसम्वर, १९४९ को पर्ल हार्वर पर जापानियों के आक्रमण के ठीक आठ वर्ष वाद च्यांग काई शेक ने फारमोसा को अपना नया सदर मुकाम वनाया और चीन की धरती पर साम्यवादी विजय निश्चित हो गयी।

तभी से अमरीका में, साम्यवाद विरोधी शक्तियों की अन्तिम पराजय के लिए दोषी ठहराने के व्यर्थ और प्रायः भावुक प्रयास में एक कटु दलगत मतभेद पैदा हो गया है। अव यहाँ उस मतभेद पर कुछ और कहने से कोई लाभ न होगा। वातें वड़ी जटिल हैं और कुछ मामले अभी प्रच्छन्न ही हैं। किन्तु सभी आरोपों और प्रत्यारोपों में, हमें चीन की दुःखद घटना से उन मुख्य शिक्षाओं को स्पष्टरूप से अपने सामने रखने का प्रयत्न करना चाहिए, जिनके सम्वन्ध में अधिक मतभेद नहीं है।

मुख्य चीन में, च्यांग के अन्तिम तीन वर्षों में चीन स्थित अमरीकी राजदूत डा. जॉन लेटन स्टुअर्ट स्वयं उस समय की अमरीकी नीति के कुछ पहलुओं के आलोचक थे। डा. स्टुअर्ट ने, चीन में अपने चालीस वर्षों के अनुभवों के आधार पर १९५४ में लिखा—"कुओमिन्तांग ने प्रजातांत्रिक तथा सामाजिक सुधारों के विधेयात्मक उद्देश्यों की अपेक्षा दुर्वल, विदेशी साम्राज्यवादी राजवंश को उखाड़ फेंकने की, निषेधात्मक प्रेरणा और फिर वैसा ही प्रादेशिक युद्ध स्वामियों के साथ करने की प्रेरणा के वल पर सत्ता प्राप्त की थी।"

आगे लिखते हुए उसने कहा कि एक ओर च्यांग के शासन में सार्वजनिक निधियों से मुनाफाखोरी, देश-हित की अपेक्षा परिवार, मित्र अथवा गुट की अधिक चिन्ता, दिखावा कायम रखनेकी भावना, नौकरशाही, "लाल फीता" और अकुशलता का वोलवाला था और दूसरी ओर निर्धन जनता और साम्यवादियों द्वारा नगण्य साधनों के कुशल प्रयोग की पृष्ठभूमि थी।

च्यांग की व्यक्तिगत ईमानदारी की प्रसिद्धि चाहे जितनी भी रही हो, परन्तु वह सभी स्तरों पर उन अधिकारियों से घिरा हुआ था, जिन्होंने उसके नेतृत्व को वदनाम कर दिया। यद्यपि उसके वहुत से राष्ट्रवादी सैनिक वीरतापूर्वक लड़ने के लिए तैयार थे, तथापि उनके सेनापतियों ने पूरे डिवीज़न के डिवीज़न को एक गोली चलाये विना वेच दिया था।

इस प्रकार राष्ट्रवादी सेनाओं को दिये गये अमरीकी सैनिक सामानों का वहुत वड़ा भाग, इस प्रकार के आत्मसमर्पण तथा विमुखताओं के कारण, साम्यवादी हाथों में पहुँच गया। जैसे-जैसे परिस्थिति विगड़ती गयी, कुओमिन्तांग पर अविश्वसनीय भ्रष्टाचार तथा वढ़ते हुए आतंकवाद का राज्य छा गया। जैसे जैसे उसकी समस्याएँ वढ़ती गयीं, वैसे वैसे उसका नेतृत्व अत्यावश्यक आर्थिक तथा राजनीतिक सुधारों की ओर न वढ़कर प्रतिक्रियावाद की ओर वढ़ता गया। इससे असाम्यवादी सुधारक, नरमवादी तथा वुद्धिजीवी वर्ग धीरे-धीरे वाम पक्ष की ओर झुकने लगे।

१९४७ की गर्मियों में जनरल वेडमेयर को एक विशेप कार्य से चीन भेजा गया। ११ जून, १९५१ को सिनेट की समिति के समक्ष उनसे पूछा गया कि चीन का क्यों पतन हुआ? उन्होंने जवाव दिया, "मुख्यतया मनोवल के अभाव के कारण। युद्ध-सामग्री का अभाव नहीं था। मेरे विचार से यदि वे चाहते तो यांगटीजी की रक्षा झाड़ुओं से कर सकते थ।"

च्यांग की एक अत्यन्त प्रवल समर्थक अमरीकी पत्रिका "टाइम" ने जनरलिस्मो के फारमोसा भाग जाने के वाद ताइपेह में राष्ट्रीय विधानसभा में उनके कथन का इस प्रकार उद्धरण दिया है, "मैं स्वयं अपने को दोपी कहूँगा। मुख्यभूमि पर विनाशकारी सैनिक पराजय का कारण कम्यूनिस्टों की अपार शक्ति नहीं थी, वल्कि संगठनात्मक पतन, अनुशासनहीनता तथा पार्टी सदस्यों का हीन मनोवल था।"

अनेक अमरीकियों ने विश्वासपूर्वक यह मान रखा था कि चीनी अपने धार्मिक विश्वास तथा घनिष्ठ पारिवारिक वंधनों के कारण साम्यवाद को कभी स्वीकार नही करेंगे; परन्तु प्रवल क्रान्तिकारी शक्ति तथा माओ और उसके साथियों के अनुनय-विनय के सामने ये वाधाएँ नगण्य सिद्ध हुईं।

हर हालत में चीन की क्रान्तिकारी शक्ति, जो सर्वप्रथम तार्यपिंगों के दिनों में प्रकट हुई थी और वाद में सुन यात सेन की क्रान्तिकारी गतिविधियों तथा रचनाओं द्वारा फिर से ताजी हो गयी थी, अन्त में च्यांग के हाथों से माओ के

प्रभावों की नई जानकारी के साथ वापस लौटे। एक अमरीकी संवाददाता ने, जो सम्मेलन में उपस्थित था, वाद में सऊदी अरव, अफगानिस्तान, भारत, वर्मा और स्याम की अपनी यात्राओं के सम्बंध में लिखा है। उसने रिपोर्ट दी कि अधिकारियों द्वारा पासपोर्ट में वाण्डुंग-प्रमाणपत्रों के देखते ही 'कस्टम' की कठिनाइयाँ समाप्त हो जाती थीं। यहाँ तक कि जैसे ही यह जादू का शब्द फैलता कि 'मैं वाण्डुंग गया था', खैबर दर्रे में भी भीड़ जमा हो जाती।

यदि एशिया और अफ्रीका के अधिकांश लोग इतिहास से यह समझ सकते कि पूर्ण प्रजातंत्रात्मक विकास की उपलब्धि के लिए किस प्रकार अपनी क्रान्ति को पूर्ण किया जाय और यदि वे घृणा, भय और आशंका से नहीं, प्रत्युत आशा और विश्वास से तथा अटलांटिक राष्ट्रों के प्रति मित्रता की भावना से निर्माण करते, तो मुझे विश्वास है कि पश्चिमी संसार के शंकालु भी यह स्वीकार करते कि वाण्डुंग ने एक ऐसे विश्व को आशा का सन्देश दिया जो प्रमाद और अपने ही उच्चतम विचारों में अविश्वास की भावना से पीड़ित है।

पचीसवाँ प्रकरण

बाण्डुंग और शीत युद्ध

चू एन ली की उपस्थिति ने एक प्रकार से क्षेत्र की सामान्य समस्याओं पर विचारविनिमय से बाण्डुंग-सम्मेलन को विमुख कर अटलांटिक राष्ट्रों के साथ चीन के सम्बन्धों की समस्या पर अनावश्यक रूप से अधिक बल देने के लिए विवश किया।

एक एशियाई कूटनीतिज्ञ ने बड़ी तेजी के साथ मुझ से कहा कि यदि पश्चिम ने साम्यवादी चीन का बहिष्कार न किया होता और यदि वह भी अन्य साम्यवादी अधिनायकतन्त्रों की भाँति संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य होता, तो मुझे विश्वास है कि चू एन ली को सम्मेलन में बुलाया भी न जाता। उसका विश्वास था कि अन्य एशियाई राष्ट्रों द्वारा चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में लाने के दृढ़ संकल्प का कारण यह था, कि अमरीका ने एक महान, किन्तु अप्रिय एशियाई क्रान्ति को अमान्य किया था। पेकिंग-सरकार के प्रतिनिधियों के साथ कार्य तथा बातचीत करने में एक प्रकार से निषिद्ध फल चखने के तीखेपन का-सा आभास मिलता था।

बाण्डुंग में चू ने निश्चय ही अपना व्यक्तिगत प्रभाव जमा लिया। उन्होंने यह विजय न केवल अपने मोहक व्यक्तित्व और मर्यादित दृष्टिकोण से प्राप्त की, बल्कि डेढ़ अरब लोगों की, जिनका वहाँ प्रतिनिधित्व हो रहा था, गहनतम महत्वाकांक्षाओं के साथ अपने आप को कुशलता के साथ मिला कर के प्राप्त की थी।

उपनिवेशवाद, जातिवाद, आर्थिक विकास तथा शान्ति—बाण्डुंग की इन चारों प्रमुख समस्याओं पर चू अपनी सहमति व्यक्त करने को उत्सुक थे। चीनी प्रधान मंत्री ने कहा, "एक ही कारण से पीड़ित और एक ही उद्देश्य के लिए संघर्षशील हम एशियाई और अफ्रीकी लोगों के हृदयों में एक-दूसरे के प्रति लम्बे अर्से से गहरी सहानुभूति रही है।"

क्या सम्मेलन उपनिवेशवाद के सम्बन्ध में चिन्तित था? चू एन ली ने कहा, "एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देश औपनिवेशिक लूटमार और अत्याचार के शिकार रहे हैं और इस प्रकार उन्हें स्थिर दरिद्रता और पिछड़ेपन

में रहने के लिए विवश किया गया था। हमारी आवाजें वन्द कर दी गयी हैं, हमारी महत्वाकांक्षाओं को चूर-चूर कर दिया गया है और हमारे भाग्य को दूसरों के हाथ सौंप दिया गया है। इस प्रकार हमारे सम्मुख उपनिवेशवाद की दासता के विरुद्ध लड़ने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है।"

क्या सम्मेलन को परतंत्र राष्ट्रों की स्वतंत्रता के वारे में चिन्ता थी? चू न कहा कि अल्जीरिया, मोरक्को और टयूनीशिया के लोगों के आत्म-निर्णय और स्वतंत्रता-संग्राम के प्रति, फिलस्तीन के अरव लोगों के संघर्ष के प्रति, पश्चिमी इरियन में हिन्देशिया की प्रभुसत्ता के पुनर्स्संस्थापन के लिए हिन्देशियाइयों के युद्ध के प्रति चीनी जनता पूर्ण सहानुभूति और समर्थन प्रदान करती है।

क्या सम्मेलन को जातिगत भेदभाव और मानवीय अविकारों के प्रति चिन्ता थी? चू ने कहा कि एशिया और अफ्रीका के अविकांश देशों में आज भी जातिगत भेदभाव व्याप्त है और वे मानवीय अधिकारों से वंचित हैं। जाति और वर्णभेद से मुक्त सभी मानव समाज को मौलिक मानवीय अधिकारों का उपभोग करना चाहिए और उसके साथ किसी भी प्रकार का दुर्व्यवहार तथा भेदभाव नहीं होना चाहिए। दक्षिण अफ्रीकी संघ और अन्य स्थानों में मानवीय अविकारों का अभी तक सम्मान नहीं किया जाता है।

क्या सम्मेलन सामन्तवादी प्रभावों और आर्थिक विकास के सम्वन्व में चिन्तित था? चू ने कहा कि चीन सहित एशिया और अफ्रीका के अविकांश देश, औपनिवेशिक प्रभुत्व की दीर्घकालीन अववि के कारण आज भी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं; इसीलिए हम न केवल राजनीतिक स्वतंत्रता चाहते हैं, वल्कि आर्थिक स्वतंत्रता भी चाहते हैं।

शान्ति के सम्वन्व में चू ने न केवल सह-अस्तित्व के साम्यवादी नारे को प्रस्तुत किया और निःशस्त्रीकरण के लिए सोवियत अपील पर वल दिया, प्रत्युत संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा की संवियों के प्रस्तावों को भी स्वीकार किया। ऐसा करने में उन्होंने साम्यवादी चीन के सिद्धान्तों, व्यवहारों और आशाओं के विपरीत वहुत-कुछ सहन किया।

चू ने संयुक्त राष्ट्र के अधिकारों के विवेयक को भी स्वीकार किया। उन्होंने वाहरी सहायता और पूँजी-विनियोग सम्वन्वी प्रस्ताव भी स्वीकार किया। उन्होंने खुले आम संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता के लिए, जो च्यांग को प्राप्त ह, चीन के अविकार पर वल नहीं दिया और वाण्डुंग में

संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता के लिए जिन नामों की सिफारिश की गयी थी, उनकी सूची में पेकिंग-सरकार को स्थान नहीं दिया गया था।

फार्मोसा को लेकर जो तनाव पैदा हो गया है, उस पर चू एन लौ ने संयुक्त राज्य अमरीका के साथ किसी भी समय वातचीत करने के लिए तैयार रहने की घोषणा की। जहाँ "वाँस के पर्दे" (Bamboo curtain) और पुलिस-राज्य के अभियोग हैं, वहां उन्होंने प्रतिनिधियों को स्वयं चीन आकर स्थिति देखने के लिए आमंत्रित किया। उन्होंने घोर साम्यवाद-विरोधी राजकुमार वान और जनरल रोमुलो जसे प्रतिनिधियों को छाँट कर चीन आने के लिए स्वयं आमंत्रित किया और विना मार्गरक्षक के मुख्य भूमि में कहीं भी जाने के लिए कहा। रोमुलो ने वाद में कहा, "उन्होंने मुझे अच्छे, वुरे और वीच के सभी रूपों को देख लेने के लिए कहा।"

परन्तु चू की 'भेड़ जैसी पोशाक' के वावजूद वाण्डुंग का शायद ही कोई प्रतिनिधि चीन के 'भेड़िये जैसे रूप' की उपेक्षा कर सकता था। पाकिस्तान, अफगानिस्तान, वर्मा, लंका, भारत और हिन्देशिया जैसे जिन देशों ने साम्यवादी चीन को मान्यता प्रदान की है, वे अपने पेकिंग स्थित कूटनीतिक प्रतिनिधियों द्वारा जानते हैं कि चीन के लोगों के लिए साम्यवादी क्रान्ति वहुत महँगी पड़ी। सामन्तवाद को निर्मूल करने और आर्थिक विकास प्रारम्भ करने के द्रुतगामी प्रयत्न का मूल्य सैनिकवृत्ति, वलात् श्रम, सामूहिक हत्या और नागरिक स्वतंत्रता की समाप्ति के रूप में चुकाना पड़ा है। इस अर्थ में चीनी साम्यवादी क्रान्ति को किसी भी हालत में पूर्ण क्रान्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वाहर मानव-अधिकार और मौलिक स्वतंत्रताओं के खुले प्रचार के वावजूद, इसने इन वातों को घटाया ही है, वढ़ाया नहीं।

इसी प्रकार असाम्यवादी एशियाई देशों ने अपने ही यहाँ क्रान्तिकारी साम्यवाद की हिंसा के इतने पर्याप्त अनुभव प्राप्त किये हैं कि वे पेकिंग की शान्ति-घोषणा को उसके प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। वे जानते हैं कि शान्ति की शब्दावली के वावजूद, साम्यवाद की पाठ्य-पुस्तक अव तक शान्ति की नहीं, वल्कि हिंसा और उपद्रव की रही है।

अधिकांश एशियाई देशों को अपनी स्वतंत्रता के प्रारम्भिक वर्षों में साम्य-वाद के नेतृत्व में सशस्त्र विद्रोहों का सामना करना पड़ा। १९४८ में दक्षिणी एशिया में फली साम्यवादी हिंसा की वृद्धि का निर्णय मास्को में किया गया था, जिसे कलकत्ता में कम्यूनिस्ट सम्मेलन द्वारा और कौमिनफार्म की साप्ता-

हिक पत्रिका द्वारा प्रसारित किया गया था।

जब भारत, बर्मा, हिन्देशिया और फिलीफाइन्स की नयी सरकारों ने अपनी नयी राष्ट्रीयता की शक्ति से सुसज्जित हो इन विद्रोहों को कुचल दिया, तो साम्यवादियों ने एशियाई साम्यवाद की नयी धारा का विरोध न कर उसका अपने लाभ के लिए किसी तरह उपयोग करने का निर्णय किया।

स्वाधीन एशियावासी यह सब जानते हैं और उसे आज भी याद करते हैं, किन्तु हमारे युग के भ्रान्तिपूर्ण वातावरण में समय उनकी स्मृति की तीव्रता को नष्ट कर रहा ह। इस पतन की अवधि मे साम्यवादी उन लोगों के विचारों तथा उद्देश्यों के साथ मैत्री करने के लिए बहुत सतर्क हैं, जिन्हें वे अपने पक्ष में करना चाहते हैं।

यह अजीब बात है कि जो साम्यवादी आर्थिक निर्णयवाद के प्रति समर्पित समझे जाते हैं, उन्होंने समस्त औपनिवेशिक जगत में अपने राजनीतिक आन्दोलनों में बड़ी चतुराई से अनार्थिक तत्वों का उपयोग किया। दूसरी ओर, अमरीकी नीति ने सभी महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथा राजनीतिक वास्तविकताओं को, ऐसा प्रतीत होता है कि, बहुत कम समझा है।

इस प्रकार, संयुक्तराष्ट्र संघ की वृहत्सभा और ट्रस्टीशिप कौंसिल में, जहाँ अनेक अवसरों पर विश्व का ध्यान औपनिवेशिक समस्याओं पर केन्द्रित हुआ है, संयुक्त राज्य अमरीका ने एशिया और अफ्रीकावासियों के निर्णयों में तुलनात्मक दृष्टि से अपनी कमजोरी का प्रदर्शन किया। उदाहरण-स्वरूप, १९५४ में साइप्रस, मोरक्को, ट्यूनीशिया और डच के पश्चिमी न्यू गिनी (इरियन) की औपनिवेशिक समस्याओं को संयुक्तराष्ट्र की वृहत्सभा में विचार के लिए प्रस्तुत किया गया। अधिकांश भूतपूर्व औपनिवेशिक अरब और दक्षिणी अमरीकी राष्ट्रों के विचारों के विरुद्ध अमरीकी प्रतिनिधिमण्डल ने अनेक कारणों से वृहत्सभा के वादविवाद में इन अभी भी परतन्त्र राष्ट्रों के दावों का सफलतापूर्वक विरोध किया। सिनेटर वाल्टर जार्ज ने हमें जुलाई, १९५५ में आगाह करते हुए कहा था, "ऐसे कार्यों ने प्रायः अमरीकी संयुक्त-राज्य को उपनिवेशवाद के पक्ष में ही प्रदर्शित किया ह।"

सोवियत संघ संयुक्तराष्ट्र में उपनिवेशवाद का सबसे जोरदार विरोधी रहा है। १९२० के दशक के प्रारम्भ से ही सभी अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों में सोवियत प्रतिनिधियों ने रूस को उपनिवेशवाद-विरोधी पक्ष से निरन्तर संलग्न कर रखा है।

बाण्डुंग के अनेक अफ्रीकी प्रतिनिधियों ने पूर्वी योरोपीय देशों के रेडियो-स्टेशनों से प्रसारित चतुर साम्यवादी वार्ताओं को अवश्य सुना होगा, जैसा कि १९५५ की सर्दियों में मैंने भी अफ्रीका में सुना था, जो औपनिवेशिक अफ्रीका में अनेक भाषाओं में प्रकट होती थीं। फिलहाल, इन रेडियो-प्रसारों के विशेष लक्ष्य फ्रान्सीसी उत्तरी अफ्रीका के अरब थे; परन्तु विस्तार और प्रभाव में वे और भी बढ़ सकते हैं। यद्यपि रूसी स्वयं नये उपनिवेशवाद के आरोप से मुक्त नहीं हैं, तथापि हमारे सूचना-कार्यक्रम में इस मसले पर उन्हें कोई प्रभावशाली चुनौती नहीं दी गयी है। इसने उन्हें अबाध गति से उपनिवेश-वाद के विरोधी पक्ष का प्रभावपूर्ण ढंग से नेतृत्व करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया है।

योरोपीय ढंग के उपनिवेशवाद के सुदृढ़ विरोध के साथ संलग्न है मास्को की जातिवाद-विरोधी नीति। उदाहरण के लिए, जब यह प्रश्न उठा कि दक्षिणी अफ्रीका के संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ असहयोग के बावजूद, दक्षिण अफ्रीका की जातीय स्थिति की जाँच सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्रीय तीन व्यक्तियों का पर्यवेक्षण आयोग जारी रखा जाय या नहीं, तब सोवियत गुट ने एशियाई और अफ्रीकी देशों के प्रस्ताव का समर्थन किया।

ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड ने विरोध किया और संयुक्त-राज्य अमरीका ने मत नहीं दिया। हमने आयोग की प्रथम रिपोर्ट का इस आधार पर विरोध किया कि उसने सोवियत संघ के इस दिखाऊ दावे को स्वीकार कर लिया था कि उसने जातिगत भेदभाव पर प्रतिबंध लगा दिया है; परन्तु इससे उस अर्ध-विकसित जगत को संन्तोष नहीं हुआ, जो अफ्रीका के जातिवाद से सम्बद्ध था न कि रूस के।

५ अप्रैल, १९५५ को 'इण्डियन एक्सप्रेस' ने कहा, 'यदि रूस अथवा चीन में अपनी राय के लिए लोगों को दबाना अनुचित है, तो अफ्रीका में अपने वर्ण के लिए लोगों को दबाना और भी बुरा है...। सच तो यह है कि पश्चिमी शक्तियाँ साम्यवाद के भय से आक्रान्त हैं और जातिवाद के साथ अपने कुचक्र से वे स्वतंन्त्रता के शत्रुओं को महान नैतिक लाभ पहुँचा रही हैं।'

इसके अतिरिक्त मास्को ने जातीय समानता के प्रश्न पर अपने अच्छे आलेख के प्रति विश्व को विश्वास दिलाने में सफलता प्राप्त की है। यह यातना की समानता हो सकती है, और अत्याचार की समानता हो सकती है, परन्तु कम से कम, क्रूर सेमेटिक धर्म-विरोधी स्तालिन के अन्तिम दिनों तक और

युद्ध के बाद कुछ राष्ट्रीय गुटों के समाप्त कर दिये जाने तक, रूस अपेक्षाकृत व्यवस्थित उत्पीड़न अथवा जातीयता के आधार पर भेदभाव से मुक्त था।

इस मसले पर साम्यवादी विश्व-आन्दोलन साम्यवादी चीन के उद्भव के कारण भली भाँति सुरक्षित हो गया है, क्योंकि अब संसार में सबसे बड़ा साम्यवादी देश एक 'सवर्ण' एशियाई देश है। चू को बाण्डुंग में कदाचित् सबसे अधिक सहायता इसी बात से मिली कि वह भी एक साथी एशियाई देश था।

इस लाभ की स्थिति को उस शंका से भली भाँति नापा जा सकता है, जिसका सामना एक अमरीकी को अपने ही देश में बरते जाने वाले जातीय भेदभाव के कारण करना पड़ता है। जब मैं भारत में था, तब बार-बार मुझसे यही प्रश्न पूछा जाता था कि क्या हमने जापान पर इसीलिए अणुबम फेंका था कि वे 'पीले' थे और हमने जर्मनी पर इसीलिए अणुबम नहीं फेंका कि वे 'गोरे' थे? इस प्रश्न पर उनकी शंका का कोई भी स्पष्टीकरण समाधान मैं न कर सका।

आगे चल कर भविष्य में, अमरीका में इस जातीय भेदभाव के निराकरण में हमारी प्रगति का समस्त विश्व पर व्यापक प्रभाव पड़ेगा। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि हाल के वर्षों में अमरीकी परराष्ट्र नीति का अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रमाणपत्र, 'व्हाइट हाउस' अथवा विदेशविभाग से नहीं निकला, प्रत्युत संयुक्त-राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को सुनाते हुए मुख्य न्यायाधीश ने संतुलित शब्दों में कहा था कि संविधान द्वारा सार्वजनिक स्कूलों में जातीय पृथक्करण निषिद्ध है।

एशिया और अफ्रीका की औद्योगिक विकास की अभिलाषा को साम्यवाद कदाचित् सबसे अधिक प्रभावित करता है। एक महान औद्योगिक शक्ति के रूप में रूस का अभ्युदय, जो दो ही पीढ़ियों के साम्यवादी विकास के बाद समस्त अटलांटिक क्षेत्र को सशंकित कर सकने की क्षमता रखता है, एशिया की कल्पना को उत्तेजित कर देता है। यदि चीन किसान-संगठन और खाद्योत्पादन की विकट समस्या को हल करने में सफल हो जाता है और तेजी से उद्योगीकरण की दिशा में बढ़ता है, तो साथी एशियाई राष्ट्र होने के कारण उसका प्रभाव और भी अधिक आकर्षक होगा।

× × ×

जबकि बाण्डुंग में उपस्थित अधिकांश राष्ट्रों ने साम्यवाद और चीन के

इन विभिन्न आकर्पणों को अस्वीकार कर दिया था, उन्हें मालूम था कि प्रभाव की वास्तविक शक्ति का प्रयोग न तो एशिया और अफ्रीका के नेताओं पर, और न प्राय: भूखे मजदूरों और किसानों पर हो रहा था, वल्कि मुख्यत: युवकों पर और कभी-कभी हताश वुद्धिजीवियों पर हो रहा था, जो अनिवार्यत: क्रान्तिकारी नेता होते आये हैं।

एक युवक विद्यार्थी पर, जो पश्चिमी प्रभाव के उदार कला-विश्वविद्यालय से ग्रेजुएट होकर दरिद्रता के जगत में प्रवेश करता है, जहाँ प्राय: उसे कोई काम नहीं मिलता, साम्यवाद का विशेप प्रभाव है। यह आज के अर्धविकसित समाज का एक अशुभ रूप ह। शताब्दियों तक एशिया और अफ्रीका के नवयुवकों ने विना किसी मीन-मेख के पुरानी परम्पराओं को स्वीकार कर लिया। प्राचीन परिवार-पद्धतियाँ, कवीलों के रीतिरिवाज और धार्मिक आदर्शों ने विचारों, कार्यो और अवसरों की सीमाएँ निर्धारित कर दी थीं। इन स्थिर और जकड़े हुए समाजों में पश्चिमी प्रजातंत्र के विचार तथा आदर्श और व्यक्तिवाद प्रवल प्रभंजन की भाँति आये।

ईसाई धर्मप्रचारक अफ्रीका भर में फैल गये और उन्होंने दो करोड़ लोगों का धर्म-परिवर्त्तन किया। योरोप के कालेज-प्रोफसरों ने भारत और दक्षिण-पूर्वी एशिया की यात्रा की। केपटाऊन से शंघाई तक के हजारों धनाढ्य लोगों के पुत्रों ने पश्चिमी शिक्षा के लिए योरोप और अमरीका की लम्वी यात्रा की।

वहाँ इन नवयुवकों को इनके शिक्षकों ने समझाया कि व्यक्ति ही सवसे अधिक महत्वपूर्ण होता है और उसको स्वतंत्रापूर्वक अपने लिए सोचने-विचारन, कार्य करने तथा अपनी शक्ति के अनुसार आगे वढ़ने का अधिकार है। एशिया और अफ्रीका में जीवन के इन अत्यावश्यक सिद्धान्तों ने, जिन्हें पश्चिम ने स्वीकार किया था, क्रान्तिकारी प्रभाव उत्पन्न किये।

परन्तु इन नवयुवकों ने, वड़े उत्साह के साथ पश्चिम के नये उत्तेजक विचारों को स्वीकार करने के वाद, भय के साथ देखा कि योरोप और अमरीका के वाहर अधिकांश योरोपवासी इन विचारों को अपनी निश्चित मर्यादाओं के भीतर ही लागू होने देना चाहते थे। एशिया और अफ्रीका की औपनिवेशिक दुनिया में इन मर्यादाओं की परिभापा वर्ण, जाति तथा राष्ट्रीय मूल के अर्थ में की जाती थी।

चूँकि इस भेदभाव ने उन्हीं उपदेशों का खण्डन किया, जो अपनी जड़ जम

चुके थे, इसलिए इसका परिणाम निराशा और क्षोभ के रूप में प्रकट हुआ। अधिकांश युवक एशिया और अफ्रीकावासियों की दृष्टि में इसका अर्थ यह हुआ कि योरोप और अमरीका ने भी अपनी लोकतांत्रिक क्रान्ति का तिरस्कार कर दिया है।

इनमें से अधिकांश नवयुवकों ने आर्थिक अवसर की कठोर मर्यादाओं का सामना किया। उनमें से अनेक आदर्शवादी और देशसेवा के लिए उत्सुक थे और अपने चतुर्दिक भयंकर दरिद्रता को देख कर काँप उठे थे तथा उसका हृदय से उपचार करना चाहते थे। उनको एक साम्यवादी आन्दोलनकारी, हमारे परिचित व्यंगचित्रों की भाँति, हाथ में काले साँप के कोड़े के साथ स्वेच्छाचारी पिशाच के रूप में नहीं दिखाई देता, बल्कि प्रायः एक उत्सर्गी व्यक्ति जान पड़ता है, जो उनके लिए मानवता की सक्रिय संगठित सेवा का उज्ज्वल साधन प्रस्तुत करता है।

इस नये प्रकार के अनुशासन में अनेक युवक आदर्शवादी एशियाई, कम से कम कुछ समय के लिए, सुरक्षा और उद्देश्य का सन्तोषप्रद भाव प्राप्त करते हैं। दल उनको बताता है कि उन्हें किसे पसन्द करना है, किससे घृणा करनी है और सर्वांगीण मार्क्सवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत क्या करना है। युवक साम्यवादी उस विशाल आन्दोलन में अपनी पीढ़ी के लोगों के साथ-साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करने की महत्ता को शीघ्र समझता है, जिसका उद्देश्य एक संयुक्त वर्गहीन जगत का निर्माण करना है।

वह पढ़ता है कि लेनिन ने एक बार कहा था, "हम एक सुदृढ़ टोली में, एक दूसरे का कस के हाथ पकड़े कठिन मार्ग पर चल रहे हैं।" उसको बार-बार याद दिलायी जाती है कि इस समय उसके देश में साम्यवाद की अन्तिम विजय का रूप चाहे कितना भी अंधकारपूर्ण क्यों न दिखाई देता हो, रूस में १९०६ मे और चीन में १९२७ में साम्यवादी क्रान्ति का भविष्य इससे भी कम आशाप्रद था।

एशिया के नवयुवकों को साम्यवादी आन्दोलनों में जो सबसे अधिक आकर्षक वस्तु प्रतीत होती है, वह यह है कि इसके नेता अपने विचारों के दृढ़ और एकदम निःस्वार्थी व्यक्ति प्रतीत होते हैं। संयुक्तराज्य अमरीका, कनाड़ा, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड और ब्रिटेन जसे ईमानदारी के साथ शासित देशों में यह शायद ही किसी व्यक्ति को प्रभावित कर सकता है, परन्तु एशिया में, जहाँ इतना अधिक भ्रष्टाचार और अमीरों द्वारा गरीबों का दुरुपयोग है, इसका प्रभाव प्रायः

विस्फोटक ही होता है।

हिन्दचीन में जोसेफ एल्सोप ने लिखा, 'मैं असाम्यवादियों में साम्यवादियों द्वारा प्रेरित नैतिक उत्साह और किसानों के प्रवल समर्थन से सबसे अधिक प्रभावित हुआ था।' हजारों आत्मत्यागी और निःस्वार्थी नेताओं, उद्देश्य के लिए वलिदान और प्राणोत्सर्ग की उनकी इच्छा, कम्यूनिस्ट क्षेत्र की आर्थिक व्यवस्था, कार्यकुशलता और नैतिक एकता तथा फ्रांसीसी अधिकृत सैगॉव की 'अराजकता और भ्रष्टता' के वीच के अन्तर के वारे में उन्होंने वहुत-कुछ लिखा।

उत्साहवर्द्धक आदर्शवाद के प्रारम्भिक काल के उपरान्त, युवक साम्यवादी की आँखें प्रायः खुल जाती हैं। वह अपने को पारिवारिक जीवन, अपने दल अथवा धर्म की निष्ठाओं तथा परम्परागत नैतिक मूल्यों के दवाव में पाता है। उसे उन भव्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए धोखेवाजी और हिंसा को उचित साधनों के रूप में अपनाने के लिए कहा जाता है, जिन्होंने सर्वप्रथम उन्हें साम्यवाद की ओर खींचा था। कभी वह इस सामञ्जस्य में सफल होता है और कभी नहीं। उनमें से वहुतरे अन्ततोगत्वा साम्यवादी सिद्धान्त त्याग देते हैं और उनकी स्थिति वड़ी दयनीय हो जाती है। उन्होंने समाज को चुनौती दी है और वे साधारण जीवन में सुखी नहीं रह सकते तथा उन्होंने वह भावुकतापूर्ण सुरक्षा भी खो दी है, जो कभी साम्यवादी दल द्वारा प्रदान की गयी थी।

फिर भी, वाण्डुंग में प्रतिनिधित्व प्राप्त असाम्यवादी राष्ट्र 'भ्रमनिवारण' की इस प्रक्रिया पर निर्भर नहीं रह सकते थे; वल्कि वे अपने देशों में साम्यवाद को एक वड़ी आपत्ति के रूप में वढ़ने से रोकने के लिए प्रयत्नशील थे। तथापि साम्यवादी क्रान्तिकारी शक्ति के वावजूद, वे एक ठोस वात से यह अनुभव करने के लिए प्रोत्साहित होते हैं कि, एशिया और अफ्रीका के नये राष्ट्रों को संभव है, अपने भाग्यनिर्माण का अवसर प्राप्त हो।

इसके सैद्धान्तिक प्रभाव की शक्ति और इसके अनेक नेताओं की असाधारण योग्यताओं के वावजूद, विश्व भर में साम्यवाद चालीस वर्षों में दो में से केवल एक स्थिति में सफल हुआ है।

प्रथम तो उन दुर्वल और विभाजित राष्ट्रों का मामला है जो या तो लाल सेना के आधिपत्य में हैं अथवा उसकी सीमाओं पर शक्तिशाली लाल सेनाएँ हैं। इस प्रकार १९४५ और १९४८ के वीच सुदक्ष राजनीतिक कूटनीति से युक्त

सैनिक कार्रवाई के इस भय ने, मास्को को युद्ध-पीड़ित वालकन, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड को हथिया लेने के योग्य वनाया।

जिन अन्य स्थितियों में साम्यवाद सफल हुआ है, वे हैं एक प्रवल स्वदेशी साम्यवादी नेतृत्व की आवश्यकता, जो अन्याय, दरिद्रता, भ्रष्टाचार और निराशा में जनता को अनुयायी वनाने के लिए मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रयोग के सम्वन्ध में काफी लचकदार हो और इन वुराइयों के निराकरण के लिए पूर्ण प्रजातंत्रात्मक क्रान्ति को कार्यान्वित करने में असाम्यवादी संस्थाओं की असफलता। जैसा कि हम देख चुके हैं, यह एक प्रणाली थी, जिसका विकास लेनिन के अवीन रूस में, माओ के अवीन चीन में और कुछ हद तक हो ची मिन्ह के अवीन हिन्द-चीन में भी हुआ।

प्रथम प्रकार की स्थितियाँ अफ्रीका में नहीं हैं; एशिया में केवल कोरिया, हिन्दचीन, वर्मा, तुर्की, स्याम, ईरान, नैपाल और अफगानिस्तान में ही हैं। दो असाम्यवादी राष्ट्र, भारत और जापान, जो सवसे अविक शक्तिशाली हैं, विकट पर्वत श्रणियों अथवा सामुद्रिक सीमाओं से पृथक हो गये हैं।

जहाँ तक दूसरी प्रकार की स्थितियों का सम्वन्ध है, प्रवल और सुनियंत्रित स्वदेशी साम्यवादी आन्दोलन वियतनाम के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं है। भारत, फिलीपाइन्स, वर्मा, हिन्देशिया और जापान में अविकांश साम्यवादी नेता क्रान्तिकारी यांत्रिक से अविक नहीं हैं, जिनकी विचारवारा मास्को और पेकिंग के 'वर्मोपदेश' के अनुसार विभिन्न अर्थों में संचालित होती रहती ह। यही एक प्रमुख कारण था कि १९५५ में भारत का साम्यवादी दल राजनीतिक दिवालियेपन की स्थिति में पहुँचा प्रतीत होता था।

जव तक यह कठोर नियंत्रण रहता है, तव तक एक असाघारण नेता के उद्भव की संभावना वहुत ही कम रहेगी, जो जनता में अपना व्यापक आघार वना ले। लेनिन और माओ दोनों में से कोई भी सफल नहीं हो सकता था, यदि उन्होंने विदेशी राजवानियों में हजारों मील दूर वैठे विचारकों के आदेशों के पालन की आवश्यकता समझी होती।

× × ×

साम्यवादी सफलता के मार्ग में दूसरी वावा एशिया के साम्यवादी आन्दोलन के नेतृत्व के लिए चीन और रूस में वढ़ती हुई स्पर्द्धा हो सकती है। रूस संगठन और सावनों की दृष्टि से अविक अच्छी स्थिति में है। चीनियों को यह लाभ है कि वे एशियावासियों से एशियावासी की भाँति वात कर सकते हैं।

चीन को अपनी क्रान्ति के ग्रामीण आधार पर एक और लाभ है। जहाँ कहीं भी भूमि कुछ ही लोगों के पास है, जहाँ कहीं भी लगान अधिक है और महाजन वहुत लाभ उठा रहे हैं, वहीं भयानक घृणा है। उसका शक्तिशाली संगठन किया जा सकता है, जसा कि माओ ने चीन में करके दिखा दिया।

एशिया में साम्यवादी आन्दोलन के नेतृत्व में रूस की सवसे वड़ी भूल यह थी कि उसन चीन में वोरोडीन की विफलता से शिक्षा नहीं ग्रहण की और शहर के नगण्य सर्वहारा पर उसे आधारित करने की हठधर्मी जारी रखी। १९४९ के अन्त तक, सोवियत नियंत्रित नियमवद्ध कोमिन्फार्म ने अनिच्छा से माओत्सेतुंग की ग्रामीण पद्धति को एशिया के लिए एक आदर्श के रूप में स्वीकार किया।

१९४९ में चीन में माओ की विजय के उपरान्त एशिया के साम्यवादी मामलों में पेकिंग का प्रभाव इतनी सावधानी के साथ वढ़ता रहा है कि १९५५ तक एशिया और अफ्रीका में साम्यवादी दलों का संगठन और निर्देशन शक्तिशाली संघर्ष का स्रोत वन गया था। मास्को में वाण्डुंग से भेजे गये प्रमुख अरव, अफ्रीकी तथा एशियाई नेताओं के साथ चू एन ली की सच्ची वातचीत के चित्रों की मिश्रित प्रतिक्रियाएँ हुई होंगी।

परन्तु यह प्रायः नहीं कहा जा सकता कि एशिया में साम्यवाद का भविष्य, वाण्डुंग में उपस्थित असाम्यवादी राष्ट्रों की अपनी पूर्ण प्रजातंत्रात्मक क्रान्ति की प्रतिज्ञा को कार्यान्वित करने की योग्यता की अपेक्षा, मास्को या पेकिंग के निर्णयों पर कम निर्भर करेगा।

जो देश पश्चिमी औपनिवेशिक परतंत्रता से अपने को मुक्त कर स्वतंत्रता के साथ सुधारों और प्रजातंत्रात्मक क्रान्ति की रचना में आगे वढ़ता जा रहा है, जैसा कि वर्मा के हाल के इतिहास से स्पष्ट है और जो हिन्दचीन के अनुभवों के विलकुल विपरीत है, वहाँ साम्यवाद के लिए वहुत कम अवसर है। एशिया और अफ्रीका के भविष्य का इतिहास और कदाचित् इस प्रकार समस्त संसार का इतिहास इन दो दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्रों की विभिन्न कहानियों में पढ़ा जा सकता है।

ऊपरी दृष्टि से देखा जाय तो उनमें वहुत कुछ एक-सा मिलेगा। प्राकृतिक साधन-स्रोतों में—पर्याप्त वर्षा, अच्छी भूमि और निर्यात के लिए अतिरिक्त चावल—दोनों ही सम्पन्न हैं। इनमें से किसी भी राष्ट्र में आवादी अधिक नहीं है। फ्रान्स, वैलजियम और हौलण्ड के सम्मिलित क्षेत्र से भी वड़े वर्मा में

१ करोड़ ९० लाख की आवादी है। वियतनाम लगभग इटली के वरावर है। उसकी आवादी २ करोड़ ४० लाख है।

ये समताएँ केवल प्राकृतिक नहीं है। इन राष्ट्रों में से प्रत्येक का औपनिवेशिक अधिकार का लम्वा इतिहास है। वियतनाम पर फ्रान्सीसी सत्ता १९ वीं शताब्दी के मध्य में दृढ़ता के साथ स्थापित हुई थी और व्रिटेन ने १८८६ में वर्मा की वची खुची स्वतंत्रता का भी सफ़ाया कर डाला। द्वितीय विश्व-युद्ध में प्रत्येक राष्ट्र पर जापानियों का अधिकार हो गया।

दोनों ही देशों में युद्ध-काल में जापान-विरोधी गुरिल्ला आन्दोलन विकसित हुए, जिनको व्रिटिश और अमरीकी समर्थन प्राप्त था। गुरिल्लों में साम्यवादी नेता प्रमुख थे। जव अन्त में जापानियों को खदेड़ बाहर किया गया, तव दोनों देशों में पूर्ण स्वतंत्रता के लिए एक-सी व्यापक माँग हुई।

परन्तु समानताओं का यहीं अन्त हो जाता है। वियतनाम में और लाओस तथा कम्वोडिया के दो संयुक्त राज्यों में, जैसा कि हम देख चुके हैं, फ्रान्सीसी हिचकते-झिझकते रहे, जिसके परिणामस्वरूप आठ वर्षीय विनाशकारी गृह-युद्ध और जवर्दस्त सैनिक पतन हुआ और एक विभाजित देश की अशान्तिपूर्ण विराम-सन्धि हुई।

१९४६ में, व्रिटेन के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह के साथ वर्मा भी गृह-युद्ध के किनारे पर था; परन्तु १९४७ में वर्मा की उठती हुई राष्ट्रीय भावना को दवाने के लिए सेना भेजने के वजाय व्रिटेन ने वुद्धिमानी के साथ एशिया की क्रान्ति को स्वीकार किया और पूर्णरूपेण हट जाने का समझौता किया।

१९४९ में यद्यपि अंग्रेजों के हट जाने के कारण साम्यवादी इस वात से निराश थे कि वे "उपनिवेशवाद का नाश हो" के नारों से वंचित रह गये, जिसके लिए फ्रान्सीसियों ने वियतनाम में अच्छा अवसर दिया, तथापि उन्होंने स्वतंत्र वर्मा की नवजात सरकार के विरुद्ध खुला सशस्त्र विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। १९४९ के उपरान्त उनका अनुसरण करेन्स ने किया, जो वर्मा की पूर्वी सीमा के जवर्दस्त लड़ाकू लोग थे और एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना के लिए कृतसंकल्प थे । १९५१ तक समस्त वर्मा में युद्ध फल गया और स्वतंत्र वर्मी गणराज्य का भविष्य सचमुच अन्धकारमय दिखाई देने लगा।

उसी वर्ष नयी सरकार की कठिनाइयाँ उस समय और भी वढ़ गयीं, जव आठ या दस हजार राष्ट्रवादी चीनी सेना न, जिसे चीनी साम्यवादियों ने अपनी सीमा से पार वर्मा की उत्तरी सीमा के शान प्रान्त में खदेड़ दिया था, राष्ट्र-

व्यापी उपद्रव में सम्मिलित होने का निश्चय किया।

१९५१ के अन्त में वर्मा की नयी सरकार की सैनिक दुर्बलता का अनुमान लगा कर अमरीकी सरकार ने यह समझ लिया था कि, वर्मा का पतन होने ही वाला है। उसी तरह यह विश्वास करके कि सरकार अन्तिम साँस ले रही है, चीन की राष्ट्रवादी सरकार ने जनरल ली मी के राष्ट्रवादी विद्रोहियों को सहायता पहुँचाने के लिए, फार्मोसा से वायुयानों द्वारा अमरीकी सामग्री भेजना शुरू कर दिया और इस प्रकार युद्धरत नव गणराज्य की समस्याओं को और भी उलझा दिया।

फिर भी, पेकिंग से नई दिल्ली पहुँचने वाली खबरों के अनुसार चीन की साम्यवादी सरकार ने, एशिया में शक्ति के वास्तविक स्रोतों को समझकर लगभग इसी समय वर्मा की साम्यवादी क्रान्ति को असफल मान लिया। वर्मा के नये गणराज्य की स्पष्ट दुर्बल स्थिति के बावजूद, वर्मा में साम्यवादियों की सहायता के लिए, जहाँ तक ज्ञात है, चीन ने किसी प्रकार की सनिक सामग्री और शस्त्रास्त्र नहीं भेजे। पेकिंग-सरकार ने स्पष्टतः यह निर्णय किया कि इस प्रकार का हस्तक्षेप स्वतंत्र वर्मा को यह कहने का एक मौका देगा कि, साम्यवादी विद्रोहियों को चीन से आर्थिक सहायता मिल रही है और इस प्रकार विदेशी प्रभुत्व पुराने भय को फिर से जागृत कर देगा।

धीरे-धीरे प्रधानमंत्री ऊ नू तथा उनके साथियों ने मिलकर अपेक्षाकृत ठोस आधार पर सरकार की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की। राजनीतिक तथा आर्थिक सुधारों के समर्थन से, जो ठीक समय पर और ईमानदारी से प्रारम्भ किये गये, साम्यवादियों के पैरों तले जमीन खिसक गयी।

१९५४ में आत्मसमर्पण करने वाले अन्तिम मुख्य साम्यवादी नेता ने स्पष्टतः कहा, "ऊ नू ने उसी ग्राम-कार्यक्रम को कार्यान्वित किया, जिसके लिए हम साम्यवादी वायदे करते आ रहे थे और इसीलिए हमारे सम्मुख जनता का समर्थन प्राप्त करने का कोई मार्ग ही नहीं था।"

यह कहानी एशिया में स्वदेशी राष्ट्रवाद की शक्ति को समझने की साम्यवादियों और पश्चिमी लोगों की योग्यता के अन्तर को प्रकट करती है। चीनी साम्यवादियों ने वर्मा और वियतनाम के लोगों की राष्ट्रवादी भावना की शक्ति को स्वीकार करते हुए, स्वतंत्र वर्मा की स्वतंत्र लोकप्रिय सरकार का विरोध नहीं किया, परन्तु फ्रान्सीसियों के विरुद्ध वियतनामी राष्ट्रीय विद्रोह का विश्वास के साथ समर्थन किया। अमरीका, स्पष्टरूप से राष्ट्रीय भावना

की शक्ति को न समझते हुए, वर्मा के सम्वंध में इतना निराशावादी था कि, जिस समय वर्मा अपने जीवन-संग्राम में विजयी हो रहा था, उस समय वह उसके भविष्य के सम्बन्ध में निराश हो गया था।

मार्च, १९५५ तक, जव मैं वर्मा की राजवानी रंगून गया था, नौ महीने तक किसी भी अमरीकी राजदूत ने वहाँ पर अपना प्रमाण-पत्र नहीं दिया। इन वर्षो में, जव कि हम वर्मा की अवहेलना कर रहे थे, हम पास ही में मरणासन्न फ्रान्सीसी औपनिवेशिक शासन को किनारे लगाने के प्रयत्नों में लगभग ३ अरव डालर खर्च कर रहे थे।

वाण्डुंग में जो नेता एकत्र हुए थे, इनके दिमागों में वर्मा और हिन्दचीन का अन्तर निस्सन्देह विल्कुल ताजा था। वे जानते थे कि यदि उनके देश भी वर्मा की भाँति शक्तिशाली प्रजातंत्रात्मक विकास और सुधारों की ओर अग्रसर हों, तो उन्हें साम्यवाद द्वारा वहुत कम भय होगा।

वाण्डुंग में साम्यवाद की छाया इतनी अविक नहीं थी, जितना असाम्यवादी देशों में इस वात का भय था कि इस चुनौती को स्वीकार करने में उनमें साहस और शक्ति का अभाव हो सकता है। इस भय के साथ कुछ इस वात की चिन्ता भी थी कि अमरीका और पश्चिम, चीन में माओ की विजय से शिक्षा न ग्रहण कर, अव शायद वियतनाम के उतने ही विनाशकारी सवक और उत्तरी अफ्रीका के वढ़ते हुए संकट की उपेक्षा करें अयवा उसका गलत अर्थ लगायें।

राजनीतिक और आर्थिक सहायता के रूप में प्रत्येक व्यक्ति मानता था कि अमरीका का निर्णय यह निश्चित करन में अन्तिम हो सकता है कि दरिद्रता, अज्ञान, रोग और साम्यवाद की भयानक वावाओं के सामने प्रजातंत्रात्मक मार्ग प्रशस्त हो सकेगा या नहीं। लंका के प्रवान मंत्री, सर जान कोटलावाला ने कहा, "एशिया में जो मौलिक स्पर्वा चल रही है, वह चीन और स्वतंत्र एशिया में आर्थिक विकास की है।" उन्होंने यह भी कहा कि एशिया में आर्थिक विकास को लगभग ध्वनितरंगों की तीव्रतम गति से वढ़ाना होगा।

उन्होंने आगे कहा, "यदि विश्व के अविक वनी देश एशिया के दरिद्र देशों की सहायता कर शीघ्रातिशीघ्र उन्हें फिर से अपने पैरों पर नहीं खड़ा कर देते तो चीन का दृश्य और उदाहरण भयानक एवं विनाशकारी सिद्ध होगा।"

परन्तु सर जान निश्चय ही इस वात से सहमत होंगे कि इसकी कसौटी यह नहीं कि अटलांटिक राष्ट्र उसका प्रत्युत्तर किस प्रकार देते हैं, वल्कि यह है कि स्वयं एशिया और अफ्रीका के लोग किस तरह प्रत्युत्तर देते हैं। यदि स्वतंत्र

एशिया और अफ्रीका के नेता और पश्चिम के उनके साथी अपने देशों की आवश्यकताओं तथा आशाओं के अनुकूल तत्पर हो सकते, तो यह समय प्रजातंत्र का 'वाटरलू' न होकर 'वेली फोर्ज' सिद्ध हुआ होता।

बाण्डुंग में प्रधान-मंत्री नेहरू ने अपने भाषण के अन्त में कहा, "हमें कुछ करने का अवसर प्राप्त हुआ है और हमें शीघ्र ही कुछ करना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम लोग मुर्झा जायेंगे, ठोकरें खायेंगे और ऐसा गिरेंगे कि बहुत समय तक उठ नहीं पायेंगे।"

बाण्डुंग-प्रतिनिधियों ने यह तय किया कि एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों की दूसरी बैठक होनी चाहिए, जिसका आयोजन बर्मा, लंका, भारत, हिन्देशिया और पाकिस्तान करें।

जब यह अगली बैठक होगी, तब हम यही आशा कर सकते हैं कि अमरीका इस आधे विश्व के विशाल क्षेत्र की आशाओं और आशंकाओं के निकट सम्पर्क में रहेगा। 'उदार उदासीनता' या 'अमत्रीपूर्ण भय' अमरीका को शोभा नहीं देता, जब कि एक अरब से अधिक लोग अपने-अपने ढंग से हमारे गणराज्य के युद्ध-गानों की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं।

सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए राष्ट्रपति सुकर्ण ने अमरीकी क्रान्ति को एशिया और अफ्रीका की वर्तमान क्रान्तियों के अगुआ के रूप में बताया। बीसवीं शताब्दी की इन क्रान्तियों को समझने के लिए, जहाँ से उसने शुरू किया, वहीं से हमे भी शुरू करना चाहिए और यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि कोन्कोर्ड के एक मामूली पुल के विस्फोट विश्व भर में क्यों सुनाई दिये ? ऐसा करने के लिए बाण्डुंग के 'स्वराज्य भवन' से हमे फिलाडेलफिया के 'स्वराज्य भवन' की ओर दृश्य को बदलना होगा।

छठवाँ भाग

जैफर्सन, विल्सन और हेनरी फोर्ड की क्रान्ति—

कुछ ऐसे शब्द हैं,
हमारे खुद के तथा औरों के,
जिनका हमने प्रयोग किया है,
जिनके हम आदी हैं,
जिनको हमने सुना है, गाया है
और भुला दिया है....
स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व।
अधिकार और न्याय का,
न हम सौदा करेंगे,
न किसीको इन्कार करेंगे।
इन सत्यों को हम
स्वयंसिद्ध मानते हैं।
मैं तो केवल यही कहता हूँ,
क्या हुआ जो ये शब्द निकल गये?
क्या हुआ जो ये निकल गये,
चले गये और लुप्त हो गये?
उन्हे मँहगे दामों पर विश्वास और भावना से
खरीदा गया था;
उन किसानों, शिक्षकों, मोचियों और मूर्खों के
तिक्त और अज्ञात रक्त से खरीदा गया था,
जिन्होंने प्राचीन शासन
और राजाओं के गर्व का
खण्डन किया था।
इन शब्दों के खरीदने में
बहुत समय लगा था;
इनके खरीदने में
बहुत दर्द और समय लगा था।

स्टीफेन विन्सेन्ट वैनेट

छब्बीसवाँ प्रकरण

मुझे स्वतंत्रता दो या मृत्यु !

एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के अधिकांश भाग में, जहाँ एक अरब से अधिक लोग लगभग असह्य परिस्थितियों में जी रहे हैं, क्रान्ति एक आशा का शब्द है। हम देख चुके हैं कि उनके क्रान्तिकारी उद्देश्यों की कम से कम चार दिशाएँ हैं– स्वतंत्रता की माँग, जाति, धर्म और वर्ण निर्पेक्ष मानवीय-गौरव के लिए आग्रह, बहुमत और अल्पमत दोनों वर्गों के हि के लिए शीघ्र आर्थिक उन्नति और जीवन-यापन के लिए शान्तिपूर्ण स्थिति

ये ही वे विचार हैं, जिन पर अमरीका का निर्माण हुआ था। यदि कभी ऐस दिन आये, जब ये विचार सामान्य अमरीकी को विचित्र और बिल्कुल भि प्रतीत होने लगें, तो वह मानव-स्वतंत्रता के लिए बड़े दुःख का दिन होगा

जिन विचारों ने हमारी क्रान्ति को शक्ति प्रदान की थी, वे अब सारे विश्व में फैल गये हैं। यह हमारे युग की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है। हमारे उ विचारों को ग्रहण करने के लिए कम्यूनिस्टों का निरन्तर प्रयत्नशील होन और साम्यवादी उद्देश्यों के अनुकूल उन्हें तोड़ना-मोड़ना, उनकी प्रचण्ड गतिशीलता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

नेहरू, ऊ नू, मैग्सेसे, नासिर, नक्रूमा और गुलाम मुहम्मद प्रायः जैफर्सन लिंकन और विल्सन की भाषा में ही बोलते हैं। यदि उनके शब्द कभी-कभी हमारे कानों को विचित्र मालूम होते हैं, तो यह हमारे अपने अतीत और जीव के उन कठोर तथ्यों से, जिनसे वे और उनकी जनता संघर्ष कर रही है, हमारी पृथकता का द्योतक है।

३ जुलाई, १९५५ को फिलाडेल्फिया के 'स्वराज्य भवन' में संयुक्त रा अमरीका की यात्रा के समय बर्मा के प्रधानमंत्री ने अपने भाषण में हमें याद दिलाई थी कि बी–५२ अथवा अणु बम की अपेक्षा अमरीकी क्रान्ति के आदर्श अधि विस्फोटक हैं। ऊ नू ने कहा कि विश्व के उन सभी भागों में, जहाँ लोग अत्याचा विदेशी अधीनता अथवा सामन्ती बन्धनों में जीवन व्यतीत कर रहे हैं औ जो अपनी स्वतंत्रता के लिए षड़यंत्र और संघर्ष कर रहे हैं, वे उन शाश्व सिद्धान्तों के नाम पर ऐसा कर रहे है, जिनके लिए हमारी क्रान्ति हुई थी

समस्त विश्व के औपनिवेशिक राष्ट्रों की स्वतंत्रता की घोषणाएँ और संविधान स्वयं हमारे इतिहास के महान प्रमाणपत्रों से लिये गये हैं। १९३० में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की घोषणा में क्रान्तिकारी अमरीकी कांग्रेस की चतुर्थ जुलाई की प्रथम घोषणा में प्रयुक्त जेफर्सन के शब्दों को ही दुहराया गया था।

वर्मा के संविधान में तथा अन्य दर्जनों संविधानों में ये ही शब्द प्रतिध्वनित हो रहे हैं— "हम वर्मा के लोग", "हम भारत के लोग", "हम जापान के लोग", "हम लाईवेरिया कामनवेल्थ के लोग", "हम फिलीपाइन्स के लोग" "हम कोरिया के लोग", "हम लीविया की जनता के प्रतिनिधि. . ."।

स्वतंत्रता और श्रेष्ठतर जीवन की आशा, जो इन शब्दों से प्राप्त होती है, उन एशियाई और अफ्रीकी पुरुषों और महिलाओं के हृदयों में उमड़ रही है, जो अपने स्वतंत्रता-संग्राम में हमारे इतिहास के नारों और युद्ध-घोषों की ओर स्वाभाविक रूप से आकृष्ट हुए हैं। १९४५ में अमरीकी अस्त्रों से सुसज्जित डच सैनिक जव अमरीका में वने हुए शेरमन टैंकों को लेकर वटाविया में, जिसका नाम वाद में वदल कर जकार्ता रखा गया था और जिसे वे वड़ी आशा से "डच ईस्ट इण्डीज" के नाम से पुकारते थे, अपनी औपनिवेशिक सत्ता की स्थापना के लिए धड़धड़ाते हुए पहुँचे, तो उन्हें नगर की दीवालों पर वही विद्रोही नारे लिखे हुए मिले, जिनसे प्रत्येक अमरीकी विद्यार्थी परिचित है—"सभी मानव स्वतंत्र और समान उत्पन्न हुए है। हमें स्वतंत्रता दो या मृत्यु।"

एशिया और अफ्रीका के अभी भी पराधीन तथा नव स्वतंत्र राष्ट्रों के आग्रहपूर्ण तर्कों से यही विचार अमरीकावासियों को सुनायी पड़ रहे हैं कि हम उन आदर्शों पर आज भी अटल हैं, जिनके आधार पर हमारा विकास हुआ था।

स्तालिन भी हमारे शब्दों की शक्ति को जानते थे और उन्होंने उनका उपयोग भी किया था। १९३६ के सोवियत संविधान में, भाषण की स्वतंत्रता, समाचार की स्वतंत्रता और सभा की स्वतंत्रता के अविश्वसनीय वादे दिखायी पड़ते हैं।

इनके अमरीकी रचयिता, इन्हें पुनः अपना कर, इन शब्दों के द्वारा हमारे क्रान्तिकारी अतीत और वर्तमान विश्व-क्रान्ति के वीच सम्वंध स्थापित कर सकते हैं। समस्त विश्व में गूंजने वाले शब्दों, विचारों तथा कार्यों की शक्ति को फिर से ग्रहण करने का प्रयत्न करके और अतीत के प्रति नवीन दृष्टिकोण

अपना कर क्या हम अपनी समझ में वृद्धि नहीं कर सकते ?

हमें कदापि नहीं भूलना चाहिए कि अमरीकी क्रान्ति आधुनिक विश्व की एक साम्राज्यवादी सत्ता के विरुद्ध एक उपनिवेश का प्रथम सफल विद्रोह था। आधे विश्व के लिए २० वीं शताब्दी तक, १७७६ का वह क्रान्तिकारी युग नहीं आया और बहुतों के लिए वह आज भी भविष्य का एक स्वप्न है। आज हम उन विचारों को सुनने और स्वीकार करने के लिए कहाँ तक तैयार हैं, जिन्हें डेढ़ शताब्दी पूर्व 'स्वराज्य-भवन' में लोगों ने स्वयंसिद्ध माना था?

हमने तब कहा था कि मनुष्य के अखण्ड अधिकारों को प्राप्त करने के लिए मानव समाज में शासन की स्थापना की जाती है। शासितों की सहमति से ही उसे उचित अधिकार प्राप्त होते हैं।

हमारी स्वतंत्रता की घोषणा के अनुसार, "जब कभी किसी भी प्रकार की सरकार इन उद्देश्यों की विनाशक हो जाती है, तब उसको बदल देने या समाप्त कर देने का अधिकार जनता को है।" और इन सिद्धान्तों की रक्षा के लिए हमारे पूर्वजों ने अपने जीवन, अपनी सम्पत्ति तथा अपनी पवित्र प्रतिष्ठा की शपथ ग्रहण की थी।

१७८० के मासाचुसेट्स के अधिकार-विधेयक के अनुसार, सरकार की स्थापना जनता के सामान्य कल्याण, सुरक्षा, सम्पन्नता तथा सुख के लिए होती है, न कि किसी एक व्यक्ति, परिवार या वर्ग के लाभ, प्रतिष्ठा अथवा निजी स्वार्थों के लिए। इसलिए अपनी रक्षा, सुरक्षा, सम्पन्नता तथा आनन्द के लिए आवश्यक होने पर जनता को ही सरकार की स्थापना करने और उसमें सुधार, परिवर्तन और आमूल परिवर्त्तन करने का निर्विवाद, अखण्ड और अविभाज्य अधिकार है।

अमरीका के संस्थापकों ने केवल सिद्धान्त की बात नहीं की। जब उन्होंने क्रान्ति की बात कही तो उसे क्रान्ति के रूप में ही समझा भी। वे जानते थे कि जिन अधिकारों की उन्होंने घोषणा की थी, उसका परिणाम यातना और रक्तपात भी हो सकता है। थामस जैफर्सन ने कहा, "उन्हें हथियार उठाने दो। स्वतंत्रता के पौधे को समय-समय पर देशभक्तों और अत्याचारियों के रक्त से सींचना पड़ता है। यह उसकी प्राकृतिक खाद है।"

क्रान्ति के अधिकार के प्रश्न पर हमारे १६ वें राष्ट्राध्यक्ष उतने ही स्पष्ट थे, जितने तीसरे। अब्राहम लिंकन ने कहा, "अपने संस्थानों के सहित यह देश उन लोगों का है, जो इसमें रहते हैं।" जब कभी वे वर्तमान शासन से ऊब

जायेंगे तब वे उसको बदलने के लिए अपन सांविधानिक अधिकार का प्रयोग कर सकेंगे अथवा उसको समाप्त या उखाड़ फेंकने के लिए अपने क्रान्तिकारी अधिकार का प्रयोग कर सकेंगे। लिंकन ने आगे कहा, "यह द्वितीय अधिकार, अत्यन्त पवित्र अधिकार ह। हम आशा और विश्वास करते है कि वह विश्व को मुक्त करने के लिए है।"

अमरीकी क्रान्ति के उन्नायकों की हार्दिक इच्छा थी कि उनकी क्रान्ति से विश्वभर के परतंत्र राष्ट्रों में जागृति पदा हो जाय। बेंजमिन फ्रैंकलिन ने जनता के समक्ष अपने ऐसे नियम निर्धारित किये, जिनसे एक विशाल साम्राज्य को लघुरूप में परिणत किया जा सके। जनरल वाशिंगटन के 'कैम्फायर' के प्रकाश में ढोलक के सिरे पर टामपेन ने लिखा था, "अमरीका में प्रज्ज्वलित एक छोटी सी चिनगारी से ऐसी ज्वाला प्रकट हो गयी है, जो कभी बुझ नहीं सकती।"

यह ज्वाला विदेशों में दिखाई दी और फ्रान्स के 'लफायत' (Lafayette) और पोलैण्ड के 'कोसीयुस्को' जैसे लोग इसकी ओर आकृष्ट हुए। १७७६ से स्वतंत्रता के प्रेमी पुराने विश्व से नवीन विश्व के निर्माण में सहयोग करने के लिए आये। अमरीका ने स्वतंत्रता की गृह-भूमि का दावा करते हुए उनका स्वागत किया।

१७९१ में वाशिंगटन ने अपने प्रथम उद्घाटन-भाषण में कहा, "यह समझना उचित ही है कि स्वतंत्रता की पवित्र अग्नि की रक्षा और गणतंत्री शासन के भाग्य-सूत्र अमरीकी प्रयोग पर अत्यधिक और कदाचित् अन्तिम रूप से अवलम्बित हैं।"

वाशिंगटन के उत्तराधिकारी जान ऐडम्स ने इन शब्दों में उनकी प्रतिध्वनि प्रकट की, "मैं अमरीका की स्थापना को सदैव ही सम्मान और आश्चर्य की भावना के साथ समस्त विश्व के मानव-समाज के पराधीन अंग की मुक्ति के लिए, एक भव्य दृश्य के उद्घाटन और भाग्य-विधान के रूप में मानता हूँ।"

राष्ट्राध्यक्ष के रूप में जेफर्सन ने अपने प्रथम वर्ष में कहा, "मैं इस आशा और विश्वास में आपके साथ हूँ कि हमारी क्रान्ति और उसके परिणामों ने मानव-समाज में जो जिज्ञासापूर्ण उत्तेजना उत्पन्न की है, वह विश्व के बड़े भाग में मानव-समाज की दशा में सुधार करेगी।"

गणराज्य के प्रारम्भिक वर्षों में हमारे प्रथम तीन राष्ट्राध्यक्षों में इस भावना की सीमा नहीं थी। ऐडम्स और जेफर्सन की प्रशंसा में डेनियल वेब्स्टर ने

एक महाद्वीप की महत्वाकांक्षा विश्व-कल्याण की निश्चित भावना के साथ प्रकट की थी। वेब्स्टर ने घोषित किया, "अमरीका में और अमरीका के साथ मानवीय सम्बन्धों में एक नया युग आरम्भ हो रहा है। इस युग की विशेषता है, स्वतंत्र प्रतिनिधि-मूलक सरकार, पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता, जिसमें स्वतंत्र गवेषणा की नव-जागृत अजेय भावना और समाज में ज्ञान का अभूतपूर्व व्यापक प्रसार है।"

वेब्स्टर के समकालीन ऐडवर्ड ऐवरेट ने प्रतिध्वनित किया, "हमारा देश विश्व है और हमारे देशवासी समस्त मानव-जाति।" १८२६ में "स्वतंत्रता" पर अपने प्रसिद्ध व्याख्यान में उन्होंने कहा, "विश्व में सर्वत्र लोकप्रिय शक्ति का एक तत्व है। हमारे ही महाद्वीप के तटों पर जन्म लेकर यह हमारे विकास के साथ विकसित हुआ है और हमारी शक्ति के साथ परिपुष्ट हुआ है। हमारे ही उदाहरण से प्रेरित और पुष्पित एक ही पीढ़ी में तीन आश्चर्यजनक क्रान्तियाँ हुई।" एवरेट का संकेत फ्रान्स, यूनान और दक्षिणी अमरीका की क्रान्तियों की ओर था।

योरोप में 'यथास्थिति' के उद्विग्न संरक्षक अमरीका को निश्चित परिवर्तन की शक्ति मानकर उससे भयभीत थे। आस्ट्रिया के परराष्ट्र-मंत्री मेटरनिक ने शिकायत की, "क्रान्ति जहाँ कहीं भी प्रकट हो, उसको बढ़ावा देकर; जो असफल हो गयी हो, उस पर खेद प्रकट करके; और जो बढ़ती जान पड़े, उसे सहायता पहुँचा कर; अमरीकावासी क्रान्ति के उपासकों को नयी शक्ति प्रदान कर रहे हैं और प्रत्येक षड़यंत्रकारी के साहस को अनुप्राणित कर रहे हैं।"

अन्य क्रान्तियों पर न केवल अमरीकी क्रान्ति का प्रभाव पड़ा, प्रत्युत उन्हें अमरीकी क्रान्तिकारी भी प्राप्त हुए। उनमें से अधिकांश के लिए अमरीका एक स्थान नहीं था, वल्कि एक मानसिक स्थिति था; एक विचार था। बेंजमिन फ्रैंकलिन ने कहा, "जहाँ स्वतंत्रता है, वहीं मेरा देश है।" परन्तु कम उम्रवालों ने टाम पेन के साथ उत्तर दिया, "जहाँ स्वतंत्रता नहीं है, वही हमारा देश है।"

इसी भावना से पेन स्वयं क्रान्ति में सम्मिलित होने के लिए फ्रान्स गया, जो १८७९ में प्रारम्भ हुई थी। बैस्टाइल की घेरेबन्दी के साथ स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के त्रिसूत्र की घोषणा की गयी। अमरीकी क्रान्ति के साथ फ्रान्सीसी क्रान्ति का सम्बन्ध इतना अधिक कहीं नहीं प्रकट हुआ जितना जार्ज वाशिंगटन और टाम पेन को फ्रान्सीसी नागरिकता प्रदान करने के लिए नयी विधान-सभा के कानून से प्रकट हुआ।

परन्तु कम से कम अपने अत्याचारों में फ्रान्सीसी क्रान्ति शीघ्र ही बाद की रूसी क्रान्ति के समान हो गयी।

मेरी एण्टोयनेट की फाँसी से पेन को गहरा धक्का लगा। रोब्सपियर ने संदेह में उसे जेल में बन्द कर दिया था, जहाँ से वह संयोगवश फाँसी के तख्ते पर चढ़ने से बाल-बाल बच गया। अन्य अमरीकियों ने उस प्रबल नास्तिक-वाद से मुंह मोड़ लिया, जिसने नोट्रेडेम को "तर्क के मन्दिर' (टेम्पुल आफ रीजन) की संज्ञा दी और चर्च के आदमियों को उनकी धार्मिक आस्था के लिए यातनाएँ दीं।

शिरच्छेद (गुलोटाइन) के बलपर जब 'नेशनल कनवेन्शन' तानाशाही के रूप में परिणत हो गयी, तब लोगों का उसके विषय में भ्रम दूर होने लगा। अन्त में फ्रान्सीसी क्रान्ति नेपोलियन के हाथों में आ गयी और अपने मौलिक प्रजातंत्रात्मक प्रारम्भों से ऐसे उद्देश्यों की ओर मुड़ गयी जो और भी अधिक असंगत थे।

फिर भी, अमरीकी और फ्रान्सीसी क्रान्तियों ने क्रमशः अपनी स्थायी सफलता और रोष के द्वारा जो कुछ सम्पन्न किया, उससे लोकतांत्रिक राष्ट्रीय राज्य का जन्म हुआ। इस प्रकार उन्होंने युग के दो अत्यन्त प्रबल विचारों—लोकतंत्र और राष्ट्रवाद—को एकसूत्र में बाँध दिया। ये ही विचार अफ्रीकी-एशियाई क्रान्ति के मूल में भी हैं, जिनका बाण्डुंग में बड़े जोरों से समर्थन किया गया था। अब हम क्षणभर के लिए योरोप में इन दोनों शक्तियों के मूल पर विचार करें।

राष्ट्रीय राज्य स्वयं एक अल्पवयस्क राजनीतिक रचना है और वह केवल चार सौ वर्ष पुराना है। जब १८ वीं शताब्दी में फ्रान्स और अमरीका में क्रान्तियाँ हुईं, उस समय पश्चिमी योरोप के कुछ भागों में सामन्तवाद का बोलबाला रहा और अभी तक रियासतों ने राज्य का रूप धारण नहीं किया था।

परन्तु औद्योगिक विकास के साथ, किसी समय निर्बल राजतंत्र को बनियों, व्यापारियों और दस्तकारों का समर्थन प्राप्त हो रहा था, जो विभक्त सामन्त-वादी प्रभुसत्ता की छोटी-छोटी सीमाओं को, राज्य के अन्तर्गत राज्य को, छोटी-मोटी आयात-निर्यात-कर-सीमाओं को तथा प्रतिस्पर्धी करों को मिटा देने के लिए एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की माँग कर रहे थे। जागीरों, मठों और छोटी-बड़ी जमींदारियों की समाप्ति की प्रक्रिया में पश्चिमी इतिहास

की अनेक शताब्दियाँ लग गयीं। उसके अन्त में एक संयुक्त राष्ट्र-राज्य का जन्म हुआ और राजा अपनी प्रजा के सम्मुख आगया।

यदि राजा और प्रजा दो ही प्रबल प्रतिद्वंद्वी होते, जिन्होंने आधुनिक युग का सूत्रपात किया, तो इस बात की आशा की जाती कि राजा के नैसर्गिक अधिकार के सिद्धान्त का उत्तर मानव के पवित्र अधिकारों से दिया जाता। लुई ने कहा, "मैं ही राज्य हूँ।" परन्तु दो छोटी पीढ़ियों के बाद, जबकि फ्रान्सीसी क्रान्तिकारी विधानसभा ने अपने आपको राज्य के बराबर मानते हुए घोषित किया, उत्तर मिला, "सारी प्रभुसत्ता राष्ट्र में सन्निहित है।"

१७७६ और १७८९ में, राष्ट्र-राज्य में आने से पहले शताब्दियों से प्रजातंत्र पश्चिम में विकसित हो रहा था। १२१५ में इंगलैण्ड में रनीमीड के सामन्तों ने राजा को 'मैग्नाकार्टा' (राज-पत्र) पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश कर दिया। यद्यपि वहाँ पर जो अधिकार प्राप्त किये गये, वे सीमित थे, फिर भी उनकी उपलब्धि का असीम प्रभाव पड़ा। अगली सात शताब्दियों तक यह राज-पत्र अंग्रेजों के कानून और राजनीति सम्बंधी कल्पनाओं को प्रेरित करता रहा।

राज-पत्र की क्रान्तिकारी धारा ने राजाओं के समझौते की शर्तों को तोड़ने पर सामन्तों को विद्रोह का अधिकार दे रखा था। सौभाग्य से यह अधिकार सामयिक समझौते की भाँति ब्रिटेन की परम्परा का आवश्यक अंग नहीं बन सका। अधिकांशतः शांति के साथ राजा की समिति क्रमशः ब्रिटिश पार्लमेंट के रूप में विकसित हुई और सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार भी हस्तगत कर लिये। इस प्रकार पार्लमेंट शक्ति के क्षेत्र में राजा की प्रतिद्वंदी बनकर राजा के नाम पर स्वयं शासन करने लगी।

परन्तु क्रामवेल ही एक ऐसा व्यक्ति था, जिसने क्रान्ति के पुराने अधिकार का उपयोग किया, जब १६४२ में चार्ल्स प्रथम के विरुद्ध वह अपनी प्युरिटन (शुद्धतावादी) सेना लेकर बढ़ा। उसके तरीके निश्चय ही नम्र नहीं थे। १६४९ में प्युरिटनों द्वारा चार्ल्स प्रथम की हत्या का समाचार सुन कर रूसियों को इतना धक्का लगा कि उन्होंने ब्रिटिश राजदूत को बरखास्त कर दिया। इसी प्रकार १९१८ में रूसियों द्वारा जार की हत्यासे अंग्रेज भी आतंकित हो उठे थे।

१७८१ में रूसियों ने प्राचीन विश्व-राजनीति तथा योरोप की पूर्ववत् स्थिति पर अमरीकी क्रान्ति के प्रभाव को समझने में तीव्र ग्रहण-शक्ति का परिचय दिया। एक भारतीय इतिहासकार ने स्थापित व्यवस्था के प्रति हमारी वर्तमान

श्रद्धा पर मुझे फटकारा और उस जारवादी रूस से हमारी तुलना की, जिसने हमारी क्रान्ति के वाद ३३ वर्षों तक संयुक्त राज्य अमरीका के अस्तित्व को स्वीकार करने से इंकार कर दिया था।

यह कहना ही चाहिए कि रूसी अभिजात-तंत्र के ये प्रारम्भिक भय काफी उचित थे। पश्चिम में लोकतांत्रिक उदारतावाद के केन्द्रों से, जिसका अमरीका सर्वाधिक नाटकीय प्रतीक है, राजनीतिक क्रान्ति, सर्वप्रथम उत्तरी अटलांटिक समुदाय और दक्षिणी अमरीका के चारों ओर और अन्त में २० वीं शताब्दी में एशिया और अफ्रीका में फैल गयी।

१८५० के दशक तक गेरीवाल्डी सेंट पीटर्स के सम्मुख एकत्र अपने चिथड़े पहने हुए इटालियन स्वयंसेवकों से चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था, "न तो मैं वेतन देता हूँ, न घर और न भोजन। मैं तो केवल भूख, प्यास, सैनिक प्रयाण युद्ध और मृत्यु देता हूँ।" १८८० के दशक तक पर्नेल ने आइरिश लोगों से कहा कि अंग्रेजों के साथ व्यवहार का केवल एक तरीका है, "उनके मुकावले खड़े हो जाओ।"

डेढ़ सौ वर्षों के भीतर जिन विचारों तथा भावनाओं ने कोनकोर्ड, वैलीफोर्ज और फिलाडेलफिया के क्रान्तिकारियों को प्रेरित किया था, वे ही क्रान्तिकारी विचार सभी महाद्वीपों में पुनः उत्पन्न हो गये हैं। सिंहावलोकन करने पर वे स्पष्ट रूप से एक विश्वव्यापी क्रान्ति के रूप में दिखायी पड़ते हैं।

वाद के कुछ आलोचक अमरीकी क्रान्ति को उसके उपनिवेश-विरोधी विद्रोह तक ही सीमित मानते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि विश्व के लिए इसका क्रान्तिकारी महत्व, जैसाकि यह महत्वपूर्ण सिद्ध हो चुका है, कोनकोर्ड पुल और यार्क टाउन के वीच की घटनाओं से आवद्ध है।

परन्तु अमरीकी क्रान्ति इतनी एकांगी नहीं रही है। यह एक व्यापक और गतिमान क्रान्ति के रूप में विकसित हुई और अवसरों तथा मानव अधिकारों के विस्तार से संबद्ध लोकतांत्रिक क्रान्ति से सदैव ही अनुप्रणित होती रही। हम देख चुके हैं कि, लोकतांत्रिक क्रान्ति कभी संपूर्णतया सम्पादित नहीं हुई; किन्तु इस आदर्श की शक्ति को अथवा इसको अपनानेवाले क्रान्तिकारियों के दावे के औचित्य को कुछ ही लोग अस्वीकार करेंगे।

१७८१ से व्यवहार में विकासवादी होते हुए भी अमरीकी इतिहास अभिप्रायों में क्रान्तिकारी ही रहा है। विदेशी शासन से मुक्त होने के वाद अमरीकी अपने देश के भीतर और वाहर पूर्व-स्थिति को पलटने में प्रयत्न-

मुझे स्वतंत्रता दो या मृत्यु !

शील रहे और जैसा कि हम देखेंगे, वे सदैव अधिकाधिक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र की सिद्धि के लिए व्यावहारिक मार्ग खोजते रहे। जब हमने देखा कि हमारे उद्देश्य विश्वव्यापी युद्ध की विभीषिका से आक्रान्त हैं, तो यह हमारे लिए स्वाभाविक ही था कि, हम मानव-मात्र तक अपनी कल्पनाओं को पहुँचा दें।

इस प्रकार जब पूर्ण लोकतांत्रिक क्रान्ति के एक दूसरे प्रतिपादक गांधी ने ब्रिटिश वस्त्रों की होली जलायी, ब्रिटिश माल का वहिष्कार आरम्भ कर दिया और यह माँग की कि स्वतंत्रता उनका जन्मसिद्ध अधिकार है और वे उसे लेकर रहेंगे, तब वे भारत के लिए एक प्रयोग का सूत्रपात कर रहे थे, जिसका अमरीकियों ने पहले ही प्रारम्भ कर दिया था, परन्तु बोस्टन की अपनी चाय की दावत में ही समाम्प्त नहीं कर दिया; यह कि सुराज स्वराज का स्थानापन्न नहीं हो सकता और लिंकन की 'जनता की, जनता द्वारा और जनता के लिए सरकार' सचमुच इस धरती पर मानव की अन्तिम आशा है।

सत्ताईसवाँ प्रकरण

रुई ओटने से स्वचालित यंत्र तक

१७७६ में, जिस वर्ष अमरीका ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की, एक और क्रान्तिकारी घटना हुई। जेम्स वाट का वाष्प का इन्जिन सचमुच पहली बार कार्य करने लगा। इसने आर्थिक विकास में अचानक आश्चर्यजनक गतिशीलता उत्पन्न कर दी। यह ठीक है कि यह गतिशीलता विकासवादी थी, फिर भी १९ वीं शताब्दी के मध्य तक और आज भी औद्योगिक क्रान्ति के नाम से प्रसिद्ध है।

औद्योगीकरण के इस नाटकीय प्रारम्भ के पूर्व ही, मितव्ययिता और कठिन श्रम की प्रोटेस्टैण्ट (प्युरिटन) नैतिकता ने पूंजीवाद को जन्म देने में सहायता की। उसके पूर्व मध्यकालीन मठों ने वैज्ञानिक कृषि, सुसंस्थित संगठन, व्यापारिक हिसाव-किताव और श्रमविभाजन, घड़ी के घंटों के अनुसार नियमित सामुदायिक जीवन और उत्पादन का सूत्रपात किया।

वह कौन सी चीज थी, जो १८ वीं शताब्दी के अन्त में प्रारम्भ हुई और जिसने उत्पादन के साधनों में इतना परिवर्तन कर दिया कि लोग उसे औद्योगिक क्रान्ति कहने लगे?

कुछ लोग कहेंगे कि पुरानी सामन्तवादी व्यवस्था के अन्तर्गत वाणिज्यवाद के क्रमिक विकास से उत्पन्न नयी शक्तियाँ, जो अन्ततोगत्वा सामन्तवादी सिकंजों से छूट कर आधुनिक औद्योगिक प्रजातंत्रात्मक राज्य के रूप में निकलीं। दूसरे लोग पुनर्जागरण द्वारा प्रस्थापित वौद्धिक वायुमण्डल और राजनीतिक स्वतंत्रता को श्रेय देंगे, जो उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र में विकासमान थी।

अन्य लोग पश्चिम के आर्थिक विकास का श्रेय निगम (कारपोरेशन) के आविष्कार को देंगे। न्यायाधीश ब्रैन्डिस ने निगम के सम्बंध में कहा, "यह सभ्य जीवन की प्रमुख संस्था है।" इसके पक्ष में काफी प्रमाण दिया जा सकता है कि यह संस्था आधुनिक शिल्पविज्ञान की वाहक रही है। निगम में बड़ी राशि में पूंजी लगाने और मजदूरों और शिल्पियों (टेकनिशियनों) को संगठित करने की क्षमता है। यद्यपि निगम का जन्म इंगलैंड में जान लाक के संरक्षण में हुआ, तथापि अमरीका में यह सबसे अधिक फला-फूला। कहा जाता है कि १९ वीं शताब्दी के एक वर्ष में हमारी यूनियन के एक राज्य

में इतने अधिक निगमों का निर्माण हुआ जितना विश्व के समस्त पूर्व इतिहास में नहीं हुआ था।

'पहले मुर्गी हुई या अण्डा' की पहेली की भाँति पहले कौन आया, उद्योगवाद या प्रजातंत्र, नया शिल्पविज्ञान या नयी स्वतंत्रता, इसके समाधान का प्रयत्न किये विना ही हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि दोनों के योग ने नयी सभ्यता को जन्म दिया और आज इसके विस्फोटात्मक परिणाम विश्व के कोने-कोने में अनुभव किये जा रहे हैं। किसी भी कारण से प्रतिक्रियाओं की एक नयी श्रृंखला लन्दन, लंकाशायर और लीवरपूल में प्रारम्भ हुई। तब से वह निश्चित प्रगति के साथ समस्त अटलांटिक समुदाय में फैलती रही है और आज समस्त मानव समाज तक पहुँच गयी है।

१८वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के नये आविष्कार उन दिनों उतने ही चमत्कार-पूर्ण प्रतीत होते थे, जितनी आजकल अणुशक्ति प्रतीत होती है और ब्रिटिश कानून-निर्माता उस समय इंग्लैण्ड की निजी सम्पत्ति के रूप में उन्हें वैसे ही 'गुप्त' रखना चाहते थे जैसा कि आजकल हो रहा है। एक कानून बना कर किसी भी यंत्र को इंगलैण्ड के बाहर ले जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। जो लोग इन यंत्रों को बनाना जानते थे, उनको विदेश जाना मना था।

पार्लमेण्ट पीटर महान के उन प्रयासों से आशंकित हो उठी थी, जिनके द्वारा वह अंग्रेजों को रूस में औद्योगिक प्रशिक्षण के लिए नियुक्त करना चाहता था। उसके इन प्रयासों में १९२० और १९३० के दशकों के साम्यवादी उत्तरा-धिकारियों के कार्यों की पूर्व कल्पना थी। १७१९ में पार्लमेण्ट ने एक अधि-नियम बनाया, जिसका उद्देश्य उन असुविधाओं को दूर करना था, जो ब्रिटेन के कुशल कारीगरों को प्रलोभन दे कर विदशों में ले जाने के कारण उत्पन्न हो गयी थीं।

१७७६ में साहसी रूस ने अपने यहाँ भाप का इंजिन बनाने के लिए वाट को एक हजार पौण्ड सालाना वेतन देने का प्रस्ताव रखा, जो उस समय कल्पनातीत था।

१८२४ तक कुशल कारीगरों के बाहर जाने के निषेध का कानून लागू रहा; परन्तु तब तक इंग्लैण्ड ने यही समझा था कि उसके पास कोई गुप्त रहस्य नहीं है, वह केवल औरों से थोड़ा आगे ह और जिस विज्ञान और शिल्प-विज्ञान के लिए वह प्रयत्नशील है, वह सर्वत्र सभी लोगों की सामान्य सम्पत्ति ह ।

उस समय तक स्वयं हमारे देश में भी औद्योगिक क्रान्ति अपने पंखों की शक्ति आजमा रही थी। एक उन्नीस वर्षीय अंग्रेज वालक, यहाँ पर वस्त्र-उद्योग प्रारम्भ करने के लिए अपने कपड़ों में छिपाकर इंगलैण्ड से एक वस्त्र-कारखाने की योजना चुरा कर ले आया।

प्राचीन प्युरिटन सद्‌गुणों से संयुक्त अमरीकी प्रतिभा और सीमांत अर्थ-व्यवस्था में अस्तित्व वनाये रखने के लिए आवश्यक स्फुट प्रयत्न की प्रवृत्ति ने यंत्र के विस्तार के लिए नवीन शक्ति प्रदान की। एलीह्विटनी के रुई ओटने की मशीन के आविष्कार ने इंगलैण्ड और न्यू इंग्लैण्ड के राज्यों में वेकार पड़े करघों के लिए कच्चे माल का पर्याप्त स्त्रोत प्रदान किया। ह्विटनी ने औजारों और पुर्जों के जोड़ने के कारखाने की भी नींव डाली और वाद में युद्ध-विभाग के अफसरों के समक्ष, अपने स्प्रिंगफील्ड मासाचुसेट्स के कारखानों में वने परस्पर परिवर्तन-योग्य पुर्जों को जोड़ कर वारह वन्दूकें तैयार करने के आश्चर्यजनक कार्य का प्रदर्शन किया।

यदि वाट अथवा ह्विटनी आज के विशालकाय अमरीकी मोटर-कारखानों में पुर्जे जोड़ने के विभाग को देखते, तो उनके चेहरों की आकृतियाँ हमारी औद्योगिक क्रान्ति के स्वरूप को प्रकट कर देतीं। पट्टे (वेल्ट) का एक चक्कर मोटर-गाड़ी के ढाँचे को लगभग एक मिनट में एक तैयार मोटरगाड़ी का अंतिम रूप दे देता है। तत्काल ही छत में लगे 'हुक' से 'फेण्डर्स,' चक्के और दूसरे हिस्से सही वक्त पर सही गाड़ी में आकर जुड़ जाते हैं। फर्श में वने एक छिद्र से एक निश्चित रंग का 'हुड' उस गाड़ी में लगने के लिए नीचे उतरता है, जिसे परीक्षण के लिए शीघ्र ही ले जाया जाता है। विशेषज्ञ इस वात का अध्ययन करते रहते हैं कि किस प्रकार उत्पादन में समय और श्रम की वचत की जाय। प्रतिवर्ष ६० लाख गाड़ियाँ तैयार करनेवाला अमरीकी मोटर उद्योग औद्योगिक क्रान्ति का अगुआ रहा है।

१९ वीं शताव्दी के प्रारम्भ में वस्तुओं की व्यापक उत्पादन-वृद्धि में ही औद्योगिक क्रान्ति परिलक्षित नहीं थी। पक्की नहरों और सड़कों का भी निर्माण हुआ। तव इंजिन के आविष्कार के साथ लीवरपूल से मैनचेस्टर तक प्रथम रेल-लाइन वनीं।

अमरीका ने फिर, फल्टन की वाष्पचालित नावों, महाद्वीप के एक छोर से दूसरे छोर तक जानेवाली रेलवे और अन्त में हैनरी फोर्ड की टिन लिजी मोटर गाड़ियों से इस चुनौती को स्वीकार किया। विश्व को सर्वप्रथम तारों

की शृंखलाओं से और बाद में रेडियो के अदृश्य तारों के द्वारा एक सूत्र में बाँध दिया गया। अपनी कुर्सी से उठे बिना मनुष्य अपने विचारों को समस्त विश्व में भेजना सीख गया। औद्योगिक क्रान्ति ने अन्त में मानव की इस प्राचीनतम कल्पना को कि किसी दिन वह उड़ेगा, पूर्ण कर दिया।

मनुष्य के यातायात और वस्तु-परिवहन, शीत-ताप नियंत्रण और प्रकाश पाने के लिए शक्ति-उत्पादन में वाट के इंजिन का विस्तृत प्रयोग हुआ। अश्व-शक्ति शक्ति न रह कर शक्ति की माप हो गयी, जलचक्र का स्थान कोयले की खानों ने लिया और बिजली के जरिये अश्व-शक्ति को लाख गुना बढ़ा दिया गया। मनुष्य ने सूर्य के रहस्य का भी पता लगा लिया और अणु-शक्ति को मानवीय इच्छा का दास बना लिया।

औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भ-काल से १७५ वर्षों में औसत अमरीकी ने वह धन-सम्पत्ति प्राप्त कर ली है, जिसकी शताब्दियों पूर्व बड़ा से बड़ा शक्ति-शाली व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकता था।

यदि औद्योगीकरण की प्रक्रिया उसके सहायकों की कल्पना से भी आगे बढ़ गयी है, तो उसके लिए मानवीय कष्ट के रूप में भारी मूल्य भी चुकाना पड़ा है। एक सामन्ती समाज के यंत्रीकरण के लिए आवश्यक भारी पूंजी के एकत्रीकरण के लिए, ऐसे समय जब कि व्यापारिक पूंजी नाममात्र की थी, पहले सस्ते मानव श्रम और अनिवार्य बचत की आवश्यकता थी।

मध्यकालीन ब्रिटिश निकायों के कुशल कारीगर नयी मशीनों के कारण बेकार होने लगे और अंग्रेज किसानों को, जो 'बाड़ा-अधिनियम' (एनक्लोजर एक्ट) और कृषि के आधुनिकीकरण द्वारा अपनी भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों से वंचित कर दिये गये, नयी मिलों में नाममात्र के वेतनों पर काम दिया गया या उन्हें भूख से मरने के लिए छोड़ दिया गया। काम का दिन सूर्योदय से सूर्यास्त तक होता था।

यह सचमुच विवादास्पद है कि औद्योगिक क्रान्ति ने मजदूरों के जीवन-स्तर को नीचे गिरा दिया, क्योंकि १८ वीं शताब्दी के पूर्व के इंगलैण्ड में गरीबों की दशा बहुत बुरी थी। कदाचित् मशीन के प्रयोग ने कुछ लोगों के जीवन को सुधारा और अन्य लोगों के जीवन को बिगाड़ दिया।

फिर भी, यह निश्चित है पश्चिमी औद्योगीकरण के लिए जो मूल्य चुकाना पड़ा, वह स्त्रियों तथा बच्चों को देना पड़ा। इंगलैण्ड के दरिद्र-सहायता-कानून के अन्तर्गत पादरी क्षेत्रों को, सहायताप्राप्त लोगों के बच्चों को 'अपरेंटिस'

वनाने का अविकार प्राप्त था। कारखानों के मालिकों ने श्रम के इस नय स्रोत का पूर्ण लाभ उठाया, यहाँ तक कि पाँच-पाँच छः-छः वर्ष के वच्चों को भी वारह घंटों से भी अधिक काम करने के लिए भेज दिया जाता था और वाद में कारखानों में ही वन्द कर दिया जाता था। कुछ पादरी क्षेत्रों में मूर्ख वच्चों की एक संख्या निर्वारित रहती थी और उन वच्चों को कारखाने के मालिकों को लेना ही पड़ता था।

दोपहर का भोजन प्रायः काम करते हुए ही खाना पड़ता था और चलती हुई मशीनों को साफ करना पड़ता था। सर्दियों में वच्चे जव मिलों से निकलते थे, तव पसीने से भीगे रहते थे और कभी-कभी उनके वस्त्र शरीर में ही चिपक जाते थे। दुर्घटनाओं, विकृतियों, क्षय और पूर्ण पतन वाले वच्चों की लिखित संख्या उस पीढ़ी के लिए स्मारक रूप में होगी, जिसने औद्योगिक सम्यता को जन्म दिया और उन नये देशों के लिए चेतावनी का काम करेगी, जो प्रसव-वेदना से गुजर रहे होंगे।

फिर भी, सारा मूल्य केवल योरोपवासियों के कष्टसहन से ही नहीं चुकाया गया। इंग्लण्ड के उपनिवेशों ने उसे सस्ते से सस्ता कच्चा माल भेजा जिसके उत्पादन में वहाँ के श्रमिकों का इंगलैंड से भी अधिक शोपण किया गया। उपनिवेशों को तदुपरान्त वनीवनायी चीजों का परतंत्र वाजार वना दिया गया। अमरीका ने ऐसी व्यापारिक शर्तों के विरुद्ध विद्रोह किया और १७७६ में अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली; परन्तु भारत को विवश होकर उनके चंगुल में आना पड़ा।

इसके अतिरिक्त भारत 'लूट' के रूप में पूंजी का प्रत्यक्ष स्रोत था। 'लूट' शब्द का अंग्रेजी में समावेश वंगाल की लूट के समय हुआ था। १७५७ में प्लासी में क्लाइव की विजय के वाद वंगाल की निधि लन्दन की ओर वहने लगी और ब्रिटिश राज्य की नकद पूंजी उस समय काफी वढ़ गयी जव कि महान औद्योगिक आविष्कार प्रारम्भ हो गये थे। जिन लोगों ने भारत में विपुल सम्पत्ति कमायी, उन्होंने मिल कर उस पूंजी को उस युग के आविष्कारों को कारखानों का रूप देने में लगाया।

अमरीका विदेशी उपनिवेशों पर निर्भर नहीं था, परन्तु उसके पास उपयोग के लिए एक अछूता महाद्वीप था। हमारा कच्चा माल पश्चिमी भाग में था और उसे स्वतंत्रापूर्वक प्राप्त किया जा सकता था; यदि कुछ कठिनाई थी, तो वह थी रेड इंडियनों से निपटने या उन्हें रोक रखने की। अमरीका के पास भी

उसकी अपने ढंग की शोषित औपनिवेशिक आबादी थी और वे थे दक्षिण के दास, जिन पर हमारी अर्थव्यवस्था का एक बहुत बड़ा भाग निर्भर करता था।

ब्रिटिश विनियोजकों ने, विशेषरूप से हमारी रेल्वे लाइनों के निर्माण में, जो हमारे आर्थिक विकास में मौलिक कदम था, पूंजी की हमारी अत्यंत आवश्यकता को बड़े-बड़े कर्ज देकर पूरा किया। इसके अतिरिक्त, अमरीका सारे योरोप से नये और सस्ते श्रमिक प्राप्त कर सकता था। काफी मात्रा में इसकी पूर्ति हुई।

प्रायः जब बाहर से मजदूर आये, तो उन्होंने यहाँ के कारखानों की दशा अपने देश के कारखानों से कुछ बहुत अच्छी न पायी। १८३१ में हमारे कनेक्टीकट के रुई के उद्योग में पुरुष पाँच डालर प्रति सप्ताह कमाते थे, औरतें ढाई डालर और बच्चे डेढ़ डालर। ग्यारह वर्षों बाद कनेक्टीकट के एक कानून ने कपड़े की मिलों में प्रति दिन १० घण्टे से अधिक समय के लिए १४ वर्ष से कम आयुवाले किसी व्यक्ति की नियुक्ति को अवैध कर दिया। उस समय के इस प्रकार उदार विधान का निर्माण यह संकेत करता है कि उसके पूर्व क्या दशा रही होगी।

कनेक्टीकट का इतिहास यह भी प्रकट करता है कि प्रायः अमरीका ने भी भारत पर अंग्रेजों के साम्राज्यवादी सम्बंधों से सीधा लाभ उठाया। १७१७ में मद्रास के भूतपूर्व गवर्नर एलिहू येल ने, पूर्वी भारत का एक जहाज माल बोस्टन भेजा, जिसको ५६२ पौण्ड में नीलाम कर दिया गया। श्री येल ने उससे प्राप्त धन को प्रथम अनुदान के रूप में कनेक्टीकट के नये कालेज को दे दिया, जिसको बाद में उन्हींका नाम दिया गया।

× × ×

किन्तु जितना उपनिवेश दे सकते थे, उससे अधिक प्रकृति ने अमरीका को दे रखा है। औद्योगीकरण को इससे अच्छा अवसर कभी नहीं मिला—एक सम्पन्न अविकसित महाद्वीप, परिश्रमी और प्रगतिशील लोग, प्रवासियों का आगमन, जिनमें से कुछ अत्यन्त कार्य-कुशल थे और कुछ सस्ते मूल्य पर काम करने वाले थे, एक संघीय यूनियन, जिसने एक महान मुक्त व्यापार और सामान्य सम्पत्ति क्षेत्र का प्रारम्भ किया, एक जनतांत्रिक राजनीतिक समाज, जिसने स्वतंत्र संगठन, स्वतंत्र व्यवसाय और व्यक्तियों के सांविधानिक अधिकारों के साथ व्यापार-निगमों के निर्माण के लिए अनुमति दी थी। अन्य किसी भी देश की अपेक्षा, जिसमें उद्योगों का विकास हुआ है, अमरीका

कम क्लेश उठा कर भी विश्व का प्रमुखतम औद्योगिक राष्ट्र बन गया है।

फिर भी, १८ वीं शताब्दी के ब्रिटेन के अपने 'रहस्यों' को छिपाये रखने के प्रयत्नों की अपेक्षा आजकल औद्योगिक प्रमुखता नवीन नाटकीय आविष्कारों के अकेले उपयोग अथवा नियंत्रण का अधिक आश्वासन नहीं प्रदान करती। अणु के विश्लेषण में अमरीका की क्रमिक सफलता, जो विदेशों में उत्पन्न आइन्सटाइन, जीलार्ड और फेर्मी जैसे प्रख्यात वैज्ञानिकों की प्रेरणा और कार्यकुशलता से अधिकांश में उपलब्ध हुई है, कभी भी केवल अमरीका के लाभ के लिए पृथक या सुरक्षित नहीं रखी जा सकती।

१९५५ तक अमरीकी अणु वैज्ञानिक स्पष्ट कहने लग गये थे कि योरोपीय वैज्ञानिकों से ब्रिटेन की भाँति, औद्योगिक क्रान्ति के लिए आवश्यक निपुणता और टेक्नीक के लाभ हमें प्राप्त हैं। अब तो अधिक संभव है कि भविष्य में हम ब्रिटेन और जापान जैसे देशों से औद्योगिक आणविक विकास में पिछड़ जायँ। अपनी सापेक्ष औद्योगिक स्थिति बनाये रखने के लिए अणुशक्ति के शीघ्र उपयोग की उनमें एक आवश्यक और विशेप प्रेरणा है, । उनके लिए अणुशक्ति कोयले और जलशक्ति के अभाव की पूर्ति कर सकती है।

ऐसी परिस्थितियों में मित्र योरोप में अणुशक्ति के विकास में किये गये आर्थिक अपव्यय और अनावश्यक विलम्ब से हमारी अतीत की प्रतिबन्धात्मक नीतियाँ विशेपरूप से इतनी कल्पनाहीन प्रतीत होती हैं कि अमरीकी अणु-वैज्ञानिको ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि अब हमको अणुशक्ति के समस्त क्षेत्र का वर्गीकरण कर देना चाहिए। अगस्त, १९५५ में अणुशक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग सम्बन्धी जनेवा-सम्मेलन में हमारे नियंत्रणों में आंशिक रूप से ढिलाई की व्यापक रूप से प्रशंसा की गयी थी।

इस नयी अमरीकी औद्योगिक क्रान्ति का विकट रूप यह है कि, उसने अभी मुश्किल से मार्ग पकड़ा है। जिस प्रकार पश्चिमी औद्योगीकरण के दो शताब्दियों के पूर्ण प्रभाव को अणुशक्ति की आशा के रूप में महसूस किया जा रहा है, उसी प्रकार एक नयी टेक्नालाजिकल क्रान्ति, जिसे स्वचालित यंत्र (Automation) कहा जाता है, प्रकट होने लगी है। सूत कातने, कपड़ा बुनने, लकड़ी काटने, पानी निकालने, बोझा ढोने, जमीन जोतने, फसल काटने इत्यादि अनेक प्रकार से मशीन मानव की दास बन गयी है और ऐसे कार्य कर रही है, जिन्हें मनुष्य सर्वदा अपने हाथों से करता था; परन्तु २० वीं शताब्दी के मध्य में स्वचालित यंत्रों के कारखानों की सम्भावना प्रकट हुई। 'सी. आई. ओ.' के

अध्यक्ष वाल्टर रयूथर ने अपने भय की इस भावना को उस समय व्यक्त किया जब वे इन नये विचित्र कारखानों को पहली बार देखने गये और बताया कि ये द्वितीय औद्योगिक क्रान्ति के द्योतक हैं। उन्होंने विशाल मशीन को सेकण्डों में 'सीलिण्डरों' को छेदते और बिजली से उसके कार्य की नाप-जोख करते तथा किसी कारण से होनेवाली गलतियों को निकालते देखा। थोड़े से मजदूरों को केवल उन लाल, पीली, हरी रोशनियों की पट्टियों को ही देखना था, जो मशीन की शिथिलता को सूचित करती थीं।

फोर्ड की कार्यकारिणी के एक सदस्य ने पूछा, "आप इन से अपना बकाया कैसे वसूल करेंगे? रयूथर ने उत्तर दिया, "आप उनके द्वारा अपनी मोटरगाड़ी कैसे खरीदेंगे?" परन्तु इन सभी शंकाओं के होते हुए आज कोई भी श्रम-नेता इन मशीनों का विरोध नहीं कर रहा है, जैसा कि एक बार विस्थापित मजदूरों ने किया था। उसके विपरीत उनको विश्वास है कि विज्ञान और शिल्प विज्ञान के नये लाभों के लिए कोई न कोई मार्ग निकाल लिया जायगा और ये लाभ न केवल पश्चिम के भाग्यवान अभिजात वर्ग के लिए होंगे, बल्कि समस्त मानव समाज के लिए होंगे।

इस विश्वास की जड़ें चालू अमरीकी क्रान्ति में ही जमी हुई हैं। सत्य तो यह है कि अन्तिम पीढ़ी में उस मशीन पर स्वामित्व प्राप्त करने के लिए मनुष्य ने प्रजातंत्र के औजारों का प्रयोग करना सीख लिया है, जिससे कभी लोग डरते थे कि वह मनुष्य पर प्रभुत्व जमा लेगी।। शक्तिशाली और असाधारण औद्योगिक क्रान्ति के साथ मानवीय आवश्यकताओं, हितों और सिद्धान्तों ने मुख्यतः अवसर की समानता के लिए एक प्रजातंत्रात्मक अमरीकी क्रान्ति में विजय प्राप्त की है।

अट्ठाईसवाँ प्रकरण

सभी मनुष्य समान उत्पन्न हुए हैं।

स्वतंत्रता अर्थात् राजनैतिक स्वतंत्रता, अमरीकी क्रान्ति का प्रथम युद्ध-घोष था, जिस प्रकार आजकल एशिया और अफ्रीका के लोगों की यही प्रथम मांग है। उद्योगवाद की शक्तियों से प्रेरित होकर जाति, धर्म तथा वर्ण निर-पेक्ष मानवीय गौरव तथा समान अवसर के लिए शीघ्र ही मांग होने वाली थी।

संविधान-परिषद में रूढ़िवादी अलेक्जेण्डर हैमिल्टन ने कहा, "सभी समुदाय अपने को विशिष्ट और साधारण में विभाजित कर लेते हैं। पहले धनी होते हैं और उनका जन्म अच्छे घरों मे होता है, और दूसरे एक विशाल जन-समुदाय के रूप में होते हैं। यह जन-समुदाय विक्षुब्ध और परिवर्तनशील होता है; वे शायद ही उचित-अनुचित का निर्णय करते हैं। इसलिए शासन में प्रथम वर्ग को विशिष्ट स्थायी स्थान दे दिया जाय। वे दूसरे वर्ग की अस्थिरता को नियंत्रित रखेंगे।"

बाद में टामस जेफर्सन ने प्रतिकार किया, "स्वभावत: मानव समाज दो दलों में विभाजित है। (१) एक तो वे, जो लोगों से डरते हैं और उन पर अविश्वास करते हैं, और उनसे सारी शक्ति खींच कर उच्चवर्ग के हाथ में दे देना चाहते हैं और (२) दूसरे वे, जो लोगों के साथ घुलमिल जाते हैं, उनमें विश्वास करते हैं, तथा उनको बहुत ही सुरक्षित और ईमानदार मानते हैं, यद्यपि उन्हें जन-हित के अत्यन्त विवेकशील तत्व नहीं मानते।"

इस प्रकार, प्रारम्भ में ही इन दो महान प्रतिद्वंदियों ने इस अमरीकी घोषणा, कि सभी मनुष्य स्वतंत्र और समान उत्पन्न हुए हैं, को अर्थ प्रदान करने के प्रयत्न में प्रथम मतदान-युद्ध की रूपरेखाएँ खींचीं।

जैसा कि सर्वदा हुआ है, हमारी सरकार के निर्माण में ये दोनों विचार उम्मीदवारों के निर्वाचन के लिए राजनीतिक दलों के ठोस एवं व्यावहारिक संगठन में महत्वपूर्ण तत्व बन गये हैं। इस प्रकार हेमिल्टन और एडम्स के नेतृत्व में, संघवादी (Federalists) विशेषरूप से उन उत्तरी व्यापारिक स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करते थे, जो एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन और शीघ्र औद्योगीकरण में विश्वास करते थे। जैफर्सन के प्रजातांत्रिक रिपब्लिकन (Democratic Republicans) अपनी शक्ति छोटे-छोटे किसानों,

कारीगरों और दक्षिणी वगान-मालिकों से प्राप्त करते थे।

केन्द्रीय सरकार में विश्वास न करते हुए और अपनी स्वायत्त संस्थाओं और राज्यों के मामलों को सँभाल लेने की जनता की योग्यता पर अपने विश्वास की वाजी लगाते हुए जेफर्सन के दल ने १८८० के चुनावों में जवर्दस्त विजय प्राप्त की। सार्वभौमिक श्वेतांग मताधिकार अगले कुछ वर्षों में स्थापित हो गया; गृह-युद्ध ने इस श्वेत मताधिकार की सीमा को समाप्त कर दिया और वाद में वीसवीं शताव्दी के प्रारम्भ में महिला-मताधिकार भी आ गया।

विदेशी शासन से राजनीतिक स्वतंत्रता की भाँति ही, व्यक्तिगत अधिकारों के लिए संघर्ष के विश्वव्यापी भावों को अनेक अमरीकी नेताओं ने समझ लिया था। अपनी मृत्यु के दो सप्ताह पूर्व जेफर्सन ने भविष्यवाणी की– "मनुष्य के अधिकारों के प्रति सवकी आँखें खुल रही हैं।" विज्ञान के प्रकाश के व्यापक पसार ने इस प्रत्यक्ष सत्य को सवके सामने रख दिया है कि मनुष्य अपनी पीठ पर काठी वाँधे नहीं पैदा हुआ है और न कुछ सम्पन्न व्यक्ति ईश्वर की अनुकम्पा से उन पर सजधज कर सवारी करने के लिए वनाये गये हैं।

१८२८ में एण्ड्रयू जक्सन के राष्ट्राध्यक्ष चुने जाने से वढ़कर अन्य किसी चीज ने समस्त जनता के लिए राजनीतिक सत्ता के अधिकाधिक विस्तार की आशा नहीं प्रदान की। जैक्सन ने जेफर्सन के सम्मिश्रित प्रजातंत्र में पश्चिम के सीमान्त लोगों और पूर्वी नगरों के मजदूरों का योगदान किया। उनके उद्घाटन-दिवस पर उनके हजारों अनुयायी वाशिंग्टन तक पहुँचे, जिनमें से कुछ तो चीथड़ों में थे और वहुत से लोग भद्दी रहन-सहन के थे। सम्पन्न और कुलीन लोगों की संख्या नगण्य थी।

उन्होंने खूब शराव पी, 'व्हाइट हाउस' पर अधिकार-सा जमा लिया और अपने प्रिय नेता का, जो अव राष्ट्राध्यक्ष थे, जयघोष के साथ स्वागत किया। जस्टिस स्टोरी ने कहा, "भीड़" राजा का राज्य विजयी होता दिखायी दे रहा है। जैक्सन की ओर संकेत करते हुए मार्टिन वान वूरेन ने कहा, "वे ही हमारे सगे-सम्वन्धी हैं।"

इस युग पर श्लेसिंगर की अति सुन्दर पुस्तक "जैक्सन का युग" (दी एज आफ जैक्सन) में यूनाइटेट स्टेटस वैंक के पीछे व्यापारिक स्वार्थों के विरुद्ध जैक्सन के युद्ध की पुनरावृत्ति का अच्छा वर्णन किया गया है। वृद्ध हिकोरी ने यह कहते हुए वैंक के लिए एक नये अधिकारपत्र को ठुकरा दिया कि, "जव कानून धनी को और धनी और वलवान को और वलवान वनाता है तो समाज

के निम्न सदस्यों, किसानों, कारीगरों तथा मजदूरों को, जिनके पास न तो समय है और न अपने लिए वैसी ही अनुकुलताएँ प्राप्त करने के सावन, अपनी सरकार के अन्याय के विरुद्ध शिकायत करने का अविकार है।"

लगभग सौ वर्ष वाद फ्रैंकलिन रुजवैल्ट ने जैक्सन के सम्वंध में कहा, "राष्ट्र की अविकांश भौतिक शक्ति उनके विरुद्ध थी। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता था कि अमरीका की जनता के अतिरिक्त सभी उनके विरुद्ध थे।"

यूनाइटेड स्टेट्स वैंक के प्रवान, निकोलस विडिलने कहा कि जैक्सन का निषेव-सन्देश एक ऐसा घोषणापत्र था—"जैसा कि मारत अथवा राव्सपियर फौवर्ग सेंट एण्टोइन में उपस्थित भीड़ के सम्मुख प्रस्तुत करते।" जैक्सन ने उत्तर दिया कि मैं संकीर्ण वर्ग-हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करता। उन्होंने कहा कि जिन किसानों तथा मजदूरों का मैं प्रतिनिवित्व करता हूँ, वे संयुक्त राज्य अमरीका की जनता के एक वहुत वड़े भाग हैं और वे ही देश की अस्थि और स्नायु हैं।

यह ठीक है कि प्रगति कोई सीधी रेखा नहीं हैं। दासता का नैतिक पतन, जिससे अमरीका स्तम्भित था, अमरीकी संघ की शक्ति को खोखला वना रहा था। जेफर्सन ने इस पर विचार किया था। दासता के सम्वंध में उन्होंने लिखा, "जव मैं यह विचार करता हूँ कि ईश्वर न्यायप्रिय है और उसका न्याय सर्वदा सो नहीं सकता तो मैं अपने देश के लिए काँप उठता हूँ।"

प्रतिशोधी ईश्वर का प्रकोप रहा हो या नहीं, नीग्रो दासों के रक्त और यातनाओं का मूल्य, जिसे किसी न किसी रूप में उत्तर और दक्षिण में प्रायः सभी अमरीकियों ने स्वीकार किया था, उत्तर तथा दक्षिण के अमरीकियों के रक्त तथा यातनाओं से चुकाना पड़ा। गृह-युद्ध ने सिद्ध कर दिया था कि अमरीका के इतिहास में दासता ही एक ऐसा प्रश्न था, जिसका हमारे संस्थापक पूर्वजों द्वारा रचित संविवान की रूपरेखा के अन्तर्गत समावान नहीं हो सकता था।

अमरीका के इस लोकतांत्रिक आदर्श के लिए, एक महान चुनौती के विरुद्ध संघर्ष के वास्ते एक नयी पार्टी (रिपब्लिकन पार्टी) का गठन हुआ। अन्त में दासों को मुक्त कर दिया गया, और उस दल ने अमरीका को अब्राहम लिंकन दिया, जो अमरीकी आदर्श के साकार रूप थे।

रिपब्लिकन दल ने "चौदहवें संशोवन" की शानदार धाराओं में समानता

के पुराने आदर्श को एक नवीन स्वीकृति प्रदान की, जो स्वतंत्रता के घोषणा-पत्र के शब्दों और अधिकारों के विधेयक के समकक्ष होने योग्य है—"कोई भी राज्य ऐसा कानून न तो बनायेगा और न लागू करेगा, जो संयुक्त राज्य अमरीका के नागरिकों की सुविधाओं तथा छूटों को कम करेगा, और न कोई राज्य किसी व्यक्ति को बिना कानूनी कार्रवाई के जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति से वंचित करेगा और न अपने अधिकार-क्षेत्र में किसी को कानूनों के समान संरक्षण से इन्कार करेगा।"

गृह-युद्ध का मूल्य चुका कर, अमरीका ने इन सिद्धांतों के आधार पर परीक्षण करते रहने के अपने संकल्प को और भी सुदृढ़ कर लिया कि कोई भी राष्ट्र, जो स्वतंत्रता का विचार रखता है और इस सिद्धान्त को मानता है कि "सभी मनुष्य समान उत्पन्न हुए हैं", अधिक दिनों तक टिक सकता है।

और भी परीक्षणों के आने में बहुत देर नहीं लगी। शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि मनुष्य के स्वतंत्रता के अधिकार के साथ कार्य करने का अधिकार तथा योग्यता के अनुसार व्यक्तिगत सफलता का अधिकार भी शामिल होना चाहिए। जब संघर्ष का अखाड़ा राजनीतिक अधिकारों से आर्थिक अवसरों की ओर खिसक गया तो पहले से ही जीते हुए राजनीतिक अधिकार शक्तिशाली अस्त्र सिद्ध हुए। मतदान के साथ लोगों ने प्रत्येक राज्य में निःशुल्क जनशिक्षा की प्रणाली की स्थापना की, जो कि अवसर की असमानता के विरुद्ध सबसे बड़ा कार्यक्रम था। अधिकांश देश में सभी बच्चे पाठशालाओं में जाते और और जन्मगत जाति के अनसार नहीं, बल्कि वर्णमाला के अक्षरों के क्रम में बैठाये जाते और अपने-अपने प्रयत्नों से सफलता प्राप्त करते।

अन्याय का अन्य समाधानकारक था सीमान्त, जिसकी ओर परिश्रमी और अग्रगामी अमरीकियों ने उन्नीसवीं शताब्दी में सर्वदा ध्यान दिया। जैक्सनवादी डिमोक्रेटिक कांग्रेस-सदस्य ऐण्ड्रयू जानसन ने, जो रिपब्लिकन दल के उत्पीड़ित राष्ट्राध्यक्ष थे, १८४६ में पश्चिम की संघ-नियंत्रित भूमि को पारिवारिक खेतों में परिणत करने के लिए 'होमस्टेड बिल' प्रस्तुत किया।

इस विधेयक के पास हो जाने पर २८ करोड़ ५० लाख एकड़ भूमि बाँटी गयी। अगले पचास वर्षों के लिए कोई भी अमरीकी परिवार शहरों में अवसर न मिलने पर अपने परिश्रम और अध्यवसाय के बल पर और कम खर्च पर अपने खेतों में एक नये जीवन के निर्माण के लिए स्वतंत्र था।

इस प्रकार सीमान्त और जनशिक्षा में वर्ग-संघर्ष के लिए अमरीकी जनता

को सम्मिलित विकल्प प्रदान किया गया, जिसकी मार्क्स ने कल्पना नहीं की थी। नगर के जिस मजदूर को कारखाने में उचित वेतन नहीं मिलता, वह पश्चिम में पूर्ण और विकासमान जीवन का निर्माण कर सकता था और इस विकल्प के अस्तित्व ने ही नगर के मजदूरों के लिए औद्योगिक प्रजातंत्र के विकास में धीरे-धीरे सहायता की। सभी के द्वारा प्राप्त या प्रयुक्त मत ने उसकी औद्योगिक क्रान्ति के नये विज्ञान और शिल्पविज्ञान के लाभों का सभी लोगों तक पहुँचना सम्भव बना दिया।

अन्य पश्चिमी देशों में सभी लोगों तक मताधिकार के विस्तार के लिए वही लड़ाई लड़ी गयी और समय पर जीती गयी। १८४० के दशक में इंग्लैण्ड में जनता के 'अधिकार–पत्र' पर, जिसमें समान निर्वाचिन-क्षेत्रों, गुप्त मतदान, वार्षिक पार्लमेंट और सम्पत्ति को योग्यता का आधार न मानने की माँग की गयी थी, तीस लाख से अधिक लोगों ने हस्ताक्षर किये और अभूतपूर्व विशाल जनसमूह ने प्रदर्शनों द्वारा उसका समर्थन किया था।

कार्ल मार्क्स भी, जो अपनी हिंसात्मक क्रान्ति के सिद्धान्त की ओर मुड़ रहा था, कुछ देर के लिए शान्तिपूर्ण प्रजातांत्रिक कार्रवाई की संभावनाओं के प्रति बढ़ते हुए उत्साह से बहुत प्रभावित हुआ। ज्योंही इंग्लैण्ड के लोगों ने अधिकार-पत्र को कार्यान्वित किया, उन्होंने १८४७ में कहा, "स्वतंत्रता का मार्ग विश्व के लिए खुल जायेगा।" उन्हीं के शब्दो में, जिन्हें प्रजातंत्र में विश्वास रखने वाले, बाद में, साम्यवादियों के विरुद्ध प्रयोग करते, मार्क्स ने उत्साह के साथ 'अधिकार-पत्र' और व्यापक मताधिकार के सम्बंध में कहा, "इंग्लैण्ड के मजदूरो, इस महान उद्देश्य को पूरा करो और तब समस्त मानव जाति के संरक्षक के रूप में तुम्हारा स्वागत किया जायगा।" परन्तु अधिकार-पत्र तुरन्त ही कार्यान्वित नहीं हुआ और तब मार्क्स 'साम्यवादी घोषणापत्र' लिखने के लिए इस विश्वास के साथ योरोप वापस चले गये कि शान्तिपूर्ण कार्रवाई का असफल होना निश्चित है।

मार्क्स का कहना ठीक ही था कि औद्योगिक क्रान्ति ने मानवीय व्यापार में नवीन विग्रह उत्पन्न कर दिये हैं, परन्तु प्रजातांत्रिक प्रक्रिया से उसके समाधान के प्रति उनका निराश हो जाना गलत था; क्योंकि बीस वर्षों के भीतर ही इंग्लैण्ड ने, जैसा कि अमरीका में भी हो रहा था, व्यापक मताधिकार के सारांश को उसी तरीके से प्राप्त कर लिया था, जिसे मार्क्स ने अपनी अधीरता के कारण अस्वीकार कर दिया था। १९ वीं शताब्दी के अन्त तक योरोप और अमरीका

के समाजवादी दल देख रहे थे कि उनका मंच उदारवादी तथा रूढ़िवादी सरकारें भी ग्रहण करती जा रही हैं, जो प्रजातांत्रिक सोशलिस्टों की स्थिति के प्रति एक अप्रत्यक्ष सम्मान ही था, यद्यपि कभी-कभी अमरीका की भाँति उनके पास कोई कार्यक्रम न था।

मार्क्सवादी परम्परा की मुख्य धारा के साथ प्रजातंत्रात्मक समाजवाद का यह सम्बंध संसार के मामलों को समझने के लिए आज भी बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है। सचमुच यह इतना महत्वपूर्ण है कि अमरीका की अवसर की समानता की महान सफलता की कहानी को पूरा करने के पूर्व मैं महसूस करता हूँ कि यहाँ कुछ विषयान्तर करना तथा और अधिक आलोचना करना उचित होगा।

यह बात प्रारम्भ से ही काफी स्पष्ट है कि विभिन्न लोगों के लिए 'लोकतांत्रिक समाजवाद' और 'मार्क्सवाद' के अर्थ भी भिन्न-भिन्न हैं। क्रेमलिन अपनी सफलताओं का ढोल यह कह कर पीटता है कि वे ही मार्क्सवाद और समाजवाद की एकमात्र पूर्तियाँ हैं। कुछ प्रमुख, किन्तु कम जानकार अमरीकी राजनीतिज्ञ भी इसी भावना के किसी अंश को प्रतिध्वनित करते हुए घोषणा करते हैं कि समाजवाद और साम्यवाद "एक ही फली के दो दाने हैं।"

अमरीकी समाजवादियों के अत्यन्त सम्मानित नेता, नारमन थामस ने उत्तर दिया है कि साम्यवाद सच्चे समाजवाद का न केवल निश्चित विश्वासघात है, प्रत्युत वह 'सच्चे मार्क्सवाद' का भी उन्मूलन है। साम्यवाद और प्रजातांत्रिक समाजवाद एक ही फली से हो सकते हैं, परन्तु आज वे एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं और यह भिन्नता मात्रा में नहीं, प्रकार में है।

इस भिन्नता का इतिहास मार्क्स से भी अधिक पुराना है। राज्य के प्रति तथा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयुक्त साधनों के प्रति दृष्टिकोणों में समाजवादियों में युग-युग से मौलिक मतभेद रहा है। उनका प्राचीनतम सूत्र—"प्रत्येक से उसकी सामर्थ्य के अनुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार" मार्क्स से नहीं निकला है, बल्कि बाइबिल और यूनानी दर्शन की उपज है।

परन्तु इस सम्बंध में यह विचार कि इसकी प्राप्ति शक्ति द्वारा की जाय या समझा-बुझाकर, प्रजातांत्रिक और शान्तिपूर्ण कार्यों द्वारा या हिंसात्मक क्रान्ति और सर्वहारा की तानाशाही द्वारा की जाय, इससे सम्बन्धित समाज, उससे विकसित नेतृत्व तथा किसी विशिष्ट समाजवादी के दर्शन से

प्रभावित हुआ है।

१६ वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड में छायी हुई आर्थिक दीनता पर महान कैथोलिक राजनीतिज्ञ, सर थामस मोर ने अपना 'यूटोपिया' (कल्पना-स्वर्ग) लिखा। उन्होंने आदर्श समाज का वर्णन किया ह, और उन्होंने ऐसे शब्दों में श्रम-विभाजन और वस्तु–वितरण की आवश्यकता बतायी जिसे आज के बहुतेरे गम्भीर व्यक्ति स्तम्भित होकर साम्यवादी कहेंगे, परन्तु इसकी प्राप्ति के लिए उन्होंने कभी हिंसात्मक क्रान्ति का सुझाव नहीं दिया।

मार्क्स के पूर्व का अधिकांश "समाजवाद" धार्मिक प्रेरणा से सचमुच धार्मिक तथा तात्विक वातावरण में लिखा गया था। नारमन थामस ने जब न्यूयार्क के ब्रिक प्रेस्बीटेरियन चर्च से निकल कर अमरीकी समाजवादी दल में प्रवेश किया, तब वह एक दीर्घकालीन परम्परा का उत्तराधिकारी था।

राष्ट्रपति-पद के लिए छः बार के इस उम्मीदवार का जन-जीवन षड्यंत्रकारी और देशद्रोहात्मक कार्यों से इतना परे था कि उसकी ७० वीं वर्षगाँठ के अवसर पर एक सम्पादकीय लेख में यह कहा गया था कि नारमन थामस को व्यापक रूप से अमरीकी राष्ट्रीय आत्मा का एक प्रबल संरक्षक माना जाता है और साथ ही साथ वे साम्यवाद के कट्टर विरोधियों में भी हैं।

पश्चिमी समाजवादी, विशेषतः वे जो हिंसारहित 'मार्क्सवाद' को मानते हैं, समाजवाद की व्यावहारिक समस्याओं पर तीव्र मतभेद रखते हैं। स्वीडन, भारत, बर्मा, ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका जैसे लोकतांत्रिक देशों के लिए एक कामचलाऊ कार्यक्रम बनाने के लिए किसी भी कट्टर मार्क्सवादी को जाने या अनजाने उस मार्क्स के बारे में बहुत कुछ अध्ययन करना चाहिए, जिसका मार्क्सवाद से बहुत कम या युक्तिसंगत सम्बन्ध नहीं है।

वास्तव में अमरीकी इतिहास ने वर्ग-संघर्ष की मार्क्स की भविष्यवाणी को बड़ी स्पष्टता के साथ गलत सिद्ध कर दिया। यहाँ स्वतंत्र राजनीतिक संस्थाओं, विकासमान अर्थव्यवस्था, सम्पत्ति का व्यापक वितरण और कठोर वर्ग-रेखाओं की अनुपस्थिति, इन सब ने मिलकर सर्वहाराओं की सशस्त्र क्रान्ति को एक हल्का और विचित्र रूप प्रदान कर दिया है।

गत शताब्दी में क्रमिक सुधारों की यह प्रगति उतनी स्पष्ट नहीं थी, जितनी आज है। यदि हम याद करें कि सन् १९०० में एक अमरीकी व्यापारी, एक वर्ष में ही २ करोड़ ५० लाख डालर बिना एक सेंट भी आय-कर दिये, कानूनन हड़प गया, तो दो पीढ़ियों पूर्व के उग्र समाजवादियों

के भापण उसकी तुलना में कम विचित्र मालूम होंगे।

परन्तु अमरीका में आज सभी दिशाओं में परिवर्तन स्वीकार कर लिया गया है। नारमन थामस ने कहा है कि मजदूरों और पूंजीवादियों में महान संघर्ष का विचार इयूजीन डेव्स के समय सार्थक था, परन्तु अब नहीं। ब्रिटेन में आज मजदूर-सरकार के अन्तर्गत जो कुछ हो रहा है और अमरीका में जो कुछ तथाकथित पूंजीवादी पार्टी के अन्तर्गत हो रहा है, उनमें केवल मात्रा का अन्तर है। हम एक अस्वीकृत क्रान्ति के बीच से निकले हैं।

कुछ वर्ष पूर्व जब इसेक्स, कनेक्टीकट में हमारे कॉग्रीगेशनल चर्च के 'पब्लिक फोरम' की बैठक में नोरमन थामस का परिचय देने का भार मुझ पर पड़ा, तो मैंने संकेत किया कि समाजवादी दल के चौदह सूत्री कार्यक्रम में से, जिसके आधार पर वे पहलेपहल राष्ट्राध्यक्ष के लिए चुनाव लड़े थे, केवल बैंकों के राष्ट्रीय स्वामित्व के सम्बन्ध में कोई कानून नहीं बनाया गया, जिसका आज दोनों प्रमुख राजनीतिक दल समर्थन कर रहे हैं। सिनेटरों का प्रत्यक्ष चुनाव, आय-कर, सामाजिक सुरक्षा, आठ घण्टे का दिन और किसी समय की अन्य मौलिक समाजवादी मांगों का बहुत पहले से सम्मान हो रहा है।

कदाचित् यह भी कहा जा सकता है कि पश्चिमी योरोप और दक्षिण एशिया में साम्यवाद के विरुद्ध जो युद्धोत्तर प्रतिरक्षात्मक कार्रवाईयाँ की गयीं, उनका एक प्रमुख रूप, प्रत्यक्ष रूप से और अनुदार दलों पर उसके गहरे प्रभाव के द्वारा लोकतांत्रिक समाजवाद में पाया गया है।

हाल के अनुभवों से प्रकट है कि प्रजातंत्रात्मक समाजवादियों का विशेष ध्यान लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर रहा है, जिससे कम से कम, सार्वजनिक स्वामित्व की भाँति स्वेच्छापूर्ण सहकारी प्रयासों पर बल दिया जा सके और समाजवाद की अभिव्यक्ति के रूप में अत्यधिक राजतंत्र के विरुद्ध चेतावनी दी जा सके।

नारमन थामस ने कहा है, "अच्छे समाज की रचना तभी हो सकती है, जब विकास का प्रत्येक चरण उस युग के लोगों के लिए आशीर्वाद बन जाये, जिसमें वे रहते हैं। अमरीका में इसकी रचना उस हिंसा से नहीं हो सकती, जो प्रायः क्रान्ति शब्द के साथ जुटी रहती है। हमारी आधुनिक जटिल सभ्यता में, जिसमें हिंसा के अस्त्र इतने घातक और प्रभाव में इतने व्यापक हैं, व्यवस्थित हिंसा, अपनी प्रकृति के कारण ही, उस समाज को अपवित्र और लुंजपुंज कर देगी, जिसकी वह रचना करना चाहती है ।"

जैसा कि हम नई दिल्ली और बाण्डुग में देख चुके हैं, दक्षिणी एशिया के

नये प्रजातंत्रात्मक राष्ट्रों के अधिकांश नेता शान्तिपूर्ण तथा लोकतांत्रिक समाजवाद के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। वर्मा में समाजवादी सरकार है और भारत, लंका और हिन्देशिया की नीतियां लोकतांत्रिक समाजवाद की विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित हैं। पाकिस्तान और मिस्र की नयी सरकारों ने अपने देशों को 'इस्लामी समाजवाद' का आदर्श बताया है।"

'समाजवाद' सचमुच न केवल अफ्रीका, एशिया, और दक्षिणी अमरीका में एक पूर्ण लोकप्रिय शब्द है, प्रत्युत इन महाद्वीपों में वहाँ के अधिकांश निवासी समाजवाद का समर्थन करते हैं और अपने-आप को समाजवादी घोषित करते हैं। यदि अमरीका अपनी इस बात को रखना चाहता है कि प्रगति लोकतांत्रिक तथा शान्तिपूर्ण होनी चाहिए, तो उसे इस बात पर जोर नहीं देना चाहिए कि 'समाजवाद' और 'साम्यवाद' में कोई अन्तर नहीं है, बल्कि इसके विपरीत उसे इस अन्तर पर बल देना चाहिए कि प्रजातंत्र उन विचारों को प्राप्त करने का एक मार्ग है, जिन्हें समस्त विश्व के करोड़ों असाम्यवादी समाजवाद से सम्बन्धित करते हैं।

यह कहने के उपरान्त अमरीका में समानता के विकास और मानवीय गौरव की कहानी की ओर फिर मुड़ना उपयुक्त होगा, जो कदाचित् हिंसात्मक वर्गसंघर्ष की मार्क्सवादी विचारधारा के लिए इतिहास का एकमात्र प्रभावशाली उत्तर होगा।

× × ×

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में अमरीकी निगमों की बढ़ती हुई शक्ति से मजदूर-यूनियनों का उद्भव हुआ और आर्थिक प्रजातंत्र के क्रमिक विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई।

१८४० में कपड़े के कारखानों में ८० घण्टों का सप्ताह सामान्य बात थी, जबकि प्रजातांत्रिक प्रशासन ने संघीय मजदूरों के लिए दस घण्टे का दिन लागू किया। १८६८ में संघीय सरकार ने युद्धोत्तरकालीन रिपब्लिकन प्रशासन के अन्तर्गत क्रान्तिकारी ८ घण्टे के दिन की स्थापना में फिर से नेतृत्व किया, जिसे १८९० में एंजिल्स ने साम्यवादी घोषणापत्र की नयी भूमिका में साम्यवादियों के तात्कालिक महान उद्देश्य के रूप में घोषित किया। १९०० में अमरीका के उद्योगों में सामान्य रूप से दस घण्टे का दिन प्रारम्भ नहीं हुआ था, परन्तु वे थे उसी मार्ग पर।

एकाधिकार के विरुद्ध एक और भी प्रबल और तात्कालिक चुनौती

'पापुलिज्म' की ओर से दी गयी, जो किसानों और छोटे-छोटे व्यापारियों का एक नया राजनीतिक आन्दोलन था। वह पश्चिमी घास के मैदानों से पूर्वी व्यापारों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए उठा। शेरमन का ट्रस्ट–विरोधी अधिनियम १८९० में पुस्तकों के रूप में आया और तभी से व्यापारिक स्वतंत्रता के अधिकार-पत्र के रूप में बना हुआ है।

नये उदारवाद की शक्ति का अनुभव स्वयं रिपब्लिकन पार्टी में किया गया, जबकि थियोडर रूजवेल्ट, राबर्ट लाफोलेटे तथा अन्य प्रगतिवादियों ने निश्चय किया कि स्वतंत्र व्यवसाय-प्रणाली के लिए एकाधिकारों तथा बड़ी-बड़ी कम्पनियों के विनाश अथवा नियमन की आवश्यकता है। बीसवीं शताब्दी के ये प्रगतिवादी रिपब्लिकन लिंकन के इस सूत्र को नहीं भूले हैं कि "सरकार का समुचित उद्देश्य जनसमुदाय के लिए वही करना है, जो वह स्वयं अपने लिए करती, परन्तु वह स्वयं अपनी स्वतंत्र एवं एकाकी सामर्थ्य पर बिल्कुल कुछ नहीं कर सकती अथवा उतनी अच्छी तरह से नहीं कर सकती।"

१९१२ में टेडी रूजवेल्ट ने अनुदारवादोन्मुख प्रवृत्ति से भयभीत हो, अपने "बुल मूजरों" से विद्रोह करा कर उन्हें रिपब्लिकन सम्मेलन से बाहर निकाला और एक पुनर्गठित डिमोक्रेटिक पार्टी ने मशाल अपने हाथ में लिया। जिस 'पापुलिस्ट' नारे ने विलियम जेनिंग्स ब्यान को जन्म दिया, उसी ने नगरों के मजदूरों और प्रवासियों तथा दक्षिण और पश्चिम के छोटे-छोटे किसानों को मिला कर एक नयी शक्तिशाली राजनीतिक संस्था का संगठन किया। जब रिपब्लिकनों में फूट पड़ गयी, तब ब्यान के उत्तराधिकारी वुडरो विल्सन उस 'नयी स्वतंत्रता' के ठोस कार्यक्रम के साथ तैयार थे, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि आर्थिक कल्याण के लिए अमरीकियों के लोकतांत्रिक राजनीतिक अधिकारों का उपयोग साहस के साथ किया जा सकता है और किया जाना चाहिए।

न्यास-विरोधी कानूनों को दृढ़ करके, फेडरल रिजर्व एक्ट के साथ साख को सुस्थिर करके और प्रजातंत्रात्मक विकास के प्रमुख साधन, विकासमान आय-कर, जिसको १९०९ में रिपब्लिकन कांग्रेस ने स्वीकार किया था, का प्रयोग करके विल्सन ने बड़ा ही प्रभावशाली प्रारम्भ किया; परन्तु १९११ में विल्सन का घरेलू कार्यक्रम, प्रथम विश्व-युद्ध के संकट में एक किनारे रख दिया गया और सामान्य अवस्था की धुन में, जो १९२० के दशक में शुरू हुई, उसे लगभग भुला ही दिया गया।

फिर भी, इसके परिणाम को हमेशा के लिए रोका नहीं जा सकता था। जव १९२९-३३ की विकराल मन्दी ने अर्थव्यवस्था को विलकुल रोक दिया और एक करोड़ ४० लाख लोगों को वेकार कर दिया, तव यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि अमरीका के वादे का सम्मान किया जाय या नहीं। कुछ निराश लोगों ने ऊंची इमारतों से कूद कर जानें दे दीं। उससे अधिक, परन्तु फिर भी थोड़े ही लोग यह विश्वास करते कि अमरीका स्वतंत्रता के उपयोग के द्वारा समानता की समस्याओं के समाधान में अपने प्रयास के अन्त तक पहुँच चुका है, मार्क्स के हिंसात्मक वर्गसंघर्ष के उपदेश की ओर मुड़ गये; किन्तु अपनी समस्याओं को लोकतांत्रिक ढंग से सुलझाने के लिए अमरीकी संकल्प ने शीघ्र ही अपना जोर दिखाया।

एक वार फिर लोगों को अपनी ऐतिहासिक आस्था के प्रति जागरूक करने के लिए एक मनुष्य और एक राजनीतिक साधन पैदा हुए। सुव्यवस्थित और प्रामाणिक ढंग से यह प्रदर्शित करते हुए कि अमरीका अपने राष्ट्र के एक तिहाई भूखे, नंगे और वेघरवार लोगों को अवसर की समानता प्रदान करने में कहाँ तक अपने कर्तव्यों का पालन करने में असफल हुआ है, फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट ने एक नये अभियान के लिए न केवल सरकारी साधनों को, वल्कि जनता के उत्साह को भी संगठित और गतिशील वनाया। डेढ़सौ वर्ष पूर्व अमरीका ने 'स्वराज्य भवन' में जो मार्ग निश्चित किया था, नया व्यवहार (न्यू डील) उसीका एक अनिवार्य अंग था। यद्यपि रूजवैल्ट तथा उसके समर्थकों ने मंदी के विरुद्ध अपना संघर्ष प्रारम्भ किया, तथापि उन्हें शीघ्र ही मालूम हो गया कि विना पूर्ण सामाजिक परिवर्त्तन के विकराल मंदी को समाप्त नहीं किया जा सकता और न उसकी प्रतिक्रिया को रोका जा सकता हैं।

रूजवेल्ट ने वाद में कहा, "अमरीकी इतिहास के प्रारम्भ से ही हम लोग परिवर्तन में, निरन्तर एक शान्तिपूर्ण क्रान्ति में, संलग्न हैं, ऐसी क्रान्ति जो सावधानी और शान्ति के साथ परिवर्तित स्थितियों के अनुकूल वनती चली जा रही है, जिसमें न तो वन्दी-शिविर की जरूरत है और न 'खाई में चूने' जैसे क्रूर तरीकों की।"

अमरीका की चालू शान्तिपूर्ण क्रान्ति की भावना के साथ सरकार ने राजनीतिक अधिकार-विधेयक में निम्नलिखित आर्थिक अधिकारों को जोड़ने की कार्रवाई की :–

किसानों तथा मजदूरों को उचित वेतन का अधिकार ;

अभावमुक्त वृद्धावस्था की आशा का अधिकार;

मजदूरों को अपनी इच्छा के अनुसार यूनियन संगठित करने और उन यूनियनों का, अपने भाग्य-सुधार के लिए, उपयोग करने का अधिकार।

रहने के लिए एक अच्छे निवास-स्थान का अधिकार;

राष्ट्र के साधन-स्रोतों के लाभों में उचित भाग का अधिकार।

अभाव के विरुद्ध इस प्रथम राष्ट्रीय युद्ध में संकटकालीन सहायता, जनकार्य, 'टी. वी. ए.' प्रतिभूत तथा विनिमय-अधिनियम, उचित श्रम-स्तर अधिनियम, सामाजिक सुरक्षा, राष्ट्रीय श्रम-सम्बन्ध अधिनियम और खेती की आय की न्यूनतम सीमा निर्धारित करने के लिए एक कार्यक्रम भी शामिल है।

एक विशिष्ट अर्थ में नया व्यवहार (न्यू डील), सभी लोगों को रोजी देने के अपने उद्देश्य में अपर्याप्त सिद्ध हुआ। १९३९ में भी ८० लाख लोग बेकार थे। द्वितीय विश्वयुद्ध ने हमें सिखाया कि युद्धकालीन पूर्ण उत्पादन और अच्छी नौकरियाँ शान्तिकाल में भी प्राप्त हो सकती हैं, यदि सरकार और व्यापारी आवश्यक नेतृत्व प्रदान करें और लोगों में आवश्यक इच्छा हो।

सभी श्रेणियों के अमरीकी लोगों के लिए सार्वभौमिक सैनिक सेवा और जी. आई. अधिकार विधेयक, जिसने उन करोड़ों अमरीकियों को उच्च शिक्षा प्रदान की, जो शायद अपने-आप नहीं प्राप्त कर सकते थे— इन सभी ने मिलकर एक नई किस्म की मिश्रित अर्थव्यवस्था को जन्म दिया, जो लगभग वर्गविहीन समाज के निकट थी।

इस उल्लेखनीय आलेख की ओर संकेत करते हुए हमें इस तथ्य का भी सामना करना चाहिए कि १९२९ से युद्ध के बिना हम अपने सभी आदमियों को काम नहीं दे पाये हैं और युद्ध के बाद उत्पादन के अभाव की पूर्ति अथवा विशाल प्रतिरक्षा कार्यक्रमों की आवश्यकता की पूर्ति कर पाये हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उत्पादन और शान्ति परस्पर अलग-अलग चीजें हैं। यदि आने वाले वर्षों में सोवियत यूनियन हमें विश्वास दिलाता है कि वह सचमुच निर्दोष निःशस्त्रीकरण को निरीक्षण-सहित स्वीकार कर लेगा तो अमरीका के लिए घरेलू आर्थिक दबावों के कारण पीछे हटना मूर्खता होगी। स्कूलों, सड़कों और अस्पतालों का हमें निर्माण करना है, गन्दी बस्तियों को समाप्त करना है, नगरों का आधुनिक ढंग पर नियंत्रण करना है; देश और विदेश में अमरीकी उत्पादन के लिए अभी भी निस्सीम संभावनाएँ हैं।

× × ×

गैरसरकारी निगमों के भीतर भी कुछ ऐसी चीजें हो रही हैं, जो मार्क्स को भी चकित कर देतीं और जो हमारी अर्थव्यवस्था को विशेष गतिशीलता प्रदान कर रही हैं। पूंजीवादी विकास ने, सचमुच, सैकड़ों विशालकाय कारपोरेशनों की स्थापना की, जो अमरीकी तथा सम्पूर्ण पश्चिमी अर्थव्यवस्था के प्रभावशाली अंगों को नियंत्रित कर रहे हैं। अरवों डालर वाले कुछ कारपोरेशनों के पास हमारे संघ के अनेक राज्यों से भी अधिक आर्थिक साधन-स्रोत हैं। फिर भी, इस विकास के परिणामों पर मार्क्सवादी भविष्यवाणियाँ असत्य सिद्ध हुई हैं। कहीं-कहीं पर संगठित विकास के द्वंद्वात्मक सिद्धान्त ने अप्रत्याशित रूप ग्रहण कर लिया। कदाचित् यह तब हुआ, जब हैनरी फोर्ड ने आठ घण्टे के दिन की घोषणा की और निर्णय किया कि विशाल उत्पादन के लिए, आवश्यक अधिक खपत के लिए, मूल्यों का कम होना तथा वेतन का बढ़ना जरूरी है। कदाचित् उसी समय जनरल मोटर्स ने यूनाइटेड ओटोमोवाइल वर्कर्स (सी. आई. ओ.) के साथ प्रथम ठेके पर हस्ताक्षर किये।

अब अधिकांश निगमित मण्डल स्टाकहोल्डरों के हितों के साथ-साथ कारपोरेशन के हित और मजदूरों की भलाई का भी ध्यान रखते हैं। १९५४ में जब व्यापार ढीला होने लगा तब एक प्रमुख कारपोरेशन ने तुरन्त ही सामान्य हित के लिए अरवों डालर के एक विस्तार-कार्यक्रम की घोषणा कर दी। आज कुछ प्रमुख कारपोरेशन अमरीकी कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में अन्वेषण कार्य के लिए अपार धनराशि की सहायता प्रदान करते हैं।

हमारी चालू अमरीकी क्रान्ति का सबसे अधिक आश्चर्यजनक विकास है, उत्पादन के साधनों पर मजदूरों के स्वामित्व की दिशा में प्रगति, जिसका साधन सर्वशक्तिमान राज्य नहीं है, अपितु पेन्शन तथा कल्याणकारी निधियों से उन कारपोरेशनों के बड़े-बड़े शेयरों का मजदूरों द्वारा खरीदा जाना है, जिनकी स्थापना युद्ध के समय से की गयी है। श्रम-ठेका, जो कभी मालिक द्वारा निर्देशित एकपक्षीय मामला था, अब अधिकांश उद्योगों में सौदेबाजी की प्रक्रिया का परिणाम है, जो एकपक्षीय कदापि नहीं है। आश्वस्त वार्षिक वेतन का प्रारम्भ, जिसको फोर्ड और जनरल मोटर्स ने १९५५ में स्वीकार किया, समय का एक दूसरा सूचक है।

फिर भी, अमरीका तथा पश्चिम अभी भी अपनी आर्थिक समस्याओं का हल नहीं कर पाये हैं। स्वचालित यंत्र और भी अनेक समस्याएँ पैदा कर देंगे। मंदी अभी भी एक भयानक खतरा है; गन्दी बस्तियाँ अभी भी मौजूद हैं और

उच्चतम न्यायालय के निर्णयों द्वारा महान लाभों की आशाओं के बावजूद जातिगत भेदभाव के आर्थिक प्रभाव आज भी मौजूद हैं।

परन्तु एक बात स्पष्ट है। अमरीकी लोगों ने यह सीख लिया है कि प्रचुर उत्पादन खतरे का प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि हमारे तथा विश्व के लिए अवसर प्रदान करता है। यह न मानने का कोई कारण नहीं है कि हमारी राजनीतिक संस्थाएँ इतनी लचीली नहीं होंगी कि किसी भी नयी सामाजिक तथा आर्थिक समस्या का समाधान कर सकेंगी। यद्यपि हमारे सिद्धान्तों और व्यवहार में अन्तर है, फिर भी यह निश्चित रूप से कम हुआ है और हम अतीत की किसी भी अन्य सभ्यता की अपेक्षा सामाजिक और आर्थिक न्याय के बहुत निकट पहुँच गये है।

मार्क्स का यह कथन ठीक ही था कि पूंजीवाद की नयी प्रणाली को मानव-शोषण की प्राचीन पद्धति के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। परन्तु उनका यह विश्वास बिल्कुल ही गलत था कि शान्तिपूर्ण और प्रजातंत्रात्मक ढंग से जनता की क्रयशक्ति और अर्थव्यवस्था को सामान्य कल्याण के अनुकूल बनाना असंभव है।

१७७६ में राजनीतिक स्वतंत्रता के जनक और १९५५ में उद्योगवाद के विश्वव्यापी आदर्श अमरीका ने, व्यवहारिक समझौते के अनेक रूपों के द्वारा इन दो महाशक्तियों के प्रबल विरोधों में समन्वय स्थापित करने में सफलता प्राप्त की है।

उन्तीसवाँ प्रकरण

अमरीका का साम्राज्यवादी प्रयोग

पश्चिमी सीमान्तों के अन्त से अमरीकियों के लिए संकट का रूप अपेक्षाकृत उससे अधिक प्रकट हुआ, जितना वे उस समय समझ सके थे। अनेक पीढ़ियों से ओरेगन तथा कैलीफोर्निया शाश्वत लक्ष्य-स्थल बने हुए थे। एक बार वहाँ पहुँच कर बस जाने पर और संघ में सम्मिलित हो जाने पर अमरीकी बेचैनी और पाबंदी महसूस करने लगे।

बीसवीं शताब्दी में पहली बार अमरीकियों की एक पीढ़ी झंडे में नया सितारा जोड़े बिना गुजर गयी। 'परिलक्षित भाग्य' अब कहाँ गया? अमरीका की औद्योगिक शक्ति जब अभूतपूर्व गति से विस्तृत हो रही थी, तब प्रशान्त महासागर ने उनके सामने यह तथ्य प्रकट किया कि, वे महाद्वीप के छोर तक पहुँच गये हैं।

१८९८ के अमरीका और स्पेन के युद्ध के साथ अमरीका प्रौढ़ अवस्था प्राप्त कर रहा था। इसकी महाद्वीपीय कहानी समाप्त हुई और उसकी विश्व-शक्ति के युग का प्रारम्भ हुआ। स्पेनिश शासन के विरुद्ध क्यूबा-विद्रोह में अमरीकी सहायता, अपने क्रान्तिकारी अतीत के प्रति जागरूक पड़ोसी राष्ट्र के लिए स्वाभाविक ही थी। तथापि युद्ध का एक अनपेक्षित परिणाम यह हुआ कि फिलीपाइन्स, गुआम और पोर्टो रीको में स्पेन के शासन के स्थान पर अमरीकी साम्राज्यवादी शासन प्रारम्भ हुआ। इस उपनिवेश-विरोधी परम्परा से साम्राज्यवादी सत्ता की संक्रांतिकालीन विडम्बना बीसवीं शताब्दी की अमरीकी नीति की एक पहेली है।

इतिहास का अध्ययन यह प्रकट कर देता है कि शक्तिशाली राष्ट्रों के लिए साम्राज्यवाद का प्रलोभन प्रायः एक मौलिक पाप है। अमरीका के अत्यधिक क्रान्तिकारी क्षणों में भी और विदेशी शासन के विरुद्ध दक्षिणी अमरीकी विद्रोह का समर्थन करते हुए भी, अथवा दूरस्थ यूनानी विद्रोहियों को सहायता भेजते हुए भी, अमरीकी अपने देश में ही बिल्कुल घरेलू 'इण्डियन कबीलों' के साथ स्पष्टतः साम्राज्यवादी ढंग से व्यवहार कर रहे थे। जेम्स-टाउन में उतरने के बाद तीन शताब्दियों में गोरे अमरीकियों ने बड़े ही व्यव-स्थित ढंग से तथा क्रूरता के साथ मूल 'इण्डियन' निवासियों का मूलोच्छेदन

कर दिया। जो बच भी रहे, उन्हें सुरक्षित सीमाओं में रहने के लिए बाध्य किया गया। पश्चिम की ओर बढ़ जाने की नये अमरीकियों की अधीरता में मूल अमरीकियों के अधिकारों की प्रायः उपेक्षा की गयी।

इसी प्रकार, एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अपनी उद्दण्ड युवावस्था में हम लोगों ने गोली मारने की कुछ सिपाहियाना आदत, बिना किसी झिझक के बना ली थी और फलतः उत्तर और दक्षिण के पड़ोसियों के साथ वैसा ही व्यवहार भी किया। १८१२ में हैनरी क्ले तथा उसके 'लड़ाकू बाजों' (War Hawks) ने कनाडा को भी मिला लेने के अपने दृढ़ निश्चय की घोषणा बड़ी आसानी से कर दी। कुछ ही वर्षों के भीतर स्पेन-अधिकृत फ्लोरिडा में ऐण्ड्रयू जेक्सन सैनिक कार्रवाई के लिए खोज कर रहा था।

एक पीढ़ी बाद जब हमारी महत्वाकांक्षाएँ मिस्सीसीपी से भी आगे बढ़ गयी थीं, तब १८४६ में हमने युद्ध करके मैक्सिको से विशाल दक्षिण पश्चिमी हिस्से को हथियाने में कोई झिझक नहीं दिखायी और कनाडा के एक भाग पर ब्रिटेन के विरुद्ध लोकप्रिय नारा—"चौवन-चालीस अथवा युद्ध" के साथ अपना दावा पेश करने में संकोच नहीं किया।

ऐतिहासिक अनुपात का प्रश्न यह था कि अपनी एकान्तता से विश्व के व्यापक सम्पर्क में आने पर हम अपने साम्राज्यवादी रूप में निकलेंगे या अपने प्रजातांत्रिक क्रान्तिकारी रूप में? इसीलिए स्पेन और अमरीका के युद्ध में हमारे कार्यों और उन कार्यों पर हमारे वादविवादों को याद करना चाहिए और उनकी समीक्षा करनी चाहिए, जबकि हम उपनिवेश-विरोधी राष्ट्रों से उत्तरोत्तर निकट सम्बंध स्थापित करते जा रहे हैं।

बाद में यह समझाते हुए कि निर्णय कैसे किया गया, राष्ट्राध्यक्ष मकिनले ने बताया, "सच तो यह है कि मैं फिलीपाइन्स नहीं चाहता था और जब वह देवताओं से हमें उपहारस्वरूप प्राप्त हुआ तो मैं समझ नहीं पाया कि उसके साथ क्या किया जाय?"

उन्होंने कहा, "एक रात को वह मेरे समक्ष इस प्रकार प्रकट हुआ— मैं नहीं जानता कि क्यों, परन्तु मुझे लगा (१) कि हम उसे स्पेन को नहीं दे सकते थे, क्योंकि वैसा करना कायरता होती और प्रतिष्ठा के प्रतिकूल होता; (२) कि हम लोग उसे जर्मनी या फ्रान्स के हाथों में नहीं दे सकते थे क्योंकि पूर्व में वे हमारे व्यापारिक प्रतिद्वंद्वी थे; वैसा करना अनुचित और अश्रेयस्कर होता; (३) कि हम उसको उसी के भाग्य पर नहीं छोड़ सकते

थे—वहाँ के लोग स्वराज्य के अयोग्य थे और वहाँ पर शीघ्र ही अराजकता तथा कुशासन फल जाता तथा स्पेन के शासन से भी बुरी दशा हो जाती; और (४) कि हमारे सामने उसको ले लेने के सिवाय और कोई चारा ही न था। फिलीपाइनों को शिक्षित करने, उनका उत्थान करने तथा उनको सभ्य और ईसाई बनाने तथा अपने भाइयों की तरह, जिनके लिए ईसामसीह न उत्सर्ग किया, ईश्वर की कृपा से उनके साथ सर्वोत्तम व्यवहार करने का भार हम पर है। तब मैं सोने के लिए चला गया और डट कर सोया।"

अन्य अमरीकी लोग राष्ट्राध्यक्ष की भाँति डट कर नहीं सोये। सिनेट ने जिस समय पेरिस-संधि को स्वीकार करने को प्रश्न उठाया, जिससे स्पेन के साथ युद्ध का अन्त हो गया था, उस समय भी बहुतों ने अमरीकी क्रान्तिकारी आदर्शों पर बड़ी जोरदार भाषा में बल दिया।

शताब्दी के अन्तकाल में कांग्रेस में जो विरोधी तर्क भवन में गूँज रहे थे, उनके प्रस्तुतकर्ता उस समय के दो अत्यधिक शक्तिशाली रिपब्लिकन सिनेटर थे। उनमें से एक मासाचुसेटस के जार्ज फ्रिस्बी होर थे, जो सिनट में पिछले सत्ताईस वर्षों से नेता थ, और जिनकी लड़की ने मेरे चाचा, स्प्रिंगफील्ड के सैमुएल बोल्स के साथ शादी की थी। दूसरे थे इण्डियाना के ऐल्बर्ट बिवरिज। वह एक ऐसा वादविवाद था, जिस पर कुछ विस्तार से विचार कर लेना उचित होगा, क्योंकि इसकी समस्याएँ आज भी हम पर दबाव डाल रही हैं और जिस जोर के साथ राष्ट्राध्यक्ष मकिनले का विरोध किया गया था, वह हमारी उपनिवेश-विरोधी परम्पराओं की शक्ति का परिचायक है।

जनवरी, १८९९ में सिनेट में सिनेटर होर ने विस्तार की नीति के विरोध का नेतृत्व करते हुए यह अभियोग लगाया कि द्वीप के प्रदेशों को जबर्दस्ती मिलाना स्पष्टतः हमारी स्वतंत्रता की घोषणा के विपरीत है।

उन्होंने उस मौलिक प्रश्न को ऐसी भाषा में प्रस्तुत किया, जिसकी प्रशंसा जेफर्सन और लिंकन भी करते। "क्या यह सच है कि सभी मानव समान पैदा हुए हैं, अथवा यह केवल कुछ लोगों के लिए ही सही है? क्या यह सच है कि विधाता ने उन्हें कुछ अखण्ड अधिकार प्रदान किये हैं या यह केवल कुछ ही लोगों के लिए सही है? क्या यह सच है कि इन अधिकारों में जीवन, स्वतंत्रता और सुख के अधिकार हैं, अथवा वे केवल कुछ ही लोगों के लिए हैं? क्या यह सच है कि शासक अपनी उचित शक्ति शासित की सहमति से प्राप्त करता है, या वह केवल कुछ ही लोगों की सहमति से

प्राप्त होती है ?"

मासाचुसेट्स के सिनेटर ने अपने प्रश्नों के उत्तर स्वयं ही दृढ़ता के साथ दिये, "जब तुम फिलीपाइन्स द्वीपसमूह में प्रभुत्व और विजय के प्रतीक-स्वरूप झंडे को ऊँचा करते हो, तो 'स्वराज्य भवन' से उसे नीचे उतार देते हो।"

सिनेटर विवरिज का उत्तर बड़ा स्पष्ट था—"स्वतंत्रता का घोषणा-पत्र स्वशासित लोगों द्वारा स्वशासित लोगों के लिए लिखा गया था। यह केवल उन लोगों पर लागू होता है, जो स्वशासन के योग्य होते हैं। किस प्रकार कोई मनुष्य, स्वशासित जनता के निर्वाचन—अधिकार का, स्पेनिश प्रणाली और विचारों में शिक्षित-दीक्षित मलय की बर्बर जाति के बच्चों पर, दुरुपयोग करने का साहस कर सकता है ?"

घोषणा पर लिंकन के उस उत्कृष्ट भाषण की विवरिज को याद दिलाते हुए होर ने उत्तर दिया, जिसमें शहीद राष्ट्राध्यक्ष ने इस भावी संभावना से आगाह किया था कि, कुछ लोग, कुछ गुट और कुछ स्वार्थ यह सिद्धान्त स्थापित कर सकते हैं कि धनियों, गोरों और अमीरों के अतिरिक्त तथा एंग्लो सेक्सन जाति के अतिरिक्त अन्य और किसी को जीवन, स्वतंत्रता और सुख की सुविधा का अधिकार नहीं है। लिंकन ने अपने अमरीकी साथियों को सलाह दी थी कि, वे स्वतंत्रता की घोषणा का फिर से अध्ययन करें और उस फव्वारे की ओर लौटें, जिसका जल 'क्रान्ति के रक्त' के समीप उछलता है।

सिनेटर होर ने तब भाषण समाप्त करते हुए कहा, "जिन सिद्धान्तों को मैं मानता हूँ, वे इस पृथ्वी के अत्यन्त व्यावहारिक राजनीतिज्ञों एवं अत्यन्त व्यावहारिक पीढ़ी के सिद्धान्त हैं।" अब्राहम लिंकन ने कहा, "कोई भी मनुष्य कभी किसी दूसरे का स्वामी बनने के लिए नहीं बनाया गया। कोई भी राष्ट्र कभी दूसरे राष्ट्र का स्वामी बनने के लिए नहीं पैदा हुआ। मैं इस बात को स्वीकार नहीं करता कि हमारे प्रथम सौ वर्षों की शिक्षा यह है कि स्वतंत्रता की घोषणा और संविधान असफल रहे और अमरीका बीसवीं शताब्दी को वहीं से प्रारम्भ करे, जहाँ से स्पेन ने १६ वीं शताब्दी प्रारम्भ की थी।"

परन्तु सिनेटर विवरिज ने एक ऐसा व्यंग्यात्मक उत्तर दिया, जिसने विरोधियों को खामोश कर दिया। "तुम लोग जो यह कहते हो कि घोषणा सब मनुष्यों पर लागू होती है, तो इसे अमरीकी 'इण्डियनों' के लिए अस्वीकार करने का साहस कैसे करते हो ? और यदि घर में तुम 'इण्डियनों' के लिए

अस्वीकार करते हो, तो तुम उसे मलाया में कैसे लागू करने का साहस करते हो ?"

विवरिज ने रुडयार्ड किपलिंग की-सी भाषा में जोर से कहा "अमरीकी साथियो ! हम लोग ईश्वर के चुने हुए लोग हैं। परमात्मा की अनुकम्पा हम पर है। उसकी शक्ति ने पूर्व में डिवी को प्रेरित किया और स्वतंत्रता के जन्म-दिवस के अवसर पर स्पेनिश जहाजी बेड़े को हमारे हाथों में सौंप दिया।

"उसके महान उद्देश्य झण्डे की प्रगति में प्रकट होते हैं, जो कांग्रेस और मन्त्रिमण्डल के इरादों से भी आगे बढ़ जाते हैं और हमको दिन में बादल की भाँति और रात में ज्योतिस्तम्भ की भाँति ऐसी स्थितियों में ले जाते हैं जिनकी सीमित वुद्धि कल्पना भी नहीं कर सकती। हम किसी भी ऐसी भूमि से वापस नहीं आ सकते, जहाँ भाग्य ने हमारा झण्डा फहरा दिया है।"

जब ऐतिहासिक मतभेद १९०० के चुनाव-आन्दोलन में विलीन हो गया, तब विवरिज ने घोषित किया, "जहाँ झण्डा हमें ले जाता है, हम जाते हैं; क्योंकि हम जानते हैं कि जो हाथ इसे सँभाले हुए हैं, वे ईश्वर के अदृश्य हाथ हैं।" परन्तु इस बार उसके अमरीकी साम्राज्यवादी तर्कों का उत्तर राष्ट्रपति-पद के लिए एक उम्मीदवार ने दिया।

विलियम जैनिंग्स ब्र्यान ने, जो साम्राज्यवाद को निर्वाचन-अभियान की प्रमुख समस्या बनाना चाहता था, घोषित किया, "हम लोग एक अन्य संकट तक पहुँच गये हैं। साम्राज्यवाद का प्राचीन सिद्धान्त, जो एक शताब्दी पूर्व ही हमारे देश से लुप्त हो गया, पुनः अटलांटिक पार करके हमारी धरती पर प्रजातंत्र को घातक झगड़े में फँसा देने के लिए चुनौती लेकर आया है.....। क्या अमरीकी जनता क्रान्ति के युद्ध के लिए अब प्रायश्चित करने के लिए इच्छुक है और फिलीपाइनवासियों पर उसी शासन-प्रणाली को थोपने के लिए तैयार है, जिसका उपनिवेशवादियों ने तलवार और वन्दूक से विरोध किया था ?"

ब्र्यान ने चेतावनी दी, "जो इस राष्ट्र को साम्राज्यवाद के जीवन की ओर ले जाना चाहते हैं, उन्हें स्पष्ट रूप से न केवल फिलीपाइनों पर साम्राज्यवाद के प्रभाव पर विचार करना चाहिए, वल्कि अपने राष्ट्र पर इसके प्रभाव का भी अनुमान करना चाहिए। हम फिलीपाइन्स में स्वशासन के सिद्धान्त का विरोध यहाँ अपने सिद्धान्त को कमजोर बनाये विना नहीं कर सकते।"

परन्तु, महत्वाकांक्षा, गर्व और "साम्राज्य की गंध" १९०० के हमारे

अन्तिम निर्णय में समाविष्ट है। अन्त में फिलीपाइनों को स्वतंत्रता देने के प्रस्ताव के फलस्वरूप ऐसी गाँठ पड़ गयी, जिसे उपराष्ट्रपति ने अपने निषेधात्मक मत से भंग किया। उसके पहले दिन फिलीपाइनों ने अपने नवीनतम साम्राज्यवादी स्वामियों के विरुद्ध एक नयी क्रान्ति का सूत्रपात किया था, जिसके समाचार ने अन्तिम क्षण में अनेक सिनेटरों को अपने विचार परिवर्तित करने के लिए विवश कर दिया था।

आने वाले दशकों में अमरीकी साम्राज्यवाद के कुछ और छिटपुट उदाहरण हैं। मैक्सिको और मध्य अमरीका में जलसेना का प्रायः परराष्ट्र-नीति के साधन के रूप में प्रयोग किया गया था।

१९११ में थियोडर रूजवेल्ट ने, जो मृदुभाषी होने और हाथ में बड़ी छड़ी लेकर चलने के लिए प्रख्यात थे, कोलम्बिया के विरुद्ध पनामा-क्रान्ति के समय जिस प्रकार उसका संचालन किया था, उसके बारे में जोरदार भाषण किया। यह एक ऐसी क्रान्ति थी, जिसमें उनकी उत्साहपूर्ण सहमति थी और जिसने पनामा नहर के निर्माण का मार्ग खोल दिया। उन्होंने कहा, "मैंने नहर क्षेत्र को ले लिया; कांग्रेस इस पर विवाद करे।"

तथापि साम्राज्यवाद के साथ मिलन के खुशी के दिनों में भी ऐसे कार्यों के विरोधी अपने देशवासियों को अमरीकी क्रान्तिकारी परम्पराओं की याद दिलाते रहे और प्रत्येक ऐसी नीति का विरोध करते रहे, जो इस परम्परा के प्रतिकूल होती थी। इंग्लैण्ड की भाँति, जहाँ लोकतांत्रिक चेतना के विकास ने भारत में मौलिक सुधार करवाये और भारतीय स्वतंत्रता के प्रति सहानुभूति पैदा की, अमरीका में भी फिलीपाइन्स के लिए पूर्ण स्वतंत्रता का विचार धीरे-धीरे जोर पकड़ता गया। १९३४ में कांग्रेस ने औपचारिक रीति से फिलीपाइनों को इस प्रकार की स्वतंत्रता का वचन दिया और ४ जुलाई, १९४६ को उस वचन को पूरा कर दिया।

पूर्टो रीको द्वीप में नये राष्ट्रमण्डल-सम्बन्ध के अन्तर्गत द्वीपीय मामलों के लिए पूर्ण स्वशासन प्रदान किया गया, यद्यपि परराष्ट्र नीति और प्रतिरक्षा अमरीकी हाथों में ही है। स्वयं पूर्टो रीको ने अमरीकी सम्पर्क के अपने लाभों को न खो देने की दृष्टि से इस सन्दिग्ध सम्बंध को स्वतंत्र मत से स्वीकार किया।

साम्राज्यवादी उत्तर अमरीकी परम्परा के विरुद्ध था और एक ही पीढ़ी में अमरीका के साम्राज्यवादी प्रयोग समाप्तप्राय हो चुके थे।

तीसवाँ प्रकरण

विल्सन द्वारा अमरीकी स्वप्न का विस्तार

अमरीका के विश्व-सम्बंधी इरादों की परीक्षा स्पेन-अमरीकी युद्ध के वाद एशिया के साथ इसके प्रथम प्रारम्भिक संघर्ष में नहीं हुई, वल्कि उस समय हुई जव प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान में तथा उसके वाद वह युद्ध-ध्वस्त पश्चिमी सभ्यता के केन्द्र योरोप में पूर्ण शक्ति के साथ लौटा। जिस प्रकार अमरीका उस युद्धकाल में चुपचाप ऋणी से ऋणदाता वन गया, उसी प्रकार अमरीकी औद्योगिक एवं सैनिक शक्ति ने महाद्वीपीय शक्ति को पुराने विश्व से नये विश्व में स्थानान्तरित कर दिया।

विश्व के मामलों में अपनी वापसी के वाद अमरीका ने विश्व-नेतृत्व की परीक्षा में किस प्रकार सफलता प्राप्त की, यह आज जो कुछ अमरीका में हो रहा है, जवकि उसकी विश्व-शक्ति अपने मध्यान्ह में है, उससे महत्वपूर्ण सम्वन्ध रखता है।

वुडरो विल्सन ने, स्मृति के उन्हीं रहस्यमय धागों से प्रेरित होकर, जिन्होंने घोषणा के सिद्धान्तों और संघीय विधान को धरती पर अन्तिम आशा के रूप में लिंकन को दिखाया, अमरीकी जनता को उस महान स्वप्न की ओर आमंत्रित किया, जिसके विना यह स्वतंत्र राष्ट्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता।

विल्सन को विश्वास था कि अमरीका का जन्म मानवमात्र को एक करने के लिए हुआ है। परन्तु जैसा कि उसका विचार था, यदि, अमरीका के लिए इस महान कार्य को पूरा करने का समय आ गया था, यदि महासागर सीमाएँ न वन कर विश्व में अमरीकी वापसी के लिए आमंत्रण वन गये थे, तो न तो सीधे साम्राज्यवाद और न शक्ति का साम्राज्यवादी सन्तुलन ही अमरीका का मार्ग था।

उन्होंने कहा, "मानवता को केवल प्रेम, सहानुभूति और न्याय से एक साथ रखा जा सकता है। अमरीका को यह समझना चाहिए, क्योंकि वही विश्व का एक मात्र देश है, जिसने वार-वार पुनर्जन्म का अनुभव किया है।"

१९१५ में फिलाडेलफिया में वनाये गये नागिरिकों की एक सभा में उन्होंने इस वात को समझाते हुए कहा, "अन्य देश अपने ही मूल निवासियों की वृद्धि पर नर्भर करते हैं। यह देश प्रवल पुरुषों और विकासोन्मुख स्त्रियों की महान संस्थाओं

के साथ ऐच्छिक सम्पर्क स्थापित करके नये सूत्रों से निरन्तर शक्ति प्राप्त कर रहा है। इस प्रकार स्वतंत्र जनता की स्वतंत्र इच्छा के उपहार से यह देश पीढ़ी दर पीढ़ी, उसी प्रक्रिया से, जिससे इसकी प्रारम्भ में रचना हुई थी, निरन्तर नवीनता प्राप्त करता जा रहा है।"

न्यूयार्क के वन्दरगाह में स्वतंत्रता की मूर्ति पर एम्मा लजारस ने, जो लेख उत्कीर्ण किया था, वही कदाचित् राष्ट्राध्यक्ष के मस्तिष्क में था :–

अपने थके दरिद्र,
स्वतंत्र होने के लिए विकल जनता,
अपने विस्तृत तटों की निकृष्ट गन्दगी,
मुझे दो;
वेघरवार, तूफानों से त्रस्त,
इन सभी लोगों को मेरे पास भेजो;
मैं स्वर्णद्वार पर दीपक लिए खड़ा हूँ।

ऐसे नये नागरिकों के लिए विल्सन की "अत्यावश्यक सलाह" थी कि वे न केवल अमरीका के विषय में ही सोचें, प्रत्युत, सच्चे अमरीकी होने के लिए सर्वदा सर्वप्रथम मानवता के वारे में सोचें।

विजय की भूलों में अमरीका के पड़ जाने पर विल्सन ने खेद प्रकट किया। उन्होंने कहा, "यदि हमारे उद्देश्य आक्रमक और महत्वाकांक्षाएँ लोभपूर्ण हैं, तो राष्ट्र के रूप में वे हमारी विचारहीनता के परिणाम हैं और हमने उठाकर उन्हें एक ओर रख दिया है। अमरीका के समक्ष महान उद्देश्य है, जो केवल अमरीकी महाद्वीप तक ही सीमित नहीं है। ऐसी परिस्थिति में अमरीका जब कभी किसी अवसर पर केवल अपने लिए संघर्ष करता है तो समझो कि वह अपनी परम्पराओं को भूल गया है जो यह प्रदर्शित करेगा कि वह समस्त मानव जाति के लिए युद्ध करना भूल गया है।"

अन्नापोलिस में स्नातक-वर्ग के समक्ष राष्ट्राध्यक्ष ने उसी जोश के साथ कहा, "अमरीका का विचार मानवता की सेवा करना है, और हर वार, जब तुम सितारों और संकेतों की अवहेलना करते हो, तो तुम्हें समझना चाहिए कि यह स्वयं ही एक संदेश है कि तुम उस कर्त्तव्य के अधीन हो, जिसे अन्य नौसेनावालों ने कभी-कभी भुला दिया–यह विजय का नहीं, सेवा का कर्त्तव्य है।"

राष्ट्राध्यक्ष विल्सन द्वारा अमरीकी भावना में फिर से जान फूंकना और भी नाटकीय था, क्योंकि यह उस समय हुआ जब कि अन्य देशों की नौसेनाएँ एवं

स्थल-सेनाएँ तथा राजनीतिज्ञ सत्ता के लिए भयानक संघर्ष में तल्लीन थे। सर्विया के एक व्यक्ति द्वारा आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या से प्रतिक्रियाओं की एक श्रृङ्खला पैदा हुई, जो जटिल मित्रताओं द्वारा योरोप में शक्ति सन्तुलन का कार्य कर रही थी। ८५ लाख से अधिक लोग मारे गये, २ करोड़ १० लाख से अधिक घायल हुए, उत्तरी फ्रांस, लोलैण्ड्स और पूर्वी योरोप का अधिकांश भाग खण्डहरों में परिणत हो गया। यही इसका स्मारक था।

लोगों के विक्षिप्त हो जाने के सभी कारण विद्यमान थे। अपनी मातृभूमि की सुरक्षा के लिए भयानक तत्परता और शत्रुओं के लिए घृणा, ऐसे गुण थे जो किसी भी युद्ध से पैदा हो सकते थे। समझदार लोगों के लिए, फिर भी, इन नयी सीमाओं का विश्वयुद्ध विना किसी महान उद्देश्य के असह्य था।

विल्सन ने एक ऐसा महान उद्देश्य प्रदान किया, जिसे लोग बुरी तरह चाहते थे। उन्होंने कहा, "युद्धों की समाप्ति के लिए ही युद्ध होना चाहिए।" विश्व को लोकतंत्र के लिए अवश्यमेव सुरक्षित वना देना चाहिए। विल्सन का युद्धकालीन नेतृत्व और राष्ट्रसंघ के लिए उनका संघर्ष, अमरीकी क्रान्तिकारी सिद्धान्तों के विश्वव्यापी प्रभाव के प्रतीक वन गये। यही विश्व-कूटनीति के साथ अमरीका के प्रथम प्रमुख प्रतिकार का भी परिचायक था।

साम्राज्यवाद और उसके अनेक रूपों के अत्याचार से वोझिल संसार में २ अप्रैल, १९१७ को विल्सन ने कांग्रेस से युद्ध की घोषणा करने के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया, उन्होंने विभिन्न रूपों में साम्राज्यवाद और अत्याचार से पीड़ित विश्व में विद्युत की भाँति कार्य किया। "हमारी अपनी कोई स्वार्थपूर्ण आवश्यकताएँ नहीं हैं। हम न तो विजय चाहते हैं और न प्रभुत्व। हम अपने लिए कोई छूट नहीं चाहते और हम जो वलिदान स्वेच्छा से करेंगे, उसके लिए कोई मुआवजा भी नहीं चाहते। हम केवल मानवमात्र के अधिकारों की रक्षा करना चाहते हैं।"

एक महान् शान्तिपूर्ण राष्ट्र को युद्ध में घसीटना एक भयानक वात है... परन्तु अधिकार शान्ति से अधिक मूल्यवान हैं और हम उन चीजों के लिए लड़ेंगे जो हमारे मन को सदा सबसे अधिक प्रिय रही हैं– 'प्रजातंत्र के लिए, उन लोगों के अधिकारों के लिए, जो अपनी सरकारों में अपनी आवाज उठाने के लिए सत्ता के समर्पित होते हैं, छोटे-छोटे राष्ट्रों के अधिकारों और स्वतंत्रता के लिए और स्वतंत्र राष्ट्रों के ऐसी संविधा के द्वारा अधिकार के सार्वभौमिक संचालन के लिए, जो सभी राष्ट्रों में शान्ति और सुरक्षा स्थापित करेगी और अन्ततः समस्त विश्व को स्वतंत्र करेगी।'

अमरीकी लोगों ने तो इस अपील का उत्तर सरगर्मी के साथ दिया ही, परन्तु पुराने विश्व में भी उत्साह की एक नयी लहर दौड़ गयी। विल्सन के शब्दों ने चमत्कार-पूर्ण नैतिक अभियान का रूप धारण कर लिया और करोड़ों लोगों के मन में युद्ध को मानवीय अधिकारों के लिए विश्वव्यापी प्रजातांत्रिक धर्मयुद्ध में परिणत कर दिया। अमरीकी सैनिकों को फ्रान्स के किसानों की झोपड़ियों में अपने राष्ट्राध्यक्ष के 'मन्दिर' मिले। वारसा की सड़कों पर मिलने वाले उत्सुक विद्यार्थी बड़े सम्मान के साथ 'विल्सन' नाम का उच्चारण कर रहे थे। उनके व्याख्यानों के संकलन चीन और मध्यपूर्व में धड़ाधड़ विकने लगे और स्पेन में पाठ्यपुस्तकों के रूप में खूब बिके।

विल्सन ने मित्र-राष्ट्रों के युद्ध-उद्देश्यों को स्पष्ट करने के लिए युद्ध किया। यद्यपि उनकी चौदह बातें योरोपीय राजनीतिज्ञों के मन की बातों से अधिकतर विपरीत थीं, तथापि उन्होंने जनता में इतना सार्वभौमिक उत्साह पैदा कर दिया था कि कोई भी उनकी खुलेआम आलोचना करने का साहस नहीं करता था। उनके विस्फोटक प्रजातांत्रिक विचार, जो बिल्कुल अमरीकी परम्परा के अनुकूल ही थे, मानव-सेनाओं के बराबर सिद्ध हुए।

जब जर्मनी का नैतिक बल अन्ततः खंडित हो गया, तो वह चौदहसूत्री आधार पर ही खंडित हुआ। अक्तूबर, १९१८ में जर्मन सरकार ने विल्सन से इन शर्तों पर तत्काल संधि करने के लिए प्रबंध करने की प्रार्थना की। मित्रराष्ट्रों ने दो के सिवाय सभी बातों को स्वीकार कर लिया। उन्होंने समुद्र की स्वतंत्रता की धारा को अस्वीकार कर दिया और युद्धक्षति के लिए जर्मनी से क्षतिपूर्ति की माँग की।

जब विल्सन योरोप गये, तो विश्व-प्रजातंत्र के नेता का स्वागत करने के लिए उन्हें तैयार, श्रद्धालु जनता मिली; और, प्राचीन व्यवस्था को पुनःस्थापित करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ, पुराने राजनीतिज्ञ और उनके विपरीत, नये नेता भी वहाँ दिखायी दिये।

विल्सन की कल्पना के सम्बंध में 'चार बड़ों' के अन्य सदस्य उतने उत्साही नहीं थे। कठोर और यथार्थवादी क्लीमैन्स्यू (Clemenceau), जिनका हित और जीवन फ्रान्स से आबद्ध था और जो विल्सन को "जुपिटर" और "ईसामसीह" कहते थे, 'चौदह आदेशों' का मजाक उड़ाते थे और "बोचेज" के विरुद्ध निस्सीम प्रतिकार की अपेक्षा रखते थे। कुशल और अद्भुत व्याख्यान-दाता तथा कुशाग्रबुद्धि राजनीतिज्ञ लायड जार्ज, ब्रिटेन के अनुकूल एक नवीन शक्ति-

सन्तुलन के पक्षपाती थे। इटली के राष्ट्रवादी ओरलैण्डो ने अपने साथियों को अपने कानूनी तरीकों से परेशान कर रखा था।

उनकी इस चिन्ता को और भी बढ़ाने वाली बात यह थी कि विल्सन के शब्द योरोप की सीमाओं से बाहर बहुत दूर तक सुने गये। अफ्रीका के विद्यार्थी शान्ति-सम्मेलन के समाचारों का बड़े ध्यान से यह देखने के लिए अध्ययन करते थे कि आत्म-निर्णय का सिद्धान्त योरोप के बाहर भी लागू होगा या नहीं। हो ची मिन्ह जैसे युवक एशियाई राष्ट्रवादी, हिन्दचीन में फ़्रान्सीसी उपनिवेशवाद को समाप्त करने की माँग करने के लिए व्यक्तिगत रूप से वारसेल्स में उपस्थित हुए।

विराम-संधि के बाद इसी पृष्ठभूमि में दस महीने के अन्दर वुडरो विल्सन की वीरगाथा ने विश्व पर मिश्रित प्रभाव डाला। आदमियों को कार्य करने के लिए प्रेरित करने की अमरीकी कल्पना की विस्फोटक योग्यता और अमरीकी राजनीतिक नेतृत्व की जटिलता के प्रमाण के लिए इसका अध्ययन करना आज भी अमरीकियों को शोभा देता है।

× × ×

विल्सन के बाद योरोप के प्रति अमरीका में व्यापक ऊब सी भर गयी थी। इस ऊब में राजनीतिक विशेषता थी। १९१८ के चुनाव में कांग्रेस का नियंत्रण रिपब्लिकनों के हाथ आ गया और विल्सन के प्रबल व्यक्तिगत शत्रु मासाचुसेट्स के हैनरी केबट लाज सिनेट की परराष्ट्र-सम्बन्ध-समिति के सभापति के रूप में महत्वपूर्ण स्थिति में थे। थियोडर रुजवेल्ट जैसे अन्य लोग इस बात का आग्रह कर रहे थे कि हम विश्व को किसी भी चीज के लिए सुरक्षित रखने के लिए नहीं लड़ रहे हैं, बल्कि जर्मनी को हराना चाहते हैं, क्योंकि उसने हम पर आक्रमण किया है।

फिर भी, भूतपूर्व राष्ट्राध्यक्ष विलियम होवर्ड टैफ्ट और एलिहू रूट के नेतृत्व में अनेक प्रमुख रिपब्लिकन शान्ति-स्थापनार्थ एक संघ के लिए वचनबद्ध थे, जो विल्सन का मुख्य उद्देश्य बन गया था। बाद में आलोचकों का यह कहना था कि विल्सन की प्रथम भूल यह थी कि शान्ति-आयोग के निर्माण में उन्होंने ऐसे प्रभावशाली और अन्तरराष्ट्रीयतावादी रिपब्लिकनों को मान्यता देने से इन्कार कर दिया।

फरवरी, १९१९ में पेरिस में सप्ताहों तक गुप्त विचारविमर्श के उपरान्त, विल्सन थोड़े समय के लिए वाशिंगटन लौटे। शान्ति-संधि का रूप पहले से ही

स्पष्ट हो रहा था और वे अमरीकी पुष्टि के लिए मार्ग प्रशस्त करना चाहते थे। अपने विचारों के प्रति बढ़ते हुए विरोध के शमन के प्रयत्न में, उन्होंने सिनेट के परराष्ट्र-सम्बंधों तथा सदन के परराष्ट्र मामलों की समितियों के सदस्यों को 'व्हाइट हाउस' में सायंकालीन भोजन पर बुलाया। विल्सन ने अपरिहार्य समझौते और राष्ट्र-संघ के सम्बन्ध में, जिनके लिए वे प्रयत्नशील थे, खुलकर बातचीत की।

'सभी लोगों के अधिकारों के लिए', राष्ट्र-संघ के भीतर अमरीका के नेतृत्व के साथ, विल्सन को विश्वास था कि इन समझौतों के कारण जो भूलें हो गयी थीं, वे कटुता के शमन के साथ धीरे-धीरे ठीक हो जायेंगी। संघ के द्वारा और संघ के भीतर अमरीका अपने उन चिरपोषित उद्देश्यों के लिए कार्य कर सकता था, जो अपने मार्गों से बहुत दूर निकल गये थे।

अपने कांग्रेसी आलोचकों को समझाने के राष्ट्राध्यक्ष के सारे प्रयत्न विफल ही रहे। जब केनेक्टीकट के सिनेटर ब्रैण्डेजी ने 'व्हाइट हाउस' के दुर्भाग्यपूर्ण सम्मेलन को छोड़ा तो कहा, "मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि मैं एलिस के साथ आश्चर्य-जगत में विचर रहा था और मैड हैटर के साथ चाय पी रहा था।"

विल्सन के पेरिस वापस आने के पूर्व ही, सिनेटर लाज ने रिपब्लिकन नेताओं द्वारा समर्थित, अपना प्रख्यात 'राउण्ड राबिन' प्रस्तुत किया, जिसने संसार और विल्सन को घोषित कर दिया कि निम्नांकित हस्ताक्षर करने वाले लोग, जिस रूप में इस समय संघ का समझौता-पत्र प्रस्तावित है, उससे सहमत नहीं हैं। उसमें ३९ सिनेटरों और निर्वाचित सिनेटरों के हस्ताक्षर थे और वे सभी रिपब्लिकन थे। सन्धि को निष्फल बनाने के लिए केवल ३३ मतों की आवश्यकता थी।

परन्तु अनेक रिपब्लिकनों ने अपना समर्थन प्रदान किया और विल्सन को फिर आश्वासन प्राप्त हुआ। मार्च की उसी रात्रि को, जबकि वह अशुभ 'राउण्ड राबिन' प्रकाशित हुआ, वुडरो विल्सन तथा भूतपूर्व राष्ट्राध्यक्ष टैफ्ट न्यूयार्क के मैट्रोपोलिटन ओपेरा हाउस के रंगमंच पर हाथ-में-हाथ मिला कर पहुँचे।

एनरिको कैरूसो के नेतृत्व में पाँच हजार लोगों ने 'तारों-जड़ित झण्डे' के गीत गाये। अल स्मिथ ने वक्ताओं का परिचय कराया। टैफ्ट ने राष्ट्र-संघ के पक्ष में प्रभावपूर्ण भाषण दिया और विल्सन ने जार्ज एम. कोहन के युद्धकालीन

गीत के भाव में हर्षध्वनि करती हुई भीड़ को आश्वासन दिया कि मैं तब तक वापस नहीं आऊँगा जब तक वह पूरा नहीं हो जायगा।

विल्सन को इस प्रकार लोगों से सीधे अनुरोध के द्वारा राष्ट्र-संघ के लिए समर्थन प्राप्त करने की अपनी योग्यता पर सब से अधिक भरोसा था। रिपब्लिकनों के 'राउण्ड रोबिन' की माँगों की उपेक्षा करते हुए, जो संघ के समझौते को कमजोर बनातीं, विल्सन ने कहा, "मैं अब काफी समझौते कर चुका हूँ," और वे पेरिस लौट आये।

२८ जून, १९१९ को अन्त में वारसेल्स में शानदार समारोह के साथ सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये और राष्ट्राध्यक्ष सिनेट की सहमति प्राप्त करने के लिए वापस लौटे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि लीग (संघ) समझौता-पत्र का न केवल महत्वपूर्ण अंग है, प्रत्युत उसका अविच्छेद्य अंग भी है। उन्होंने पूछा, "क्या हम या अन्य स्वतंत्र राष्ट्र इस महान कर्तव्य को स्वीकार करने से झिझकेंगे? क्या हम इसे ठुकरा देने और दुनिया का दिल तोड़ने का साहस कर सकते हैं?"

इलिनोइस के रिपब्लिकन सिनेटर मैडिल मेकोर्मिक, कनैक्टीकट के ब्रैण्डेजी और ओहियो के हार्डिण्ग ने इस साहस को तुरन्त स्वीकार कर लिया। दूसरों ने, जिनमें 'न्यू रिपब्लिकन' जैसी छोटी, किन्तु प्रभावशाली उदार पत्रिकाएँ भी थीं, इस आधार पर पुष्टिकरण का विरोध किया कि संधि अधिक कठोर है।

अनेक शक्तिशाली सिनेटर, जो घरेलू नीतियों में उदार थे, उस 'मृत्यु-सेना' में सम्मिलित हो गये, जो राष्ट्रसंघ और संधि को नष्ट करने के लिए कृतसंकल्प थी। उनमें से बहुतेरे, जिनमें जानसन, बोराह, नोरिस और ला फोलेटे भी थे, उन ७० लाख अमरीकियों का प्रतिनिधित्व करते थे, जो जन्म से जर्मन थे अथवा जिनके माता-पिता जर्मन थे। उन्होंने जर्मनी की विशाल प्रादेशिक हानियों, क्रमिक क्षतिपूर्ति और 'अप्राकृतिक' पोलिश गलियारे की कटु निन्दा की। इस गलियारे से विल्सन की तेरहवीं बात की पूर्ति होती थी और पोलण्ड को समुद्र तक उन्मुक्त और सुरक्षित पहुँच जाने की स्वतंत्रता मिल जाती थी।

जर्मन अमरीकियों के प्रमुख प्रतिनिधि जार्ज सिलवेस्टर वीरेक ने 'लीग आफ़ डैमनेशन्स' की निन्दा की और १९२० के चुनाव में राष्ट्राध्यक्ष-पद के लिए उस उम्मेदवार को तीस लाख मत देने का वचन दिया, जो उस सन्धि का विरोध करता।

इटालियन अमरीकियों ने यूगोस्लाविया के फ्यूम बन्दरगाह को इटली के नियंत्रण से हटाने के लिए राष्ट्रपति के प्रयत्नों को बहुत बुरा माना। भविष्य का महान "छोटा पुष्प", न्यूयार्क के मेयर फ्योरेल्लो एच. ला. गार्डिया ने, जो उस समय न्यूयार्क नगर के ऐल्डरमेन बोर्ड के अध्यक्ष थे, विल्सन और संधि का विरोध करने के लिए इटालियन अमरीकियों का संगठन किया।

आयरलैण्ड और इंगलैण्ड के बीच शताब्दियों की कटुता से उस संघ के लिए सम्भावना सुधरी नहीं, जिसे विलियम रैंडाल्फ हर्स्ट "ब्रिटिश उत्पन्न संघ" कहा करते थे। आयरलैण्ड में वादविवाद का समय विशेष रूप से उग्र रहा और हत्याओं, दंगों और प्रतिहिंसाओं के समाचारों ने आयरिश वंश के अमरीकियों में विल्सन के प्रयत्नों में बाधा उपस्थित कर दी थी।

अंग्रेजों के आइरिश कैदियों ने 'भूख हड़ताल' कर दी थी। अक्तूबर, १९२० में, कार्क के लार्ड मेयर, टेरेन्स मैकस्विनी की, ७४ दिनों के अनशन के परिणामस्वरूप, मृत्यु हो गयी। १९१९ के वसन्त और गर्मियों में डी वेलरा ने आयरलैण्ड की स्वतंत्रता के लिए समर्थन प्राप्त करने के इरादे से संयुक्त राज्य अमरीका का दौरा किया। उनकी अनेक बड़ी-बड़ी सभाओं में, आयरलैण्ड के लिए आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त करने की विफलता पर लोगों ने विल्सन को धिक्कारा।

संघ-समझौते की दसवीं धारा के अनुसार 'विदेशी आक्रमण' के विरुद्ध अपने साथी सदस्यों की सहायता करना प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य था। संधि के कुछ विरोधियों ने यहाँ तक जोर दिया कि इसके अनुसार आयरिश अमरीकियों को भविष्य में आयरलैण्ड में होने वाले विद्रोह को दबाने के उद्देश्य से इंगलैण्ड की सहायता के लिए भेजना आवश्यक होगा।

संधि का विरोध करने वाले बहुत थोड़े डिमाक्रेटिक सिनेटरों में से मिसौरी के जेम्स रीड ने यह संकेत करके कि लीग में काली जातियों की संख्या गोरों से अधिक हो जायगी, जातीय भावना को प्रभावित करने का प्रयत्न किया। उनके साथी सिनेटर शर्मन ने भी वैसी ही अस्वस्थ अपील धार्मिक भावनाओं के आधार पर की और यह आरोप लगाया कि संघ की व्यवस्था कैथलिकों के हाथ होगी और उस पर पोप का शासन होगा। सिनेट के प्रमुख वक्ता, सिनेटर बोराह ने घोषित किया कि मैं लीग के प्रति अपने विरोध को कदापि नहीं बदलूँगा, चाहे ईसामसीह स्वयं पृथ्वी पर अवतरित होकर उसके लिए अपील क्यों न करें।

अन्त में करोड़ों ऐसे अमरीकी थे, जिन्होंने अभी तक अपनी परम्परागत

पृथकता को पूर्णतः भंग नहीं किया था। संघ की एक 'स्थायी मैत्री' के प्रमुख उदाहरण के रूप में, जिसके विरोध में वाशिंगटन ने अपनी विदाई के समय के भाषण में हमें चेतावनी दी थी, निन्दा की गयी थी। इस तथ्य के बावजूद कि हमारे संविधान से पूर्व बने निर्बल मित्रता-संघ की भाँति यह राष्ट्रसंघ राष्ट्रों के एक ढीले संघ से अधिक नहीं था, यह आरोप लगाया गया कि यह हमें अपनी सत्ता छोड़ देने के लिए विवश करेगा, जिसे उन्होंने यार्क-टाउन में विदेशियों के नियंत्रण से विशाल राज्य के रूप में जीता था।

न्यू इंग्लैण्ड के बड़े-बड़े कर देनेवाले अनेक व्यापारियों के साथ मेरे पिता भी इसी पृथकतावादी विचार के पक्षपाती थे। मसाचुसेट्स के स्प्रिंगफील्ड में एक बालक के रूप में मुझे याद है कि किस विश्वास के साथ उन्होंने हार्वे के साप्ताहिक में प्रचारित विल्सन-विरोधी कटु दृष्टिकोण का समर्थन किया था, और जिसे, ज्यों-ज्यों निर्वाचन के दिन निकट आते गये, प्रत्येक अंक में आशा के साथ प्रत्येक पृष्ठ के नीचे प्रकाशित किया जाता था– "केवल . . . वुडरो विल्सन के कुछ दिन और।"

ऐसे विरोधों की स्थिति में, जिनमें कुछ सही थे, कुछ राजनीतिक थे और कुछ अत्यन्त प्रदर्शनात्मक थे, संधि का भविष्य अंधकारपूर्ण दिखायी देता था, परन्तु मानवीय आशाएँ भी संघ पर इतनी केन्द्रित थीं कि उसके समर्थक निराश होकर उसे छोड़ भी नहीं सकते थे। उसके प्रमुख समर्थक ऐसे साहसी व्यक्ति थे, जिन्होंने संकट के समय अमरीकी आत्मा का प्रतिरूप ग्रहण किया था। उन्होंने युद्ध को जनता तक पहुँचाया और जनता ने बड़े उत्साह और सरगर्मी से उनका साथ दिया।

सम्भवतः पृथकतावादी सेंट लुईस में उन्हें गगनभेदी अभिनन्दन प्राप्त हुआ, जब उन्होंने कहा, "यदि राष्ट्र-संघ के लिए किये गये संघर्ष में मैं पराजित हुआ, तो मैं उन सभी लोगों को एकत्र करूँगा, जिन्हें मैंने फ्रान्स भेजा था और उनसे कहूँगा कि जब तुम लोग समुद्र पार गये थे, उसके पहले ही मैंने कहा था कि यह युद्धों के विरुद्ध युद्ध है। मैंने अपने वचन को पूरा करने का यथाशक्ति प्रयास किया, किन्तु मुझे दुःख और लज्जा के साथ तुम्हारे सामने आने और यह कहने के लिए विवश होना पड़ा है कि मैं अपने वचन का पालन करने में असमर्थ रहा। तुम्हारे साथ विश्वासघात हुआ है। तुमने उस चीज के लिए युद्ध किया, जो तुम्हें प्राप्त नहीं हुई, और संयुक्त राज्य अमरीका की स्थल तथा जल सेना का गौरव रात्रि में स्वप्न की भाँति विलुप्त हो गया . . .।"

देवदूत की भाँति उन्होंने अपना भाषण जारी रखते हुए कहा, "ईश्वर के प्रतिशोधपूर्ण विधान में कभी ऐसा समय आयगा, जब एक और संघर्ष में न केवल अमरीका के हजारों श्रेष्ठ एवं सुन्दर व्यक्तियों को अपने प्राणों का उत्सर्ग करना पड़ेगा, बल्कि विश्व के राष्ट्रों की अन्तिम स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए करोड़ों व्यक्तियों का बलिदान करना होगा।"

२५ सितम्बर को जब राष्ट्राध्यक्ष का दल प्यूबलो कोलोरेडो पहुँचा, तब विल्सन थक कर चूर-चूर हो गये थे। उन्होंने बाईस दिन में आठ हजार मील की, देश के इस पार से उस पार तक, यात्रा की थी, प्रति घण्टे एक भाषण के हिसाब से औसतन छत्तीस औपचारिक व्याख्यान दिये थे और थका देने वाली एक दर्जन परेडें और असंख्य रेलवे प्लेटफार्म देखे थे।

यद्यपि इस व्यस्त कार्यक्रम में केवल साँस लेने की फुरसत थी, तथापि राष्ट्राध्यक्ष को घोर थकावट के साथ अब विश्वास हो चला था। मध्य पश्चिम में अप्रत्याशित विशाल जनसमुदायों से सन्तोषप्रद प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रशान्त तट पर और भी उत्साहपूर्ण प्रत्युत्तर प्राप्त हुए।

राष्ट्राध्यक्ष ने जब प्यूबलो में, विशाल जनसमुदाय से भरे हाल के रंगमंच पर कदम रखा, तो गगनभेदी जयघोषों के साथ उनका दस मिनट तक अभिनन्दन होता रहा। कुछ ही क्षणों पूर्व उन्हें शक होने लगा था कि वे कुछ बोल सकेंगे या नहीं। उन्हें भयंकर सरदर्द था। इसके पूर्व उन्होंने अपने को इतना अधिक बीमार और असमर्थ कभी नहीं पाया था। वे सोच रहे थे कि अपने भाषण को अत्यन्त संक्षिप्त कर दें और कुछ उपयुक्त शब्द बोल कर अपनी ट्रेन पर लौट आयें; लेकिन जब उनके श्रोताओं का उत्सुकतापूर्ण उत्साह उनके कानों में गूँजने लगा, तब उन्होंने उस कार्यक्रम को पूरा करने का निश्चय कर लिया। उन्होंने अपनी अन्तिम स्नायविक एवं शारीरिक शक्तियों को बटोरकर अपने भाषण में अपनी समस्त भावना और विश्वास को उड़ेल दिया।

तीन महीने पूर्व पेरिस के पास सुरेनेस में अमरीकी सैनिक कब्रिस्तान के सैनिक पुरस्कार-दिवस पर अपनी यात्रा का वर्णन करते हुए उन्होंने अपने श्रोताओं से पूछा, "जो लोग फ्रान्स में मरे हैं, उनके प्रति हमारे वचन का क्या हुआ? हमने तो कहा था कि वे वहाँ अमरीका की शक्ति को सिद्ध करने अथवा एक दूसरे युद्ध के लिए अपनी तत्परता का प्रदर्शन करने नहीं गये थे, प्रत्युत इसलिए गये थे कि अब कभी भी और युद्ध न होंगे।"

जिन माताओं के पुत्र फ्रान्स में मारे गये थे, वे उनके पास आयीं, उनका हाथ

अपने हाथों में लिया और यह कहते हुए उस पर आँसू वहाये कि, राष्ट्रपति महोदय, ईश्वर आपका कल्याण करे।

"मेरे साथी नागरिको, उन्होंने मेरे कल्याण के लिए ईश्वर से प्रार्थना क्यों की ? मैंने कांग्रेस को ऐसी स्थिति पैदा करने के लिए सलाह दी, जिसमें उनके पुत्रों की मृत्यु हुई। मैंने उनके पुत्रों को समुद्र पार भेजा। तव वे मेरी भुजाओं पर सिर रखकर क्यों रोयीं और क्यों मेरे कल्याण की कामना ईश्वर से की ? क्योंकि उनका विश्वास था कि उनके पुत्र ऐसी चीज के लिए मरे, जो युद्ध के किसी तात्कालिक अथवा प्रत्यक्ष उद्देश्य से परे है।"

राष्ट्राध्यक्ष ने अन्त में कहा, "अव चूंकि इस महान प्रश्न का धुंधलापन हट गया है, मुझे विश्वास है कि अव लोग सत्य को उसके सही रूप में देख सकेंगे। न्याय, स्वतंत्रता और शान्ति का सत्य एक ऐसी चीज है, जिसके लिए अमरीकी लोग सदा उठते और हाथ वढ़ाते हैं। हमने उस सत्य को स्वीकार कर लिया है; वही हमारा नेतृत्व करेगा, हमारे द्वारा विश्व का नेतृत्व करेगा और हमें सुख एवं शान्ति की उस सुरम्य भूमि में ले जायगा जिसकी विश्व ने पहले कभी कल्पना भी नहीं की होगी।"

विल्सन के भाषण समाप्त करने पर क्षण भर के लिए भवन में पूर्ण शान्ति छा गयी और उसके वाद जो तुमुल हर्ष ध्वनि हुई, वह उनकी यात्रा की सवसे बड़ी प्रशंसा थी। वहाँ पर किसी को यह नहीं मालूम था कि यह अभिनन्दन न केवल उनके भाषण की समाप्ति का था, वल्कि उनके जीवन के अन्त का भी।

उसी रात को राष्ट्राध्यक्ष के उनिद्र रोग (Insomnia) और भयानक सिरदर्द ने डाक्टर के निकृष्टतम भय को पुष्ट कर दिया। ट्रेन के विचिटा पहुँचने के पूर्व ही विल्सन के विरोधों के वावजूद, शेष यात्रा रद्द कर दी गयी, परन्तु उन्होंने यह तभी स्वीकार किया जव उन्हें उनके महान कार्य की सफलता तथा संधि की सुरक्षा का विश्वास दिलाया गया। उस समय किसी को भी मालूम न हो सका कि राष्ट्राध्यक्ष की मृत्यु के साथ यह आशा भी मर गयी, कि अमरीका संधि को स्वीकार करेगा, संघ के साथ रहेगा और उस भावी युद्ध को वचाने के लिए अन्य प्रजातांत्रिक देशों के साथ कार्य करेगा, जिसका आश्वासन उन्होंने अपने श्रोताओं को सेंट लुईस में दिया था कि यदि अमरीका पृथकतावाद की ओर लौटता है, तो 'ईश्वर के प्रतिशोधपूर्ण विधान' के अन्तर्गत वह अवश्य आयेगा।

× × ×

१९ मार्च, १९२० को संयुक्त राज्य अमरीका के सिनेट में संधि की अन्तिम

पराजय हुई। यह पराजय लाज के प्रतिबंधों के साथ पुष्टीकरण के प्रस्ताव पर हुई। यद्यपि संधि पर ३६ के विरुद्ध ४९ का बहुमत था, तथापि दो-तिहाई आवश्यक मतों में सात मतों की कमी थी।

प्रतिबंधों के मूल्य पर भी इक्कीस डिमोक्रेट सदस्यों ने किसी-न-किसी प्रकार की संधि प्राप्त करने के लिए मत दिये थे। तेईस डिमोक्रेटों ने प्रतिबंधों के विरुद्ध होकर संधि को मतदान से पूर्णरूपेण रद्द कर दिया। यदि अन्तिम तेईस में से सात ने समझौता कर लिया होता, तो संधि बच जाती। परन्तु उसके विपरीत उन्होंने इक्कीस उग्रवादी रिपब्लिकनों का साथ दिया और संधि की अन्तिम आशा भी बुझ गयी।

अर्धपक्षाघात से पीड़ित विल्सन को आशा थी कि यह संघर्ष चलता रहेगा और १९२० का राष्ट्राध्यक्ष का चुनाव आन्दोलन सन्धि और संघ की समस्या पर एक 'पवित्र मतगणना' होगी। डिमोक्रेटिक उम्मीदवार जेम्स एम. काक्स ने वायदा किया कि यदि वे संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्राध्यक्ष हो जायेंगे तो अमरीका जितनी जल्दी हो सकेगा, राष्ट्र-संघ का सदस्य हो जायगा।

९ अगस्त, १९२०, को हाइड पार्क में उप-राष्ट्राध्यक्ष के लिए उम्मीदवार, काक्स के साथी फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट ने कहा, "चूंकि राष्ट्र एक आदर्श के लिए युद्ध में शामिल हुआ, इसीलिए वह युद्ध से इस निश्चय के साथ निकला है कि वह आदर्श मिटने नहीं पायेगा...। जल और थल में सफलता केवल आधी विजय हो सकती है—इसके आगे हमें यह जोड़ देना चाहिए कि ऐसा फिर कभी नहीं होगा।"

मतदान के एक महीने पूर्व ३१ प्रभावशाली अमरीकियों के नाम से एक उल्लेखनीय सार्वजनिक वक्तव्य प्रकाशित हुआ, जिनमें से अधिकांश एलिहू रूट, चार्ल्स इवान्स ह्यूजेज और विलियम होवर्ड टैफ्ट जैसे अन्तरराष्ट्रीयतावादी रिपब्लिकन थे। उसमें "यदि रिपब्लिकन जीतेंगे तो संयुक्त राज्य अमरीका संशोधित लीग में प्रविष्ट होगा", यह विश्वास प्रकट कर के नयी आशा का संचार किया गया।

परन्तु रिपब्लिकन उम्मीदवार स्वयं इस बात के लिए अपील करने में व्यस्त थे, जिसे वे कम साहसपूर्ण अस्तित्व के लिए व्यापक इच्छा समझते थे। वारेन जी. हार्डिंग ने जोर देते हुए कहा, "अमरीका की वर्तमान आवश्यकता वीरता की नहीं, उपचार की है, विशेष इलाज की नहीं, सामान्य स्थिति की है, प्रयोग की नहीं, सन्तुलन की है; अन्तरराष्ट्रीयता में लय होने की नहीं, विजयी राष्ट्रीयता में कायम रहने की है।"

अगले दशक तक अमरीका हार्डिण्ग की सामान्य अवस्था में विश्राम करने का प्रयत्न करता रहा, जब कि निराश विश्व विना उसके अपने मार्ग पर चलता गया। सिंहावलोकन में, कठोर रुख अपनाने के लिए स्वयं विल्सन की आलोचना की जा सकती है। जैसा कि उन्होंने पेरिस में समझौता किया था, वाशिंगटन में वैसा करने से इन्कार कर के उन्होंने उनका समर्थन भी खो दिया, जिनकी अपेक्षाकृत मामूली आलोचना का समाधान किया जा सकता था।

कुछ आलोचकों के लिए विल्सन उद्देश्ययुक्त आदर्शवाद के प्रतीक हो गये हैं, जिन्होंने अपने ठोस लक्ष्यों की परिभाषा को टालने का प्रयास किया। किसी सीमा तक यह आलोचना निश्चित ही सही है, परन्तु इसका यह अर्थ लगाना खतरनाक होगा कि इस क्रान्तिकारी युग में सार्थक मानवीय मूल्यों पर आधारित परराष्ट्र-नीति स्वयं अयथार्थ और अव्यावहारिक है।

दूसरों ने यह आरोप लगाया कि विल्सन के आत्मनिर्णय ने संकीर्ण राष्ट्रीयता को प्रेरणा प्रदान की, जिसने विशाल न्यावहारिक, आर्थिक और राजनीतिक इकाइयों के स्थान पर छोटे-छोटे संघर्षरत राज्यों को रखा, जो स्वयं अपने पैरों पर भी नहीं खड़े हो सकते थे।

यद्यपि विद्वान लोग ऐसे प्रश्नों पर वादविवाद करते ही रहेंगे और विशेषरूप से इस पर कि किस प्रकार विल्सन की दुखान्त घटना को वचाया जा सकता था, फिर भी उनकी अपनी और भविष्य की पीढ़ियां दो प्रमुख सफलताओं के लिए विल्सन को याद करेंगी।

प्रथम सफलता तो, जैसा कि हम देख चुके हैं, निश्चय ही उनका राष्ट्रसंघ की रचना का सूत्रपात करना है और उनकी यह ऐतिहासिक मान्यता कि विश्व के लिए युद्ध के विरुद्ध अपने को संगठित करने का समय आ गया है। द्वितीय सफलता, उनके द्वारा स्वतंत्र विश्व-समाज के विचार का प्रतिपादन है।

गैर-अमरीकी विश्व के लिए विल्सन ने राष्ट्रसंघ को एक विकासशील संस्था के रूप में छोड़ा, जिसकी कमी उसमें अमरीका का शामिल न होना था, परन्तु फिर भी वह युद्ध-काल में अनेक रचनात्मक कार्य सम्पादित करने में समर्थ रहा। अपने ही देशवासियों के हित में, राष्ट्रसंघ के लिए इनका संघर्ष ही विल्सन की प्रमुख विरासत प्रतीत होती थी, जिसके औचित्य को आनेवाली पीढ़ियाँ सिद्ध कर सकेंगी।

वीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ अमरीका ने साम्राज्यवाद के साथ छेड़छाड़ से किया। तव विश्वयुद्ध की वेदना में, अमरीकी प्रजातंत्र के एक ऐतिहासिक

प्रतिनिधि ने एक लोकतांत्रिक विश्व-संगठन की प्रस्तावना की थी, जिसने आगे चल कर विश्वयुद्ध को असंभव कर दिया होता। यह एक ऐसा विकास था, जिसके लिए अमरीकी इतिहास एक विशेष 'रिहर्सल' था और जो पश्चिमी सभ्यता के संरक्षण के लिए अत्यधिक आवश्यक था।

अब अमरीका पुनः पृथक हो गया, उसकी कुछ गौरव-गरिमा रात्रि के स्वप्न की भाँति विलुप्त हो गयी। परन्तु क्रान्तिकारी विचारधाराएँ, जिन्हें अमरीका ने अपने महत्वपूर्ण अनुभवों से विश्व को हिला देने वाले सिद्धान्तों में समाविष्ट और विकसित किया था, विल्सन की पराजय के साथ विलीन होनेवाली नहीं थीं।

उनके आलोचकों के प्रतिबंध कुछ भी हों, इसे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि विल्सन ने विचारों की शक्ति का प्रदर्शन मनुष्यों पर किया, जिसका रूप पूर्ण लोकतांत्रिक विश्वव्यापी क्रान्ति के आदर्श से जुट कर अमरीकी नेतृत्व की प्रबल शक्ति में दिखाई दिया। अपने प्रथम प्रशासन में नवीन स्वतंत्रता के सामाजिक कल्याणकारी प्रयत्नों के दिनों से लेकर अपने सार्वजनिक जीवन के अन्त तक, विल्सन राजनीति की मानवीय सीमा से परिचित थे और न केवल अमरीका के लिए, प्रत्युत समस्त विश्व के लिए अर्थपूर्ण प्रजातांत्रिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कृतसंकल्प थे।

शीघ्र ही विल्सन की दो विरासतों—विश्व-संगठन और विश्व-प्रजातंत्र—के विचार फिर उस समय की प्रमुख समस्याएँ हो गयीं। 'यदि अमरीका विश्व से मुँह मोड़ेगा तो द्वितीय विश्व युद्ध होगा'— विल्सन की यह भविष्यवाणी दो ही दशकों में पूर्ण हो गयी। विल्सन का जीवन जिस महान वादविवाद से समाप्त हुआ था, उसकी पुनरावृत्ति हुई।

इस बार अनेक कार्यों की शृंखला से, जिनसे आज हममें से अधिकांश लोग परिचित हैं, जैसे सैनिक अड्डों के लिए ध्वंसक विनिमय, भूमि-पट्टा-अधिनियम, अटलांटिक चार्टर, शान्तिकालीन प्रारूप आदि, अमरीका ने अपने प्रारम्भिक निर्णयों को उलट दिया। जब पर्ल हार्बर पर बम गिरे, तब हमारे विश्व सम्बंधी दायित्वों के सम्बंध में अधिकांश बचेखुचे सन्देह भी दूर हो गये। विल्सन ने जिन आदर्शों की घोषणा की थी, उन्हीं से विचार ग्रहण करते हुए फ्रैंकलिन रूजवेल्ट ने 'चार स्वतंत्राओं' में अधिकांश अमरीकियों के विश्वासों को ही ध्वनित किया।

युद्ध के अन्त में, अमरीकी लोगों ने उसी प्रकार के अन्तरराष्ट्रीय संगठन

में सम्मिलित होने का दृढ़ संकल्प कर लिया, जिसको इसके नेताओं ने विल्सन के समय में ठुकरा दिया था। संयुक्त राज्य अमरीका ने सचमुच ही जिस संयुक्त राष्ट्र संघ के संगठन में नेतृत्व किया, उसका घोपणापत्र सिनेट में केवल दो विरोधी मतों के अतिरिक्त, बहुमत से पास हुआ और उसका प्रधान कार्यालय भी अमरीकी भूमि पर ही बना।

तब विश्व यह जानने के लिए प्रतीक्षा करने लगा कि क्या सचमुच अमरीका ने विल्सन की अपील के सार-तत्व को ग्रहण कर लिया है, अपनी शक्ति के साधनों के साथ वह क्या करेगा और नये अन्तरराष्ट्रीय संगठन में वह किन उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा?

विल्सन से अधिक इस बारे में और कौन जानता था कि राष्ट्र संघ की भाँति ही संयुक्त राष्ट्र संघ भी विवेकपूर्ण अथवा अविवेकपूर्ण नीतियों के संचालन का साधन मात्र रह जायगा। यह तथा इसमें सम्मिलित राष्ट्र, मानवता को परेशान करने वाली ठोस समस्यायों पर अपने भाषण अपने आपको ही सुनायेंगे। विल्सन ने १९२३ में अपने अन्तिम लेख में लिखा था—"विश्वजनीन अशान्ति और उथलपुथल के लिए कोई ठोस कारण होना चाहिए। यह निरर्थक राजनीति में नहीं मिलेगा और न भयंकर आर्थिक भूलों में। यह कदाचित् हमारे युग के आध्यात्मिक जीवन के स्रोतों में छिपा मिलेगा। यही क्रान्ति को जन्म देता है।"

घर में तथा बाहर, तत्कालीन आर्थिक व्यवहारों के निरीक्षण के बाद विल्सन ने सुझाया था कि वर्तमान असन्तोष और हलचल के लिए दोष पूर्णतया विद्रोहियों पर नहीं मढ़ा जा सकता।

विल्सन ने आगे कहा, "प्रजातंत्र ने अभी तक विश्व को अविवेकपूर्ण क्रान्ति से सुरक्षित नहीं किया है। यह महान् कार्य, जो सभ्यता की मुक्ति से किसी भी हालत में कम नहीं है, आग्रहपूर्ण और आवश्यक रूप में प्रजातंत्र के सम्मुख है। हमारे चारों ओर जो कुछ है, वह जब तक खण्डहरों के रूप में भूमिसात् नहीं हो जाता, तब तक इससे बचने का अन्य कोई मार्ग नहीं है और संयुक्त राज्य अमरीका को एक महानतम प्रजातंत्र के रूप में इस भार को वहन करना है।"

मरणासन्न राजनीतिज्ञ ने अन्त में कहा, "जो मार्ग क्रान्ति से दूर ले जाता है, वह बिलकुल स्पष्ट है। औरों के तथा पूरे समाज के कल्याण, आनन्द और सन्तोष की वृद्धि के उद्देश्य से निजी स्वार्थों के उत्सर्ग के लिए इसमें सहानुभूति, सहायता और इच्छा होनी चाहिए।"

राष्ट्रों के विश्व-संगठन के लिए विल्सन के स्वप्न को आंशिकरूप से पूरा

करने में सहायता करने के बाद क्या अमरीका इतना विश्वास और शक्ति एकत्र कर सकेगा कि वह इसको प्रजातांत्रिक विश्व-नीतियों का रूप प्रदान कर सके, जिसके विल्सन प्रतीक थे ?

काश, अमरीका में इतनी शक्ति होती कि वह विल्सन के उन शब्दों की सत्यता पर ही जोर देता, जो उन्होंने उस समय राष्ट्र-नेता के रूप में कहे थे— "हमारी ही भाँति अन्य अनेक राष्ट्र धनाढ्य हो चुके हैं। हमारी ही भाँति अन्य राष्ट्र शक्तिशाली भी हो चुके हैं। हमारी ही भाँति अन्य राष्ट्र उत्साही भी बन चुके हैं। किन्तु मुझे आशा है कि हम यह कदापि नहीं भूलेंगे कि हमने इस राष्ट्र का निर्माण अपनी सेवा के लिए नहीं, बल्कि मानवमात्र की सेवा के लिए किया है।"

सातवाँ भाग

चुनौती का अन्दाज

मैं नहीं कह सकता कि मैं किंचित् मात्र भी तुम्हारे बड़प्पन से अथवा तुम्हारे भौतिक साधनों से प्रभावित हुआ हूँ। आकार महान नहीं होता और भूमि-विस्तार से राष्ट्र का निर्माण नहीं होता। जिस महान समस्या से वास्तविक महानता और अनिश्चित भाग्य का आतंक संलग्न है, वह यह है कि तुम लोग इन सबके विषय में क्या करनेवाले हो?

थामस हक्सले

जान्स हापकिन्स विश्वविद्यालय, १८७६

इकतीसवाँ प्रकरण

नयी आशाएँ और अतीत के विकल्प

यहाँ पर फिर से पुस्तक का विषय सरल शब्दों में बताया जा सकता है। पिछली दो पीढ़ियों में, जब कि योरोप अपने खुद के घावों से पीड़ित था और जब कि अमरीका विश्व-राजनीति में प्रौढ़ बन रहा था, उस समय धरती पर अन्यत्र क्रान्तियाँ हुईं, जिनकी जड़ें मजबूत हैं, किन्तु जिनके भाग्य अभी भी अज्ञात हैं। स्वयं अमरीका की क्रान्ति उनसे सम्बन्धित है।

१९११-२१ के एक ही दशक में लेनिन, सुन यात सेन और गाँधी—इन तीन पुरुषों ने शताब्दियों की निष्क्रियता से करोड़ों लोगों को जागृत किया। हमने रूस पर सरसरी दृष्टि से विचार किया है, जहाँ १९१७ में दरिद्रता, निरक्षरता एवं अत्याचार के रूप में ज़ारशाही विरासत, छोटे, दुर्बल इच्छा-शक्ति वाले सामाजिक प्रजातंत्र के लिए बहुत अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुई और उसके बजाय, लेनिन के नये संघर्षशील मार्क्सवाद के प्रबल प्रहार के लिए उर्वर भूमि प्रदान की। चालीस वर्षों से कम समय में नृशंसता, सुयोग्य संगठन और उत्सर्ग के प्रति उत्साह के बल पर, सोवियत राज्य विश्व का द्वितीय औद्योगिक राष्ट्र बनने और भविष्य में पश्चिमी सभ्यता के लिए एक चुनौती बनने के लिए, शक्ति और सम्मान में बहुत अग्रसर हुआ है।

चीन में तायपिंग-कृषक-विद्रोह के उत्तराधिकार को नरम विचारवालों ने सुरक्षित रखा, परन्तु सुन यात सेन का खण्डित कार्यक्रम अन्त में माओत्से तुंग की नयी प्रणाली द्वारा साम्यवादी शिविर की ओर मोड़ दिया गया। विस्तृत और कठोर श्रमशील आबादीवाला चीन आज रूसी सफलता से आगे बढ़ जाने का प्रयास कर रहा है।

हमने गाँधीवादी क्रान्ति पर भी विचार किया है, जिसने ४५ करोड़ भारतीयों और पाकिस्तानियों को स्वतंत्र करा दिया और जो आज आधुनिक लोकतांत्रिक भारत की रचना में तल्लीन है। इसमें साम्यवादी कट्टरता और धूर्तता का अभाव है। यह अनेक प्रकार से अधिक जटिल है और उसे ठीक से बहुत कम समझा गया है।

एशिया में अन्यत्र, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के भी परिवर्तन के

लिए क्रान्तिकारी माँग अपेक्षाकृत अधिक उत्तेजना उत्पन्न कर रही है। विश्व की कार्यसूची में रखे गये अनेक प्रश्न क्रान्तिकारी हैं।

बाण्डुंग-सम्मेलन के मंच से अफ्रीका और एशिया के नेताओं ने चार प्रमुख क्रान्तिकारी माँगो को प्रतिध्वनित किया: राष्ट्रवाद के लिए और विदेशी शासन के विरुद्ध, मानवीय गौरव के लिए और जातीय भेदभाव के विरुद्ध। द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए और दरिद्रता, दीनता और बुभुक्षा को कायम रखनेवाले अभी भी जीवित सामन्तवाद के विरुद्ध, शान्ति के लिए और युद्ध के शाश्वत भय के विरुद्ध।

जैसा कि हम देख चुके हैं, औपनिवेशिक क्रान्ति उसी कच्चे माल का प्रयोग कर रही है, जिसका प्रयोग साम्यवादी क्रान्तियों ने किया है। यह कच्चा माल हमारे समझने के लिए बार-बार प्रकट हुआ है और वह वस्तुतः मानवीय आशा ही है।

अधिकांश मानव समाज सर्वदा दरिद्र और उत्पीड़ित रहा है। परन्तु अब यह विचार, सूखी घास के मैदान में दावानल की भाँति, फैलता जा रहा है कि अब किसी राष्ट्र को दरिद्र और अन्यायपूर्ण जीवन व्यतीत करने की आवश्यकत नहीं है।

विश्व के दूर-दूर भागों में इतिहास में, प्रथम बार, मनुष्य विश्वव्यापी प्रचुरता की संभावनाओं को देख रहा है। प्रायः वह उस सिद्धान्त को तथा उन दलों और व्यक्तियों को स्वीकार करने के लिए तैयार है, जिनसे उसके जीवन-काल में ही उस आशा की पूर्ति की पूर्ण संभावना का उदय हो सके।

रूस और चीन में विश्व साम्यवादी दल की चालों के संचालक, जिनके हाथ में आज विशाल राज्य हैं, साम्यवाद को इन क्रान्तिकारी प्रश्नों के उत्तर के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं और इस प्रकार विश्वव्यापी उत्तेजना को एक केन्द्र से संचालित विश्व-क्रान्ति में परिणत कर देना चाहते हैं। अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए उनसे शक्ति और अनुरोध की वैकल्पिक चालों के कुशल प्रयोग की अपेक्षा की जा सकती है। इस प्रक्रिया के अंगस्वरूप, वे अटलांटिक राष्ट्रों को विभाजित करने और अमरीका को विश्व से पृथक करने की आशा रखते हैं।

पश्चिम की प्रमुख चिन्ता यह रही है कि अणु-युद्ध के विध्वंस से बच कर किस प्रकार इस विस्तार और विनाश के कार्यक्रम का सामना किया जाय; परन्तु यह तो निषेधात्मक दृष्टिकोण है। उन आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्न के

बिना, जिनके लिए साम्यवाद उत्तर देने का दावा करता है, और अपने विचारों के औचित्य में विश्वास रखते हुए साम्यवाद के रूप में परिवर्तन करने की माँग करना, विश्व को रोटियों के बदले पत्थर देना है।

यदि हम अन्तिम समाधानों को स्वरूप देने में वास्तविक हिस्सा लेना चाहते हैं, तो हमें निश्चित ही अपने आरामदेह पृथकतावादी अतीत के किसी भी पुराने रोग को सर्वदा के लिए समूल नष्ट कर देना होगा। इसमें हम भाग्यशाली हैं, क्योंकि एक विश्वनीति की कठिनाइयाँ और खर्च हमें उसके विरुद्ध विद्रोह के लिए चाहे जितना भी प्रोत्साहित करें, द्वितीय विश्व युद्ध के भयानक पाठों और उसकी प्रतिक्रिया को अधिकांश अमरीकी अब बखूबी समझते हैं।

विज्ञान ने विश्व को एक सौ वर्ष पूर्व के संयुक्त राज्य अमरीका से भी छोटा एक समुदाय बना दिया है। अमरीकी रेडियो के श्रोता आज विश्व के सुदूरतम देशों की आँखों-देखी घटनाओं को प्रतिदिन सुन सकते हैं। हमारे संस्थापक-पूर्वज जितना समय न्यूयार्क से बोस्टन जाने में लगाते थे, उसके अल्पांश में ही वे उन सभी क्षेत्रों में उड़ कर पहुँच सकते हैं। आज अधिकांश अमरीकी इन तथ्यों के अभिप्रायों को समझते हैं। यह विश्वास करना भ्रमपूर्ण होगा कि ऐसी दुनिया में अन्य लोगों की आवश्यकताओं, आशाओं और आकांक्षाओं से, विनाश को आमंत्रण दिये बिना, हम किसी भी अर्थ में अपने-आपको पृथक रख सकते हैं।

विश्व की पाँच प्रतिशत आबादीवाला होते हुए भी संयुक्तराज्य अमरीका आज विश्व के कच्चे माल का लगभग पचास प्रतिशत भाग उपयोग करता है। राष्ट्रपति को प्रस्तुत पैले-रिपोर्ट में यह प्रदर्शित किया गया कि १९५२ में अमरीका ने अपने उत्पादन की अपेक्षा नौ प्रतिशत अधिक कच्चे माल का उपयोग किया और प्रतिरक्षा उद्योग के बत्तीस अत्यन्त महत्वपूर्ण खनिज पदार्थों में से हमारे पास तेईस की कमी थी। दक्षिणी अमरीका के साधनस्रोतों तक अपनी पूरी पहुँच के बावजूद, क्रोम, टिन, कोबाल्ट, मैंगनीज, पारा, यूरेनियम, एसबेस्टास, ग्रैफाइट, टंगस्टेन तथा अन्य धातुओं के लिए, जो विकास और प्रतिरक्षा के लिए नितान्त आवश्यक हैं, फिर भी अफ्रीका और एशिया में हमें जाना पड़ता है।

हमारे आर्थिक विकास के मोड़ का हिसाब लगाते हुए पैले-रिपोर्ट ने अनुमान लगाया कि १९७५ तक औद्योगिक कच्चे माल की खपत ६० प्रतिशत बढ़

जायगी। ये अतिरिक्त आयात अधिकाधिक एशिया और अफ़्रीका से होंगे।

इस प्रकार अमरीकी खेत, कारखाने और 'मेन स्ट्रीट' के भण्डार अधिकाधिक उन लोगों पर निर्भर हो जाते हैं, जो उत्तरी रोडेशिया में ताँवा, ईरान में तेल और बिहार में मेंगनीज़ पैदा करते हैं, और उन पर भी निर्भर करते हैं, जो लन्दन में व्यापार के जटिल यंत्रों का संचालन करते हैं, और जो वम्वई, आक्रा, रंगून और पोर्ट सईद वन्दरगाहों में जलपोतों पर माल चढ़ाते हैं।

इस अणुयुग में एक पृथक अमरीकी की प्रतिरक्षा भी कठिन होगी। सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण, हमारे हवाई कमान की प्रवल प्रहार-शक्ति अधिकतर हमारे मित्रों की मातृभूमियों और प्रदेशों पर निर्भर है। यदि एक कामचलाऊ निःशस्त्रीकरण समझौते के अभाव में ये अड्डे हमें कभी न दिये गये, तो सम्भाव्य सोवियत या चीनी आक्रमण के समय हमारी प्रतिशोधात्मक प्रहार-शक्ति भयानक रूप से कम हो जायेगी।

इस महान, नवीन राजनीतिक सत्य से हमारा पीछे लौटना असंभव है। नये और सम्पूर्ण अर्थ में, हम विण्डेल विल्की के शब्दों में 'एक विश्व में रहते हैं।' यद्यपि वह खतरनाक रूप से अस्सी प्रतिद्वंदी राष्ट्र-राज्यों और दो सशस्त्र शिविरों में तथा विभिन्न प्रकार के अदम्य सिद्धान्तों, साम्राज्यों और क्रान्तियों में, जिन पर हम विचार करते आ रहे हैं, वंटा हुआ है, फिर भी यही एक मात्र हमारा विश्व है, जिसमें हमें रह कर सीखना है।

यदि हमें इसमें सफलतापूर्वक रहना है तो जो पहला पाठ हमें सीखना है, वह यह है कि अमरीकी नीति की सीमाएँ वहुत ही यथार्थ हैं। कभी-कभी इस वात को समझना हमारे लिए वड़ा कठिन हो जायगा।

एडलाई स्टीवेन्सन ने हमको चेतावनी दी है—"एक राष्ट्र के रूप में हमारे सामने ऐसी कोई वाधा नहीं उपस्थित हुई, जिस पर हम विजय प्राप्त न कर सके। हमने कभी ऐसी नदी नहीं देखी, जिस पर हम पुल न वना सके, ऐसी कोई मंदी नहीं आयी, जिसको हम समाप्त न कर सके और ऐसा कोई युद्ध नहीं हुआ, जिसे हम जीत न सके। अभी तक हमें दुःख, निराशा और पराजय के दिन नहीं देखने पड़े, जो अन्य सभी राष्ट्रों की स्मृतियों में अंकित हैं।

"जीवन के प्रति हमारा परम्परागत, तत्पर और आत्मविश्वासपूर्ण समाधान, अपने महान आकर्षण के वावजूद, सम्भव है कि हमें आगे चल कर निराश करे। आज हम एक क्रान्तिकारी स्थिति में विश्व के रंगमंच पर प्रकट हुए हैं, जहाँ हमारी स्वीकृत शक्तियाँ राष्ट्र के आकार, साधन-स्रोतों, आवादी, भूगोल

तथा अनुभव की स्पष्ट सीमाओं से आबद्ध हैं। इस नयी स्थिति में, हमें विनम्रता की आवश्यकता है और सब से अधिक आवश्यकता राष्ट्राध्यक्ष आइसनहावर के शब्दों में 'धैर्य और साहस है' की।"

परन्तु जब कि हमें एक ओर अपनी मर्यादाओं को स्वीकार करना चाहिए, तो दूसरी ओर हमें इस बात से सावधान रहना चाहिए कि कहीं हम इनका उपयोग निष्क्रिय होने के लिए न करें। भविष्य के सम्बंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हम अमरीकी लोग चाहे कितनी भी गलतियाँ करें, तब भी स्वतंत्रता कायम रह सकती है और यदि हम सब कुछ ठीक ही करें, तो भी वह नष्ट हो सकती है। फिर भी, जहाँ तक हमारा अन्दाज है, अमरीका के पास इतने साधन तो हैं कि वे रोटी, स्वतंत्रता और शान्ति के लिए विश्वव्यापी प्रजातांत्रिक क्रान्ति को सफल या विफल बना सकते हैं। फिर भी, सब कुछ होते हुए भी, अमरीका की नीति ऐसी है, जिसके निर्णय के लिए अमरीकी सब कुछ कर सकते हैं।

हम इसको बनाने में किस तरह प्रयत्न कर सकते हैं? क्या हमारी वर्तमान विश्व-कूटनीति क्रान्तिकारी चुनौती के अनुकूल है? नहीं, वह स्पष्टतः ऐसी नहीं है। तो फिर उसे सुधारने के लिए हम क्या कर सकते हैं?

प्रथम और अत्यधिक महत्वपूर्ण बातों में से, जो हम कर सकते हैं, वह है एक ठोस ऐतिहासिक पार्श्वभूमि में अपना आधार बनाना। निस्सन्देह हम इतिहास के उस विकट चौराहे पर हैं, जो रोमन साम्राज्य के विघटन अथवा पुनर्जागरण के अभ्युदय से भी अधिक नाटकीय सिद्ध हो सकता है।

बत्तीसवाँ प्रकरण

ऐतिहासिक अनुदर्शन

यह बात याद रखना हमारे लिए लाभदायक होगा कि विश्व में हमारी ही वह प्रथम सभ्यता नहीं है, जिसे 'आधुनिक सभ्यता' कहा जा सकता है और जिस प्रकार के प्रश्न हमें आज परेशान कर रहे हैं, उनका सामना पहले किसी ने नहीं किया। रोम तथा अनेक अन्य राष्ट्रों ने अपने-आपको विश्व-समाज के रूप में माना था और क्रान्तिकारी चुनौतियों का सामना किया था।

प्रोफेसर अर्नल्ड टोयन्बी का कहना है कि पश्चिम की कम-से-कम बीस ऐतिहासिक सभ्यताओं ने इतिहास की चोटी पर पहुँचने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक ने अपने-अपने क्रम में एक निष्क्रिय प्रारम्भिक समाज की शान्तिपूर्ण निद्रा से उठने का प्रयत्न किया, सुरक्षा को पीछे छोड़ा और शासितों की सम्मति पर आधारित विश्वव्यापी सभ्यता के अगले सोपान पर चढ़ने की कोशिश की। इनमें से सोलह सभ्यताएँ तो अपने प्रयत्नों में पहले ही विनष्ट हो चुकी हैं; और, हमारी सभ्यता के अतिरिक्त अन्य सभी सभ्यताएँ काफी जर्जरित हो चुकी हैं।

टोयन्बी के कथनानुसार हमारी पश्चिमी संस्कृति कठिनाइयों के युग में प्रविष्ट हो चुकी है और हमारे सामने प्रश्न यह है कि जहाँ इतने लोग असफल रहे, वहाँ हमें सफलता प्राप्त होगी या नहीं। टोयन्बी का कहना है कि इन सभी प्रारम्भिक प्रयत्नों में सभ्यता का जहाज़, 'युद्ध' और 'वर्ग', इन दो मानवीय प्रमुख समस्याओं की चट्टानों से टकरा कर चूर-चूर हो गया है।

जिन महान समाजों ने विश्व-संस्कृति बनने का प्रयत्न किया, उनके पृथक्-पृथक् अंगों में युद्ध, जो सैनिकवाद और बल के साथ चलता है, उनके छिन्न-भिन्न होने का प्रमुख कारण रहा है।

वर्ग से टोयन्बी का अर्थ उन सभी आर्थिक विषमताओं और जातीय और धार्मिक भेदभावों से है, जो एक वर्ग का दूसरे पर प्रभुत्व और शोषण कायम रखते ह और किसी भी समाज में फूट का बीज बोते हैं। इस अर्थ में टोयन्बी का विश्वास है कि वर्ग सभ्यता के विनाश का दूसरा मुख्य कारण रहा है।

उन्होंने लिखा है, "युद्ध और वर्ग सभ्यता के जन्मकाल से ही हमारे साथ हैं।

जब हम प्रत्येक मामले की खूब छानबीन करते हैं तो हम निश्चित रूप से इन निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मृत्यु का कारण या तो युद्ध हुआ है, या वर्ग; या दोनों का संमिश्रण।"

परन्तु हर बार मृत्यु का कारण आत्महत्या भी रही है। सभ्यता के भीतर यदि किसी तत्व ने उसे कमजोर नहीं किया होता, उसके ज्ञानतन्तु में घातक अवरोध प्रस्तुत न किया होता और उसे आकर्षण की क्षमता और जनता की निष्ठा से वंचित न किया होता, तो कोई भी वाहरी शक्ति उसे रोकने में समर्थ न होती।

टोयन्वी के अनुसार प्राचीन यूनान का इतिहासकार और अकालमृत्यु-परीक्षक ४३१ ई. पू. के पोलोपोनेशियन युद्ध को आत्महत्या-काल के रूप में वतायेगा। स्पार्टा जीते या एथेन्स—इसका कोई अर्थ नहीं था, क्योंकि नगर-राज्यों में आपसी युद्ध से तथा प्रत्येक नगर में वर्ग-संघर्ष से यूनान कभी भी मुक्त न हो सका।

युद्ध को किस तरह समाप्त किया जाय और अवसर की स्थूल समानता की स्थापना किस प्रकार की जाय, पूर्वकालीन सभी सभ्यताओं के लिए यह जीवन और मरण का प्रश्न रहा है। हमारे लिए भी यह प्रश्न कम महत्त्व का नहीं है और हमारी नीतियों के आवश्यक उद्देश्यों की स्पष्ट शब्दों में व्याख्या करनी पड़ेगी।

युद्ध की समस्या

इतिहास हमें यह वताता है कि पिछली पीढ़ियों ने युद्ध की समस्या को हल करने के लिए तीन भिन्न प्रणालियों को अपनाया है— एक ही शक्ति द्वारा विश्व का शासन, राष्ट्रों और राष्ट्र-समूहों के वीच शक्ति-सन्तुलन और स्वेच्छापूर्ण संघ। चूंकि इनमें से प्रत्येक प्रणाली को किसी-न-किसी रूप में हमारे वर्तमान धर्मसंकट के समाधान के रूप में प्रस्तावित किया जाता है, इसलिए पश्चिमी इतिहास में उनके जीवनक्रम पर संक्षेप में विचार कर लेना समयानुकूल होगा।

तीनों में से साम्राज्य-प्रणाली प्राचीनतम है। यूनानी नगर-राज्यों के पारस्परिक विनाश के उपरान्त, रोम के नये गणराज्य ने समस्त सभ्य विश्व को सैन्यशक्ति से एक करने का प्रयत्न किया। यद्यपि "रोमन-शान्ति" वाक्यांश का अर्थ, शक्ति द्वारा स्थापित शान्ति है तथापि शताब्दियों तक रोमन साम्राज्य ने विश्व को शान्ति के फल—सड़कें, जलमार्ग, पुल, नहरें, सिंचनप्रणाली, विशाल वन्दरगाह, दलदल भूमि को सुखाना, एक ही प्रकार की कर-प्रणाली, एक विशाल

मुक्त व्यापार-क्षेत्र, एक सामान्य सेना अथवा पुलिस दल और सर्वोपरि, रोमन कानून प्रदान किये।

अन्त में रोम का भी पतन हुआ, परन्तु विश्वजनीन रोमन कानून और पुनः स्थापित रोमन साम्राज्य के सामान्य शासन के अन्तर्गत शान्ति का आदर्श समस्त ईसाई देशों में जारी रहा और उसने पश्चिमी इतिहास पर गहरा प्रभाव डाला।

पश्चिम ने वलपूर्वक साम्राज्यवादी समाधान के अन्य अनेक प्रयत्नों के अनुभव प्राप्त किये हैं। क्रान्तिकारी फ्रान्स, उस समय जव कि उसकी गणतंत्रीय शक्तियों ने योरोप में प्रतिक्रान्तिवादी ज्वार को उभाड़ना आरम्भ किया, साम्राज्यवादी कार्य पर आरूढ़ हुआ। कोर्सिका से उन्नीसवीं शताव्दी के सीज़र ने योरोप के संयुक्त राज्य की चर्चा की, परन्तु फ्रान्स के विकासशील सैनिक प्रभुत्व तथा 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की परम्परा में उसके चरमोत्कर्ष ने यह प्रदर्शित किया कि यह रोम के वैभव को फिर से स्थापित करने का जानबूझ कर किया गया प्रयत्न था। नैपोलियन की संहिता ने अल्प काल के लिए अधिकांश योरोप को एक कानून के अन्तर्गत ला दिया और योरोपीय राजतंत्रों के द्वारा उसके मुक्त और कुशल उपयोग ने योरोपीय विचार को महाद्वीप के लोगों के मस्तिष्क पर इस प्रकार अंकित कर दिया कि कोई भी निर्वासित व्यक्ति उसे मिटा नहीं सकता था।

वाद में जापान के साथ मिलकर हिटलर ने विश्व पर शासन जमाने का नया प्रयत्न किया। चालीस वर्षों से सोवियत संघ ने भी विश्व-साम्राज्य के उद्देश्य को कभी नहीं छिपाया, जिसकी स्थापना वह साम्यवादी आन्दोलन से करना चाहता है। अमरीका में भी कुछ ऐसे लोग हैं, जो वड़ी सावधानी से यह कहते हैं कि शान्ति की स्थापना का एकमात्र व्यावहारिक मार्ग सीज़र का अनुकरण करने में है।

युद्ध टालने का दूसरा परम्परागत तरीका, 'शक्ति-सन्तुलन' रहा है। रोमन साम्राज्य के स्वप्न के धुंधला पड़ने के साथ पुनरुत्थान (रेनेसाँ) के राजनीतिक सिद्धान्तवादियों ने राज्यों के शक्ति-सन्तुलन में 'प्राकृतिक सन्तुलन' या 'उचित समानता' के ढंग की एक परिकल्पना की खोज की, जो जीवन में सर्वत्र उपलव्ध थी। यदि साम्राज्य का सद्गुण स्वतः एकता और सार्वभौमिक कानून और व्यवस्था है, तो एक सफल शक्ति-सन्तुलन का गुण उस सन्तुलन में है, जो एक प्रकार की स्वाधीनता और विभिन्नता की अनुमति प्रदान करता है।

सन्तुलन के लिए एक सन्तुलनकर्त्ता की आवश्यकता होती है, जो भार को

एक पलड़े से दूसरे पड़ले में सरकाने की क्षमता रखता हो। सब से सफल सन्तुलनकर्त्ता औद्योगिक इंग्लैण्ड था, जिसने लगभग २५० वर्षों से अपना यह उद्देश्य बना लिया है कि कोई भी महाद्वीपीय शक्ति अथवा शक्ति-गुट इतना अधिक प्रबल न हो जाय कि वह शेष योरोप में अपनी सत्ता स्थापित कर ले। १९१४ तक विश्व-स्थिरता की प्रायः यही एक मात्र कुंजी थी।

१८१५ से १९१४ तक अपनी 'गौरवपूर्ण पृथकता में' ब्रिटेन ने बिना जन-धन खर्च किये, जिसकी अधिकांश भूतपूर्व साम्राज्यों को आवश्यकता पड़ी, और बिना निरन्तर बल-प्रयोग के घातक प्रभाव के, योरोपीय समाज का नेतृत्व किया। १९ वीं शताब्दी के उदारवाद और मानवतावाद उसके कुछ प्रतिफल थे।

यह भाग्य की विडम्बना थी कि ब्रिटेन ने यह शक्ति-सन्तुलन उद्योगवाद से प्राप्त किया, जिसने साम्राज्य की रचना की थी। ब्रिटिश जलपोतों द्वारा सुरक्षित और सुसज्जित ब्रिटिश साम्राज्य ने लगभग आधे भूमण्डल पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, कानून और व्यवस्था तथा एक प्रकार की शान्ति स्थापित की। ब्रिटेन की शान्ति व्यवस्था, जो १९ वीं शताब्दी के अधिकांश में कायम रही, दो प्राचीन प्रणालियों– औपनिवेशिक विश्व में साम्राज्य और योरोप में शक्ति-सन्तुलन का—समिश्रण थी।

किन्तु इतिहास ने निश्चित रूप से प्रदर्शित कर दिया है कि साम्राज्य में अपने विध्वंस के बीज निहित हैं और शक्ति-सन्तुलन अनिवार्यतः खतरनाक है। परिभाषा के अनुसार साम्राज्य का अर्थ है, शक्ति द्वारा शान्ति और बल द्वारा एकता। साम्राज्य का अन्त हो जाता है, जब पराधीन जनता अपने शासकों को उखाड़ फेंकने की शक्ति और इच्छा प्राप्त कर लेती है, अथवा जब शासक अपना शासन जारी रखने की शक्ति या इच्छा खो बैठते हैं, अथवा जब आन्तरिक जागृति और निर्बलता साम्राज्य को बाहरी आक्रमण के लिए आकर्षक लक्ष्य बना देती है।

इस प्रकार रोम का पतन आन्तरिक वर्ग-संघर्ष के कारण हुआ, जिसने उसे बर्बर आक्रमण के लिए खुला छोड़ दिया। जब लोकतंत्र ने ब्रिटेन में जड़ें जमा लीं और जब अमरीका से भारत और अफ्रीका तक ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर औपनिवेशिक विद्रोह फैल गया तब ब्रिटेन के विश्वव्यापी साम्राज्य के दिन लद गये।

सन्तुलन में रहने वाले राष्ट्रों को उसी स्थिति में बनाये रखने की संभावना पर शक्ति-सन्तुलन निर्भर करता है। सन्तुलन को समाप्त करने वाली नवीन

शक्तियों का भीतर या बाहर उद्भव हो सकता है। जब सामन्तवाद के भीतर आर्थिक शक्तियों का विकास हुआ तब सामन्तवादी सन्तुलन विच्छिन्न हो गया, जिस प्रकार नगर अपने नवीन उद्योगों और व्यापारियों के कारण अस्तव्यस्त हो गये।

औद्योगिक जर्मनी के उत्थान से उन्नीसवीं शताब्दी का योरोपीय राजनीतिक सन्तुलन डावाँडोल हो गया। जर्मनी ऐसी साम्राज्यवादी महाद्वीपीय शक्ति था, जिसको विश्व का विशालतम जहाज़ी बेड़ा भी आसानी से नियंत्रित नहीं कर सकता था। १८७० में ब्रिटेन, फ्रैन्को-प्रशन युद्ध में इस आशा से तटस्थ रहा कि एक संयुक्त जर्मनी, फ्रान्स के लिए एक प्रभावशाली प्रति-सन्तुलन का कार्य करेगा, जो इस शक्ति-सन्तुलन के लिए पिछले दो सौ वर्षों से महान खतरे के रूप में था। चालीस वर्ष बाद, ब्रिटेन ने इस बार फ्रान्स की ओर से प्रथम आधुनिक युद्ध में प्रवेश किया, जिससे योरोप में उसी संयुक्त जर्मनी के आधिपत्य को रोका जा सके, जिसे ब्रिटेन ने स्वयं बढ़ने का मौका दिया था।

निकोलस द्वितीय ने जार्ज पंचम को अगस्त, १९१४ में तार दिया, "मुझे विश्वास है कि आपका देश योरोप में शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने के लिए युद्ध में फ्रान्स और रूस का समर्थन करेगा।" परन्तु ब्रिटेन चाहे जितनी भी अच्छी तरह लड़ा हो, योरोपीय शक्ति-सन्तुलन को अपने रूढ़ अर्थ में कायम रखना तो दूर रहा, उसे फिर से कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सका। इसको उलट देने के लिए क्रियाशील नयी तुमुल शक्तियों की द्योतक वह क्रान्ति थी, जिसने तीन वर्ष बाद ज़ार को पदच्युत कर दिया और जिसने साम्यवादी नेतृत्व में रूस को एक नयी गतिशील विश्वशक्ति के रूप में परिणत कर दिया।

युद्ध रोकने में साम्राज्यों और शक्ति-सन्तुलनों के अभावों के साथ अनुभव ने शान्ति के लिए एक तीसरा नवीन मार्ग प्रदान किया— सरकार के समान संस्थानों द्वारा पुष्ट, राष्ट्रों के ऐच्छिक संघ की कल्पना।

प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों ने युद्ध रोकने के लिए अथवा आक्रमणकारियों के विरुद्ध कम-से-कम सामूहिक कार्यवाही करने के उद्देश्य से एक होने के प्रयत्न किये; परन्तु यूनानी संघ राजदूतों की बैठकों की अपेक्षा अधिक काम के नहीं थे। फिर भी रोम के पतन के बाद से ही युद्ध को समाप्त करने के लिए ऐच्छिक संघ का विचार पश्चिमी दिमाग में स्पष्टतः कार्य करता आ रहा है।

मध्ययुग में चर्च को इस प्रकार की एकता के लिए आधारशिला के रूप में देखा गया। १५१४ में हौलैण्ड में इरासमुस ने पादरियों, (पोप, एबट, बिशप)

और वुद्धिमान लोगों की विश्व-पंचायत-प्रणाली की वकालत की। १५१८ में दसवें पोप लियो और कार्डिनल वूल्ज़े ने आक्रमणकारियों के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही के सिद्धान्त के आधार पर 'विश्वशान्ति की संधि' के लिए सचमुच वातचीत भी की।

१६२५ में, डच न्यायशास्त्री ह्यूगो ग्रोटियस ने, जो अन्तरराष्ट्रीय कानून के जनक के रूप में प्रख्यात थे, अपना प्रसिद्ध निवन्ध, 'युद्ध और शान्तिविधान' प्रकाशित किया। उन्होंने तर्क पेश किया कि सार्वभौतिक राज्यों को उसी प्रकार अन्तरराष्ट्रीय विधान से वँधा हुआ होना चाहिए, जिस प्रकार व्यक्ति राष्ट्रीय अथवा स्थानीय विधान से वँधा होता है। उन्होंने यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि 'प्राकृतिक विधान' पर विचार करने और उसे लागू करने के लिए ईसाई राजाओं की एक सभा वुलायी जाय । वाद की शताव्दी में योरोप के 'जन-विधान' को निश्चित करने के लिए नौ अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन हुए ।

तदनन्तर, तीन शताब्दियों में उतनी ही प्रख्यात, वीसियों शान्ति-योजनाओं का निर्माण हुआ। फिर भी सभी योजनाएँ राजाओं, राजनीतिज्ञों तथा विख्यात दार्शनिकों की वनाई हुई नहीं थीं। १७७९ में एक फ्रान्सीसी अध्यापक पियरे-आंद्रे गार्गज ने, जिस पर हत्या का झूठा आरोप लगा कर वीस वर्ष के लिए नाव पर दास के रूप में कार्य करने के लिए दण्डित किया गया था, संघ के लिए एक वड़ी ही कल्पनाशील योजना वना कर वेन्जामिन फ्रैंकलिन को भेजी थी, जो लम्वे अर्से से उत्तरी अमरीकी राज्यों के एक महाद्वीपीय संघ के लिए अनुरोध कर रहे थे।

"अपराधी नं. १३३६" के नाम से हस्ताक्षर करके गार्गज ने न केवल मध्यस्थता के तत्कालीन प्रचलित विचारों और 'कोटा' पर आधारित अन्तर-राष्ट्रीय पुलिस शक्ति का सुझाव प्रस्तुत किया, प्रत्युत एक विश्वव्यापी जन-कार्य का कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसकी पूर्ति युद्ध-समाप्ति से वची हुई रकम से की जाती। सड़क-निर्माण, अकालग्रस्त क्षेत्रों के लिए अतिरिक्त खाद्यान्न का संग्रह, सिंचाई और वाढ़-नियंत्रण के कार्य उसकी उस सूची में थे, जिसमें पनामा के स्थल डमरूमध्य और स्वेज़ में नहरों का निर्माण भी शामिल था।

१७८१ में मुक्त होने के वाद वे पैसी (Passy) तक पैदल चल कर गये, जहाँ फ्रैंकलिन ने, जो नयी दुनिया के पुरानी दुनिया में प्रथम राजदूत थे, योजना को प्रकाशित किया। १७८६ में उन्होंने योरोपीय नेताओं को निराशा करते हुए फ्रान्स में नये अमरीकी मंत्री थामस जैफर्सन को लिख कर अनुरोध किया कि

नयी दुनिया 'संघ' का श्रीगणेश करे।

स्वयं अपने क्षेत्र में 'नयी दुनिया' वही कार्य कर रही थी। भूतपूर्व अमरीकी उपनिवेशों के स्वाधीनता प्राप्त करने के उपरान्त प्रतिद्वंद्विता इतनी तीव्र हो गयी कि यह निश्चित प्रतीत होने लगा कि योरोपीय फूट और संघर्ष के इतिहास की पुनरावृत्ति उत्तरी अमरीकी तटों पर भी होगी। तेरह छोटे राज्यों के पास न केवल उनकी अपनी-अपनी छोटी सेनाएँ थीं, वल्कि कुछ राज्यों ने तो उत्तर-पश्चिम में औपनिवेशिक अविकारों के भी दावे किये थे। वाशिंगटन ने जे को लिखा, "प्रत्येक राज्य में दाहक पदार्थ विद्यमान हैं, जिनको प्रज्वलित करने के लिए एक चिनगारी पर्याप्त होगी।"

१७८७ में फिलाडेलफिया की संविधान-सभा में जो लोग आये थे, उनमें से बहुतेरे ऐसे थे, जिन्होंने यह मान रखा था कि राज्य-संघ की धाराओं में कोई मौलिक संशोधन राजनीतिक दृष्टि से असंभव था। कहा जाता है कि सभा के कठिन समय में वाशिंगटन ने अशुभ गतिरोध को इन गम्भीर शब्दों में तोड़ा था:—

"बहुत संभव है कि हमारी कोई भी प्रस्तावित योजना स्वीकार न की जाय। शायद एक और भयंकर युद्ध का सामना हमें करना पड़े, किन्तु यदि लोगों को प्रसन्न करने के लिए उन्हें हम ऐसी चीज देते हैं, जिसे हम स्वयं पसन्द नहीं करते, तो वाद में हम कैसे अपने कार्य को बचा सकते हैं? हमें एक मापदण्ड का निर्माण करना चाहिए जिसे विवेकशील और ईमानदार लोग सुधार सकें; घटना तो ईश्वराधीन है।"

संविधान ही मापदण्ड और घटना विस्तारशील संघीय शासन था। अन्य क्षेत्रों में भी, जहाँ विशाल आकार अथवा सांस्कृतिक, धार्मिक, अथवा भाषागत मतभेदों ने केन्द्रीभूत राज्य को अव्यावहारिक बना दिया था, समय पर तथा उतनी ही सफलता से सच्चे संघों की स्थापना हुई। स्विट्जरलैंड, कनाडा और आस्ट्रेलिया इसके उदाहरण थे।

हमारी प्रारम्भिक सफलता के अतिरिक्त, उनकी सफलता से अनेक योरोपीय देशों के राजनीतिज्ञों के साथ बहुत से लोगों ने अन्तरराष्ट्रीय अराजकता के समाधान के लिए संघ का समर्थन किया है, चाहे यह अराजकता अकेले योरोप में, सामान्यतः उत्तरी अटलांटिक प्रजातंत्रों में हो, या समस्त विश्व में।

१७८७ में बेन्जामिन फ्रैंकलिन ने अपने एक योरोपीय मित्र को लिखा, "मैं इसके साथ संयुक्त राज अमरीका का नया प्रस्तावित संघीय संविधान

भेज रहा हूँ। यदि यह सफल होता है, तो मैं नहीं समझता कि आप लोग योरोप में इसी प्रकार की सभा के द्वारा, सभी विभिन्न राज्यों का एक महासंघ क्यों नहीं स्थापित कर सकते।"

कुछ सीमित क्षेत्रों में, राष्ट्रों की क्षेत्रीय गुटबन्दियाँ पहले ही विशेपरूप से योरोपीय कोयला-लोहा-फौलाद समुदाय में इसी दिशा में चल रही हैं। यह संगठन पहले ही से अपने सदस्यों के अधिकार-क्षेत्र से ऊपर राजनीतिक और आर्थिक सत्ता प्राप्त किये हुए हैं।

युद्ध-अवरोधक इन तीन प्रतिद्वंद्वी प्रणालियों—साम्राज्य, शक्तिसंतुलन और संघ—का लम्वा इतिहास हमारे सम्पूर्ण विश्व-चित्र में हैं। उनके तत्व यह संकेत करते हैं कि न तो किसी शक्ति के विश्व-साम्राज्य, न सुस्थिर शक्ति-सन्तुलन और न पूर्ण. विकसित विश्व-संघीय शासन के, शीघ्र कूटनीतिक कार्य-सूची में ही प्रकट होने की सम्भावना है।

यह काफी मजेदार वात है कि एक शताव्दी से अविक समय तक रूस और संयुक्त राज्य अमरीका ने क्रमश. इन दो प्रतिद्वंद्वी प्रतीकों—साम्राज्य और संघ-का प्रतिनिधित्व किया है। संघ में लगातार नये राज्यों के मिलने और लोगों के लिए नयी स्वतंत्रताओं के साथ उन्नीसवीं शताव्दी के अमरीकियों ने अटलांटिक से प्रशान्त महासागर तक शान्ति-कानून और स्वतंत्र व्यापार की स्थापना के लिए पश्चिम की ओर कूच किया। वर्पों के वंधु-घातक गृह-युद्ध के अपवाद के सिवाय उनका नारा "स्वाधीनता और संघ, एक और अविभाज्य", उनके साथ ही रहा।

साथ ही साथ यूरेशिया के मध्य में विशाल जनसमूह का निप्क्रमण चल रहा था। रूसी लोग पूर्व की ओर साइवेरिया में जा रहे थे और एक दूसरे महाद्वीपीय साम्राज्य की रचना कर रहे थे। ज्यों-ज्यों १९ वीं शताव्दी वीतती गयी, विश्व अटकलें लगाने लगा कि यदि इन दो विशालकाय देशों ने अपनी प्राकृतिक भौगोलिक सीमाओं में अपना प्रसार कर लिया तो क्या होगा?

१८३५ में अमरीका में एक विशिष्ट फ्रान्सीसी यात्री अलेक्सिस डी टोकविल ने भावी घटनाओं के सम्वन्ध में असाधारण रूप से सही भविष्यवाणी की:—

"आजकल विश्व में दो महान राष्ट्र हैं, जिन्होंने विभिन्न स्थलों से चलना प्रारम्भ किया, परन्तु एक ही लक्ष्य की ओर प्रवृत्त प्रतीत होते हैं। मेरा संकेत रूस और अमरीका की ओर है।

"अमरीका का प्रमुख साधन है स्वतंत्रता, और रूस का दासता। उनके प्रार-

म्भिक स्थल भिन्न हैं और यद्यपि उनके मार्ग भी एक नहीं ह, फिर भी प्रत्येक विश्व के गोलार्ध का भाग्य-निर्माता बनेगा, ऐसी ईश्वरीय इच्छा प्रतीत होती है।"

स्वतंत्र राष्ट्रों के संघ और यूरेशियन हार्टलैंड के साम्राज्य की सैनिक बैठक १९४५ में योरोप के मध्य ऐल्व में शान्तिपूर्वक हुई। हर हालत में उनके सम्बंध अशान्तिपूर्ण ही होते। किन्तु मामलों को और भी जटिल बनाने के लिए एक ओर उत्तरी अटलांटिक ब्रेसिन के आसपास एकत्र उपनिवेशवादी औद्योगिक श्वेत राष्ट्रों और दूसरी ओर अन्य वर्ण वाले जागृत और कच्चे माल का उत्पादन करन वाले एशिया और अफ्रीका के भी राष्ट्रों के बीच एक संघर्ष पैदा हो रहा था।

इस संघर्ष ने अपेक्षाकृत आर्थिक विश्वव्यापी आग्रह के साथ द्वितीय प्राचीन समस्या को, जिसे टोयन्बी वर्ग कहता है, पुनः उभाड़ा। रूस ने, जो कभी पश्चिम का एक बाहरी प्रान्त था, पश्चिम के लिए एक जबरदस्त चुनौती प्रस्तुत कर दी, केवल इसलिए नहीं कि इसके पास लाल सेना थी, जो किसी भी समय बल-पूर्वक एकीकरण द्वारा विश्व को शान्त करने के लिए प्राचीन साम्राज्यवादी रोमन मार्ग पर आरूढ़ हो सकती थी, बल्कि अधिकतर इसलिए कि उसके पास एक सिद्धान्त था, जो वर्गसंघर्ष के लिए अपना स्वयं एक हिंसात्मक समाधान प्रस्तुत करता था।

वर्ग-समस्या

वर्ग में जाति, वर्ण, धर्म और आर्थिक स्थिति भी शामिल हो सकती है। यह युद्ध की समस्या की अपेक्षा अधिक विशद और कम पहचानने योग्य है। यह अधिक व्यक्तिगत और अधिक कटुता पैदा करने वाला भी हो सकता है। वह गौरव या गरिमा के रूप में युद्ध की कोई विशेष सुविधा भी नहीं प्रदान करता। तथापि इसकी जड़ इतनी गहरी हैं कि वह विनाशकारी वर्ग–युद्ध और यहाँ तक कि युद्ध भी पैदा करने में समर्थ है।

जसा कि अरस्तू ने प्राचीन यूनान के बारे में कहा था, एक तरह से हमारे समाज में सर्वदा दो प्रकार के नगर होते हैं– एक तो अमीरों का नगर और दूसरा गरीबों का। आजकल यही विभाजन संसार भर में दिखाई देता है। अटलांटिक बेसिन के राष्ट्रों में, विशेपरूप से अमरीका में परिभापा के अनुसार लगभग अमीरों के शहर हैं। शेष मानव–समाज में अधिकतर गरीबों के ही शहर हैं।

दुर्भाग्य से १९२० में, ठीक उस समय जब अमरीका राष्ट्राध्यक्ष विल्सन

के विश्वव्यापी आदर्शवाद से राष्ट्राध्यक्ष हार्डिंग की अनिश्चित सामान्य स्थिति की ओर झुक गया था, लेनिन ने पहली वार जानवूझ कर गरीवों और अमीरों के नगरों के भेद को समाप्त करने के लिए विश्व का सर्वप्रथम कार्यक्रम प्रस्तुत किया। आधुनिक विज्ञान और शिल्प विज्ञान के सामूहिक एवं आयोजित प्रयोग से वर्गगत असमानताएँ समाप्त हो सकेंगी।

वर्ग-विनाश के लिए लेनिन का प्रयत्न इतिहास का क्रूरतम प्रयास था और उन्होंने वर्गहीन समाज के लिए जो आशा दिलायी, उससे गरीवों के नगरों में जवर्दस्त हलचल मच गयी। अन्याय समाप्त करने की उनकी घोर चिन्ता और 'यथास्थिति' को 'एन केन प्रकारेण' विनष्ट करने की उनकी तत्परता ने दीर्घकाल से उत्पीड़ित तथा उतावले लोगों के लिए साम्यवाद में नाटकीय आकर्षण पैदा कर दिया। उसके प्रभाव को वढ़ाने के लिए लेनिन ने वायदा किया कि सोवियत समाजवादी गणतंत्र के एक विश्व-संघ के सार्वभौमिक आधिपत्य के द्वारा युद्ध को समाप्त कर दिया जायगा। आंशिक रूप से लेनिन साम्राज्य का एक प्राचीन विकल्प ही प्रस्तुत कर रहा था, जो अव एक नयी भ्रामक पोशाक में था।

ये सारी वातें स्वयंसिद्ध थीं कि प्रस्तावित तनाशाही सर्वहाराओं की तानाशाही होगी, रूसी पार्टी के नियंत्रण का अर्थ विश्व-क्रान्ति का राष्ट्रीय प्रभुत्व है, साम्राज्यवादी शक्ति भ्रष्ट कर देती है, हिंसात्मक दवाव का मार्ग समझानेवुझाने के सभी वायदों के विरुद्ध है और एक सर्वशक्तिमान स्वनिर्वाचित दलगत नौकरशाही, जिसके हाथ में उत्पादन के साधन होंगे, एक नया वर्ग वन जायेगी।

परन्तु समस्त विश्व में करोड़ों की संख्या में क्लान्त जनता समाधान की खोज में थी और एक आशा के लिए प्यासी थी। उसने केवल इतना ही देखा कि इतिहास में प्रथम वार एक विश्व के विशालतम राष्ट्रीय क्षेत्र पर दृढ़तापूर्वक आधारित एक विश्वव्यापी राजनीतिक दल का जन्म हुआ है और इस दल ने मानवता की एक कठोरतम समस्या के समाधान की प्रतिज्ञा की है। चीन में लेनिन की क्रान्ति के काफी वीज उगे, जिसके फलस्वरूप वहाँ एक राष्ट्रीय वर्ग के चेतन विद्रोह ने गृह-युद्ध का रूप धारण कर लिया, जिसमें साम्यवाद फिर विजयी हुआ।

साम्यवाद की निकट की परिधि के वाहर औपनिवेशिक, अर्धविकसित और विश्व के अधिकांश अश्वेत भाग के करोड़ों लोगों में हमने क्रान्ति के लिए कच्ची सामग्री देखी है। गाँधीवादी क्रान्ति का उद्देश्य भी स्पष्टतः युद्ध और वर्ग

की इन दुहरी समस्याओं का अन्त करना था। गाँधी के लिए वर्ग-विनाश और शान्ति की सम्भावना के बीच स्पष्टतः सम्बंध था। उन्होंने कहा कि, हिंसात्मक रक्तरंजित क्रान्ति एक दिन अवश्य होगी, यदि स्वेच्छा से धन और सम्पत्ति का और उससे प्राप्त शक्ति का बटवारा सामान्य जनता के कल्याण के लिए नहीं कर दिया जाता।

इसका अर्थ है कि पश्चिमी सभ्यता के धरातल पर हमें एक क्रान्ति (रूसी क्रान्ति) के स्थान पर कम-से-कम तीन क्रान्तियों का सामना करना है। उनमें से सभी, लेनिन, माओ और गाँधी की क्रान्तियों ने 'गरीबों के नगर' में स्थान ग्रहण किया है और अच्छा या बुरा, प्रत्येक का जन्म अन्याय और यातना के विरुद्ध विद्रोह के प्राचीन और विश्वव्यापी सिद्धान्त से हुआ है। प्रभाव के किसी भी ज्ञात क्षेत्र के बाहर, आदिम भावनाएँ, जैसा कि केनिया में माउमाउ द्वारा व्यक्त हुई हैं, उन उत्तेजनशील प्रवृत्तियों की ओर संकेत करती हैं, जो आज के अधिकांश विश्व की ऊपरी सतह में दिखाई देती हैं।

स्थिरता को जबर्दस्त खतरे में देख कर और इतनी अधिक असाधारणरूप से ध्वंसात्मक शक्तियों का सामना करके आज बहुतेरे अमरीकी परिवर्त्तन के सभी प्रस्तावों को विदेशी और दुर्बोध्य कह कर उनकी निन्दा करते रहते हैं। परन्तु अपने ही इतिहास के परिणामों से हम आसानी से जान नहीं बचा सकते। हम यह देख चुके हैं कि जिन शक्तियों से हमें संघर्ष करना है, वे उत्तरी अटलांटिक राष्ट्रों और प्रायः स्वयं अमरीका द्वारा पैदा की गयी हैं।

पुनरुत्थान (रैनेसां) के दिनों में पश्चिमी लोग विज्ञान और टैक्नालाजी का अन्ध अनुसरण करने और हर प्रकार के मानसिक और शारीरिक अत्याचार से आधुनिक मनुष्य को स्वतंत्रता दिलाने के उद्देश्य से इसके फलों को लागू करने के लिए वचनबद्ध थे। इसी अभिवचन से आज के विश्व का जन्म हुआ, जिसके लोग, जहाँ कहीं भी उन्हें सुना जा सकता है, किसी हद तक हमारी ही भाँति आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों की माँग कर रहे हैं और व्यापक अर्थ में वर्ग और युद्ध के अन्त की माँग कर रहे हैं।

आज गरीबों और अमीरों, दोनों के नगर एक-दूसरे के मुकाबले खड़े होकर वर्ग और युद्ध की विश्वव्यापी समस्याओं को बढ़ा रहे हैं। पश्चिम में उद्भूत साम्यवाद आज दोनों नगरों को हिंसात्मक क्रान्ति द्वार मिला देना चाहता है। पश्चिम ने स्वयं प्रयोगात्मक विकल्प सुझाये हैं। १९४४ में हमने शान्ति की स्थापना के लिए ऐच्छिक संघ के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ का सुझाव रखा था।

१९४८ से हमने युद्ध को निरुत्साहित करने के उद्देश्य से सैनिक मित्रों का एक गुट और सैनिक अड्डे बनाने का कार्य किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ की विशिष्ट समितियाँ–चतुर्थ सहायता (Point Four Assistance) और कोलम्बो-योजना का उपयोग आर्थिक खाई को पाटने के लिए किया गया है। परन्तु साधारणतः वर्ग की समस्या पर हमने अधिकतर अपने दायित्वों का परित्याग किया है और अपने विरोधियों के लिए मैदान खाली छोड़ दिया है। ऐसा क्यों हुआ ?

जसा कि हम देख चुके हैं, अमरीकी क्रान्ति ने वर्ग-समस्या पर भी अपना प्रहार जारी रखा। अमरीका में ऐसे प्रवक्ताओं का भी अभाव नहीं था, जिन्होंने अपने समाधान को सार्वभौमिक औषध के रूप में घोषित किया। परन्तु साम्यवाद की तुलना में अमरीकी नुस्खा कम स्पष्ट और कम सिद्धान्तवादी और परिस्थितियों के अनुसार अधिक व्यावहारिक ढंग का रहा है।

इसके द्वारा हमने अमरीका में विश्व के अभूतपूर्व गतिशील समाज की रचना की है, जिसमें, हममें से अधिकांश के लिए, वर्गगत भेदभाव और बहुत अमीर और बहुत गरीब के बीच में यत्र-तत्र असमानता का प्रायः खात्मा हो चुका है। फिर भी, जिस प्रयोगात्मक गुण ने हमारे प्रयत्नों को सफलता प्रदान की, उसी ने सैद्धान्तिक स्पर्द्धा में, जहाँ लोग स्पष्ट उत्तर और शीघ्र परिणाम चाहते हैं, अड़चनें पैदा कर दी हैं।

कूटनीतिक वादविवादों में इस स्पर्द्धा की गति तीव्र हो जाती है, जो कभी आशाप्रद और कभी घातक बन कर चली जा रही है। अमरीका, रूस, चीन, भारत और शेष मध्यवर्ती संसार, सभी से कभी-कभी ऐसी ध्वनि सुनायी पड़ती है, मानो यह शताब्दी उनमें से किसी एक के लिए ही सुरक्षित है। फिर भी, उनमें से कुछ को भविष्य की सम्भावनाएँ कितनी ही नापसन्द क्यों न हों, अब यह दिखाई देने लग गया है कि उनमें से सभी को दिखाई देनेवाले भविष्य के रंगमंच पर एक साथ कार्य करने के लिए विवश होना पड़ेगा। यह भी प्रकट होने लगा है कि यदि विश्व प्रत्येक के लिए सह्य नहीं बन जाता, तो अन्ततोगत्वा वह सभी के लिए असह्य हो सकता है।

क्या इसका अर्थ है सह-अस्तित्व? हाँ; परन्तु 'सह-अस्तित्व' भ्रामक शब्द है, जिसका भ्रमपूर्ण अर्थ निष्क्रियता भी हो सकता है। मास्को और पेकिंग, जहाँ कहीं भी हो सकेगा, निश्चित ही युद्ध और वर्ग की समस्याओं पर कार्य करते रहेंगे–यदि सम्प्रति कम-से-कम हथियार नहीं चमकायेंगे, तो बहुतों को

असैनिक अस्त्र प्रदान करेंगे, जो स्तालिनवादी युग के बाद अधिकाधिक काम में लाये जा रहे हैं– नये विचार, नये वायदे, नये शान्ति-प्रस्ताव, नये आर्थिक कार्यक्रम, नये सांस्कृतिक प्रयास, नयी राजनीतिक नीतियां और कूटनीतिक मोर्चे पर आकर्षक नये दृष्टिकोण।

मध्यवर्ती संसार के राष्ट्रों से, यही आशा की जा सकती है कि वे अधिकतर सशंक, अपनी समस्याओं में उलझे हुए, दायित्वों का वहन करने के अनिच्छुक, दो अणु-दैत्यों के बीच समझौतापूर्ण मार्ग नहीं, तो मध्यमार्ग का अनुसरण करने के लिए अधिकतर तैयार, और स्वतंत्र होने, जाति और वर्ण-भेद के बिना पूर्ण सम्मान प्राप्त करने और अपने लोगों के लिए सुन्दर जीवन का निर्माण करने के लिए कृतसंकल्प रहेंगे।

हमारी क्रान्तिकारी गुथी हुई दुनिया में, जो आज युद्ध और वर्ग की प्राचीन एवं भाग्यनिर्णायक समस्याओं से अभूतपूर्व ढंग से प्रताड़ित है, कोई भी एक अकेला प्रश्न उतना अधिक मौलिक नहीं है, जितना कि इस विश्वव्यापी जटिल चुनौती का सामना करने के अमरीकी सामर्थ्य का है।

तैंतीसवाँ प्रकरण

अमरीकी विश्व-शांति ?

हमारे समक्ष विकल्प क्या हैं? चूंकि पृथकता बिलकुल असम्भव है, क्या हम दूसरे छोर पर जा सकते हैं और प्राचीन रोम का अनुसरण कर सकते हैं? संसार में शान्ति-स्थापना के लिए और आर्थिक यथातथ्यता को कायम रखने के लिए हम अपनी विशाल आर्थिक और सैन्य-शक्ति का प्रयोग क्यों न करें? सब के लाभ के लिए एक नये प्रकार के अमरीकी साम्राज्य की स्थापना क्यों न की जाय?

ऐसा करने का सचमुच अर्थ होगा, 'शासित की अनुमति से शासन' के उस मौलिक विचार का परित्याग, जिसने अमरीका को महान बनाया है। परन्तु 'रियल पोलीटिक' (Realpolitik) के पक्षपाती इसको समाधान के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे। यदि हमें उन्हें सन्तुष्ट करना है, तो हमें ठण्डे दिमाग से अपने-आप से पूछना चाहिए कि क्या ऐसा साम्राज्यवादी हल व्यावहारिक है?

प्रमुख समस्याएँ स्पष्ट ही हैं। साम्राज्य का अर्थ है शक्ति का प्रयोग या धमकी। प्रत्येक महाद्वीप में उमड़ने वाली राष्ट्रवादी वर्ग-क्रान्तियों को दबा देने के लिए क्या हमारे पास सैनिक साधन हैं? क्या रोम जैसी शान्ति स्थापित करने के लिए हमारे पास साधन हैं? चूंकि दोनों पक्षों के पास आणविक अस्त्र और उनके चलाने के साधन हैं, इसलिए हमें मुख्य व्यावहारिक प्रश्न का सामना करना है। क्या युद्ध एक 'रोम' में प्रतिफलित होगा अथवा दो 'कार्थेजों' में ?

आणविक युद्ध के अनुमानित प्रभावों ने दोहरे 'कार्थेज प्रेत' को और भी अधिक संभव बना दिया है। 'मेगाटन' अस्त्रों के स्थल के निकट विस्फोट (एक मेगाटन बराबर है, १० लाख टी. एन. टी.) न केवल धड़ाका और गर्मी पैदा करता है, बल्कि सभी प्रकार की करोड़ों टन धूल और मलबे को ८० हजार फुट या इससे भी ऊपर हवा में फेंक देता है। १९५४ के बसन्त में प्रशान्त महासागर में उद्जन बम की की गयी परीक्षा में, आणविक शक्ति आयोग द्वारा दिये गये एक सरकारी वक्तव्य के अनुसार, न्यू जेर्सी के समान बड़ा सात हजार वर्गमील क्षेत्र घातक "रेडियो चेतन" धूल से ढंक गया था। इन सम्भावनाओं से परिचित लोग यह महसूस करते हैं कि उनको नरक-कुण्ड में बैठा दिया गया है।

सोवियत सामर्थ्य के अनुमान अथवा वर्तमान जानकारी पर आधारित, संघीय नागरिक प्रतिरक्षा प्रशासन (फेडेरल सिविल डिफेन्स एडमिन्स्ट्रेशन) की मान्यताओं में निम्नलिखित वातें शामिल हैं: संयुक्तराज्य के किसी भी नगर पर आक्रमण करने की सामर्थ्य रूस में है और यदि आक्रमण हुआ ही तो इसमें न्यैष्टिक (Nuclear) अस्त्र होंगे, जिनमें ऊष्मान्यैष्टिक (Thermonuclear) अस्त्र भी शामिल होंगे। ये अस्त्र वायुमार्ग से भेजे जायेंगे, साधारण काम के समय ज़मीन पर इनका विस्फोट होगा और शत्रु अधिक विस्फ़ोटक और दाहक वमों, रासायनिक और कीटाणु-अस्त्रों, तोड़-फोड़ और मनोवैज्ञानिक युद्ध का प्रयोग भी करेगा, जिनमें अमरीकी रेडियो-केन्द्रों पर गुप्त रेडियो-प्रसारणों से अस्तव्यस्तता पैदा करना भी शामिल है।

नागरिक प्रतिरक्षा प्रशासक (सिविल डिफैन्स एडमिन्स्ट्रेटर) वाल पीटर्सन ने अमरीकी लोगों को सलाह दी है कि, युद्ध की अवस्था में केवल तीन विकल्प हैं: "खोदो, मरो या निकल जाओ।" १५ जून, १९५५ को उनके नागरिक प्रतिरक्षा प्रशासन ने आक्रमण काल में हमारी कार्यदक्षता की राष्ट्र-व्यापी परीक्षा के रूप में "युद्ध की चेतावनी" का प्रदर्शन किया।

यह माना गया कि अमरीका के ६१ प्रमुख नगरों पर एक ही साथ न्यैष्टिक (Nuclear) और ऊष्मा न्यैष्टिक (Thermonuclear) वमों से आक्रमण किया गया है, जिनकी शक्ति वीस हजार टन 'टी. एन. टी.' से लेकर ५० लाख टन तक थी। ६१ नगरों में से प्रत्येक की औद्योगिक क्षमता पूर्णतया नष्ट हो गयी और ढाई करोड़ लोग वेघरवार हो गये। न्यूयार्क में २९ लाख लोग, जिनमें नगर के स्कूलों के वच्चों की आधी संख्या भी शामिल है, मारे गये। फिलाडेल्फिया में मृतकों की संख्या ७,४०,००० और लास ऐन्जिल्स में ५,८४,००० थी। न्यू इंग्लैण्ड में कुल, लगभग ६० लाख लोग हताहत हुए।

नगर खाली करने के परीक्षण ने यह दिखा दिया कि देश का कोई भी शहर या कस्वा अपने निवासियों को हटाने के लिए तैयार नहीं था। विस्थापितों के परिवहन, भोजन और उपचार की व्यापक आयोजना प्रारम्भ ही हुई थी। संघीय और राजकीय अधिकारियों के वीच और नागरिक और सैनिक समितियों के वीच अधिकार-क्षेत्र की चढ़ा-ऊपरी ने दायित्वों को पंगु और अस्पष्ट वना दिया।

नागरिक प्रतिरक्षा प्रशासन का, जिसके पास कर्मचारियों और धन की कमी थी, आद्योगिक विसर्जन, नगरपालिका के सुरक्षागृहों और आश्रय के हेतु

घरों के तहखानों की अपील का कोई असर नहीं पड़ा।

इसके अतिरिक्त, आलोचकों ने इस ओर भी संकेत किया कि 'युद्ध की चेतावनी' ने उस क्षति को किसी भी हालत में पूर्ण रूप से परिलक्षित नहीं किया, जो सचमुच हमारे नगरों में वास्तविक आक्रमण के समय होगी। जिन बमों के गिराये जाने की कल्पना की गयी थी, उनके सम्बंध में कहा गया कि "वे अपेक्षाकृत पुराने ढंग के और कम शक्ति वाले थे।" मार्च, १९५४ में बिकिनी के परीक्षण का धड़ाका दो करोड़ टन टी. एन. टी के बराबर था, जो 'युद्ध की चेतावनी' में सोचे गये भारी से भारी बम से चार गुना अधिक शक्तिशाली था।

साथ ही साथ, जबकि पत्रकार मानवीय उत्पत्ति पर एकत्रित विकीरण के अनिश्चित प्रभाव के बारे में अटकलें लगाते आ रहे है, वैज्ञानिक मोर्चे के अनुमान प्रत्यक्ष मानवीय विनाश की संभावनाओं को बढ़ाते जा रहे हैं। जून, १९५५ में, आणविक शक्ति आयोग के सदस्य, डाक्टर विलर्ड एफ. लिबी ने यह संकेत किया कि अब किसी भी आकार के उद्जन बम का निर्माण सस्ते-से-सस्ते आणविक विस्फोटकों से हो सकता है। डाक्टर लिबी ने भौतिक विज्ञानशास्त्रियों को बताया कि उद्जन बम संघटन की अपेक्षा विघटन से शक्ति विकीर्ण करते हैं, जिनमें साधारण, सस्ता २३८ यूरेनियम मुख्य विस्फोटक तत्व है।

इस प्रकटीकरण का असाधारण महत्व यह था कि साधारण अणुबमों का निर्माण करने में समर्थ कोई देश कुछ और प्रयत्नों से मेगाटन कोटि के महान अस्त्रों का भी निर्माण कर सकता है, क्योंकि २३८ यूरेनियम की अपेक्षाकृत सरलता और सस्तेपन के कारण ये अस्त्र किसी भी आकार में बनाये जा सकते हैं। अणु-धूलि दिनों, सप्ताहों या महीनों तक कायम रह सकती है और उस बम के विरुद्ध, जो १,००,००० वर्गमील क्षेत्र का विध्वंस कर सकता है, जो न्यूयार्क के क्षेत्र का दुगुना है, कोई वास्तविक प्रतिरक्षा नहीं हो सकती।

समुद्रपार से सम्भाव्य विनाश की ऐसी भविष्यवाणियाँ अमरीकी विचार-धारा के लिए इतनी नयी हैं कि, कोई आश्चर्य नहीं कि स्पष्ट सरकारी नीति और नेतृत्व के अभाव में, अमरीकी जनता या तो उदासीनता की ओर या नियति-वाद की ओर प्रवृत्त हो जाय। तथापि नये रोम के रूप में अपने अस्त्रों के बल पर अपनी इच्छा को विश्व पर लादने के अमरीकी विचार ने कभी-कभी कतिपय तथाकथित "यथार्थवादी" लोगों के मन को ऐसा मोहित कर लिया है

कि जनेवा का जलवायु भी उसे समाप्त नहीं कर सकता।

अधिकतर प्रवक्ता भूतपूर्व कट्टर पृथकतावादी रहे हैं, जो शीत युद्ध को जारी रखने के अनिश्चय और खतरों से ऊबे हुए से थे। उन्होंने हमारी आर्थिक और सैनिक उच्चता के क्रमिक ह्रास की सूचक, कतिपय प्रवृत्तियों की ओर भय के साथ संकेत किया है। उन्होंने मान लिया है कि सोवियत अर्थ-व्यवस्था हमसे भी अधिक तीव्र गति से अग्रसर हो रही है और अन्त में वह हमारे उत्पादन-स्तर तक पहुँच सकती है।

तटस्थता के विकास से, साम्यवादी देशों के साथ व्यापार की व्यावसायिक अपील से और विदेशों में एक रूसी चतुर्थ सूत्र की कार्रवाई की संभावनाओं से उन्हें निराश होना पड़ा है। उन्होंने नेहरू के किसी एक पक्ष को स्वीकार करने की अनिच्छा पर अपने को निर्भर कर लिया है और यह भविष्यवाणी की है कि दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया चीनी अथवा रूसी प्रभुत्व के अन्तर्गत सरक जायेंगे। हमारे वजट-सन्तुलन के प्रयास और अधिक स्थानीय युद्धों की संभावना, दोनों से थक कर, उन्होंने स्वयं अपने आप कोई मार्ग न पाकर प्रवल "वाग्नेरी" उत्पात प्रारम्भ कर दिया।

इन पराजयवादी अल्पसंख्यकों में से अधिकांश ने यह समझ लिया है कि अमरीकी जनता को सार्वजनिक और जागरूक कार्य के रूप में अवरोधक युद्ध में नहीं ले जाया जा सकता। उनके अनुरोध और भी सूक्ष्म हैं। सभी सम्भव वहानों का सहारा लेने, छोटी-छोटी घटनाओं को विराट रूप देने और हमको ऐसी स्थितियों में डाल देने का पक्ष ग्रहण किया है, जहाँ पूर्ण युद्ध अनिवार्य हो जायगा।

विभिन्न कारणों से 'निवारक युद्ध' का यह सिद्धान्त, किसी भी रूप में, लापरवाही से पूर्ण और अव्यावहारिक है। आज का कठोरतम तथ्य यह है कि संसार की समस्याओं का, यहाँ तक कि वड़ी और क्रूर समस्याओं का भी, कोई एक और शीघ्रगामी समाधान नहीं प्राप्त हो सकता। सोवियत प्रतिकार लगभग उतना ही गम्भीर हो सकता है, जितना प्रारम्भिक रूप में मास्को से हुआ था, और हमारे प्रतिरोधी उस अमरीका से वदला लेंगे, जिससे अधिकांश मानव समाज ने अपनी पीठ फेर ली है। ऐसी स्थिति का अवरोधक क्या हो सकता है? यह कौन से सम्भव उपयोगी राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति कर सकेगा? आणविक वम के आक्रमण से विनष्ट रूस या चीन से, नवीन नृशंसता से स्तम्भित योरोप और एशिया से और अशोभनीय अपराध में निमग्न संयुक्त राज्य अमरीका

से क्या निकल सकता है ? नये रोम के शासन के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जायगा और विश्व-सम्मान के अपने समस्त अधिकार से हमें हाथ धोना पड़ेगा।

× × ×

यदि 'निवारक युद्ध' से उत्पन्न एक अमरीकी 'रोम' का प्रश्न नहीं उठता, तो उस 'रोम' का क्या भविष्य होगा, जो कम नाटकीय ढंग से उपलब्ध होगा ? यदि हम जानबूझ कर अमरीकी साम्राज्य के विचार का विरोध करें भी तो क्या हम इससे बचने का उपाय जानते हैं ?

साम्राज्य कभी-कभी 'टोप्सी' की भाँति विकसित हो जाते हैं। विभाजित विश्व में, जहाँ अमरीका अपने गुट का प्रधान है और अपार अस्त्रों तथा अधिकांश उद्योग और सम्पत्ति पर अधिकार किये हुए है, निर्णय के लिए वाशिंगटन की ओर आकृष्ट होना असम्भव नहीं होगा। हममें 'अकेले चलने की' कठोरता उत्पन्न हो सकती है, जिससे हमारे साथी धीरे-धीरे पिछलग्गुओं की कोटि में आ जाने के लिए विवश हो सकते हैं।

जो यह मानते हैं कि अमरीका अपनी शक्ति के कारण ही अपने आप करोड़ों गैर-अमरीकियों के भविष्य को प्रभावित करने वाले एकतरफा अणु-निर्णय का अधिकारी है, उन्हें हमारे साथियों के इस आग्रह पर चकित नहीं होना चाहिए कि 'विना प्रतिनिधित्व के विनाश नहीं होना चाहिए'। शीत युद्ध शान्त हो जाने पर उनकी स्वतंत्रता बढ़ जायगी।

हमारे प्रमुख साथी, ब्रिटेन की भावनाएँ इस सम्बंध में विचारणीय हैं। यद्यपि ब्रिटेन में अमरीकीवाद का विरोध उतना अधिक और कठोर नहीं है, जितना योरोप में है, फिर भी यह काफी दूर-दूर तक फैला हुआ है। ब्रिटेन-जैसे दीर्घकालीन सत्ता के आदी राष्ट्र के लिए कोई ऐसा मार्ग नहीं है जिससे वह संसार के मामलों में एक विल्कुल नये आगन्तुक के साथ कनिष्ठ साझीदार होने की वात पसन्द कर सके।

कभी-कभी प्रतिक्रिया अमरीकियों पर तीखे ताने मारती रही है, जैसे लन्दन में कूटनीतिक स्वागत के समय पर कटीले आक्षेप किये गये थे कि अमरीका शीघ्र ही केवल पुराना ब्रिटिश उपनिवेश बन जायेगा, जिसको अभी स्वायत्त शासन भी प्राप्त नहीं हुआ है।

फिर भी, हमें याद रखना चाहिए कि इस टिप्पणी का लेखक, बहुत सम्भव है कि ब्रिटिश परराष्ट्र विभाग में कार्य प्राप्त करने में सफल उस उम्मीदवार से सहमत हो जाय, जिसने विश्व की तीन महत्वपूर्ण चीजों के बारे में पूछे जाने पर

सूचित किया था, "ईश्वर, प्रेम और एँग्लो-अमरीकी सम्बंध"। ऊपरी मतभेद प्राय: सामान्य भाग्य की इस प्रच्छन्न एकरूपता को छिपाते हैं, जिसने भूतकालीन संकटों में हमें सफल बनाया है।

इतना होते हुए भी, ऊपरी लक्षण अभी भी दिखाई देने योग्य हैं, और वे हमारी प्रतिक्रियाओं को बिना किसी अनुपात के प्रभावित करते हैं। यदि नैपोलियन ने यह सोचा था कि एक विभिन्न मित्रता का सामना करने से उसकी भावी समस्याओं का हल हो गया, तो समय-समय पर क्रेमलिन भी प्राय: ऐसा सोच सकता है।

फिर भी, पिछलग्गुओं के स्थान पर साथियों का रखना वैसा ही गुण है जैसा कि सैनिक प्रवृत्ति के स्थान पर प्रजातंत्र का रखना। कार्यकुशलता में जिसका ह्रास हो जाता है, वह समान उद्देश्यों, किन्तु विभिन्न दृष्टिकोणों के व्यक्तियों में स्वतंत्र आदान-प्रदान से जो कुछ प्राप्त होता है, उससे अधिक होता है। समझौते और सौमनस्य की पद्धति सम्भव है अधिक उपयुक्त समाधान प्रस्तुत कर सके, क्योंकि इस सम्बंध में अधिक व्यापक प्रचार हो चुका है। इसके अलावा स्वीकृत समाधान सम्भवत: समर्थन का भी दावा कर सकते हैं, क्योंकि ये सम्बंधित लोगों के सच्चे स्वार्थों के लिए और भी अधिक व्यवस्था करते हैं और उसमें भाग लेने वाले जानते हैं कि उन्हें अपनी बात रखने का मौका मिल चुका है।

मित्रताएँ वस्तुत: विवेक, धैर्य, निष्ठा और राजनीतिज्ञों के अच्छे स्वभाव पर और विशेषकर उन लोगों के स्वभाव पर, जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, अधिक निर्भर करती हैं। ऐसी मानसिक स्थिति, जो ऐसे गुणों से थक जाती है, प्राय: अचानक और मौलिक समाधानों को प्राप्त कर लेती है।

इसी मानसिक स्थिति ने प्राय: हमारे बीच उग्रवादियों को पुराने पृथकतावादियों का उत्तराधिकारी बना दिया। दोनों हमारे 'अकेले चलने की' सामर्थ्य को बढ़ा-चढ़ा कर कहते हैं। दोनों ही 'विदेशियों' से त्रस्त और आशंकित हैं। दोनों ही प्राय: अन्य राष्ट्रों के साथ सम्मिलित प्रयत्नों और परामर्श की आवश्यकता और मूल्य से अनभिज्ञ हैं।

निवारक युद्ध और एकतरफा नवीन साम्राज्यवाद के कम आक्रमणकारी रूप के जागरूक पक्षपाती लोगों के पक्ष में जो एक बात है, वह है एक शक्तिशाली और स्पष्ट स्थिति का स्वत: आश्वासन। फिर भी, निकट से देखने से यह विदित होता है कि उनका आश्वासन निषेधात्मक और

निराशापूर्ण है।

साहसपूर्ण खतरों के उठाये जाने, आज्ञाओं के दिये जाने और युद्ध के अन्तिम परीक्षण को स्वीकार करने की कठोर इच्छा के वातावरण के बावजूद, इनके अन्तर में ज्ञानतन्तु की वह खोखली असफलता है, जो दुष्टों की परिचायक है। अन्तिम विश्लेषण में इस तरीके से साम्राज्य भी नहीं जीते गये, उस स्वतंत्र विश्व की प्राप्ति की बात तो दूर रही, जिसमें स्त्री और पुरुष साहसपूर्ण और रचनात्मक ढंग से रह सकते हैं।

उस प्रकार का विश्व हमसे एक जुआरी के पासे की अपेक्षा अधिक स्थिर संकल्प और हमारे सभी साधन-स्रोतों के उच्चतर संगठन की अपेक्षा रखता है। वह सचमुच सैन्य-सन्तुलन को क़ायम रखने की भी अपेक्षा रखता है; परन्तु उसे सशस्त्र सेना के सीमित योग की जानकारी की कम अपेक्षा नहीं है।

हमारे कूटनीतिक और आर्थिक साधनों का अवश्य ही पूर्ण रूप से प्रयोग होना चाहिए। सब से अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि हमारे पर्याप्त नैतिक साधनों के प्रयोग, जिन्हें हम जारी अमरीकी क्रान्ति की उपज और प्रेरणा दोनों के रूप में देख चुके हैं, पहले से अधिक बड़े पैमाने पर होने चाहिएँ।

हमारे समक्ष जो चुनौती है, उसका सामना करने के लिए जब हम नीतियों के निर्माण का प्रयास करेंगे, तब इन्हीं समस्याओं से हमें उलझना पड़ेगा।

आठवाँ भाग

क्रान्ति–जगत में अमरीकी नीति

आज के तूफानी युग के लिए शान्त अतीत के सिद्धान्त अपर्याप्त हैं। यह अवसर काफी कठिनाइयों से भरा हुआ है और हमको उसके अनुसार ही ऊपर उठना चाहिए। चूंकि हमारा मामला नया है, इसलिए हमको नये सिरे से सोचना और कार्य करना चाहिए। हमें अपने आपको दासता से बचाना चाहिए और तभी हम अपने देश को बचा सकते हैं।

अब्राहम लिंकन

चौंतीसवाँ प्रकरण

सैन्य-शक्ति के उपयोग एवं सीमाएँ

युद्ध के बाद दो प्रशासनों में मुख्यतः हमारी कूटनीति कम्यूनिज्म को, उसके विस्तारशील सोवियत और चीनी रूपों में विशाल रूस और चीनी सीमा के चारों ओर 'शक्ति की स्थितियाँ' उत्पन्न करके, रोक रखने की रही है। चूंकि सैन्य-शक्ति को हमारे कूटनीतिज्ञ शक्ति का प्राथमिक साधन मानते आये हैं, (इस मान्यता पर हम बाद में विचार करेंगे), इसलिए हमें अपनी सैनिक कूटनीति पर, क्रान्तिकारी विश्व की दृष्टि से, जिसका हम सर्वेक्षण कर चुके हैं, विचार कर लेना चाहिए।

पिछले दशक में हमारी सैन्य-शक्ति को दो बिलकुल भिन्न कार्य सौंपे गये थे:–(१) साम्यवादियों को किसी भी ऐसे आक्रमण से रोक रखना, जो तत्काल विश्वव्यापी संघर्ष पैदा कर सकता है, जैसे पश्चिमी योरोप पर आक्रमण अथवा संयुक्त राज्य अमरीका पर आणविक आक्रमण; (२) कोरिया की भाँति स्थानीय कार्यों को सँभालना, जहाँ साम्यवादी शक्तियाँ परम्परागत रूप से अस्त्रों से सुसज्जित हैं। युद्धोपरान्त १९४५ से १९५५ तक के दशक में हमारी सशस्त्र सेनाओं ने इन दो कार्यों को कितनी अच्छी तरह निभाया है, उस पर विचार करने से हम आनेवाले क्रान्तिकारी दशक में सैन्य-शक्ति के उचित कार्य और उसकी व्यावहारिक कठिनाइयों को ठीक से समझ सकेंगे।

पूर्ण युद्ध को रोक रखने के प्रथम कार्य के लिए हमने मुख्यतः वायु सेना पर भरोसा किया है, जो विनाशकारी आणविक शक्ति के साथ किसी भी बड़े आक्रमण का मुकाबला करने के लिए तैयार की गयी है।

यहाँ और सोवियत रूस, दोनों ही स्थानों में, आणविक अस्त्रों के विकास की सफलता ने ही सम्पूर्ण सैनिक परिस्थिति में विचित्र रूप से अपने कार्य को सीमित कर दिया है। जितने ही ये शक्तिशाली अस्त्र बढ़ते जाते हैं, उतने ही सम्भाव्य परिणाम विनाशकारी होते जा रहे हैं और उतना ही उन अवसरों की सम्भावना भी कम होती जा रही है, जब कि हम उसका प्रयोग करने के लिए तैयार रहेंगे और विश्वव्यापी आणविक युद्ध का खतरा मोल लेंगे।

विश्वव्यापी नीति के रूप में इस खतरनाक स्थिति ने पहले ही 'सामूहिक प्रतिशोध' को समाप्त कर दिया है। इस मान्यता पर कि इससे अमरीकी स्थल

सेना का प्रयोग नहीं करना पड़ेगा, जनवरी १९५४ में बड़ी धूमधाम से प्रारम्भ की गयी नीति को जब व्यापक रूप से लागू किया गया, तो वह चार महीने बाद हिन्दचीन में अपनी व्यावहारिकता की प्रथम परीक्षा में असफल रही।

वास्तव में 'सामुहिक प्रतिशोध' की धारणा, दोनों कार्यों, सामान्य युद्ध के निरोध और स्थानीय आक्रमणों के प्रतिकार को, महत्वपूर्ण हवाई कमान के हाथों में सौंपने का प्रयास था। समस्त विश्व में लागू करने पर इस धारणा का हेत्वाभास निश्चितरूप से उस समय प्रकट हो गया, जब एशिया में एक स्थानीय युद्ध-स्थिति में उसका परीक्षण हुआ।

स्पष्टतः पूर्ण आणविक युद्ध सचमुच युद्ध का ऐसा आदर्श नहीं है कि जिसे हमें जानबूझ कर स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए अथवा किसी अन्य से संघर्ष करने की अपनी असमर्थता के कारण उसे अनिवार्य बनाना चाहिए। तथापि हमारे अनेक साथियों के लिए 'सामूहिक प्रतिशोध' के प्रस्तावित सिद्धान्त का बिलकुल सही अर्थ यह है कि, एक विशाल और अन्तिम युद्ध के अतिरिक्त अब ओर अधिक युद्ध नहीं होंगे।

योरोप में वस्तुतः अणु-शक्ति के विशाल प्रयोग पर आधारित ऐसी नीति न तो नयी थी और न अपरीक्षित। १९४६ में अव्यवस्थित सैन्य विघटन के समय से १९५० में 'नाटो' के निर्माण तक, अटलांटिक और एल्ब के बीच की शक्ति रिक्तता की पूर्ति के लिए लाल सेना के प्रयास को रोकने का एकमात्र सैनिक साधन आणविक बमों के अपने एकाधिकार के द्वारा रूसी नगरों को विनष्ट करने की हमारी सामर्थ्य थी।

रूस निस्सन्देह जानता था और अब भी जानता है कि योरोप पर आक्रमण हम अपने ऊपर आक्रमण समझेंगे और ऐसे आक्रमण के प्रत्युत्तर में हम तत्काल आणविक आक्रमण न केवल उसकी सेनाओं पर, बल्कि उसके नगरों पर भी शुरू कर देंगे, भले ही इस प्रकार शुरू होने वाला युद्ध हमारे देश में ही क्यों न व्यापक आणविक विनाश प्रारम्भ कर दे। वस्तुतः 'नाटो' की स्थिति को अनेक मौकों पर बताया जा चुका है। उदाहरण के लिए २१ अक्तूवर, १९५४, को फील्ड मार्शल माण्टगोमरी ने कहा था, "मैं इसे एक दम स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हम अपनी प्रतिरक्षा के लिए ऊष्मान्यैष्टिक। (Thermonuclear) तथा आणविक अस्त्रों के प्रयोग के लिए पूर्ण आयोजनाएँ कर रहे हैं। आक्रमण होने पर इन अस्त्रों का प्रयोग किया जायगा।"

परन्तु क्या अमरीका एशिया में या यों कहिए अफगानिस्तान, बर्मा, ईरान,

हिन्दचीन में स्थानीय आक्रमणों का सामना करने के लिए उन्हीं भयानक खतरों को उठाने के लिए तैयार है ? कोरिया में युद्ध के प्रसार के प्रति और हिंदचीन में उससे भी कम उलझने की संभावना के प्रति हमारी गहरी प्रतिक्रिया से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि हम लोग ऐसा नहीं करेंगे।

योरोप और एशिया में हमने जो वचन दिये हैं, उनके मौलिक भेद से रूसी और चीनी भलीभाँति परिचित हैं। यदि पर्याप्त निःशस्त्रीकरण-संरक्षणों के अभाव में, एशिया में हम प्रतिकार के ऐसे तरीके पर विशेष रूप से भरोसा रखते हैं, जिसमें अस्वीकार्य खतरे भी हैं, और साथ-ही-साथ और अधिक सीमित स्थानीय उत्तरों के लिए अपनी क्षमता को घटाते हैं, तो हम एशिया में स्थानीय आक्रमण को रोकने के बजाय उसे और आमंत्रित करेंगे।

ऐसे आक्रमण की स्थिति में भी यदि हम सचमुच एक व्यापक युद्ध के निश्चय के साथ आणविक आक्रमणों के लिए तैयार है, तो एक संकीर्ण आणविक नीति से, कम्यूनिस्ट हमारी तत्परता के बारे में गलत अनुमान लगा सकते हैं। दूसरी ओर यदि कम्यूनिस्ट यह अनुमान लगाते हैं कि हम किसी छोटे एशियाई आक्रमण पर महायुद्ध का खतरा मोल नहीं लेंगे और वे हमारे छल का भण्डा-फोड़ करने में एक बार सफल हो जाते हैं, जैसा कि वे हिन्दचीन में कर चुके हैं, तो क्या हमारी नीति का अधिकांश विरोधात्मक मूल्य क्षणभर में ही विलीन नहीं हो जाता ?

इन प्रश्नों में यह मान लिया गया है कि रूस के नगरों की भाँति, मुख्य चीनी नगरों पर अमरीकी सामरिक महत्व की आणविक बमवर्षा तृतीय विश्व-युद्ध में प्रतिफलित हो जायेगी। परन्तु मान लीजिये कि किन्हीं कारणों से चीनी नगरों पर अमरीकी प्रतिकारात्मक आक्रमण के बाद, मास्को सोवियत-चीनी मित्रता के अन्तर्गत दिये गये अपने वचनों की उपेक्षा कर युद्ध नहीं करता है और चीन को आणविक बम और बम-वर्षक यान देने का अगला कदम भी नहीं उठाता, तो हमारे आणविक आक्रमण से विस्तृत और विकेन्द्रीकृत चीन को कितना आघात होगा ?

सोवियत संघ की तरह चीन में कोई विशाल औद्योगिक केन्द्र नहीं है। चीनी अर्थव्यवस्था सुव्यवस्थित परिवहन और संचार-साधनों के जाल पर अवलम्बित नहीं है। चीनी सेनाएँ गतिशील हैं, गुरिल्ला युद्ध प्रणाली में और अपनी धरती से परे अपनी सुरक्षा के लिए शिक्षित हैं तथा 'नाटो' की सेनाओं की भाँति व्यापक संभरण और समर्थन पर कार्य नहीं करतीं। इस प्रकार

चीनी नगरों का आणविक बमों से विनाश का कार्यक्रम एक लम्बे, कठिन और अनिर्णायक संघर्ष में फँसा देगा, जिसमें चीन की प्रमुख निधि, अपार मानव शक्ति, संभवतः एशिया के अधिकांश महाद्वीप पर कब्जा कर सकती है।

और इससे बड़ी अन्य कोई समस्या क्या वस्तुतः मौलिक नैतिक समस्या नहीं है, जो विशाल प्रतिकार की व्यापक रूप से लागू की गयी नीति में समाविष्ट है, और जिसको हमें आँखें खोल कर ईमानदारी के साथ सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिए? हम धार्मिक आस्था के लोग हैं और विश्वास करते हैं कि मनुष्य ईश्वर के लिए एक पवित्र वस्तु है। हम व्यक्ति के अंतिम मूल्य की अपनी प्रजातांत्रिक आस्था पर गर्व करते हैं। ये ही विश्वास हमारी जीवन-प्रणाली को साम्यवादी जीवन से पृथक करते हैं। फिर भी, यदि हम चीनी नगरों पर बम गिराने की धमकी दें, तो उसका अर्थ होगा कि हम उन नगरों के करोड़ों चीनी पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को विनष्ट कर देना चाहते हैं, जो सोवियत संघ से बिल्कुल भिन्न, उचित औद्योगिक और सैनिक लक्ष्यों से वंचित हैं। क्या हम शासकों को दण्ड देने के उद्देश्य से इन निस्सहाय लोगों की हत्या के भयानक कार्य को करने के लिए तैयार हैं?

योरोप में भी, जहाँ लोग सोवियत आक्रमण के खतरे को हमारी ही तरह स्पष्टतः देख सकते थे, प्राथमिक निरोधक के रूप में, विशाल आणविक प्रतिकार की आवश्यकता ने हमारी मित्रता पर भारी दबाव डाला है। प्रायः कहा गया है कि प्रजातंत्र अन्तिम युद्ध के अतिरिक्त सभी युद्धों में हार जाता है। भविष्य के युद्ध में, उसमें शायद ही कुछ आराम रहेगा।

यदि निःशस्त्रीकरण के प्रयत्न निष्फल होते हैं और अन्त में युद्ध प्रारम्भ ही हो जाता है, तो सोवियत बमवर्षक न्यूयार्क, पिटसबर्ग, क्लीवलैण्ड, हार्टफोर्ड और शिकागो पर प्रहार करने के लिए, बहुत संभव है कि कोपेनहैगेन, ब्रुसेल्स, रोम, लन्दन, बान और पेरिस को छोड़ कर पहुँचें। दो विश्व-युद्धों से ध्वस्त हमारे 'नाटो' (NATO) के साथियों को 'अन्तिमेत्थम्' भेज कर अनुरोध किया जायगा कि वे शीघ्र अपनी तटस्थता की घोषणा करें, अन्यथा पूर्ण आणविक विनाश का सामना करें। उन लोगों के लिए, जो अभी द्वितीय विश्व-युद्ध के ध्वंसावशेषों के बीच से अपना मार्ग प्रशस्त भी नहीं कर पाये हैं, रूसी और अमरीकी नगरों के खण्डहरों का धुआँ ऐसी धमकी का भयावह औचित्य सिद्ध करेगा। एक बात निश्चित है कि योरोप युद्ध-क्षेत्र न बनने के लिए कृत-संकल्प है।

योरोप में यदि हमारी 'नाटो' (NATO) की मित्रता पर पूर्ण आणविक प्रतिरक्षा की सामरिक नीति का दवाव वहुत अधिक हुआ है, तो एशिया में वह हमें विनाश की स्थिति तक पहुँचा सकता है। एशिया और मध्यपूर्व में सीमित आक्रमण होने पर हमें अणु-युद्ध प्रारम्भ करना या स्थानीय दवाव के अन्तर्गत अपमानजनक पलायन स्वीकार करना विनाशकारी होगा।

यह स्थिति धीरे-धीरे हमारी मित्रता को चकनाचूर कर देगी और अन्ततोगत्वा हमें इस महाद्वीप में बिल्कुल पृथक कर देगी, जिसका मतलव यह होगा कि हमारी ही अयोग्यता से शत्रु का मुख्य राजनीतिक उद्देश्य सिद्ध हो जायेगा। यदि हम अणु-युद्ध में उस हद तक विजय प्राप्त करने की अपनी क्षमता प्रदर्शित नहीं करते, जिस हद तक ऐसे युद्ध में सम्भव है, तो यह भी कम से कम उतना ही विनाशकारी सिद्ध होगा।

हमारा युद्धोत्तरकालीन सैनिक इतिहास, स्थानीय युद्धों को निपटाने के लिए 'भारी प्रतिकार' के वजाय एक अन्य मार्ग प्रदर्शित करता है। यह कार्य हमने अपनी और अपने साथियों की परम्परागत सेनाओं के हाथों में सौंप दिया है। कोरिया में तृतीय विश्व-युद्ध की अपेक्षा वहुत ही कम, परन्तु फिर भी बड़े भयावह मानवीय मूल्य पर हमने आखिरकार स्थानीय और सीमित प्रतिरोध द्वारा साम्यवाद को मार भगाया।

परन्तु स्थानीय आक्रमण के प्रति स्थानीय प्रतिरोध की नीति सदैव सफल नहीं हुई है। हिन्दचीन में, अधिकांश फ्रांसीसी सेना लगभग सात वर्षों तक लगी रही। अन्त में स्थिति इस बुरी तरह बिखर गयी कि हमने सीमित युद्ध के लिए भी अपनी स्थल सेना न भेजने का निर्णय कर लिया। कोरिया और हिन्दचीन में स्थानीय युद्धों की इन दो रंगशालाओं की तुलना नाटकीय ढंग से उन परिस्थितियों को प्रदर्शित करती है, जिनके अन्तर्गत हम परम्परागत सेनाओं के सफल प्रतिरोध की अपेक्षा कर सकते हैं।

कोरिया में ३८ वीं समानान्तर रेखा की सुरक्षा सामरिक दृष्टि से आवश्यक थी। संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा विश्व पहले से ही उसके प्रति राजनीतिक दृष्टि से वचनबद्ध था। कोरिया में प्रत्यक्ष संगठित आक्रमण की रिपोर्ट मौके पर मौजूद एक संयुक्त राष्ट्रीय आयोग ने की थी। हमारे पक्ष में छः लाख राष्ट्रीय कोरियावासियों ने साहस और दक्षता के साथ युद्ध किया। एक सँकरे प्रायद्वीप ने, जिसका अगला भाग केवल १५० मील है और उसके पास ही जापान में हमारे अधिकारसम्पन्न सैन्य-स्थल ने हमारी नौसेना और

वायुसेना को, यदि निर्णायक नहीं, तो महत्वपूर्ण कार्य करने के योग्य बनाया। दोनों पार्श्वों में, हमारी नौसेना पनडुब्बियों अथवा शत्रुओं के हवाई आक्रमण से अछूती रही।

हिन्दचीन में सामरिक दृष्टि से सुरक्षा-योग्य कोई ३८ वीं समानान्तर रेखा नहीं थी। इसके बजाय फ्रांसीसियों को विशाल शत्रुतापूर्ण क्षेत्र की झाड़ियों में यत्रतत्र बने अड्डों पर निर्भर करना पड़ा, जिनका दियनवीयनफू एक विचित्र नमूना था। साथ ही संचार के प्रमुख साधनों को सुरक्षित रखने के लिए यंत्र-सज्जित गश्ती कार्रवाइयाँ करनी पड़ीं।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि हिन्दचीन में कोई ऐसी रेखा नहीं थी, जिसका बचाव विश्व-मत के न्यायालय में किया जाता। अपने साम्राज्यवादी स्वार्थों से चिपके रहने के लिए प्रयत्न-शील एक गोरी पश्चिमी शक्ति की उपस्थिति ने असाम्यवादी शक्तियों में तीव्र मतभेद पैदा कर दिये—ऐसे मतभेद जो, अमरीकी मतों में भी प्रतिबिम्बित थे।

हिन्दचीनी जनता ने, जो स्वतंत्र शासन के अधिकार अथवा एक औपनि-वेशिक शासन के अन्तर्गत विश्वस्त आन्तरिक सुधारों से भी वंचित थी, उदासी-नता से लेकर खुले विरोध तक विभिन्न रुख अपनाया। जिन परिस्थितियों ने साम्यवादियों का विरोध करने के लिए फ्रान्स को प्रभावशाली स्वदेशी सेना से वंचित कर दिया, उन्होंने हो ची मिन्ह को बड़ी संख्या में निष्ठावान समर्थक प्रदान किये। रूस और चीन में साम्यवादी शक्ति के केन्द्र प्रत्यक्षरूप से इसमें भाग नहीं ले रहे थे और अमरीकी सैनिक प्रसाधनों की पूर्ति सीमित थी, जो साम्यवादी शक्तियों को रोकने में असमर्थ रही।

यदि हम यह मान लें कि धीरे-धीरे एक प्रभावशाली और स्वीकार्य निःशस्त्री-करण कार्यक्रम का विकास सम्भव है, तो द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद दुविधापूर्ण अमरीकी सैनिक नीति की इस संक्षिप्त समीक्षा से तीन निष्कर्ष निकलते हैं।

प्रथम, जिन आक्रमणों से हमें अपने आप को सुरक्षित रखना है, वे भिन्न प्रकार के हैं और उनका मुक़ाबला करने के लिए विभिन्न प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता होगी। सभी मोर्चों पर सस्ती प्रतिरक्षा के लिए प्रयत्न करना आत्मप्रवंचना होगी। यदि हमें साम्यवादी सैनिक शक्ति के प्रत्यक्ष प्रदर्शन का प्रभावशाली ढंग से सामना करना है, तो सामरिक महत्व की वायुसेनाएँ और अत्यधिक गतिशील परम्परागत सेनाएँ, दोनों ही शक्तियाँ बिलकुल

अनिवार्य हैं।

द्वितीय, कोई आवश्यक नहीं कि इसका अर्थ निस्सीम सैन्य-प्रस्तार अथवा व्यय हो। आणविक पक्ष में क्रमशः रूसी और अमरीकी हवाई अस्त्रों की क्षमताएँ किसी स्थिति में उस विन्दु तक पहुँच जायंगी, जहाँ अणु-अस्त्रों की अतिरिक्त संख्या और उनको ले जानेवाले वायुयानों का महत्व कम हो जायेगा, जब तक पहुँचाये जानेवाले काफी ऐसे अस्त्र पर्याप्त संख्या में मिलते रहेंगे, जो शत्रुओं के क्षेत्र में महत्वपूर्ण लक्ष्यों को विध्वंस कर सकते हैं। इस प्रकार श्रेष्ठता नहीं, पर्याप्तता आणविक सुरक्षा के लिए धीरे-धीरे अन्ततोगत्वा कमखर्चीला साधन बन सकती है।

पर्याप्त परम्परागत सेनाओं के प्रयोग और प्रशिक्षण अनेक मौकों पर निर्णायक महत्व के हो सकते हैं। परन्तु यदि ऐसा समय आ जाता है जब कि दक्षिणी एशिया के या किसी अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र के अधिकांश लोग साम्यवादियों को अपना समर्थन प्रदान करने का निर्णय करते हैं, तो पतन की इस प्रक्रिया की अन्तिम स्थिति में कितनी भी मात्रा में अमरीकी सैन्य सामग्री के भेजने से स्थायी रूप से उस प्रवृत्ति को नहीं रोका जा सकता। उदाहरण के लिए, यदि ऐसा समय आता है, जब २० करोड़ हताश और कटु अफ्रीकी ४० लाख प्रभुत्वशाली योरोपियनों को निकाल फेंकने का दृढ़ संकल्प कर लेते हैं, तो अन्त में जैट विमान, टैंक और टामी बन्दूकें उन्हें रोकने में सफल नहीं होंगी।

सैनिक संगठन प्रशिक्षण और व्यय की इन व्यावहारिक कठिनाइयों को उसी प्रकार प्रतिविम्बित करना चाहिए, जिस प्रकार वे सशस्त्र शक्ति की क्षमताओं को प्रतिविम्बित करती हैं।

तृतीय, सैनिक शक्ति की स्थितियों की रचना ने हाल के वर्षों में हमारी कूटनीति को पुरस्कृत किया है। १९४१ में हमने यहाँ जो रेखा खींची थी, उस पर न तो कोई आघात हुआ और न कोई गम्भीर खतरा ही पैदा हुआ।

मध्यपूर्व के अधिक विषम क्षेत्र में और स्वतंत्र एशिया के वृत्तखण्ड में उसी प्रकार की दृढ़ स्थिति की आवश्यकता है। यहाँ पर भी हमें सोवियत रूस अथवा साम्यवादी चीन के भविष्य में प्रत्यक्ष आक्रमणों के विरुद्ध सामरिक महत्व की एक रेखा खींच देनी चाहिए।

धोखेबाजी के आधार पर यह रेखा यों ही अथवा अलंकारिक दृष्टि से नहीं बनायी जा सकती। बिना साथियों के और बिना काफी सोच-विचार के किये गये अस्पष्ट और मनमाने वायदे, जिनके पालन करने का कोई गम्भीर इरादा

नहीं है, वैसे ही खतरनाक हैं, जैसे वायदों का बिल्कुल न करना।

यदि एशिया में किसी सामरिक महत्व की रेखा को निश्चित और टिकाऊ बनाना है, तो इसे हमारे प्रमुख साथियों का पक्का समर्थन प्राप्त होना चाहिए और यदि हो सके तो उस क्षेत्र की स्वदेशी प्रमुख असाम्यवादी शक्तियों की लाभप्रद सम्मति भी प्राप्त होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष साम्यवादी आक्रमण के विरुद्ध ये तीव्र रेखाएँ कुछ अस्थायी समस्याओं पर हमारी कूटनीति को कठोर बनाये बिना, खींची जा सकती हैं और खींची जानी चाहिए। इस प्रकार १९४८ में योरोपीय प्रतिरक्षा-रेखा बनायी गयी थी, परन्तु १९५५ में आस्ट्रिया की तटस्थता पर बातचीत हुई थी। जैसा कि आस्ट्रियाई समझौते में हुआ, जहाँ कहीं हमारे सब उद्देश्यों के लिए शुद्ध लाभ होता हो, वहाँ हमें बातचीत के द्वारा ऐसे परि-वर्तनों को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

इसलिए एक सामरिक महत्व की प्रतिरक्षा-रेखा साम्यवाद को रोक रखने की न्यूनतम सीमा की व्यवस्था करेगी, ऐसी सीमा जो हमेशा ही बढ़ाई जा सकती है, यदि स्वतंत्रता का क्षेत्र बढ़ता है और साम्यवाद का क्षेत्र सिमटता है, अथवा यदि लाल सेनाओं के अधीन क्षेत्र समझौते द्वारा उन्मुक्त हो सकते हैं। यद्यपि इस नवीन सामरिक महत्व की रेखा का खींचा जाना अत्यधिक महत्वपूर्ण है, तथापि हमें इसे युद्ध को रोकनेवाली समझना चाहिए; और कुछ नहीं। हमारी नीति का यह अत्यावश्यक तत्व है, परन्तु यह किसी प्रकार भी पूर्ण नीति का न तो अन्त है और न उसका साधन। यह आक्रमण रोकने का वायदा करती है, और वह भी केवल बाहरी ढंग के आक्रमण को और आगामी वर्षों में हमें जिस प्रकार के आक्रमण का सामना करना होगा, वह बाहरी आक्रमण के रूप में कदाचित् ही हो।

जब कि हम इस सैनिक रेखा का निर्माण कर रहे हैं, हमें अन्य असैनिक मामलों पर भी विचार कर लेना चाहिए। यदि प्रतिरक्षा की सार्थक रेखाओं के निर्माण की प्रक्रिया में ही हम सैन्यवादी या आक्रमणकारी होने की धारणा पैदा करते हैं, तो हमारी सम्पूर्ण विश्व-स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यह कोई सरल समस्या नहीं है। वही प्रचार, जिसे सैनिक सेवाएँ अपनी नैतिकता को उदात्त बनाये रखने के लिए आवश्यक समझती हैं, जन-सम्बंध और कैपिटल हिल पर वार्षिक बजट के प्रकाशन, जब विदेशों में भेजे जाते हैं तो वे युद्ध-प्रेमी सैनिकवाद की वही धारणा पैदा करते हैं, जिससे हमारे उत्तरदायी सैनिक

नेता बचने के लिए सबसे अधिक चिन्तित हैं।

सैनिकवादी हुए बिना सैनिक शक्ति में प्रबल होना, निरोधक अथवा आमंत्रित युद्ध की बिल्कुल समाप्ति को अस्वीकार करना, विभिन्न सैनिक आकस्मिक आवश्यकतों के लिए व्यवस्था करना, बिना उद्दण्डता दिखाये सामरिक उद्देश्यों के पालन में अपने मित्रों के साथ कार्य करना सीखना, धमकी दिये बिना राजनीतिक दृष्टि से व्यावहारिक रेखा की प्रतिरक्षा के लिए अपने दृढ़ निश्चय को स्पष्ट करना, यही समकालीन अमरीकी सैनिक-नीति की आवश्यकताओं का विकट महायोग है।

× × ×

इस पुस्तक में क्रान्तिकारी घटनाओं के सर्वेक्षण से हमने जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात सीखी होगी, वह यह है कि सम्पूर्ण युद्ध की स्थितियों के अतिरिक्त, घटनाओं के निर्माण की क्षमता सैन्य-शक्ति में बहुत सीमित है। उन सभी अत्यावश्यक सैनिक उद्देश्यों का, जिनकी अभी चर्चा की गयी है, जोड़ भी एक पर्याप्त परराष्ट्र-नीति से बहुत कम पड़ जाता है।

एक सुयोग्य पुलिस-शक्ति स्वतः सद्भावना और प्रगतिपूर्ण समाज का आश्वासन नहीं दे सकती। यह केवल नागरिक नेताओं को ऐसे समाज के निर्माण का अवसर प्रदान करती है, जो समाज को नष्ट करने अथवा अपने स्वार्थ के लिए उसका दुरुपयोग करने के लिए उतारू अराजक तत्वों से मुक्त रहेगा। उसी प्रकार कोई भी सैनिक प्रतिरक्षा-प्रणाली, चाहे वह कितनी भी विशाल और कुशल क्यों न हो, अकेले ही शान्ति और सुव्यवस्थित प्रगति का आश्वासन नहीं दे सकती, जिसे विश्व-समुदाय को, यदि युद्ध और वर्ग के दोहरे खतरों से उसे बचना है, तो अवश्य प्राप्त करना चाहिए।

अमरीका के महान दार्शनिक एवं सामरिक निष्णात, एडमिरल माहन ने कहा "सैन्यशक्ति का उद्देश्य नैतिक विचारों को जड़ पकड़ने के लिए समय प्रदान करना है।"

इतिहासकार इस बात से उलझन में पड़ जायेंगे कि अमरीकियों जैसे प्रजातांत्रिक और धार्मिक लोगों ने, एडमिरल के लिखने के दो पीढ़ी बाद, इस प्रकार का आचरण क्यों किया, मानो सैन्य-शक्ति अभी भी नीति का अन्तिम उद्देश्य हो, और जटिल, मानवीय तथा असैनिक समस्याओं के सैनिक समाधान पर विशेषरूप से अपना ध्यान केन्द्रित कर, हमने उन मनोवैज्ञानिक, सैद्धान्तिक तथा आर्थिक शक्तियों के साथ प्रभावपूर्ण ढंग से व्यवहार करने की अपनी

योग्यताओं को क्यों बाँध रखा है, जो स्पष्टतः हमारे आधुनिक समाज को रूप प्रदान कर रही हैं?

लेनिन ने कहा, "युद्ध सम्पूर्ण का अंश है और सम्पूर्ण राजनीति ही है। राजनीति अपने पूर्ण अर्थ में जनता के शक्ति संगठन से सम्बंध रखती है। इसमें सैन्य-संगठन भी सम्मिलित है, परन्तु साथ ही इसमें विचार, सिद्धान्त, दल, सरकार, आर्थिक और सामाजिक संस्थान और कार्यक्रम भी शामिल हैं।"

चूंकि हिटलर ने युद्ध को ही आवश्यक रूप से सर्वस्व माना और एक राष्ट्र की सैन्य-शक्ति पर ही प्रायः भरोसा किया, इसीलिए उसके आक्रमण, उसके आक्रान्तों और सम्भावित आक्रान्तों को इतने अनाकर्षक प्रतीत हुए और अन्ततोगत्वा प्रतिरोधी शक्ति द्वारा परास्त कर दिये गये। विश्व के ९/१० भाग पर, जो श्वेत नहीं था, नार्डिक प्रभुत्व की नयी व्यवस्था का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

यह तो चूंकि लेनिन ने समझ लिया था कि "सम्पूर्ण राजनीति है" और चूंकि उसने विश्वक्रान्ति के एक ऐसे राजनीतिक कार्यक्रम की योजना की, जिसमें लाल सेना के अतिरिक्त और भी बहुत-कुछ था, इसीलिए वह एक क्रान्तिकारी बन सका और उसकी क्रान्ति वर्तमान समय में खतरनाक सीमा तक पहुँच गयी है। समानता पर आधारित सोवियत राज्यों के एक विश्व-संघ का वायदा, वह चाहे जितना खोखला हो, और सारे संसार को विज्ञान एवं टेक्नोलोजी द्वारा विकसित करने का सुयोग, उत्तरी अटलांटिक के समुन्नत, समृद्ध और औद्योगिक प्रजातांत्रिक राज्यों के अतिरिक्त, सर्वत्र अपना जबर्दस्त प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता।

नाज़ी चुनौती और साम्यवादी चुनौती का यह मौलिक अन्तर, जो राजनीति में सैनिक तथ्य के उनके अनुमान का अन्तर है, उस ओर संकेत करता है, जहाँ विश्वस्थिति का हमारा वर्तमान विश्लेषण अपर्याप्त हो सकता है।

जिस हद तक क्रेमलिन नेपोलियन या हिटलर के सैन्यवाद की ओर अग्रसर हुआ है, हमने उस खतरे को पहचान लिया है और उसके प्रतिरोध का उपाय भी जान लिया है; परन्तु साम्यवाद जिस सीमा तक एक क्रान्तिकारी, विश्व-व्यापी राजनीतिक कार्यक्रम है, समुद्र में बहती हुई एक ऐसी बर्फ की चट्टान, जिसका केवल ऊपरी हिस्सा अंतिम, हिंसात्मक रूपों में सतह के ऊपर प्रकट होता है, वहाँ तक सैनिक समाधानों में हमारी पूर्वव्यस्तता बिलकुल ही अपर्याप्त सिद्ध हुई है।

१९३० के दशक का जो प्रमुख पाठ हमने सीखा है, वह बढ़ती हुई सैन्य शक्ति को खुश करने की व्यर्थता का पाठ था। हमने दस वर्ष तक योरोप, एशिया और मध्यपूर्व में उस पाठ को क्रेमलिन के साथ अपनी समस्याओं पर लागू करने के साहसपूर्ण प्रयत्न किये हैं। वे ही बातें हम सफलता के साथ करते आये हैं, जिन्हें यदि हमने बीस वर्ष पहले किया होता, तो शायद द्वितीय विश्व-युद्ध को रोका जा सकता था।

दुख की बात तो यह है कि, हिटलर को रोकने का कार्य जिस वस्तु द्वारा सम्भव था, वह किसी भी कल्पना से विश्व-साम्यवाद को रोकने के लिए पर्याप्त नहीं है। इतिहास चलता रहता है और युद्ध एवं वर्ग की युग-प्राचीन चुनौती की पुनरावृत्ति और भी अधिक भयानक रूपों में होती है।

आज, जैसा कि हम पुस्तक के प्रारम्भ में देख चुके हैं, हाल के अनेक अमरीकी दृष्टिकोणों के सामान्य अभिधायक में विश्व-घटनाओं की शक्ति को समझने का घोर अभाव रहा है। यद्यपि हम अपने स्वतंत्र संस्थानों के प्रति गहरी श्रद्धा रखते हैं, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि, हमने भौतिक और सैन्य-शक्ति की प्रभावशीलता का मूल्यांकन अधिक किया है, और जनता और विचारों की शक्ति का मूल्यांकन कम।

विरोधाभास इस बात से और भी गहरा हो जाता है कि हमारी जन-शक्ति, साधनस्रोत और भूगोल की सीमाएँ बिलकुल स्पष्ट हैं, जब कि विचार, मानवीय सहानुभूति, श्रद्धा, वैज्ञानिक प्रणालियाँ, समझाने-बुझाने की शक्ति, ऐसे गुण हैं जो हमारे पास दीर्घकाल से प्रचुर मात्रा में रहे हैं। अभूतपूर्व राजनीतिक और औद्योगिक विकास की शताब्दी के अन्त में खड़े होकर अमरीका को अपने उन सभी प्रबल गुणों को यथाशक्ति समझने का प्रयत्न करना चाहिए, जिन पर स्वयं उसकी महत्ता का निर्माण हुआ है।

कहीं भी, सबसे बड़ी शक्ति जनता है। विशेषतया हमारे युग में बड़े विचार और बड़े सिद्धान्त, चाहे वे अच्छे हों या बुरे, आधुनिक संचार-साधनों और प्रचार-प्रणालियों के कारण शीघ्र ही लोगों को क्रियाशील बनायेंगे।

राष्ट्राध्यक्ष रूज़वेल्ट इस तथ्य के मूल के बहुत निकट पहुँच गये थे, जब उन्होंने याल्टा में इस पृथ्वी के "प्रत्येक पुरुष, स्त्री, बालक को सुरक्षा और कल्याण की सम्भावना" प्रदान करने की शुभ कामना व्यक्त की थी। परन्तु रूस के साथ शान्ति के लिए स्वीकार्य आधार प्राप्त करने के प्रयत्न में स्वयं रूज़वेल्ट उस समय तक कभी-कभी रूसी-अमरीकी दलगत राजनीति पर ज़ोर देते दिखाई

दिये, जब तक वह राजनीति उनकी चार स्वतंत्रताओं के उद्देश्य का स्थान ग्रहण करने के लिए समय-समय पर प्रयत्नशील जान पड़ी। यह भी अधिकतर द्वितीय विश्व-युद्ध के सैनिक पहलुओं के साथ पहिले से व्यस्त रहने का स्पष्ट परिणाम था।

फिर भी 'विना शर्त के आत्मसमर्पण' ने चौदह सूत्रों से भिन्न राजनीतिक सीमा के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा। १९१८ में जर्मनी के आन्तरिक पतन की पुनरावृत्ति के स्थान पर १९४५ में मित्र राष्ट्रों के सैनिकों को मध्य जर्मनी में लड़कर पहुँचना पड़ा। विचारों की प्रायः उपेक्षा होने के कारण युद्ध में आवश्यकता से अधिक समय लग सकता था।

जव युद्धकालीन सम्मेलन में स्तालिन ने व्यंगपूर्वक पूछा कि पोप के पास कितनी डिवीज़न सेनाएँ हैं, तो हमने कहा था कि मास्को के नेता में शक्ति का संकीर्ण दृष्टिकोण है और अन्ततोगत्वा करोड़ों लोगों की आध्यात्मिक शक्ति का उन्हें अनुभव करना पड़ेगा। योरोप में कैथोलिक चर्च ने सफलता के साथ साम्यवाद का मुकावला किया है और आज क्रेमलिन इस बात को भली-भाँति जानता प्रतीत होता है कि जनता राजनीतिक कार्रवाई के लिए, चाहे वह क्रान्तिकारी हो या नहीं, कच्चा माल है।

क्या हम अमरीकी अव ऐसे 'सनकी' वनने की कल्पना कर सकते हैं, जो जनता और विचार का तिरस्कार करता है और यह पूछता है कि पोप के पास कितनी सेना है? इससे वड़ी भाग्य की विडम्बना और क्या हो सकती है कि जिस देश ने, अपनी महत्ता की रचना व्यक्तिवाद के आधार पर की, वह अव आणविक प्रतिकार पर मौलिक रूप से वल देता जान पड़ता है, जव कि तथा-कथित द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की राजधानी ने, चाहे कितने ही पागलपन के साथ क्यों न हो, लोगों के मन को जीत कर विश्वक्रान्ति के नेतृत्व को प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

हमारी वह धरती है, जिसका निर्माण जनता और सिद्धान्तों के प्रति आस्था-द्वारा हुआ है। क्या इस मार्ग में कहीं हमने उस आस्था की दृढ़ पकड़ को छोड़ा है? जिस हद तक हमारी पकड़ ढीली हो गयी है, उसी हद तक हम प्रौढ़ावस्था में अपने जन्मकाल से अधिक कमज़ोर हैं। आज जवकि हम शक्ति के आभूषणों के भारी वोझ से दवे हुए हैं, हमारे ऊपर उन्हीं परम्पराओं को छोड़ देने के लिए दवाव डाला जा रहा है, जिन्होंने कभी हमारे राष्ट्र के शैशवकाल में हमको अनोखा और प्रिय वना दिया था। फिर भी, यदि हम ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि

लोग साम्यवाद का गँदला पानी केवल इसलिए स्वीकार करते हैं कि वे परिवर्तन की प्यास से तड़प रहे हैं। हम स्वयं उन्हें स्वतंत्रता का स्वच्छ पानी देने में भयानक रूप से सुस्त रहे हैं।

प्रजातांत्रिक विश्व की स्थापना और "इस पृथ्वी पर प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बालक के लिए सुरक्षा और कल्याण की सम्भावना" के संरक्षण का हमारा उद्देश्य एक बार फिर अपनाया जाना चाहिए, जो हमारे महानतम क्षणों में सदैव हमारे साथ रहा है।

साम्यवाद के विरुद्ध हमारी सैनिक प्रतिरक्षा की अधिक महत्वपूर्ण अग्रिम पंक्तियों के पीछे और इस चिन्ता से मुक्त कि मास्को क्या करता है और क्या नहीं, हमें एक विश्वव्यापी कार्यक्रम तैयार करना चाहिए, जो युग-प्राचीन वर्ग और युद्ध की समस्याओं का समाधान कर सके। जब अटलांटिक राष्ट्रों की राजधानियां इस प्रकार के कार्यक्रम फिर से प्रस्तुत करेंगी, तब उनके सिद्धान्त फिर उतने ही महत्वपूर्ण हो जायेंगे, जितने वे छः शताब्दियों तक रहे हैं— भविष्य के स्वतंत्र मानव की तरंग।

पैंतीसवाँ प्रकरण

आर्थिक सहायता के उपयोग एवं सीमाएँ

आज 'गरीवों के नगर' में युद्ध और वर्ग के मसलों की शीघ्र आर्थिक प्रगति की विश्वव्यापी माँग के द्वारा अवगणना की जाती है। राजनीतिक स्थिरता के लिए इसकी सफलता अत्यावश्यक वन गयी है। इस प्रकार वर्ग-समस्या के इस पक्ष पर विश्वव्यापी प्रहार युद्ध की समस्या के समाधान का अभिन्न अंग है।

वाण्डुंग में हमने देखा कि एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका की प्रत्येक सरकार इस विषय में कसौटी पर कसी जा रही है। आगामी कुछ वर्षों में इन सरकारों को अपनी जनता के सम्मुख प्रदर्शित करना चाहिए कि वे न केवल प्रत्येक व्यक्ति को राजनीतिक स्वतंत्रता की दिशा में प्रगति प्रदान कर सकती हैं, वल्कि सुदृढ़ और चमत्कारपूर्ण आर्थिक विकास भी प्रस्तुत कर सकती हैं। जो इस कसौटी में खरी नहीं उतरेंगी, चाहे वे कितनी ही ईमानदार और साम्यवादी-विरोधी क्यों न हों, अन्ततः पतन की ओर जायंगी।

अच्छी से अच्छी परिस्थिति में भी सफलता आसान न होगी। उच्चतर जीवन स्तर, अधिक भोजन, स्वास्थ्य, स्कूल और सड़कें, सिंचाई और विजली के लिए नदियों पर वाँध, तथा रेलमार्गों और संचार-साधनों के प्रसार की माँगें ज्यामिति की प्रगति से आगे वढ़ती जा रही हैं। इन माँगों को पूरा करने की प्रगति अंकगणितके अनुसार ही रही है। यद्यपि इस खाई को पूर्णतः कभी भी नहीं भरा जा सकता, फिर भी यह अत्यावश्यक है कि इसको कम करने के लिए और अधिक प्रयत्न किये जायं।

अधिक द्रुतगामी प्रगति के मार्ग में वड़ी-वड़ी वाधाएँ हैं। उनमें से सवसे कठोर है, पूंजी-सम्वंधी साधनों का अभाव। देश ग़रीव हो या अमीर और अर्थव्यवस्था पूंजीवादी हो या साम्यवादी अथवा समाजवादी, वचत के द्वारा संचित पूंजी नितान्त आवश्यक प्रेरक शक्ति है, जो उस गति का निर्णय करती है, जिससे उद्योग का विकास किया जा सकता है और जीवन-स्तर को ऊँचा उठाया जा सकता है।

आज प्रत्येक अर्धविकसित राष्ट्र के समक्ष यही प्रश्न है: वचत इतनी

कहां से पायी जाय, कि विकास पूर्ण गति के साथ वढ़े जिससे उतावली जनता सन्तुष्ट हो जाय? यदि भारत, वर्मा, फिलीपाइन्स, अथवा जापान जैसी प्रजातांत्रिक सरकारें करों को वढ़ाये जाती हैं, तो उन्हें निर्वाचन में परास्त होना पड़ेगा। तथापि यदि यह चीन जैसे साम्यवादी देशों की प्रगति के वरावर नहीं चल सकतीं, तो क्रान्तिकारी उथल-पुथल के द्वारा उन्हें हटाया जा सकता है।

आर्थिक विकास सदैव ही एक वेदनापूर्ण प्रक्रिया रही है। हमारे देश और इंग्लैण्ड में भी यह वेदनापूर्ण रही। रूस और चीन में यह और भी अधिक वेदनापूर्ण रही, और चीन के सम्वंध में तो यह वेदना शीघ्र ही और अधिक वढ़ सकती है। हम चाहे जितना भी चाहें, अर्धविकसित असाम्यवादी देशों में हम इस वेदनापूर्ण प्रक्रिया का उन्मूलन नहीं कर सकते। पूंजी सम्वंधी उनकी समस्त मँागों को काफी धन देकर पूरा कर सकने पर भी, मूल्यों की कठिन व्यवस्था और परिवर्तनशील सामाजिक और राजनीतिक आदर्श फिर भी शेप रह जायंगे।

फिर भी, हम उन असाम्यवादी राष्ट्रों के विकास के साथ होनेवाली वेदना को कम करने में सहायता कर सकते हैं और उसे असह्य होने से वचा सकते हैं। हमें इस तथ्य को पहचान कर प्रारम्भ करना चाहिए कि जिन तरीकों से स्वतंत्र राष्ट्र अपने विकास के लिए पूंजी संचित कर सकते हैं, वे उस समय की अपेक्षा, जव कि हम अपने ही देश का निर्माण कर रहे थे, आज कहीं अधिक सीमित हैं।

हम देख चुके हैं कि १९ वीं शताव्दी में विकासमान अमरीकी अर्थव्यवस्था की कुछ महत्वपूर्ण पूंजी है: (१) भारी मुनाफ़े के साथ वहुत कम वेतन, जिसका अर्थ हुआ लागत और विकास के लिए पर्याप्त वचत; (२) विदेशी ऋण, जिसे हमने प्रथम विश्व-युद्ध-काल में अपने योरोपीय कर्ज़दारों को अपनी सामान्य सभ्यता की प्रतिरक्षा के समर्थन के लिए उन्हें आवश्यक सैनिक सामग्री वेच कर चुका दिया था; (३) दक्षिणी अमरीका तथा अन्यत्र अर्धविकसित देशों से वहुत कम कीमत पर कच्चा माल; (४) स्वयं हमारे सीमान्तों के अद्वितीय साधन-स्रोत।

दो दशक पूर्व, संयुक्त राज्य अमरीका हमारी दक्षिणी सीमा के महान राष्ट्रों के साथ, जिन्हें हमारा घनिष्ठतम मित्र होना चाहिए था, अपने सम्वंधों में 'अच्छे पड़ोसी' की नीति का अनुसरण कर रहा था। तथापि आज ग्वाटेमाला की गंभीर समस्याएँ मध्य और दक्षिणी अमरीका की अन्य समस्याओं

की प्रतीक हैं, और संकेत करती हैं कि हम मित्रता की ऊपरी बातों की अधिक चिन्ता करते हैं और मित्रता को स्थायी बनानेवाली ठोस नीतियों की कम। कम्यूनिस्ट-समर्थित सरकार से मुक्त होने के बाद ग्वाटेमाला के निवासियों को उन युग-प्राचीन कठिन आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के प्रयास में अनेक प्रकार से हतोत्साहित करनेवाले अनुभव प्राप्त हुए, जिन्होंने उनके देश में पहलेपहल साम्यवाद को जन्म दिया था।

अपने उपनिवेशों के आर्थिक लाभों के अतिरिक्त, ब्रिटेन एक अन्य अनुकूल स्थिति में जापान के साथ साझीदार था— एक विशाल और लाभप्रद व्यापारिक जहाज़ी बेड़े पर आधारित विश्वव्यापी व्यापार की स्थिति, जिसने घरेलू समृद्धि के खजानों को भर दिया।

इन सभी लाभों के होते हुए भी, १९ वीं शताब्दी के उद्योगीकृत देशों ने धीरे-धीरे अपनी अर्थव्यवस्था का निर्माण कर लिया। औद्योगिक दृष्टि से कम विकसित देश, जो आज साम्यवादी घेरे से अपने को दूर रखने का प्रयत्न कर रहे हैं, और भी अधिक जल्दी में हैं। उन पर राजनीतिक दबाव बराबर पड़ रहे हैं।

उनकी सरकारें भी उच्चतर वेतनों के लिए संगठित माँगों से दबी हुई हैं। ऋण या अनुदान के रूप में भारी पैमाने पर बाहरी पूंजी प्राप्त करना कठिन है और उनके पास शोषण के लिए उपनिवेश नहीं हैं। भारी करों की सहायता से भी वे प्रगति के लिए बढ़ती हुई राजनीतिक माँगों की पूर्ति के लिए आवश्यक पर्याप्त पूंजी—बचत संचित करने में असमर्थ हैं।

परन्तु अमरीका ही क्यों इतनी आवश्यक सहायता प्रदान करे? इसके अनेक कारण हैं। मैंने अब तक जो कुछ कहा है, उससे स्पष्ट हो जाना चाहिए और जिनमें से कोई भी एक या अनेक कारणों का मिश्रण हमारे गणराज्य के विचारवान नागरिक को सन्तुष्ट करने के लिए पर्याप्त होगा। मैं उन्हें संक्षेप में प्रस्तुत करता हूँ।

क्योंकि जब लोग प्रगति की भावना का अनुभव करते हैं, तभी वे उस स्वदेशी शक्ति और विश्वास का विकास कर सकते हैं, जो आवश्यकता पड़ने पर, हमारी नहीं, अपनी स्वतंत्रता के वास्ते संघर्ष करने के हेतु उन्हें प्रेरणा प्रदान करेगी।

क्योंकि औद्योगिक दृष्टि से कम विकसित विश्व की जनता प्रगति के लिए भूखी है और क्योंकि जब प्रगति बहुत पिछड़ जाती है, तब वह वंचक नेताओं

का शिकार वड़ी आसानी से वन जाती हैं।

क्योंकि संसार वड़ी दिलचस्पी के साथ लोकतांत्रिक भारत और एकतंत्रवादी चीन के बीच आर्थिक स्पर्द्धा की ओर यह जानने के लिए देख रहा है कि कौन-सा देश कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक सफलता प्राप्त करता है।

क्योंकि हमारा विश्व निरन्तर छोटा और एक-दूसरे से सम्वन्धित होता जा रहा है और हम समृद्धिशाली वन कर एकान्त में नहीं जी सकते, और विश्व की गन्दी वस्तियों के बीच समृद्धि ईर्ष्या उत्पन्न करने वाला प्रासाद होगा।

क्योंकि यदि शीत युद्ध शिथिल होता जाता है, तो आर्थिक विकास के साम्यवादी ढंग और प्रजातांत्रिक ढंग में प्रतिस्पर्द्धा और भी गहरी हो जायेगी और इस संघर्ष में मास्को कुछ और साधन-स्त्रोतों का प्रयोग करेगा।

क्योंकि विश्व के समस्त औद्योगिक उत्पादन का अर्द्धांश हमारे पास है, इसलिए केवल हमी ऐसी स्थिति में हैं कि असाम्यवादी अर्धविकसित राष्ट्रों को पर्याप्त सहायता प्रदान कर सकें।

मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि हमारी अपेक्षा कम भाग्यशाली राष्ट्रों को आर्थिक सहायता की कल्पना अमरीका की साधारण जनता को वाशिंगटन के उन नेताओं से अधिक स्वीकार्य है, जो इसे समझने में असमर्थ हैं या समझना चाहते नहीं। जिस किसी ने भी हमारे देश की विस्तृत यात्रा की है, वह जानता है कि यह विचार कितनी सरलतापूर्वक लोकप्रिय समर्थन के साथ कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है। यही 'मानवीय भ्रातृत्व' की भावना ईसाई धर्म के मूल में है, जो अधिकांश अमरीकियों को अपने परिवार और पड़ोस, और सामुदायिक सम्वंधों में आचरण के लिए प्रेरित करता है, और इस प्रकार यह सवसे सरल सिद्धान्तों में से एक है, जिसे अधिकांश अमरीकी समझ सकते हैं।

पर्याप्त विदेशी सहायता के कार्यक्रम के विकास के लिए ये कारण मुझे आकर्पक प्रतीत होते हैं। परन्तु मैं कुछ सामान्य तर्क प्रस्तुत करना चाहता हूँ, जिनमें से कुछ मेरा विश्वास है कि, अनुचित मानकर अस्वीकृत कर दिये जायेंगे और कुछ विशेषताओं के रूप में अवश्य ही स्वीकृत होंगे।

कतिपय कूटनीतिज्ञों और सामरिक विशेषज्ञों की मान्यताओं के विपरीत, विदेशी सहायता हमें साथी और मित्र खरीदने के योग्य नहीं वनायेगी। जिस प्रकार हम किसी स्वतंत्र व्यक्ति की निष्ठा को नहीं खरीद सकते, उसी प्रकार किसी स्वतंत्र राष्ट्र की निष्ठा भी नहीं खरीदी जा सकती।

और न एशिया, अफ्रीका अथवा दक्षिणी अमरीका के राष्ट्रों को दी गयी

आर्थिक सहायता से हम उनकी कृतज्ञता के सम्बंध में ही आश्वस्त हो सकते हैं। निष्ठा की भाँति ही कृतज्ञता भी विक्री की चीज़ नहीं है। यदि हम भावुकता-वश कृतज्ञता के लिए प्रयत्न करेगें तो हमें निश्चय ही निराश होना पड़ेगा।

हमें साम्यवादी खतरे की सीमा के अनुसार आवश्यक रूप से अपनी सहायता का कार्यक्रम भी निर्धारित नहीं करना चाहिए। हमारी सहायता प्राप्त करने के योग्य होने के पूर्व क्या किसी राष्ट्र को साम्यवादी आघात से छिन्नभिन्न हो जाना चाहिए? क्या जिन राष्ट्रों में कम्यूनिस्ट नहीं हैं, उनकी आवश्यकताओं की उपेक्षा कर, हमें उन्हें सहायता के योग्य पात्र की सूची से निकाल देना चाहिए? शोरगुल करनेवाले साम्यवादी अल्पसंख्यकों पर ऐसी शर्तें लगाना सचमुच ही विचित्र होगा।

हम यह भी देख चुके हैं कि केवल लोगों का पेट भरना, उन्हें मलेरिया से मुक्त करना और उनको साक्षर वनाना, उन्हें साम्यवाद-विरोधी वनाने के लिए अपने-आप में पर्याप्त नहीं है। वास्तव में नग्न आर्थिक अन्याय के प्रति जागरुकता प्रायः केवल अभाव की अपेक्षा अधिक विस्फोटक होती है। जैसा कि मैंने पिछले प्रकरण में सुझाया था, एशियाई क्रान्तियों का नेतृत्व प्रायः भूखे किसान नहीं करते, वल्कि हताश मध्यमवर्गीय वुद्धिजीवी करते हैं।

अरवों लोगों की दीनता और हीनता को, जो कदाचित् ही कभी पर्याप्त भोजन पाते हैं, दृढ़ता के साथ कम करना है। परन्तु जिस प्रणाली से प्रगति की जाती है वह उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी प्रगति। जव तक लोग अपने ही सुधार में भाग लेने की भावना विकसित नहीं कर लेते और आपने-आप को समुदाय के एक अंग के रूप में मानने और उसी सुरक्षित समाज में रहने की आध्यात्मिक भावना पैदा नहीं कर लेते, तव तक आर्थिक विकास कम अशान्ति पैदा करने की अपेक्षा और भी अधिक अशान्ति पैदा कर सकता है। उन्नति ऊपर से नीचे की ओर नहीं की जा सकती। इसको तो नीचे से ऊपर की ओर उठना है और वह भी अधिकतर स्वयं अपनी सहायता के लिए कृतसंकल्प जनता के प्रयत्नों द्वारा ही।

न तो विदेशी सहायता, चाहे वह कितनी ही उदार क्यों न हो, हमें स्थायी रूप से और सफलता के साथ भृष्ट अथवा सामन्ती सरकारों की रक्षा में समर्थ वना सकती है और न केवल हमारे विनियोग ही प्रायः व्यर्थ जायेंगे, वल्कि इस प्रक्रिया में हमें होनहार, युवा, देशी लोकतांत्रिक नेतृत्व का समर्थन भी खो देना पड़ेगा। हम उस राष्ट्र को नहीं वचा सकते जो स्वयं अपनी रक्षा के लिए कृतसंकल्प

नहीं है, और इस प्रक्रिया में ठोस उत्सर्ग करने के लिए तैयार नहीं है। उपनिवेशवाद के वाद सामन्तवाद ही साम्यवाद का अत्यधिक विश्वसनीय साथी है।

उन विशेपताओं को ध्यानपूर्वक समझ लेने के उपरान्त विदेशी सहायता के लिए आवश्यक और उचित कारणों का हम अधिक सरलता के साथ सामना कर सकते हैं, और साथ-ही-साथ हम स्वयं अनेक विफलताओं, निराशाओं और संतापों से अपने-आपको वचा सकते हैं।

× × ×

अपनी सामरिक महत्व की प्रतिरक्षा पंक्ति के पीछे सद्भावना, स्थिरता और समझदारी के वढ़ते हुए क्षेत्रों की स्थापना के प्रयत्न में हमको स्थिरता और राजनीतिक 'यथातथ्यता' को एक ही न मान लेने के लिए सतर्क भी रहना चाहिए। क्रान्तिकारी एशिया और अफ्रीका में राजनीतिक स्थिरता, साइकिल चलाने की भाँति केवल आगे वढ़ने की गति से प्राप्त की जा सकती है।

इसलिए अपनी सहायता की आयोजना में, हमको वियेतनाम और दक्षिणी कोरिया जसे स्थानों में, जो सीधे साम्यवादी सैनिक दवाव की वन्दूकों के अन्तर्गत कार्य कर रहे हैं, अपने अवसरों और नीति सम्वन्धी व्यापक अवसरों में, जो भारत, वर्मा, पाकिस्तान, जापान, हिन्देशिया और अफ्रीका के कुछ भागों जैसे देशों में हमारे लिए खुले हुए हैं, स्पष्ट अन्तर कर लेना चाहिए।

पहली वात तो यह है कि हम उन देशों को ऊपर उठा रहे हैं, जो हमारी सहायता के विना कदाचित् तुरन्त ही नीचे चले जाते। हमारी नीति का तात्कालिक उद्देश्य साम्यवादी गुट को क्षेत्र न मिलने देना है।

दुर्भाग्य से, इस तरह की अवरोधक कार्रवाइयों के ही कारण हमारा विदेशी सहायता-वजट इतना भारी हो गया है। यद्यपि वे आवश्यक हैं, तथापि वे हमें केवल पीछे खिसकने से वचा लेती हैं। आगे वढ़ने के लिए हमको व्यापक एवं निश्चित अवसरों का सामना करना चाहिए, जिससे हम शक्ति के अधिक स्थायी क्षेत्रों का निर्माण कर सकें।

हमारे शान्तिकालीन प्रमुख आर्थिक विनियोगों को उन मुख्य देशों की सहायता करनी चाहिए, जिनमें अपने साधनस्रोतों को, अपनी स्वतंत्र सरकारों को, अपनी उन्नति की भावना को, उनकी अपनी भाग लेने की भावना को और स्वतंत्र विश्व समुदाय से सम्वन्धित होने की भावना को विकसित करने की सामर्थ्य है। ऐसे राष्ट्रों में जव आत्मविश्वास पैदा होता है, तव वे हमसे प्रायः असहमत भी हो सकते हैं और हमारी अधिक निराश मनोदशा में उनकी

आलोचनाएँ भी प्राय: उसी अनुपात में वढ़ती हुई प्रतीत होंगी जिस अनुपात में उन्होंने लाभ प्राप्त कर लिए हैं।

फिर भी, हमें उनकी प्रगति का स्वागत करने के लिए काफी परिपक्व होना चाहिए और यह समझना चाहिए कि यह वही अहमन्यता है, जो उनकी वढ़ती हुई उस स्वदेशी शक्ति से उत्पन्न होती है, जो उन्हें साम्यवाद के लिए अथवा किसी भी अन्य वाहरी शक्ति के लिए दुर्गम वना देती है। भौतिक, राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह वहुत ही कठिन कार्य है।

परन्तु विकल्प तो स्पष्ट है। यदि एशिया, अफ्रीका और मध्यपूर्व के अर्ध-विकसित राष्ट्र विश्व की प्रमुख औद्योगिक शक्तियों से घनिष्ठ सम्वन्ध स्थापित नहीं कर पाते, तो वे देर-सवेर विश्व की दूसरी कोटि की औद्योगिक शक्ति से घनिष्ठ सम्वंध स्थापित कर लेंगे। जैसा कि अन्यत्र है, एशिया में भी राजनीति साधारणतया अर्थव्यवस्था का ही अनुसरण करती ह। पीछे पड़ जानेवाले रूस के व्यापारिक प्रतिनिधि पहले ही से समस्त योरोप और एशिया में चक्कर काट रहे हैं। अफगानिस्तान में एक वड़ा सोवियत चतुर्थ कार्यक्रम तैयार किया जा रहा है।

मार्च, १९५५ में जव मैं भारत में था, तव सरल शर्तों वाले सोवियत ऋण पर दस लाख टन का एक फौलाद-कारखाना निर्माण करने की वातचीत चल रही थी। इसी प्रकार की सहायता के लिए भारत की प्रार्थना को हम पहले ही ठुकरा चुके थे। आयोजना के अनुसार प्रशिक्षण के लिए और आयोजना पर कार्य के लिए लगभग तीन सौ भारतीयों को मास्को जाना पड़ा। चतुर रूसियों ने भारतीयों से कहा, "इस प्रकार कारखाने का आयोजन और निर्माण सचमुच आपके ही हाथों होगा।"

जून, १९५५ में प्रधान मंत्री वलगानिन ने मास्को में अपने सार्वजनिक भाषणों के दौरान में भारतीय विकास-कार्यक्रम के लिए नेहरू का वड़े जोरों के साथ अभिनन्दन किया। टेक्निकल सहायता और अनुकूल ऋणों के आधार पर यदि और सोवियत मदद भारत को न मिले तो मुझे आश्चर्य ही होगा।

सोवियत नीति के इस विकासमान रूप का राजनीतिक अभिप्राय वहुत ही महत्व का है। एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के लोगों ने १८० वर्षों तक अमरीका की ओर न केवल इसलिए देखा है कि वह प्रजातांत्रिक स्वतंत्रता और व्यक्तिगत अवसर का सुदृढ़ गढ़ है, वल्कि इसलिए कि वह आर्थिक अन्याय को कम करने और एक विकासशील समाज की रचना के

लिए स्वतंत्र संस्थानों की शक्ति का प्रबल आदर्श है।

आनेवाले वर्षों में उनके 'नये दृष्टिकोण' के अंगस्वरूप हमें मान लेना चाहिए कि सोवियत रूस अर्धविकसित और अवचनवद्ध विश्व को अत्यन्त विश्वासोत्पादक प्रमाण प्रदान करेगा कि कम से कम, साम्यवाद के अन्तर्गत, आर्थिक गति चमत्कारपूर्ण हो सकती है और रूस उन राष्ट्रों की सहायता करने के लिए उद्यत है, जो उसकी सहायता स्वीकार कर लेंगे। यद्यपि सोवियत उदारता का राजनीतिक मूल्य ऊँचा हो सकता है, तथापि जिस चतुराई के साथ इसे प्रस्तुत किया जायेगा, उसकी गणना न करना अथवा प्रगति के लिए उतावले नये स्वतंत्र राष्ट्रों के लिए इसके आकर्षण को स्वीकार न करना मूर्खता होगी।

× × ×

हमने यह पहले ही पता लगा लिया है कि आर्थिक विकास की जटिल समस्याएँ परस्पर सम्वंधित हैं। उदाहरणस्वरूप, निम्न अमरीकी आयात-निर्यात-कर और वढ़ा हुआ व्यापार प्रत्यक्ष विदेशी सहायता की राशि को घटाने में काफी सहायक होगा, जिसकी मध्यवर्ती विश्व को अपनी आर्थिक प्रगति के लिए नितान्त आवश्यकता है। जहाँ तक संभव हो, अर्धविकसित राष्ट्रों को अपनी उन्नति के लिए मूल्य चुकाना चाहिए और कुछ अपवादों के अतिरिक्त वे इसी प्रकार चाहेंगे भी।

परन्तु डालर पाने के लिए उनके पास केवल दो ही तरीके हैं। प्रथम वे आवश्यकता के अनुसार अपनी चीजें वेच कर उपार्जन कर सकते हैं और इस प्रकार प्राप्त धन को अपने लिए आवश्यक अमरीका में वने यंत्रों, सामग्रियों, 'वुलडोजरों' पर तथा अमरीकी टेक्नीशियनों को नियुक्त करने में खर्च कर सकते हैं। द्वितीय, इन चीजों को खरीदने के लिए अमरीकी ऋणों और अनुदानों से उन्हें डालर मिल सकते हैं।

इस प्रकार हम अन्य राष्ट्रों को अपना कुछ उत्पादन वेचना जितना आसान वना लेंगे, उतना ही कम हमसे ऋणों और अनुदानों की उन्हें आवश्यकता पड़ेगी। इसके अतिरिक्त, उनका जीवन-स्तर जितना ऊँचा उठेगा, उतनी ही अधिक चीजें वे अमरीकी उत्पादकों से खरीदने योग्य होंगे।

आयात-निर्यात-कर की नीति का प्रश्न कुछ ऐसा टेढ़ा है, जो न केवल कम विकसित देशों पर ही प्रभाव डालता है, वल्कि जापान जैसे विकसित राष्ट्रों को भी प्रभावित करता है। जापान-सरकार आज व्यापार-निकासी के मार्ग

बड़ी बैचेनी से ढूंढ़ रही है, क्योंकि इस आधुनिक औद्योगिक द्वीप-राष्ट्र को जीवित रहने के लिए उसकी आवश्यकता है। जापानी माल के लिए युद्ध-पूर्व चीनी बाजार की स्मृतियां जापान में अभी भी बिलकुल स्पष्ट हैं, जिसका अनुभव मुझे टोकियों में अनेक जापानी व्यापारियों की बातों से बार-बार हुआ। यदि अमरीकी नीति प्रभावशाली विकल्प की व्यवस्था नहीं करती, तो आनेवाले वर्षों में चीन, जापान और रूस में व्यापार बढ़ता ही जायेगा। इसके साथ ही अन्य आर्थिक और सामरिक महत्व के बंधन और तटस्थता के लिए नये दबाव प्रकट हो सकते हैं।

युद्ध के बाद से हमने जापानी अर्थव्यवस्था को बड़े पैमाने पर सहायता पहुँचायी है, पहले प्रत्यक्ष रूप से डालर के अनुदानों से, और फिर अप्रत्यक्षरूप से, अभी हाल में वहाँ पर तैनात अमरीकी सेना की सेवाओं के लिए वेतन देकर। अधिक से अधिक, ये साधन अस्थिर हैं।

अमरीकी तथा अन्य पश्चिमी बाजारों में जापानी चीजों के लिए आयात-निर्यात-करों में काफी रियायत देना एक दूसरा प्रमुख विकल्प है, जिससे कि जापान हमको माल बेच कर आवश्यक डालर अर्जित कर सकता है। जापान के साथ पारस्परिक व्यापारिक समझौते के उद्देश्य से बातचीत का प्रयत्न उस दिशा में एक कदम है; किन्तु प्रगति धीमी होकर रहेगी।

अमरीकी राजनीतिक जीवन से मौखिक परिचय रखने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए इसके धीमे होने का कारण स्पष्ट है। एक राज्य के गवर्नर की हैसियत से मैंने कठोर घरेलू दबाव को अपनी आँखों देखा, जो निम्न तट-कर के विरोध में बढ़ सकता है। अचानक तट-कर-परिवर्तनों के कारण कतिपय समुदायों में गम्भीर अस्तव्यस्तताएँ प्रकट हो सकती हैं और उनकी उपेक्षा सिनेटर और कांग्रेसजन अपने राजनीतिक भविष्य के लिए गम्भीर खतरा उठा कर ही कर सकते हैं। उनके लिए यह तर्क कि अधिक उदार व्यापारिक नीति द्वारा बढ़ायी गयी विदेशी खरीद हमारी स्वयं की अर्थव्यवस्था को पुष्ट करेगी, साधारणतया उनकी समझ के बाहर है। वे बताते हैं कि ऐसे लाभ सर्वदा किसी दूसरे के राज्य या क्षेत्र में होते प्रतीत होते हैं।

फिर भी, विश्व-समस्या आज भी मौजूद है और किसी-न-किसी रूप में हमें अन्ततोगत्वा उसका सामना करना ही पड़ेगा। यदि हम राजनीतिक दृष्टि से अन्य राष्ट्रों को हमारे हाथ काफी बिक्री कर, अपने लिए आवश्यक डालर अर्जित कर लेने की अनुमति नहीं दे सकते, तो हमें किसी-न-किसी प्रकार की

सहायता के रूप में उन्हें डालर अवश्य प्रदान करना चाहिए।

फिर भी, हमें 'दोहरी सहायता' के रूप में इसे स्पष्टतः स्वीकार करना चाहिए। उपभोक्ता के रूप में अमरीकी लोगों को पहले अमरीका में बनी उसी प्रकार की वस्तु के लिए अधिक मूल्य देना पड़ता है, जिस प्रकार की वस्तु वे किसी विदेशी निर्माता से अधिक सस्ते दामों में खरीद सकते हैं। तब चूंकि हमने विदेशी निर्यात को यहाँ डालर अर्जित करने से रोक दिया है, इसलिए अमरीकी जनता को कर-दाता के रूप में अपनी सरकार को इसके फलस्वरूप होने वाली आर्थिक कठिनाइयों से निकालने का प्रयत्न करना चाहिए।

अर्धविकसित देशों में विनियोग एक बड़ा ही प्रभावशाली विकल्प है, परन्तु सच तो यह है कि आवश्यक पैमाने पर ऐसा नहीं हुआ है। युद्ध-काल से संयुक्त राज्य अमरीका में गैरसरकारी वार्षिक विनियोग औसतन ४६ अरब डालर रहा है। इसी अवधि में हमारा कुल समुद्रपारीय वार्षिक विनियोग केवल एक अरब डालर रहा है। इसमें से अधिकांश योरोप और कनाडा में था, और वह भी अधिकतर उन देशों में अमरीकी कारपोरेशन द्वारा अर्जित लाभों से प्राप्त हुआ था।

यदि हम दक्षिणी अमरीका और सऊदी अरब में अमरीकी तेल-विस्तार को निकाल दें, तो अर्धविकसित देशों में सम्पूर्ण दस वर्ष की अवधि में अमरीकी गैरसरकारी विनियोग का कुल योग मुश्किल से एक अरब डालर होगा।

पूंजी के इस क्षीण प्रवाह के समझ में आने योग्य और उचित कारण हैं। अधिकांश अर्धविकसित राष्ट्रों में राजनीतिक और आर्थिक दशाएँ भी अनिश्चित हैं। प्रायः औपनिवेशिक अनुभवों के आधार पर विदेशी विनियोक्ताओं के विरुद्ध अनुचित पूर्वधारणाएँ रही हैं। कुछ मामलों में कर-सम्बंधी कानून एक बार मुनाफा हो जाने के बाद उससे उचित हिस्सा निकालने में कठिनाई प्रस्तुत कर देता है। दिन-प्रतिदिन के संचालन में प्रायः कष्टदायक नौकरशाही कठिनाइयाँ आया करती हैं।

हमारी सरकार को चाहिए कि वह उन अमरीकी फर्मों को सभी व्यावहारिक प्रोत्साहन प्रदान करे, जो समुद्रपार पूंजी लगाने के लिये तैयार हैं; विशेषकर एशिया, दक्षिणी अमरीका और अफ्रीका में, जहाँ पूंजी की बहुत अधिक आवश्यकता है। प्रस्ताव रखा गया है कि समुद्रपार अर्जित हमारे लाभों पर हमारा संघीय निगम-कर १४ प्रतिशत घटा देना चाहिए और यह कर तभी वसूल करना चाहिए, जब लाभ इस देश में ले आया जाय। विदेशों में

अधिक अमरीकी पूँजी के विनियोग में सहायता के उद्देश्य से इस कर-बाधा को क्यों न २५ प्रतिशत या ५० प्रतिशत भी कर दिया जाय?

परन्तु आदर्श परिस्थितियों में भी आवश्यक कुल विनियोग निजी पूँजी के लिए बहुत अधिक होगा और लाभ के अवसर बहुत सीमित और अनिश्चित होंगे। अधिक विद्युत्-शक्ति, बन्दरगाह की पर्याप्त सुविधाएँ, अधिक कुशल रेलों और समुन्नत संचार-साधन जैसी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति सरकारी निधि से की जानी चाहिए। इन बुनियादों के पड़ जाने के बाद ही हम वास्तव में गैर-सरकारी विनियोगों के सूत्रपात के आकर्षक अवसरों की अपेक्षा कर सकते हैं।

किसी देश के संक्रान्ति-काल में सुस्थिर आर्थिक विकास के लिए इन बुनियादों की आवश्यकता होती है। संक्रान्ति-काल के पूरा होते ही बाहरी आर्थिक सहायता की आवश्यकता भी समाप्त हो जायगी; परन्तु इस बीच हमें इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि अधिकांश अर्धविकसित देशों में पर्याप्त गति से प्रगति के लिए ठोस पैमाने पर प्रत्यक्ष सरकारी ऋण और अनुदान अत्यावश्यक हैं।

इसका अर्थ है, इस देश और इसके प्रमुख योरोपीय मित्रों से प्राप्त जन-निधियाँ, जिनके लिए वर्षों पहले से वचन दिया गया है। ऐसी निधियों के लिए आवश्यकता और उन्हें प्रदान करने की हमारी अस्वीकृति से उत्पन्न कठिनाइयाँ, विकास-योजनाओं के कार्यान्वय के साथ महत्वपूर्ण ढंग से बढ़ती जायेंगी और ये राष्ट्र पूँजी-विनियोग को अधिक शीघ्रता के साथ पचा देने के लिए तैयार हैं।

किसी भी परिस्थिति में कुल आवश्यक धन हाल के अमरीकी प्रतिरक्षा-बजट के अल्पांश से अधिक नहीं हो सकता। साथ-ही-साथ जनवरी, १९४९ में राष्ट्राध्यक्ष ट्रूमन द्वारा चतुर्थ कार्यक्रम की नाटकीय घोषणा के बाद से आवश्यक धनराशि, डिमोक्रेटिक या रिपब्लिक, किसी भी प्रशासन द्वारा गम्भीरता के साथ प्रस्तुत किये गये किसी प्रस्ताव से काफी आगे है।

× × ×

बढ़े हुए खर्च के होते हुए भी, हम यह कैसे निश्चित कर सकते हैं कि हमारी निधियाँ कहाँ सबसे अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयुक्त हुई हैं? १९५१ और १९५५ के बीच असाम्यवादी एशिया और अधिकांश अफ्रीका में अपने और संयुक्त राष्ट्र-संघ तथा कोलम्बो-योजना के आर्थिक कार्यक्रमों के क्रियान्वय का अध्ययन

करने का मुझे मूल्यवान अवसर प्राप्त हुआ था। ठोस विकास की गतिविधि के आवश्यक तत्वों के सम्बंधों में कुछ निष्कर्ष मुझे बहुत स्पष्ट प्रतीत होते हैं।

किसी देश विशेष के लिए व्यापक और पूर्ण विकास-योजना प्रथम महत्व की है, जो बड़ी सतर्कता के साथ उसकी आवश्यकताओं और साधन-स्त्रोतों से सम्बद्ध हो और प्रत्येक कार्य की योजना सामान्य कार्यक्रम में उपयुक्त ढंग से पिरोई हुई हो। बिना ऐसी आयोजना के प्रत्येक पृथक कार्य अविचारपूर्ण, असामयिक, अधिक व्यय-साध्य और प्रायः अनुत्पादक हो सकता है।

औद्योगिक विकास की अधिक महत्वाकांक्षापूर्ण समस्याओं को सुलझाने के पूर्व एक सफल विकास-योजना को दो आवश्यक तत्वों से प्रारम्भ करना चाहिए। प्रथम, इसे अपने देश के आर्थिक साधन-स्त्रोतों के पूर्ण उपयोग की व्यवस्था करनी चाहिए। इसका मुख्य अर्थ यह है कि कर-प्रणाली न्यायपूर्ण हो और उसे कस कर लागू किया जाय। इसके लिए विदेशी विनिमय-व्यय पर नियंत्रण की आवश्यकता है, ताकि फ्रान्सीसी सुगन्धित द्रव्यों और तफरीह की मोटर गाड़ियों पर उर्वरकों और 'बुलडोजरों' को प्राथमिकता प्राप्त हो सके। इसका अर्थ है, प्राकृतिक साधन-स्त्रोतों के विकास पर विशेष जोर, जिससे विदेशी विनिमय-मुद्रा अर्जित की जा सकती है।

द्वितीय, एक अच्छी विकास-योजना में ऐसे कार्य सम्मिलित किये जाने चाहिएँ, जिनके परिणामस्वरूप देश की जनता के जीवन-स्तर में शीघ्र और स्पष्ट सुधार हो सके। शीघ्र और प्रायः मौलिक भूमि-सुधार प्रत्येक देश के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, जहाँ गंभीर भूमि-कर-सम्बंधी समस्याएँ व्याप्त हैं। स्वास्थ्य और शिक्षा के कार्यक्रमों पर जोर देना भी, विशेषकर यदि उसे भारत की भाँति, ग्राम-ग्राम में व्यापक समुदाय विकास-योजना में समन्वित करना हो, ऐसे प्रभावशाली साधन हैं, जिनसे जनता को विकास के नये लाभों से प्रभावित किया जा सकता है।

ऐसे ही प्रयत्नों से लोगों में उत्साह और शक्ति का सृजन कर उन्हें अधीरता, हिंसा और निराशा की अपेक्षा रचनात्मक मार्गों पर लगाया जा सकता है। तथापि इससे अमरीकी नीति-निर्माताओं के सम्मुख एक महत्वपूर्ण धर्म-संकट उत्पन्न हो जाता है। सहायता-प्राप्त राष्ट्र के घरेलू मामलों में उस हद तक हस्तक्षेप किये बिना, जो हमें स्वयं पसन्द नहीं है और जिसके कारण हमारे इरादों पर शक करने वाले हम पर साम्राज्यवाद, प्रभुता और अनिष्ठा के आरोप लगायेंगे, ठोस आर्थिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों के

सम्बन्ध में हम कैसे विश्वास दिला सकते हैं?

यह धर्म-संकट इतना उग्र नहीं है, जितना पहली दृष्टि में दिखाई पड़ सकता है। जैसा कि हम वाण्डुंग में देख चुके हैं, अर्धविकसित देशों के अधिकांश नेता उसी अर्थ में सन्तुलित और स्वस्थ विकास की प्राप्ति के लिए चिन्तित हैं, जिस अर्थ में हमने अभी विचार किया। इस सम्बंध में संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके अभिकरणों में, कोलम्बो-योजना में, अर्धविकसित देशों के अपने स्वयं के आन्तरिक अनुभवों में, हमारे चतुर्थ कार्यक्रम (पाइन्ट फोर) के पत्रकों में और अनेक गैरसरकारी अभिकरणों के अध्ययन में, जो विकास के क्षेत्र में क्रियाशील रहे हैं, इसे पूरा करने की विधि का विशेष ज्ञान भरा पड़ा है।

अर्धविकसित देशों ने साधारणतया संचित इन ज्ञानों और अनुभवों से लाभ उठाने की उत्सुकता प्रकट की है। इस प्रकार अनेक अर्ध-विकसित देशों द्वारा अपनायी गयी दिशा प्रायः ऐसी है, जिसे एक ठोस अमरीकी नीति का प्रोत्साहन प्राप्त होना चाहिए। निस्सन्देह इसके लिए अनेक स्पष्ट अपवाद भी हैं।

विदेशी राजनीति पर बिना प्रभुत्व प्राप्त किये विदेशी विकास को प्रभावित करने के कार्य के लिए हमसे न केवल पूंजी की अपेक्षा की जायगी, बल्कि वाशिंगटन और विदेशी नियुक्तियों में अत्यन्त प्रशिक्षित और भावुक लोगों की आवश्यकता पड़ेगी। यद्यपि आज हमारे पास इन पदों पर अनेक सुयोग्य व्यक्ति हैं, तथापि सुव्यवस्थित प्रशिक्षण और भर्ती की आवश्यकता की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है।

प्रायः ऐसे व्यक्ति उन स्थानों पर पहुँच जाते हैं, जो टेकनीक की दृष्टि से भलीभाँति दक्ष हैं, किन्तु जिन लोगों के साथ उन्हें कार्य करना है, उनकी भाषा, रीति-रिवाज, इतिहास और परम्पराओं के सम्बंध में उन्हें बहुत कम जानकारी है। हमें ऐसे योग्य एवं निष्ठावान अमरीकियों और दूसरे लोगों को नियुक्त करने के लिए सतर्कता से प्रयत्न करना चाहिए, जो उस देश के विकास की संभावनाओं के प्रति उत्साही हों, जिसमें उनकी नियुक्ति होने वाली है।

किसी विशेष सरकार अथवा संस्थान द्वारा समर्थित स्कूल, जो किसी प्रमुख अमरीकी विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हो, विदेशी नियुक्तियों के लिए लोगों को तैयार करने में बहुत-कुछ सहायता कर सकता है। यहाँ पर उन स्त्री-पुरुषों को, जो सीमान्त के नवजीवन की ओर आकर्षित हैं, कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वच्छता, औद्योगिक विकास और इंजीनियरिंग में और साथ ही व्यापक

आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों में, जिनकी उन्हें अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यकता है, टेक्निकल प्रशिक्षण मिलना चाहिए। अनेक कारणों से ऐसे स्कूलों को गृहिणियों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

एक अन्य महत्वपूर्ण मार्ग भी है, जिससे संयुक्त राज्य अमरीका विना शत्रुता और रंजिश पैदा किये गैरसरकारी औद्योगिक, धार्मिक और दानशील दलों की गतिविधियों के द्वारा विकास को सफलता के साथ प्रभावित कर सकता है। फोर्ड, राकफेलर और कार्नेगी जैसे अनेक फाउण्डेशनों ने कम विकसित देशों के तमाम भागों में मूल्यवान योग प्रदान किया है।

डगलस एन्समिंगर के विशेष नेतृत्व में फोर्ड फाउण्डेशन ने भारत में विशेषरूपेण बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। मैं जानता हूँ कि भारत-सरकार के उच्च पदाधिकारी इस बात को स्वीकार करते हैं कि ग्राम-विकास, लघु उद्योग और शिक्षा के क्षेत्र में इसने बहुमूल्य योगदान किया है। जन-स्वास्थ्य के क्षेत्र में राकफेलर फाउण्डेशन के प्रयत्नों को सभी स्वीकार करते हैं।

संयुक्त राष्ट्र-संघ के विशिष्ट अभिकरणों को भी बहुत बड़े-बड़े कार्य करने हैं—शिशुनिधि, यूनेस्को (UNESCO), विश्व स्वास्थ्य-संगठन, खाद्य और कृषि-संगठन, अन्तरराष्ट्रीय श्रम-कार्यालय और संयुक्त राष्ट्रीय टेक्निकल सहायता-प्रशासन निरन्तर हमारे समर्थन के पात्र हैं। संयुक्त-राज्य-अमरीका के तत्वावधान में अनेक देशों में सहायता बड़े उत्साह से स्वीकार की जा रही है, जबकि आज भी दुतरफी सहायता को शंका की दृष्टि से देखा जाता है। यद्यपि उनकी निधियाँ बहुत ही छोटी हैं, तथापि संयुक्त राष्ट्रीय अभिकरणों के कार्य ने विश्व के अर्धविकसित राष्ट्रों में व्यापक प्रतिष्ठा और विश्वास पैदा कर दिया है।

संयुक्त राष्ट्र की विकास-योजनाओं को और भी अधिक प्रभावशाली बनाने सम्बन्धी वादविवादों में संयुक्त राज्य अमरीका ने कभी-कभी निषेधात्मक रुख अपनाया है। ये वादविवाद उन दो प्रमुख प्रस्तावों के चतुर्दिक घूमते आये हैं, जिनको कम विकसित देशों और उनकी आवश्यकताओं को निकट से जाननेवाले अधिकांश विशेषज्ञों का जबरदस्त समर्थन प्राप्त रहा है।

उनमें से प्रथम है, विशेष संयुक्त राष्ट्रीय आर्थिक विकास-निधि (SUNFED), जिसका उपयोग अर्धविकसित देशों में पूंजी-अपेक्षित योजनाओं को अनुदान के आधार पर आर्थिक सहायता प्रदान करने में किया जायगा। दूसरा

है, विश्व-बैंक या विशेष विकास-बैंक के रूप में अधिक और उदार ऋण देने वाली सत्ता, जो उन योजनाओं को सहायता प्रदान करेगी, जिनसे फिर भुगतान की अपेक्षा की जा सकती है।

इन प्रस्तावों के अनुसार लगने वाली पूँजी का योग ३५ करोड़ डालर है, जिसका आधा भाग संयुक्त राज्य अमरीका को देना था। १९५४ में हमने दूसरे प्रस्ताव पर अपनी स्थिति में संशोधन किया, परन्तु हमने संयुक्त राष्ट्रीय आर्थिक विकास-निधि के लिए अनुकूल वातावरण निरन्तर बनाये रखा।

अफ्रीका में संयुक्त राष्ट्रीय तंत्र के उपयोग ने नवीन महत्व प्राप्त कर लिया है, क्योंकि वहाँ पर 'ट्रस्टीशिप कौंसिल' के माध्यम से अन्तरराष्ट्रीय संगठन का उत्तरदायित्व न्यूनाधिक प्रत्यक्ष रूप में अधिकांश महाद्वीप में फैला हुआ है। यहाँ पर संयुक्त राष्ट्र को लोगों की उच्च आशाओं के अनुकूल व्यापक और उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य सौंपने का अनुपम अवसर है।

संयुक्त-राष्ट्र के एक अभिन्न मित्र और समर्थक के रूप में मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि अपने दायित्वों को पूरा करने के लिए अच्छी तरह से तैयार होने के पूर्व, विशिष्ट अभिकरणों को लम्बी दूरियों की यात्रा करनी पड़ती है। परस्पर टकराती सत्ता, छोटे-मोटे ईर्ष्या-द्वेष और व्यापक नौकरशाही ने प्रभावशाली प्रशासन में अनेक अवसरों पर बाधाएँ प्रस्तुत की हैं।

अपने समस्त आर्थिक और सामाजिक प्रयत्नों के द्वारा सुव्यवस्थित संयुक्त राष्ट्र संघ, 'गरीबों के शहर' को फिर से आश्वस्त करके कि वर्ग की विकट समस्याओं का निराकरण सहकारी और लोकतांत्रिक ढंग से किया जा सकता है, अमूल्य सेवा कर सकता है। मैं फिर जोर देना चाहता हूँ कि आर्थिक विकास सर्वदा इस प्रकार का होना चाहिए, जिससे अन्त में केवल एक अधिक स्वस्थ प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रीय राज्यों का एक दूसरा युग न आये, बल्कि आर्थिक स्वार्थों के समान बंधनों में आबद्ध, सजीव और विकासशील प्रजातंत्रों का उद्भव हो।

इस चुनौतीपूर्ण कार्य को पूरा करने का अधिकाधिक प्रयास संयुक्त राष्ट्र को रक्त-माँस-पेशियों से युक्त एवं सुसंगठित बना सकता है। ऐसे साधनों से इसको हमारी सामान्य आशाओं का अंग बनाया जा सकता है। वर्ग पर विभिन्न राष्ट्रीय आक्रमणों को संयोजित करने में सहायता करके संयुक्त राष्ट्र, साथ-ही-साथ युद्ध पर आक्रमण में भी, स्वयं अपनी सहायता करेगा। ये दोनों समस्याएँ एक साथ सम्बद्ध हैं और अन्त में वे एक साथ ही उठ या गिर भी सकती हैं।

संयुक्त राष्ट्र की अपेक्षा अधिक विशेषताप्राप्त अन्तरराष्ट्रीय दलों को

अमरीकी आर्थिक सहायता के वितरण के माध्यम के रूप में महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त हैं। मार्शल योजना के अनुभवों ने यह प्रदर्शित कर दिया है कि क्षेत्रीय संस्थाएँ, जिनमें सहायताप्राप्त राष्ट्रों को प्रभावपूर्ण प्रतिनिधित्व प्राप्त है, हमारी पूर्ण सहायता मिलने पर सम्बद्ध देशों के कार्यक्रमों की कठोर निरीक्षिका बन सकती हैं।

योरोपीय आर्थिक सहयोग सम्बन्धी संगठन में एक स्थायी कर्मचारी-दल ने उन सारी गतिविधियों की समीक्षा की, जिनके लिए मार्शल-योजना-निधि वचनबद्ध थी। वार्षिक बैठकों में सामान्य आर्थिक प्रगति की व्याख्या की गयी; भावी कार्यक्रम के लिए आवश्यकताओं को लिपिबद्ध किया गया और प्रशासन के उच्च स्तर तथा अनुपालन के लिए आग्रह किया गया।

कोलम्बो-योजना-संगठन एशिया के लिए एक तुलनात्मक संस्था है, जो मूलतः ब्रिटिश कामनवेल्थ के राष्ट्रों से बनी हुई थी; परन्तु बाद में हिन्द महासागर से पूर्व के प्रत्येक असाम्यवादी राष्ट्र को इसमें सम्मिलित कर लिया गया। संयुक्त-राज्य-अमरीका को भी सदस्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। औपचारिक दृष्टि से इसने इस क्षेत्र में अपनी टेक्निकल और आर्थिक सहायता सम्बंधी गतिविधियों को संगठन से संयोजित कर दिया है। परन्तु सम्बंध वास्तविक की अपेक्षा मौखिक अधिक रहा है। वस्तुतः विकास-सम्बंधी अमरीकी व्यय के निर्धारण या समीक्षा में हमने कोलम्बो-योजना को कोई महत्वपूर्ण दायित्व नहीं सौंपा है।

अमरीकी राज्यों के संगठन से लेटिन अमरीकी आर्थिक विकास-निधियों के क्षेत्रीय प्रशासन के लिए वैसा ही अवसर प्राप्त होता है। यहाँ फिर इस गोलार्ध में अपने आर्थिक प्रयत्नों के महत्वपूर्ण विस्तार पर विचार करने से लगातार इन्कार कर, संयुक्त राज्य अमरीका ने प्रगति में बाधा उपस्थित की ह।

आर्थिक सहायता के बढ़ते हुए व्यापक उत्तरदायित्व के जितने ही निकट हम पहुँचेंगे, उतने ही हमारे प्रयत्न अधिक प्रभावशाली होंगे। फिर भी, किसी-न-किसी रूप में बड़े पैमाने पर चुनौती का मुकाबला कुछ वर्षों की अवधि में करना ही चाहिए। यदि इस अवस्था में मुख्यतः ऐसे अन्तरराष्ट्रीय अभिकरणों के माध्यम से सहायता करना राजनीतिक दृष्टि से असंभव है, तो कम-से-कम हम आयात-निर्यात बैंक का प्रयोग करें, जिसके पास १९५५ में २ अरब डालर से अधिक अधिकृत और निष्क्रिय पूंजी थी।

× × ×

उन मार्गों की व्यापकता और विभिन्नता दिखाने के लिए काफी कहा जा चुका है, जिनके द्वारा विश्व का प्रमुख औद्योगिक राष्ट्र, अमरीका हमारे युग की आर्थिक चुनौती का सामना करने में सहायता कर सकता है। विश्व-क्रान्तियों के हमारे सर्वेक्षण ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अनेक देशों में जागृत लोगों के बीच प्राचीन अर्थव्यवस्था का आकर्षण बहुत पहले समाप्त हो चुका है और अब वह तेजी के साथ निर्मूल होता जा रहा है। इनमें से अधिकांश लोगों के लिए, अमरीका अपने अर्वाचीन इतिहास में किसी समय आर्थिक अवसर का आदर्श रहा है, जिसकी उन्होंने प्रशंसा की है और अनुकरण करने का भी प्रयत्न किया है।

इन अधिकांश अर्धविकसित क्षेत्रों के लोगों की सरकारों का मौलिक दर्शन कितना भी अस्थायी हो, वह प्रजातंत्र और पश्चिम की ओर प्रवृत्त हो रहा है। यदि अन्ततोगत्वा साम्यवादी विकल्प की विजय होती है, तो उसका कारण यह होगा कि अमरीका और अटलांटिक राष्ट्रों की पद्धति और प्रणालियां अब इन देशों के लिए आवश्यक विकास के मुख्य कार्य के लिए अपर्याप्त सिद्ध हो कर तिरस्कृत कर दी गयी हैं।

कुछ कार्यों का प्रारम्भ अच्छा हुआ है और बीच मार्ग में ही लड़खड़ाना हमारे लिए खतरनाक होगा। आर्थिक सहायता का वह महत्वपूर्ण अंश प्रदान करने का साधन और सामर्थ्य, टेकनीक और निपुणता केवल अमरीका में है, जो अन्त में विश्व के उन लाखों-करोड़ों लोगों के लिए सफलता या विफलता पैदा कर सकता है, जो अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने या कायम रखने के लिए प्रयत्नशील हैं।

लेकिन प्रतिरक्षा की भाँति अर्थव्यवस्था भी शान्ति की एक सीमा है। हमारे युग की यथार्थताओं को समझने लायक कुशल कूटनीति एक अन्य सीमा है।

छत्तीसवाँ प्रकरण

शांति की राजनीति

सोवियत कूटनीति में ज्यों ही स्तालिनवाद का ह्रास स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ने लगा, त्योंही सैनिक समाधानों पर अमरीकी केन्द्रीकरण की अपर्याप्तता तीव्रता के साथ प्रकाश में आने लगी। यह भी स्पष्ट है कि व्यापक रूप से बढ़ा हुआ आर्थिक सहायता-कार्यक्रम, अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी, अकेले ही इस अपर्याप्तता का निराकरण नहीं कर सकता। १९५५ में मास्को और पेकिंग भी कठोर शीत युद्ध की धूम पर अधिक बल न देकर, विचारों, प्रचारों, वायदों, नारों और मैत्रीपूर्ण कूटनीतिक वर्ताव के द्वारा लोगों को अपने पक्ष में कर लेने के प्रयत्न कर रहे थे।

फिर भी, मास्को के तात्कालिक कूटनीतिक उद्देश्यों में दिखायी पड़नेवाले जबर्दस्त परिवर्तन से इस नये बल के महत्व को कम आंका गया। दो ध्रुवों वाले अमरीकी और रूसी, विश्व की दो महान शक्तियों में से एक, व्यवस्थित रूप से विश्व-राजनीति को विरोधहीन बनाने में जुटी प्रतीत हो रही थी।

रूस की सीमाओं पर तटस्थ अन्तराल राज्यों की यथासम्भव व्यापक सहायता, जर्मनी और जापान से भूतपूर्व शत्रुओं के साथ साम्राज्य-सम्बन्ध स्थापित करने और विदेशों से उल्लेखनीय सद्भावना, जो अपेक्षाकृत कम भयानक रूसी कूटनीतिक मुद्रा से प्रवाहित होगी, के बदले में नवीन रूसी नेतृत्व रूस के प्रभुत्व के क्षेत्र को कम करने पर विचार करता जान पड़ा।

अनेक कारणों से, जिन पर हम विचार कर चुके हैं, सोवियत नीतियों में यह परिवर्तन, सोवियत इरादों अथवा अभिप्रायों में बिना किसी मौलिक परिवर्तन के, अनेक राजनीतिक और आर्थिक तथ्यों को परिलक्षित कर सकता है। एक शताब्दी पूर्व लार्ड पामर्स्टन ने कहा था, "रूसी सरकार की नीति और रीति सदैव यही रही है कि जितनी तेजी से, और जहाँ तक अन्य सरकारों की उदासीनता या दृढ़ता के अभाव से अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाने का मौका मिले, बढ़ा जाय; और जहाँ निश्चित प्रतिरोध का सामना करना पड़े, वहाँ रुक कर पीछे हट जाय।"

यदि एक सतर्कतापूर्ण परीक्षण-अवधि यह प्रदर्शित करती है कि सोवियत

नीति किसी भी कारण से वस्तुतः शीत युद्ध को समाप्त करना चाहती है, तो उसे जारी रखने के लिए प्रयास करना अमरीकी नीति का दुस्साहस होगा। हमने इसे आरम्भ नहीं किया। हमने कभी इसे चाहा नहीं। अब यदि संयोगवश विशिष्ट समस्याओं पर व्यावहारिक समझौता हो सकता है, तो हमें निश्चय ही उसमें बाधक नहीं बनना चाहिए। यदि शीतयुद्ध का जाल धीरे-धीरे दूर हो जाय, तो विश्व के लिए और हमारे सिद्धान्तों के लिए भी अच्छा ही होगा—यद्यपि परिवर्तन गतिशील सह-अस्तित्व में, जो अनिवार्यतः आरम्भ होगा, उन सिद्धान्तों को और भी कड़ी कसौटी पर चढ़ाया जा सकता है।

अन्य साधनों से युद्ध यदि कूटनीति का विस्तार है और यदि गर्म और शीत, दोनों युद्धों का अन्त कूटनीति के कार्यसूची में प्रथम विषय है, तो हमें अपनी कूटनीति के लिए कुछ मार्गदर्शक चौकियों की स्थापना करने की आवश्यकता है; क्योंकि हमारी परराष्ट्र-नीति के आवश्यक सैन्य और आर्थिक पहलुओं के बावजूद, कूटनीति विदेशी सम्बंधों के संचालन के मूल में रहती है। इसके प्रयोग और व्यवहार के आज भी ऐसे मार्ग हैं, जिनसे राष्ट्रों के बीच कठिनाइयाँ और तनाव बिना युद्ध के समाप्त हो जाते हैं।

कूटनीति की कार्यसूची

संयुक्त-राज्य-अमरीका में कूटनीतिक परम्परा के लाभ का अभाव है, जो ब्रिटेन के परराष्ट्र-विभाग के चतुर्दिक एकत्र हो गया है। किसी भी स्थिति में, यह संभव नहीं है कि सबके लिए मुक्त हमारी लोकतांत्रिक परम्परा कुछ चुने हुए व्यवसायी विशिष्ट जनों द्वारा इतनी विस्तृत और स्वायत्त गतिविधि को सहन करेगी। अमरीकी कूटनीति इंगलैण्ड की अपेक्षा अधिक मात्रा में जनक्षेत्र में है।

इस स्थिति में हमारे सभी अन्तरराष्ट्रीय प्रयत्नों की भाँति हमारी कूटनीति की प्रथम आवश्यकता हमारे अपने उद्देश्यों की स्पष्ट समझदारी है। ये उद्देश्य व्यावहारिक होने चाहिएँ। यद्यपि उन्हें अमरीकियों के एक बड़े बहुमत का समर्थन प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथापि हमारे अनेक विभिन्न पूर्व विचारों और पूर्व निर्णयों के अपचित समझौते से उनका कुछ अधिक होना आवश्यक है। उन्हें घोट-पीस कर लोकतांत्रिक वादविवाद और विचक्षण नेतृत्व का समिश्रण बना देना चाहिए।

ज्यो-ज्यों साम्यवादी चालें अधिक लचीली होती जाती हैं, हमें विश्व-

साम्यवाद के सम्वन्ध में अपने उद्देश्यों पर पुनर्विचार करने और उन्हें स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ेगी। स्पष्ट है कि हम उसे पसन्द नहीं करते, वल्कि हम तो यह चाहेंगे कि वह लुप्त हो जाय, तथापि जैसा कि हम देख चुके हैं, इसको जानवूझ कर वलपूर्वक विनष्ट करने के लिए आक्रमक सैनिक कार्रवाइयों की आवश्यकता पड़ेगी, जिन्हें अधिकांश अमरीकी ठीक ही ठुकरा देते हैं।

अन्ततोगत्वा हमें सरल परन्तु परेशान करने वाले इस प्रश्न का सामना करना पड़ेगा कि सोवित संघ और साम्यवादी चीन के साथ हम किस आवार पर शान्ति के साथ रहने के लिए तैयार हैं?

इतिहास में अमरीका सर्वदा से अधिनायकतंत्रों के साथ रहता आया है। यद्यपि ज़ारवादी रूस कुख्यात निरंकुश राजतंत्र था, फिर भी वह प्रायः अमरीका का मित्र वन कर रहा। दक्षिणी अमरीका के अनेक राष्ट्र, जो संयुक्त राष्ट्र-संघ में हमारे साथ वड़े उत्साह के साथ मतदान करते हैं, स्पेन, पुर्तगाल, स्याम, फारमोसा और दक्षिणी कोरिया जैसे हमारे अनेक मित्रों की भाँति अधिकनायकवादी राज्य हैं।

इससे यह संकेत मिलता है कि इस प्रकार की तानाशाही से हमें खतरा नहीं है, चाहे हम उसे कितना भी नापसन्द करें, वल्कि उस तानाशाही से खतरा है जो अपने पड़ोसियों पर प्रत्यक्ष आक्रमण या विध्वंस द्वारा अपना नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास करती है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, साम्यवादी सिद्धान्त इस वात पर आग्रह करता है कि साम्यवादी और प्रजातांत्रिक विश्व में निरन्तर संघर्ष चलता रहेगा और अन्ततोगत्वा एक-न-एक के विनाश में उसका अन्त होगा। अनेक अवसरों पर सोवियत नेताओं ने कहा है कि पूंजीवादी जगत का 'अनिवार्य' पतन अन्त में सशस्त्र संघर्ष द्वारा होगा। अन्य अवसरों पर उन्होंने यह अधिक मर्यादित विचार रखा है कि चूंकि मार्क्स के विधान के अनुसार यह अनिवार्य प्रक्रिया का अंश है, इसलिए यह किसी-न-किसी प्रकार अपने समय पर घटित होगा और इसके साथ इतिहास को सहायता प्रदान करने की विशेप आवश्यकता नहीं है।

यदि साम्यवादी सैनिक आक्रमण के विरुद्ध हमारी सामरिक महत्व की रेखा, कुछ वर्षों तक दृढ़तापूर्वक कायम रहे, यदि विश्व का दो-तिहाई भाग, जो साम्यवादी नहीं है, आर्थिक और राजनीतिक सहयोग के व्यापक क्षेत्र में धीरे-धीरे एक साथ खिच आये और यदि प्रगति की गति और प्रकार ऐसा हो जो आन्तरिक आक्रान्ति को निरुत्साहित करे, तो साम्यवादी नेताओं की नयी

पीढ़ी शायद तथ्य के अनुसार सिद्धान्त को ग्रहण करने का निर्णय कर ले। वे पहले भी ऐसा कर चुके हैं।

इस बीच हम आणविक शीत युद्ध की राजनीति से पृथक होने के लिए उत्सुक विश्व में, साम्यवादी परराष्ट्र-नीति के विषयों में अनेक कूटनीतिक विभिन्नताएँ देखने की आशा कर सकते हैं। जनेवा-सम्मेलन के नये वातावरण में इन विभिन्नताओं ने विश्व को और अधिक सरलता से साँस लेने और तात्कालिक युद्ध के भय से कुछ मुक्त होने के योग्य बनाया है।

यदि समय सिद्ध कर देता है कि रूस अपने नये दृष्टिकोणों के प्रति गम्भीर है, तो अमरीकी कूटनीति हम लोगों को एक अधिक स्थिर विश्व के निकट लाने में कौनसा योग प्रदान कर सकती है? हमें कम-से-कम अपने मन में व्यवस्थित रूप से समझौते का स्वीकार्य आधार ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए और यह भी समझ लेना चाहिए कि जानबूझ कर हम किन खतरों को औचित्य के साथ उठा सकते हैं और सोवियत इरादों को जांचने तथा जहाँ सम्भव हो, सच्चा और पारस्परिक समझौता करने के लिए कौनसा निश्चित उत्तर जिम्मेदारी के साथ दे सकते हैं। कम-से-कम एक बात तो निश्चित है। शीत युद्ध के तनाव को कम करने के उद्देश्य से हमारे प्रयत्नों के लिए बिना शर्त आत्म-समर्पण की नीति उतनी ही महँगी सिद्ध होगी, जितनी द्वितीय विश्वयुद्ध को समाप्त करने के हमारे प्रयत्न के लिए थी।

चूंकि रूसी और अमरीकी कूटनीति प्रतिद्वंद्वात्मक सह-अस्तित्व के युग में प्रवेश करती है, इसलिए उनमें से प्रत्येक तटस्थ विश्व के महान पंचों के ध्यान और सहानुभूति के लिए स्पर्द्धा करेगा। वे पंच हमारे उद्देश्यों के बारे में निरन्तर हमारे कूटनीतिक व्यवहार के शुद्ध प्रभाव के आधार पर अनुमान लगाते रहेंगे।

यदि हम जनमत को अपने विरुद्ध करने के खतरे पर घरेलू राजनीतिक उपभोग के लिए विभिन्न रूप धारण करने के लिए लालायित हैं, तो हमें ब्रिटिश राजनीतिज्ञ कासलरे की लार्ड लीवरपूल को वियना-कांग्रेस के समय दी गयी विवेकपूर्ण सलाह को याद करना चाहिए। उन्होंने कहा, "हमारा कार्य पुरस्कार एकत्र करना नहीं है, बल्कि विश्व को शान्तिपूर्ण प्रवृत्ति की ओर वापस लाना है।"

यदि हम अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर अभिमानपूर्ण बातें कहने के लिए लालायित हैं, तो हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, एक दूसरे ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ ने

एक वार भिन्न, किन्तु उपयुक्त संदर्भ में कहा था, "कूटनीति स्पष्टत: यह जानने में है कि तुम क्या चाहते हो, तुम्हारा विरोधी पक्ष क्या चाहता है और यह प्रकट करने में है कि जो कुछ वह चाहे, उसके शब्दों में तुम क्या चाहते हो।"

जहाँ तक संभव हो, अन्य असाम्यवादी राष्ट्रों के साथ अपने मार्ग और व्याख्याओं को समन्वित करना आज अमरीका का एक अत्यावश्यक कूटनीतिक कार्य हो गया है। इस सम्वंध में हाल के वर्षों में हमारा आलेख वहुत ऊँचा नहीं रहा है। अनौपचारिक रीति से ही सही, हमें अन्य सभी असाम्यवादी राष्ट्रों को अग्रिम विचारविमर्श के द्वारा अपने कूटनीतिक प्रयत्नों में सम्मिलित करना अमरीकी कूटनीति का मौलिक रूप होना चाहिए। यदि उस समय सोवियत संघ या साम्यवादी चीन मार्ग में वाधा प्रस्तुत करते हैं, तो हम अकेले ही उन प्रहारों को सहन करने के लिए नहीं रहेंगे। पारस्परिक स्वीकृत उद्देश्यों की प्राप्ति में हमारी असफलता तव समस्त स्वतंत्र विश्व की संयुक्त असफलता होगी।

दूसरे रूप में इसका अर्थ यह है कि जिन उद्देश्यों को हम प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें ऐसे शब्दों में प्रस्तुत करना चाहिए जो अधिकांश यथार्थवादी व्यक्तियों को व्यावहारिक और उचित प्रतीत हों। उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत नहीं करना चाहिए जिससे उसका स्पष्ट उद्देश्य सोवियत संघ अथवा साम्यवादी चीन को परेशान करना प्रतीत हो, वल्कि इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए कि उसका उद्देश्य सहमति और समझौते को अधिक सरल वनाना और जहाँ संभव हो, साम्यवादी नेताओं को उनके उस दोहरे विचार की मनोवैज्ञानिक क्षमता से मुक्त करना प्रतीत हो, जिसके कारण वे अभी तक ऐसी वातें करते रहे हैं, मानों शान्ति और साम्यवादी विश्व-आधिपत्य एक ही उद्देश्य हों। हम अपनी नीति को अधिक स्पष्ट और व्यापक वना कर साम्यवादी नीति को स्पष्ट वनाने में सहायता कर सकते हैं।

हमारे प्रमुख प्रस्तावों पर ध्यानपूर्वक विचार होना चाहिए, न केवल अपने मित्रों के साथ, वल्कि जहाँ तक संभव हो, उन सभी मुख्य राष्ट्रों के साथ जो वर्तमान संघर्षों से अलग रहना चाहते हैं। वातचीत की प्रक्रिया के सम्वंध में सही भविष्यवाणी नहीं की जा सकती और अधिकतर यह उनकी योग्यताओं, व्यक्तित्वों और भावप्रवणता पर निर्भर करेगा जो नीति के विकास और उसके कार्यान्वय के लिए उत्तरदायी हैं।

× × ×

सोवियत लचीलेपन के नये युग के दौरान में अमरीकी कूटनीति का महत्वपूर्ण उद्देश्य नये रूसी दवाव के अन्तर्गत अपने योरोपीय मित्रों को वनाये रखना होगा। इन मित्रताओं का वड़े महँगे दामों में निर्माण किया गया था और उन्हें और भी अधिक खर्च पर वनाये रखना चाहिए। फलस्वरूप हमें मतभेद की वातों पर और अमरीका तथा उत्तरी अटलांटिक के अन्य राष्ट्रों के वीच उत्तेजना पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

योरोप के जो उदाहरण, मित्र राष्ट्रों के झगड़ों के मामलों को चित्रित करते हैं, जिनसे क्रेमलिन लाभ उठाने की आशा कर सकता है, उनमें निश्चय ही निम्नलिखित वातें सम्मिलित होंगी :—

(१) ऊष्मान्यैष्टिक (Thermonuclear) अस्त्रों के इस युग में हमारे नाटो (NATO) के मित्रों की स्थिति भयानक रूप से खुली हुई है। उनकी भौगोलिक स्थिति ही उनकी कूटनीति के प्रमुख उद्देश्यों का निर्देशन करती है। यह एक ऐसा उद्देश्य है, जिसके कारण वहुतेरे अनुभव करते हैं कि अमरीका की अपेक्षाकृत कम खुली हुई स्थिति ने ही हमें विश्व-मामलों में तनाव को ढीला करने के प्राथमिक महत्व को कभी-कभी भूल जाने दिया है।

(२) गुप्त कूटनीति की दृढ़ और अनाटकीय प्रणाली और परराष्ट्र नीति के संचालन में व्यवसायवाद के अभ्यस्त, योरोपीय विदेश-मंत्रालय अमरीकी नीति के अनिश्चित चढ़ाव-उतार, नाटो के प्रति हमारी भक्ति, और याल्टा-पत्र जैसे प्रमाणपत्रों के एकपक्षीय प्रकाशन के चारों ओर नाचने के लिए तैयार रहते आये हैं।

(३) मैकार्थीवाद जैसे प्रभावों और मैकैरन (Mccarran) अधिनियम के कुटिल प्रयोग के कारण अनेक योरोपीय और एशियाई राजधानियों के समाचार-पत्रों में अमरीकी रूप को वड़े खतरनाक ढंग से विगाड़कर प्रकाशित किया गया है, यहाँ तक कि अमरीकी लोकप्रियता स्वयं कभी-कभी ऐसी अनिश्चितताओं पर उलटे निर्भर प्रतीत होती है, जैसी माओ के चीन के प्रति उनकी दोस्ती और दुश्मनी की घटती-वढ़ती मात्राएँ हैं।

(४) अनेक योरोपीय और असाम्यवादी एशियावासी सोचते हैं कि हाल के वर्षों में वाशिंगटन के विपरीत, लन्दन ने उच्च नीति के निर्माण में सच्चाई का सामना करने की इच्छा और शान्तिपूर्ण यथार्थवादिता का उपयोग किया है। नेतृत्व के लिए वे अधिकाधिक ब्रिटेन की ओर देखते आ रहे हैं और हिन्दचीन तथा इ-डी-सी (E.D.C.) के संकटों के दौरान में परराष्ट्र-

मंत्री के रूप में प्रधान मंत्री ईडन के अन्तरराष्ट्रीय रक्षण-कार्य ने ब्रिटिश कूटनीति की प्रतिष्ठा कम करने के लिए कुछ भी नहीं किया। उसके दृढ़ आत्मविश्वास ने परराष्ट्र-विभाग के लिए अधिकांश विदेशी प्रेक्षकों के मिश्रित विश्वास और विद्वेष को सुरक्षित रखा है। जुलाई १९५५ में जनेवा में राष्ट्राध्यक्ष आइसनहावर ने इस सन्तुलन को ठीक करना शुरू किया।

(५) योरोपियनों में संयुक्त राष्ट्र संघ को विरोधी स्वार्थों में समझौता कराने के माध्यम के रूप में देखने का झुकाव है, जबकि हम कभी-कभी इसे केवल आक्रमण के प्रतिकार के माध्यम के रूप में देखते प्रतीत होते हैं। ये विभिन्नताएँ स्पष्टतः संयुक्त राष्ट्रसंघ में लाल चीन तथा अन्य राष्ट्रों के प्रवेश के सम्बंध में विपरीत दृष्टिकोणों में प्रतिबिम्बित हैं।

हमारी सामरिक महत्व की सीमान्त रेखा के पीछे शान्ति और उन्नति के स्थिर ढाँचों के निर्माण के प्रयासों में अमरीकी कूटनीति को जिन कार्यों का सामना करना है, विभेद की ये बातें उन्हीं की द्योतक हैं।

सोवियत दबाव की ढिलाई के साथ पश्चिमी योरोप में घरेलू दबाव, मित्र-राजनीति को अधिकाधिक अन्धकार में डालते जायेंगे।

अडेनावर के एक बार 'चाँसलर' का पद छोड़ने पर जर्मनों का भविष्य अनिश्चित हो जायगा। शक्तिशाली अस्थिरता की उनकी शाश्वत राजनीतिक समस्या बिना समाधान के ही रह जाती है और योरोप के मध्य, विभाजित जर्मनी का खतरनाक प्रश्न हमेशा के लिए उलझा ही नहीं रहेगा।

नाटो (NATO) के सभी मित्रों के लिए परस्पर-मान्य कोई ऐसी सन्तोषप्रद व्यवस्था होनी चाहिए, जो फ्रांस और इटली की अर्थव्यवस्थाओं के आवश्यक आधुनिकीकरण में और भी उचित पूंजी लगाने की अनुमति दे सके। शीत युद्ध से शीत शान्ति की ओर परिवर्तन की सूचक इस अवधि में इन दोनों देशों के नागरिकों के लिए घरेलू आर्थिक समस्याएँ अधिकाधिक परराष्ट्र-नीति की प्राथमिकताओं को हटाने की ओर प्रवृत्त हो सकती हैं। फ्रान्स में मकानों की विकट समस्या सरकारी उदासीनता को अब और अधिक नहीं सहेगी। दक्षिण इटली में भूमि-वितरण एक राजनीतिक समस्या है, जिस पर अविलम्ब तीव्र ध्यान देने की आवश्यकता है।

इस प्रकार के घरेलू दबावों और शीत-युद्ध के घटते खतरे के अन्तर्गत अमरीका प्रतिरक्षा के आर्थिक मूल्यों पर योरोपीय असन्तोष के प्रदर्शनों की अपेक्षा कर सकता है। आलोचक कहेंगे कि जबकि उनके देश के साधनस्त्रोत अनन्त और

कम महत्वपूर्ण सैनिक कार्यक्रम में नष्ट हो जाते हैं, तो अपने देश में साम्यवादी नेतृत्व में सामाजिक असन्तोष और भी अधिक गम्भीर होता जायेगा।

जिस हद तक वे उन सामाजिक और आर्थिक सुधारों का साहसपूर्वक समर्थन करते हैं, जो अधिकांश योरोप में वहुत अर्से से पिछड़े हुए हैं, उस हद तक योरोपीय सरकारों का मामला आकर्षक होगा। अनेक कुशल प्रेक्षक विश्वास करते हैं कि पश्चिमी योरोप में साम्यवादी दलों के अन्तिम पतन के लिए जिसकी आवश्यकता है, वह है उत्पादन के फलों के उचित वितरण के लिए सुयोग्य, सच्चा और एक वामपक्षी प्रयत्न।

अमरीकी कूटनीति को इन नयी कार्रवाइयों को पहले से ही समझ लेना चाहिए और योरोप के क्रमिक राजनीतिक और आर्थिक एकीकरण को, जहाँ कहीं संभव हो, प्रोत्साहन देकर और अपने-आपको उस एकीकरण से, जहाँ कहीं और जितना भी उपयुक्त प्रतीत हो, कल्पनात्मक और रचनात्मक ढंग से सम्वंधित कर, उन्हें संयोजित कर लेना चाहिए। 'नाटो' के घोषणा-पत्र की व्यापकता और दृष्टि स्वयं उसे सैनिक खतरे के ह्रास के साथ वदलते हुए राजनीतिक दवावों को प्रतिविम्वित करने की अनुमति देती है।

योरोप, अमरीका और उपनिवेशवाद

स्वयं अपनी समस्याओं में व्यस्त रहने के योरोप के अधिकार को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। उनके समाधान की शीघ्रता जितनी योरोप को है, उतनी ही प्रायः अमरीका को भी है। परन्तु इस पर प्रायः वहुत अधिक वल नहीं दिया जा सकता कि विश्व-क्रान्ति हम सव पर दवाव डाल रही है और यह जिस प्रकार हमारी नीतियों को प्रभावित करती है, उसी प्रकार भीतर और वाहर से योरोपीय नीतियों को भी प्रभावित करती है।

क्रान्ति आन्तरिक रूप से उन सभी वहुमुखी और प्रायः असन्तुष्ट माँगों में परिलक्षित है, जिन्हें योरोप के कम साधनसम्पन्न लाग युद्ध-काल से ही अपनी सरकारों के समक्ष प्रस्तुत करते आ रहे हैं।

वाह्य रूप से यह जटिल व्यवस्था में परिलक्षित है, जिसे वाहरी संसार में योरोप के निहित स्वार्थों को उपनिवेशवाद के ह्रास के प्रत्युत्तर में वनाना पड़ा या वनाने में असफल होना पड़ा। इस 'महान संगठन' को वनाये रखने के हमारे प्रयत्नों के संदर्भ में उपनिवेशवाद के प्रति योरोपीय दृष्टिकोण अमरीकी

कूटनीति के लिए प्रथम कोटि की एक और समस्या प्रस्तुत कर देता है।

हम पहले ही औपनिवेशिक जगत में अपनी नीति के प्रति अमरीकी क्रान्तिकारी परम्परा की उपयुक्तता पर बल दे चुके हैं। कार्लोस रोम्यूलो ने चुनौती को मोटे ढंग से व्यक्त किया, "क्रान्ति का शिशु अमरीका, अपनी क्रान्तिकारी परम्परा को एशिया में जाते देखकर भूलचूक से भी उसे सोवियत रूस के हाथों में जाने देना सहन नहीं कर सकता।"

उन्होंने आगे कहा, "एशिया के हृदय के और समीप पहुँचने के लिए अमरीका को अपने हृदय का और भी उपयोग करना चाहिए। वाशिंगटन, जेफर्सन, लिंकन और फ्रैंकलिन डेलानो रूजवेल्ट की स्वतंत्रताप्रेमी, उदारचेता और गंभीर मानवीय भावना से प्रेरित अमरीका के प्रति एशियावासी सामंजस्य और सहानुभूति के साथ व्यवहार करेंगे। दूसरी ओर, उस अमरीका की अपेक्षा उन्हें और कोई भी इतने निश्चित रूप से नहीं निकाल फेंकेगा, जो लापरवाही से अपने योरोपीय साथियों के पापों से अपने कुल की प्रतिष्ठा को कलंकित होने देता है।"

हमें सचमुच यह नहीं भूल जाना चाहिए कि प्रमुख औपनिवेशिक शक्तियाँ—फ्रान्स और ब्रिटेन—ने दक्षिणी महाद्वीपों में परिव्याप्त क्रान्ति का संरक्षण किसी भी हालत में अमरीका से कम नहीं किया।

"स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व" फ्रान्सीसी क्रान्तिकारी मूल का ऐतिहासिक नारा है और इसे इसके जन्मदाता राष्ट्र के साथ ऐसा सम्बद्ध कर दिया गया है कि सर्वत्र सभी लोगों ने समझ लिया कि जैफर्सन के इस कथन का क्या अर्थ था, "प्रत्येक मनुष्य के दो देश हैं, एक स्वयं अपना और दूसरा फ्रान्स।"

ऐसे समय में भी, जबकि फ्रान्स की औपनिवेशिक नीतियाँ प्रायः दुःखद ढंग से अयोग्य और ह्रासोन्मुख प्रतीत होती हैं, यह याद रखना आवश्यक है कि फ्रान्स कभी विश्व-क्रान्ति की प्रेरणा का केन्द्र था। फ्रान्सीसी संविधान-सभा के सम्मुख उपस्थित होने के लिए जब विदेशी आमंत्रित होते थे, तब "मानव जाति के प्रवक्ता" के रूप में परिचित कराये गये प्रसियन अनाकार्सिस क्लूट्स ने बड़ी उत्तेजना के साथ कहा, "जब मैं संसार के नक्शे पर दृष्टि डालता हूँ, तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य सभी देश लुप्त हो गये हैं और राष्ट्रों के पुनरुद्धारक के रूप में केवल फ्रान्स ही दृष्टिगोचर होता है।"

यदि फ्रान्स हिन्दचीन और उत्तरी अफ्रीका के दिवालिये उपनिवेशवाद में कहीं अपनी परम्परा की अवहेलना करता प्रतीत होता है, तो भी आज सैगोन

और कासाब्लांका की क्रान्तिकारी पुस्तकों की अलमारियों में फ्रान्सीसी परम्परा व्यंगात्मक प्रेरणा के रूप में प्राप्त हो जायगी और फ्रान्सीसी औपनिवेशिक नीति के निरुत्साहित करने वाले पक्षों के बावजूद, हमको हमेशा याद रखना चाहिए कि फ्रान्सीसियों पर जातिवाद का दोषारोपण कभी नहीं किया गया।

नयी विश्व-क्रान्ति की आशाओं के साथ अंग्रेजी राजनीतिक व्यवहार का क्रमिक एकीकरण फ्रान्सीसी क्रान्तिकारी परम्परा की अपेक्षा कम नाटकीय, किन्तु कहीं अधिक सुदृढ़ रहा है।

यदि अमरीकियों को इंगलैंड के विरुद्ध अपने आदर्श—औपनिवेशिक विद्रोह का गर्व है,तो उन्हें याद रखना चाहिए कि वे उस समय की अपेक्षा 'कभी अधिक अंग्रेज' नहीं थे, जब कि उन्होंने 'क्रोधान्वित होकर अपने विरोधों को लिखा' और अपने चरणों से इंगलैण्ड की धरती को इस प्रकार प्रकम्पित कर दिया कि सारा संसार उसे देख सके; अथवा जब उन्होंने हैम्पडन का पुराना नारा 'बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं' बुलन्द किया था, और जब उन्होंने बोस्टन के बन्दरगाह में चाय पाट दी थी।

ब्रिटिश कूटनीति की सफलताओं में विश्व के वर्तमान मामलों का वह अनुपम पक्ष है जो स्वतंत्रता के साथ बढ़ने वाले 'कामनवल्थ' में दिखायी देता है, जिसका नाम भी इंगलैण्ड के इतिहास में क्रामवेल के प्रारम्भिक क्रान्तिकारी अध्याय से लिया गया है। ब्रिटिश राजनीतिक विचारधारा में यह अर्वाचीन, प्रगति दक्षिणी एशिया, सूडान और गोल्डकोस्ट से अपने 'रचनात्मक राजत्याग' में प्रयुक्त ब्रिटेन के लोकतांत्रिक सिद्धान्तों में परिलक्षित है।

युद्धोतर कालीन ब्रिटिश नीति की निपुणता और विवेकशीलता के सम्बंध में यह स्पष्ट करने के लिए काफी कहा जा चुका है कि औपनिवेशिक समस्या को एक दुराग्रही साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध पवित्र विद्रोह के सरल प्रश्न में परिणत नहीं किया जा सकता। साम्राज्य से 'कामनवेल्थ' में संक्रमण, समय के अनुसार न केवल शिष्टतापूर्ण ढंग से हटने की नीति है, बल्कि परामर्श और सहयोग की स्वीकारात्मक नीति है।

ब्रिटिश-परराष्ट्र विभाग द्वारा राष्ट्रमण्डल के दक्षिणी एशियाई सदस्यों के विचारों पर ध्यान दिये जाने और कोलम्बो-योजना के महान संयुक्त आर्थिक प्रयास में इसका जितना सुंदर उदाहरण मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। हमको सचमुच मान लेना चाहिए कि इस स्थिति में औपनिवेशिक सत्ता के लिए एक नये पद की व्यवस्था निहित है, जैसा कि यह भूतपूर्व उपनिवेशों

के लिए करती है।

फिर भी, औपनिवेशिक उन्मूलन की गति, जो अनिवार्यतः भविष्य के गर्भ में है, योरोप से प्रारम्भ नहीं होगी। हम देख चुके हैं कि अपार अमरीकी सहायता से समर्थित फ्रान्स की सारी शक्ति भी हिन्दचीन पर युद्धोतर आधिपत्य बनाये रखने में अपर्याप्त सिद्ध हुई; समृद्धिशाली ईस्ट इण्डीज पर अपने अधिकार को बनाये रखने के लिए युद्ध को नीदरलैण्ड ने हानिकारक समझा और ब्रिटेन ने अनेक रक्तपातपूर्ण गृह-युद्धों को उसी गौरव और चतुराई से बचाया, जिससे उसने भारत, पाकिस्तान, लंका और बर्मा से अपने-आप को निकाला।

शेष औपनिवेशिक क्षेत्र अमरीकी नीति-निर्माताओं को चुनौती प्रस्तुत करते हैं, जिसका सामना अवश्य करना चाहिए, यद्यपि अभी तक उसका सामना नहीं किया गया है। अमरीकी यात्रियों से, जो अपने देश में राजनीतिक आन्दोलनों के समय पिछलग्गू राष्ट्रों की 'मुक्ति' की बातें सुनने के आदी हैं, अफ्रीकी कभी-कभी बड़ी कटुता के साथ पूछते हैं, "हम से क्यों नहीं शुरू करते?"

एशिया में भी मैंने लोगों को कहते सुना है, "यदि तुम अमरीकी रूस के आधिपत्य से राष्ट्रों को मुक्त करने का प्रयत्न करते हो, तो उसका परिणाम युद्ध हो सकता है; परन्तु इससे दुगुने लोग तुम्हारे 'नाटो' के साथियों के औपनिवेशिक आधिपत्य से मुक्त होने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। वहाँ युद्ध का कोई खतरा नहीं होगा और तुम्हारा प्रभाव भी निर्णायक सिद्ध हो सकता है। क्या काले अफ्रीकियों का गोरी चमड़ीवालों की अपेक्षा तुम्हारी मुक्तिदायिनी अन्तरात्मा पर कम प्रभाव है?"

उपनिवेशवाद की समस्या पर यह संदिग्ध ही है कि हिन्दचीन के नाटकीय पाठ को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया गया है। मई, १९५५ में सिनेट की परराष्ट्र-सम्बन्ध-समिति के समक्ष अपने बयान में मैंने कहा कि, एशिया और अफ्रीका में हमारी सद्भावनाओं को तब तक स्वीकार नहीं किया जायेगा, जब तक हम उपनिवेशवाद के सम्बंध में अपनी स्थिति स्पष्ट नहीं कर देते।

सामान्य सहमति में सिर तो हिले, परन्तु एक सिनेटर बोल उठा, "हाँ; किन्तु क्या यह सचमुच एक वादाविवादात्मक प्रश्न नहीं है? योरोप अपने उपनिवेशों से चिपके रहने के लिए कृतसंकल्प है और हमारी स्वयं की सुरक्षा-प्रणाली योरोप और नाटो से सम्बद्ध है। उपनिवेशवाद के विरुद्ध यदि हम स्वतंत्र स्थिति ग्रहण करते हैं, तो हमारी सारी सैनिक सुरक्षा-प्रणाली टूट कर खण्ड-खण्ड हो जायेगी।"

इससे यह संकेत मिलता है कि, सभी प्रश्नों पर एकता स्वयं एक उद्देश्य बन गयी है, और चाहे जो भी हो, हर हालत में किसी-न-किसी प्रकार उपनिवेशों पर अधिकार रखने वाले साथियों के विचारों को हमें स्वीकार करना पड़ेगा, यद्यपि इसके कारण एक ऐसी समस्या पर अपने सिद्धान्तों को हमें त्यागना पड़ेगा, जहाँ समझौता, चाहे वह कितना ही सोद्देश्य क्यों न हो, स्वतंत्र विश्व के लिए अत्यन्त मँहगा सिद्ध हो चुका है।

यदि हमसे सचमुच यही अपेक्षित है, तो पश्चिमी सभ्यता का भविष्य निश्चय ही अन्धकारपूर्ण है। हमारी भूल से आगामी वर्षों में सोवियत संघ और साम्य-वादी चीन 'गरीबों की दुनिया' का नेतृत्व प्राप्त कर लेंगे। सभ्यता पर वर्ग की अनिर्णीत समस्या के घातक प्रभाव सम्बंधी टायन्बी की चेतावनी नाटकीय महत्व प्राप्त करेगी।

परन्तु यह भी एक ऐसी धारणा रखती है, जिसे कोई भी विचारशील अमरीकी, जो योरोप की अतीतकालीन सफलताओं और मौलिक शक्ति को समझता और उनका आदर करता है, इसे तुरन्त स्वीकार नहीं कर सकता और सामान्यतः न तो फ्रान्सीसी और न योरोपीय अर्वाचीन इतिहास के स्पष्ट पाठ को सीखने में समर्थ हैं।

आगामी वर्षों में अमरीकी कूटनीति का प्रमुख कार्य होशियारी, विवेक, बुद्धि और समझदारी के साथ, उस सामञ्जस्य को सरल बनाना है, जो औपनिवेशिक शक्तियों के बीच स्पष्ट रूप से होना चाहिए। यह विचित्र बात है कि इसी साम-ञ्जस्य पर स्वयं योरोप की भावी महत्ता अधिकतर अवलम्बित है।

अनेक योरोपीय, जो अपने अतीत के सम्बंध में बहुत क्षुब्ध हो कर बोलते हैं, यह मान लेते हैं कि वर्तमान सह्य हो सकता है, किन्तु उन्हें यह विश्वास-सा हो गया है कि भविष्य में यह असंभव होगा। फिर भी, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुछ परिस्थितियों के अन्तर्गत योरोप भविष्य की ओर दायित्वपूर्ण नवीन आशा से देख सकेगा। वे परिस्थितियाँ अफ्रीका के घटना-चक्र पर अधिक-तर निर्भर हो सकती हैं, जो क्रान्ति का आगामी महाद्वीप है।

उदाहरण के लिए, बैल्जियम अपने अधिकार की सीमा में ८० लाख प्रबल और सुयोग्य जनता के साथ एक छोटा राष्ट्र है। परन्तु कांगो के साथ, जो क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमरीका का आधा है और जहाँ तक हम जानते हैं, साधनस्त्रोतों में भी हमारा आधा है, साझीदारी में बैल्जियम अन्ततोगत्वा एक प्रमुख शक्ति के रूप में प्रकट हो सकता है।

फिर भी, बैल्जियम जब तक कांगो के एक करोड़ बीस लाख अफ्रीकियों के साथ साझीदारी नहीं करता, तब तक उसको यह अधिकार प्राप्त नहीं हो सकेगा। सर्वदा यही ध्यान रखना पर्याप्त नहीं होगा कि अफ्रीकावासियों को पेट भर भोजन मिले, अच्छे कपड़े मिलें, अच्छा वेतन मिले और उनकी ओर काफी ध्यान दिया जाय। कभी-न-कभी वे समान राजनीतिक अधिकार के गौरव की माँग करेंगे और इस माँग को पूरा करना ही पड़ेगा।

अनेक विचारशील बैल्जियमवासी इसे समझते हैं। २२ जून, १९५५ को सानफ्रेन्सिस्को में संयुक्तराष्ट्र-सम्मेलन में, बैल्जियम के परराष्ट्र-मंत्री, पाल हैनरी स्पार्क ने कहा, "इस सम्मेलन ने मुझे पूर्ण रूप से विश्वास दिला दिया है कि, अपने तमाम स्वाभाविक परिणामों के साथ सभी जातियों की पूर्ण समानता सत्य बन गयी है। इसे स्वीकार न करने वाला कोई भी समकालीन राजनीतिज्ञ अनेक भूलें करेगा।"

अफ्रीका, ढाई करोड़ लोगों और फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका, मोरक्को, ट्यूनिशिया और अल्जीरिया के प्रचुर साधन-स्रोतों के साथ, विस्तारशील रचनात्मक साझेदारी के लिए फ्रांस को वैसा ही अवसर प्रदान करता है।

ऐसे कार्यक्रमों को विकसित करना निश्चय ही योरोपीय और अमरीकी कल्पना के साधन-स्रोतों के परे नहीं हो सकता, जो विभिन्न औपनिवेशिक स्थितियों की जटिलताओं को ध्यान में रखते हैं और साथ ही शीघ्र स्वराज्य के प्रति असन्दिग्ध वचन का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमने फिलीपाइन्स में यही किया। ब्रिटेन ने भी दक्षिणी एशिया में ऐसा ही किया और अब वह सूडान और पश्चिमी अफ्रीका में कर रहा है। यदि अपेक्षित सद्भावना और संयम के समाधान औपनिवेशिक जगत में अन्यत्र नहीं विकसित किये जा सके, तो एक बात निश्चित है। भारत, बर्मा, लंका और फिलीपाइन्स के अभिवचन के बजाय अटलांटिक राष्ट्रों को अन्त में एक विश्वव्यापी आपदा का सामना करना पड़ेगा, जो अपनी जटिलताओं में हिन्दचीन के संकट से भी कहीं अधिक विनाशकारी होगी।

× × ×

इस बात को परस्पर समझना चाहिए कि हमारी स्थिति अपने अटलांटिक साथियों की स्थिति से कभी-कभी भिन्न होती है। गम्भीर विचारविमर्श के बाद जब हममें विश्वास हो जाय कि वे आज के विश्व की यथार्थताओं से दूर हैं, तो हमें उनसे असहमत होने में झिझकना नहीं चाहिए। अतीत में उनकी स्थिति को

स्वीकार कर लेने की हमारी स्पष्ट तत्परता ने, चाहे कितने ही अनमने मन से क्यों न हो, एशिया, और अफ्रीका में तथा अन्यत्र, हम पर गहरा आघात किया है।

हम अमरीकियों को चाहिए कि, औपनिवेशिक जनता हमारे जिस सार्वजनिक रूप को देखती है, उसे वलपूर्वक और सार्थक ढंग से वदल दें। हमें अपनी उपनिवेश-विरोधी परम्परा को पुनः स्थापित करने के लिए प्रायः उपस्थित होने वाले अवसरों को ग्रहण करना चाहिए। हमारे कूटनीतिक व्यवहार को यथासम्भव स्पष्टरूप से यह प्रदर्शित कर देना चाहिए कि हम ईमानदारी और गम्भीरता के साथ उस सिद्धान्त के प्रति कृतसंकल्प हैं, जिस पर हमारे राष्ट्र की रचना की गयी थी और वह यह कि सभी राष्ट्र उचित रूप से योग्य हो जाने पर लोकतांत्रिक स्वराज के पात्र वन जाते हैं।

जिन नीतियों को हम स्वीकार करें, उन्हें साथ-ही-साथ पूर्णतया दायित्वपूर्ण और सुदक्ष होना चाहिए और उन दशाओं की वास्तविकताओं के अनुरूप होना चाहिए, जो आज अफ्रीका और योरोप दोनों में विद्यमान हैं। मेरा सुझाव है कि अवशिष्ट औपनिवेशिक महाद्वीप, अफ्रीका के लिए हमारी नीतियों के रूप में कम-से-कम निम्नांकित वातें होनी चाहिएँ :—

(१) हमें इस तथ्य से प्रारम्भ करना चाहिए कि अफ्रीका पर हमारा नियंत्रण नहीं है, न हम नियंत्रण चाहते हैं और एक मर्यादा के अन्तर्गत ही हम वहाँ कुछ कर सकते हैं।

(२) अपने योरोपीय मित्रों को उनके औपनिवेशिक ढंगों पर शानदार भाषण सुनाये विना और अफ्रीकी लोगों को प्रसन्न करने के लिए जनरंजक नेतृत्व का प्रदर्शन किये विना, हमें स्वतंत्रता सम्वन्धी प्रत्येक व्यवस्थित और दायित्व-पूर्ण प्रस्ताव के पीछे अपना व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक प्रभाव डालना चाहिए।

(३) अपनी दीर्घकालीन खिन्नता के वाद अफ्रीकी स्वयं शासन की दिशा में अपनी गति का निर्णय भले या वुरे के लिए करेंगे। फिर भी यदि अमरीकी अफ्रीकावासियों को यह विश्वास दिलायें कि ज्यों ही वे व्यवस्था करने योग्य हो जायेंगे, हम ईमानदारी के साथ उनकी स्वतंत्रता का समर्थन करेंगे, तो हम उन अफ्रीकियों की माँगों को मर्यादित करने में सहायता करने की स्थिति में हो जायेंगे, जो आज अपनी योग्यता से अधिक अधिकारों की माँग कर रहे हैं।

(४) भारत, पाकिस्तान, फिलीपाइन्स और वर्मा की भाँति, यदि गोल्ड कोस्ट, नाईजीरिया और सूड़ान व्यवस्थित और प्रजातांत्रिक ढंग से स्वतंत्र

राष्ट्रों के रूप में विकसित हो सकते हैं, तो जो यह ईमानदारी के साथ विश्वास करते हैं कि अफ्रीकावासी निकट भविष्य में अपना शासन नहीं चला सकते, उन्हें अपने विचारों में संशोधन करने के लिए विवश होना पड़ेगा। इन नयी उत्पन्न होनेवाली, स्वतंत्र पश्चिमी अफ्रीकी सरकारों की सफलता के आश्वासन में सहायता के लिए अमरीका जो कुछ भी कर सकता है, उससे इस रचनात्मक उद्देश्य का हित होगा। इसके लिए हमारी सरकार से न केवल आर्थिक सहायता की आवश्यकता है, बल्कि हमारी गैर-सरकारी एजेंसियों से भी, जिनमें फाउण्डेशन और चर्च भी सम्मिलित हैं, कल्पनाशील और दक्षतापूर्ण सहायता की आवश्यकता होगी।

(५) इसीलिए मिस्त्र, लीबिया, इथिओपिया और लाईबेरिया जैसे स्वतंत्र अफ्रीकी राष्ट्रों की हमें उदारतापूर्वक सहायता करनी चाहिए। उनकी प्रगति औरों की उन्नति की गति का निर्णय करने में सहायक होगी।

(६) अफ्रीका में किसी आर्थिक कार्यक्रम के समर्थन की स्वीकृति के पूर्व हमें इस बात की खूब छानबीन कर लेनी चाहिए कि उससे सभी जातियों को पूर्ण अवसर प्राप्त होते हैं, या नहीं। अफ्रीका में यदि हम योरोपियों की बची-खुची औपनिवेशिक श्रेष्ठता या दक्षिणी अफ्रीका में जातिवाद के साथ परोक्षरूप से भी अपने आप को मिला देते हैं, तो हमारे प्रयत्न निष्फल होंगे।

(७) विदेश-विभाग की ओर से हमें अफ्रीका को कहीं अधिक ऊँची प्राथमिकता प्रदान करनी चाहिए। आज अफ्रीका में हमारे मुठ्ठी भर कूटनीतिक कार्यालय हैं। १९५५ में, यद्यपि मैं व्यक्तियों की योग्यता और सच्चाई से प्रभावित हुआ था, तथापि अधिकांश के पास अत्यधिक कार्य हैं और वे इतने बड़े क्षेत्र के लिए उत्तरदायी हैं, जिसको सँभाल सकना उनकी शारीरिक सामर्थ्य के परे हैं।

(८) विदेश-विभाग और संयुक्त राज्य अमरीका के सूचना-अभिकरण के लोगों को बताया जाना चाहिए कि उनके कार्य का प्राथमिक उद्देश्य अफ्रीकियों के साथ घनिष्ठ सौमनस्य तथा कार्य-सम्बन्ध विकसित करना है, न कि केवल शीर्षस्थ योरोपियों के लघु शासक-वर्ग से सम्बंध स्थापित करना। अफ्रीका में हमारे सूचना-प्रयासों को भौतिक दृष्टि से बढ़ाना है और उन्हें अफ्रीकावासियों तक पहुँचाने पर अपना ध्यान केंद्रित करना है।

(९) स्वयं संयुक्त राज्य अमरीका में आज अफ्रीकी मूल के १ करोड़ ६० लाख अमरीकी हैं। सरकारी और गैर-सरकारी दोनों ही हैसियत से, अफ्रीका

के लिए अमरीका के इन पुत्रों की अपेक्षा, जो अफ्रीका के ही पौत्र-प्रपौत्र हैं, अधिक अच्छे राजदूत, व्याख्यानदाताओं, अध्यापकों, सरकारी कर्मचारियों और धर्मप्रचारकों के रूप में हमें नहीं मिल सकते।

(१०) अमरीकी विश्वविद्यालयों में अफ्रीकी अध्ययन को अत्यन्त उच्च प्राथमिकता प्रदान करनी चाहिए।

(११) राजनीतिक अधिकारों के, प्रथम स्थानीय, फिर क्षेत्रीय, फिर राष्ट्रीय दृढ़ विकास के लिए आवश्यक, एक अफ्रीकी घोषणा-पत्र के निर्माण को प्रोत्साहन देना चाहिए, जिसमें स्वतंत्रता की दिशा में प्रगति की गति का सुझाव देने के लिए एक कार्यक्रम हो। जब जनवरी, १९५५ में संयुक्त राष्ट्रीय ट्रस्टीशिप परिषद की एक उप-समिति ने, जिसमें एक अमरीकी सदस्य भी था, इस प्रकार का एक कार्यक्रम रखा, तब ब्रिटेन, बेल्जियम, पुर्तगाल और फ्रांस की ओर से तत्काल और स्पष्ट विरोध हुआ।

फिर भी, यही स्थिति है, जिसका आने वाले वर्षों में सामना करने के लिए हममें साहस होना चाहिए। हमें व्यावहारिक मर्यादाओं के अन्तर्गत अन्तिम स्वतंत्रता की दिशा में अफ्रीकी प्रगति के विकास को संगठित, परस्पर सम्बन्धित और प्रोत्साहित करने के साधन के रूप में संयुक्त राष्ट्र-संघ का समर्थन करना चाहिए।

अफ्रीकी नीति के समस्त विचार-विमर्श में एक बात स्पष्ट है कि अमरीकी कूटनीति को अब समझना चाहिए कि अफ्रीका में मौलिक शक्ति के स्रोत अफ्रीकियों के साथ हैं, न कि उनके योरोपीय शासकों के साथ। अन्त में सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण इस विशाल महाद्वीप की जनता निर्णय करेगी कि उनके सामरिक महत्व के धातुओं को कौन प्राप्त करे। सम्पूर्ण कूटनीतिक प्रयास में इसी बात पर अधिक बल है।

शक्ति के ध्रुव

योरोप में हमें बहुत पहले से मालूम है कि जनता और उद्योग के प्रमुख केन्द्र हमारे नीति-निर्माण में प्राथमिक महत्व के थे। जब तक फ्रान्स और पश्चिमी जर्मनी दोनों को शामिल करने वाली एक योरोपीय प्रतिरक्षा-प्रणाली नहीं बन गयी, तब तक हमने प्रतीक्षा की और धैर्य के साथ कार्य किया। हमने यह देख लिया है कि यही पाठ शीघ्र ही अफ्रीका के बिल्कुल भिन्न संदर्भ में भी

लागू होना चाहिए।

एशिया में इसी मौलिक सिद्धान्त के प्राथमिक महत्व की अब और अवहेलना नहीं की जा सकती। आवश्यकता पड़ने पर यद्यपि समस्त असाम्यवादी एशिया की रक्षा करनी चाहिए और उसके अपने लोकतांत्रिक विकास में प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए तथापि प्रबल असाम्यवादी शक्ति के सच्चे ध्रुव भारत और जापान हैं। उन दोनों में मिला कर ४५ करोड ५० लाख लोग हैं, जो विश्व की जनसंख्या का २० प्रतिशत है। चीन की ५८ करोड़ २० लाख मानव-शक्ति के प्रति-सन्तुलन में यही प्रभावशाली एशियाई मानव-शक्ति है।

एशिया के ७५ प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन और लाखों कुशल और निपुण मजदूरों तथा भारत में प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक साधनों के साथ, भारत और जापान चीन के लिए एकमात्र प्रभावशाली एशियाई औद्योगिक प्रति-सन्तुलन हैं। अपने दीर्घकालीन धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा और हाल के वर्षों में गांधी द्वारा गतिशील नवजीवनप्राप्त भारत, एशिया में चीन के लिए कहीं अधिक महत्वपूर्ण आध्यात्मिक और सैद्धान्तिक प्रति-सन्तुलन है।

सामरिक महत्व की दृष्टि से अवस्थित भारत और जापान तथा अपने बीच सामान्य आधार प्राप्त करने के लिए हमारे प्रयत्नों को बढ़ाने में ये बातें प्रोत्साहन दे सकती हैं। एशिया में अपने अन्य सभी वचनों का पालन करते हुए हमें इन दो राष्ट्रों के प्रति विशेष प्राथमिकता का दृष्टिकोण पैदा करना चाहिए, जिनके बिना स्वतंत्र और स्थिर एशिया असंभव है।

चीनी धरती से च्यांगकाई शेक के भगाये जाने के बाद से हम जिन नीतियों का पालन करते आये हैं, उनके बल में इससे कुछ परिवर्तन होता है। हमारी प्राथमिक सामरिक कूटनीति फारमोसा, दक्षिणी कोरिया, फिलीपाइन्स, स्याम और पाकिस्तान पर आधारित है, जिनकी कुल आबादी एशिया की जनसंख्या की केवल १२ प्रतिशत है। हमने प्रायः भारत, बर्मा और हिन्देशिया की स्वतंत्र नीतियों के प्रति, यदि क्षोभ का नहीं, तो उदासीनता का व्यवहार किया है। कभी-कभी यही उदासीनता जापान के प्रति भी प्रकट हुई है।

फिलीपाइन्स में सुधारवादी, लोकप्रिय प्रजातांत्रिक शासन प्रगति कर रहा है और पाकिस्तान में लोकतांत्रिक सदभावना वाले व्यक्तियों के अन्तर्गत वहाँ की सरकार अपने राजनीतिक आधार को व्यापक बनाने का सच्चा प्रयत्न कर रही है। परन्तु सामान्यतः अमरीकी समर्थन के लिए किसी शासन की विशेषताओं को जाँचने की कसौटी साम्यवाद के विरोध की उसकी इच्छा और हमारे नेतृत्व

की स्वीकृति रही है। यदि कभी उन पर विचार हुआ भी है, तो इसके अनुसरण, स्थिरता और राजनीतिक प्रणालियों को गौण स्थान प्रदान किया गया है।

एशिया में उन झण्डियों की पंक्ति, जिन्हें हमारे सैनिक मानचित्रों पर हमारे साथ सैनिक सन्धि करने वाले देशों की घेरेबन्दी दिखाने के लिए लगाया गया है, एक आकर्षक गृहद्वार का रूप प्रदर्शित करती है। परन्तु इन सरकारों में से कोई भी यदि क्रान्तिकारी एशिया की चुनौती का सामना नहीं करती और अपने घर को व्यवस्थित नहीं बनाती, तो वह युद्ध में कब तक जीवित रह सकती है?

भारत, जैसा कि हम देख चुके हैं, अपनी लड़खड़ाती हुई समस्याओं का समाधान लोकतांत्रिक नेतृत्व, अनुनय-विनय, समझौता और आयोजना की प्रणाली के माध्यम से उपलब्ध पूर्ण क्रान्ति के द्वारा करने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रयत्न की अधिकांश अमरीकियों ने, जिन्होंने इसे देखा है, प्रशंसा की है और परिणामों में, भारत के मौन किन्तु स्पष्टतः प्रत्यक्ष प्रतिद्वंदी चीन के साथ उसकी अनुकूल तुलना प्रस्तुत की है।

तथापि शेष राजनीतिक और आर्थिक समस्याएँ, जिन पर पिछले प्रकरणों में विचार हो चुका है, बहुत कठिन हैं। इन समस्याओं के समाधान में भारत की सफलता या विफलता पर अन्ततोगत्वा दक्षिणी एशिया और मध्यपूर्व के सभी देशों की स्थिरता निर्भर करती है।

जो भी एशिया के नक्शे, लोगों और साधनों का अध्ययन करता है, वह इस बात को मानेगा कि भारत की अवहेलना करना, नेहरू के भाषणों पर निराश होकर तथा भारत को तटस्थतावादी कह कर उसकी निन्दा करना, और बात को वहीं छोड़ देना खतरनाक और असामयिक होगा। यदि हमारे पेशेवर 'वास्तविकतावादी' भी लोकतांत्रिक आस्था की भारतीय भावना और हमसे ही उधार लिये विचारों एवं सिद्धान्तों पर उसके जोर देने की उपेक्षा करते हैं और यदि वे पूरी बात अंकात्मक भौगोलिक राजनीति के आधार पर उनके संकीर्णतम अर्थ में रखते हैं, तो क्या वे एक क्षण के लिए भी सोचते हैं कि स्वतंत्र भारत के बिना अधिकांश स्वतंत्र एशिया कैसे जी सकता है?

आन्तरिक समस्याओं के दबाव अथवा अन्य कारणों से चीन धीरे-धीरे विश्व के मामलों में अपने दृष्टिकोण को संशोधित कर सकता है। यदि ऐसा है तो भारत इस संशोधन के जल्दी हो जाने में कुछ सहायता कर सकता है। इस बीच जब कि नेहरू, वाशिंगटन की विदा के समय दी गयी चेतावनी कि

साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ स्थायी गठबन्धन से बचना चाहिए की अपनी एक आधुनिक व्याख्या करते हैं, हमें अपने रक्तचाप को नियंत्रित रखना चाहिए।

जिस प्रकार हम लोगों ने आज से १३० वर्ष पहले मनरो-सिद्धान्त के द्वारा दक्षिणी अमरीका में सुरक्षा पैदा करने में सहायता की, उसी प्रकार यदि भारत अपने पास के दो महत्वपूर्ण क्षेत्रों मध्यपूर्व और दक्षिणपूर्व एशिया में सुरक्षा पैदा करने के दायित्व को समझ लेता है, तो हमारे हितों की वृद्धि ही होगी। हमें इस बात को कभी भी नहीं भूलना चाहिए कि हमारा सच्चा हित एशिया के राष्ट्रों को आँख मूँद कर अपने नेतृत्व में बांध लेने में नहीं है, बल्कि उन्हें अपने ढंग से इस प्रकार अपना स्वदेशी विकास और गतिशील शक्ति उत्पन्न करने में प्रोत्साहन देने में हैं, जो प्रत्यक्ष आक्रमण अथवा विध्वंस के साम्यवादी कुचक्रों को निरुत्साहित करेगा।

यदि विश्व-साम्यवाद अगले दशक में भी उतना ही आक्रमक बना रहता है, जितना वह १९४५ से १९५५ तक था, तो भारत, वर्मा और हिन्देशिया अन्त में खतरे के प्रति जागरूक हो जायेंगे और स्पष्ट विरोध की नीति अपनाने के लिए तैयार हो जायेंगे। जैसा कि संभव प्रतीत होता है, यदि १९५५ का सोवियत विघटन जारी रहता है, तो हमारी कूटनीति की परीक्षा और भी कठिन हो जायेगी।

जापान में हमारी कूटनीति की परीक्षा कुछ भिन्न मापदण्डों से होगी। वहाँ हमारे पास सैनिक समझौते हैं, जिन पर हमें गहरा विश्वास है। जापानी धरती पर हमारे हवाई अड्डे हैं, जिनकी रक्षा १९५५ तक अमरीकी स्थल-सेना ने की थी। कोरिया युद्ध के समय जापान हमारा आवश्यक शस्त्रागार और कार्रवाइयों का आधार था।

परन्तु जो नीति-निर्माता, यह मानते हैं, कि अगले दशक में हम जापान द्वारा अमरीकी नीति के किसी-न-किसी प्रकार के अनुसरण पर निर्भर कर सकते हैं, वे विशेषतः खतरनाक किस्म के सपने देखा करते हैं। हमारे अड्डे विजित द्वारा विजयी को दिये गये हैं। यह दवाव बड़ी होशियारी का और जापान की प्रतिरक्षा के हित में था; परन्तु साथ ही यह एक विदेशी दवाव था और अधिकांश जापानी उसे वैसा ही समझते थे। भारत की भाँति जापान भी आणविक युद्ध के खतरों से बचने के लिए अत्यधिक लालायित है।

जनरल मैकार्थर ने एक बार कहा था, "जापानी यथार्थवादी हैं और एक अति भयानक अनुभव द्वारा व्यापक सर्वनाश के भयंकर प्रभाव को अकेले वे ही

जानते हैं। दो महान विचारधाराओं के वीच सिद्धान्तहीन की भाँति फँसे हुए, वे अपने सीमित भौगोलिक क्षेत्र में अनुभव करते हैं कि एक और युद्ध में, विजयी या विजित किसी की ओर से भी वे उसमें सम्मिलित हों, उलझना कदाचित् उनकी जाति का सर्वनाश कर देगा।"

इन परिस्थितियों में यह आश्चर्य की वात नहीं है कि, जापान में 'तटस्थता-वाद' वढ़ गया है। यदि जापान एशिया का निर्माण करने वाली शक्तियों को समझने की हमारी योग्यता में और अधिक विश्वास नहीं करता, तो यह तटस्थता वढ़ती ही जायगी।

भारत और जापान की उच्चतम महत्ता पर बल देने में मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि हम अन्य एशियाई स्वतंत्र राष्ट्रों की समस्याओं की ओर से निश्चिंत हो जायँ। फिलीपाइन्स, वर्मा, हिन्देशिया, पाकिस्तान, लंका, फारमोसा और दक्षिणी कोरिया, सभी को स्पष्ट रूप से अमरीका की एशिया-सम्बंधी नीति को प्रभावित करने में अपना-अपना महत्वपूर्ण योग देना है।

यदि फारमोसा में एक नये लोकतांत्रिक शासन का विकास होता तो यह द्वीप भी विशेष महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य करता। साक्षरता, भूमि-सुधार और गाँवों में विद्युतीकरण के आधार पर पहले ही से फारमोसा का जीवन-स्तर एशिया के उच्चतम जीवन-स्तरों में से एक है। इसी कारण यह प्रायः निश्चित है कि, स्वतंत्र जनमत-गणना में फारमोसा चीन की दरिद्रताप्राप्त मुख्य भूमि से संलग्न होने से इन्कार कर देगा।

यदि पर्याप्त मात्रा में राजनीतिक स्वतंत्रता प्रदान कर दी जाय और ७० लाख फारमोसावासियों को अपने भाग्य-निर्माण में अन्तिम अधिकार दे दिया जाय, तो कटुता और भ्रम की वर्तमान 'भूलभुलैया' में से धीरे-धीरे एक गतिशील और रचनात्मक समाज का उद्‌भव हो सकता है। यह कहना कि फारमोसा को या तो चीन की मुख्य भूमि को फिर से जीत लेना चाहिए, या अलग होकर साम्यवादी आधिपत्य में आ जाना चाहिए, पराजयवादी प्रवृत्ति का परिचायक है। एक तीसरी संभावना भी है—एक स्वतंत्र विकासशील राष्ट्र, जो अन्ततोगत्वा दूर पूर्व में प्रजातंत्र का एक प्रतीक हो सकता है और चीन की मुख्य धरती तथा अन्यत्र करोड़ों लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत हो सकता है।

फिर भी, अमरीकी नीति-निर्माताओं को यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वतंत्र एशिया के भविष्य की सामरिक महत्व की कुञ्जियाँ भारत और जापान हैं; जिनमें से प्रथम की तो अमरीकियों ने इतनी अवहेलना की और दूसरा पराजित,

अनिश्चित और अधिकाधिक रहस्यपूर्ण है। यदि ये दो राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता और प्रगति को बनायें नहीं रखते, तो जिसे हम आज "स्वतंत्र एशिया" कहते हैं उसे शायद इतिहासकार किसी दिन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद समस्त एशिया में फैली उथलपुथल में एक क्षणिक स्थिति से अधिक कुछ नहीं कह सकेंगे।

विदेशों में अमरीका का स्वरूप

ऐसे युग में, जब कि जनता और विचार गतिशील हैं, अमरीकी कूटनीति को इस तथ्य को भी आत्मसात कर लेना चाहिए कि विदेशी मामलों की व्यक्तिगत सीमा भी अब अधिकाधिक प्रकाश में आती जा रही है। हमारे सम्पूर्ण कूटनीतिक प्रयत्न का एक विकासशील पक्ष, निस्सन्देह वह सरकारी और गैर-सरकारी धारणा है, जो अमरीकी प्रवृत्ति, जीवन और वार्ता से विदेशी ग्रहण करते हैं। प्रति वर्ष हजारों गैर-सरकारी अमरीकी राजदूत आनन्द, व्यापार और शिक्षा के लिए विदेश जाते हैं। प्रत्येक अपना एक व्यक्तिगत प्रभाव डालता है।

ये व्यक्तिगत प्रभाव कुल मिलाकर काफी हद तक हमारे उस रूप की पूर्ति करते हैं, जिसे विदेशी देखते और मान लेते हैं। इन गुणात्मक व्यक्तिगत प्रभावों के सामूहिक प्रभाव की तुलना में हमारे सरकारी अमरीकी सूचना के प्रयास का स्थान गौण है।

सामान्यतया मान्य वह व्यंग चित्र, जिसमें अभिमानी और धन के पुजारी अमरीकियों को नशे में विश्व का चक्कर लगाते और आसानी से शत्रु बनाते दिखाया गया है, अत्यन्त अनुचित है। भारत में मुझे पता लगा कि, युद्ध के दौरान में जिस क्षेत्र में अधिकांश अमरीकी रखे गये थे, वहाँ आज उन्हें सब से अधिक पसन्द किया जाता और समझा जाता है। फिर भी, मुठ्ठीभर विशिष्ट अमरीकी यात्री अमरीकी देश की प्रतिष्ठा पर जो स्थायी आघात पहुँचा सकते हैं, उसकी यों ही उपेक्षा नहीं की जा सकती। सरकारी और गैर-सरकारी दोनों ही तौर पर हमें इसे सुधारने का यथाशक्ति प्रयास करना चाहिए।

सरकारी स्तर पर हमारे सरकारी मिशनों को अनेक प्रकार से सुदृढ़ किया जा सकता है। स्पष्टतः जातीय भेदभावों से ओतप्रोत अमरीकियों को सरकारी कार्यों पर विदेशों में नहीं भेजना चाहिए। फिर भी, एशिया और अफ्रीका में मैं ऐसे एक से अधिक अमरीकी पदाधिकारियों से मिल चुका हूँ, जिन्होंने अनेक अवसरों पर बहुत-कुछ उस दकियानूसी जातिवादी अमरीकी की भाँति ही बात

की और व्यवहार भी किया, जैसा कि रूसी प्रचार में नियमितरूप से दिखाया जाता है।

संयुक्त राज्य अमरीका की सूचना-सेवा और उसकी उत्तराधिकारिणी संयुक्त राज्य सूचना-एजेन्सी ने कठिन परिस्थितियों में यथाशक्ति सेवा की है। उन्होंने अनेक सुयोग्य और कभी-कभी असाधारण व्यक्तियों को आकृष्ट किया है, जिन्होंने बड़ी निष्ठा के साथ अपने समय और प्रतिभा का उपयोग किया है। परन्तु प्रायः कैपिटल हिल पर असहानुभूतिपूर्ण और कभी-कभी अत्यन्त गलत जानकारी वाले कांग्रेसी श्रोताओं को प्रसन्न करने की आवश्यकता, विदेशों में हमारे धन के प्रभावपूर्ण प्रयोग के साथ सदैव मेल नहीं खाती।

इसी कारण यह कहना उचित होगा कि अमरीकी जीवन के विकृत चित्र को, जो विश्व के अनेक भागों में विकसित हो चुका है, कुछ हद तक हमी ने बनाया है। शक्तिशाली, सबल, समृद्ध और सम्पन्न अमरीका के रूप-चित्रण के अपने प्रयास में हमने यह ईर्ष्यालु और घृणित, किन्तु मानवीय आशा पैदा कर दी है कि कहीं हम अपना मजबूत पैर स्वयं ही न काट डालें।

विकृत और नीरस चलचित्रों और हास्य-पुस्तकों (Comic) की धारा से उत्पन्न धर्मसंकट के लिए अभी तक हम कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं प्राप्त कर सके हैं। वे विदेशों में अमरीका के एक रुग्ण और अप्रतिनिधिमूलक चित्र का निर्माण करते हैं। सिद्धान्त के आधार पर सरकारी सेंसरशिप के विरुद्ध हमने आशा की है कि कभी न कभी फिल्म और प्रकाशन उद्योग स्वयं अपना प्रभावशाली आत्मानुशासन स्थापित करेंगे। अभी तक उन्होंने ऐसा नहीं किया है।

सच पूछा जाय तो अन्त में जिस रूप का चित्रण हम विदेशों में करते हैं, वह इतना सुन्दर और आकर्षक कभी नहीं होगा, जितना हम स्वयं हैं। हम जिन सरकारी और गैर-सकारी धारणाओं का निर्माण करते हैं, उनके अन्तर्गत सर्वदा ऐसे गुण होते हैं, जो एक राष्ट्र के रूप में हममें हैं, ऐसे गुण जो हमारी शिक्षा-प्रणाली द्वारा पुष्ट और विकसित हुए हैं।

तथापि आज अमरीकी शिक्षा ही सम्भवतः हमारी एकमात्र महत्वपूर्ण घरेलू समस्या है। कोई भी यह दावा नहीं करता कि, हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति अपने परिणामों के गुण अथवा मात्रा में पर्याप्त है। न केवल हम बाल-अपराध, शिक्षकों के अल्प वेतन और समकालीन विश्वसमस्याओं के मूल्य तत्व से विहीन पाठ्यक्रमों की विभिन्न समस्याओं से परेशान हैं, बल्कि हम अपने प्रतिभाशाली

अमरीकी युवकों की प्रतिभा को भी नष्ट कर रहे हैं। प्रति वर्ष श्रेष्ठ हाई स्कूलों से निकले दो लाख विद्यार्थी कालेजों में प्रवेश ही नहीं करते और इतने ही छात्र प्रविष्ट हो जाने पर भी धनाभाव के कारण वहाँ ठहर नहीं पाते।

यदि इन चार लाख होनहार युवक-युवतियों को उच्च शिक्षा के लाभ प्राप्त होते तो महत्वपूर्ण सोवियत टैक्नालाजिकल प्रतियोगिता में परिणामतः हम बहुत आगे निकल जाते। अपने नागरिकों की बहुत बड़ी संख्या के लिए अमरीका विश्व-मामलों की नयी सीमाओं के साथ व्यवहार के लिए आवश्यक समझदारी, दृष्टिकोणों और क्षमताओं को और व्यापक बनायेगा। शिक्षा-सम्बंधी सुविधाओं का काफी विस्तार, समुन्नत पाठ्यक्रम और कालेजों में योग्य विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए अधिक प्रजातांत्रिक नीतियों का अपनाना ऐसे कार्य हैं, जिन्हें १९५६-६० में कालेजों में प्रवेश के इच्छुक आवेदकों की बाढ़ आने के पूर्व तात्कालिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

शिक्षा-समस्या से सम्बंधित उस चित्र का अत्यन्त विवादास्पद पक्ष है, जिसे हम संसार के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं और जिस पर सार्वजनिक विचार विमर्श होना चाहिए। प्रजातंत्र और साम्यवाद के बीच विचारों की विश्वव्यापी प्रतियोगिता में यह दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि, हम अमरीकावासी साम्यवादी प्रचार के सबसे सुरक्षित लक्ष्य हैं। इसका एक कारण यह है कि हमारे प्रवक्ता बड़ी कठोरता के साथ बातचीत के पुराने ढंग से चिपके हुए हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी की अनुपस्थित स्वतंत्र व्यवसाय-पद्धति की याद दिलाने वाले शब्दों में जब हम बात करते हैं, जिसकी वर्तमान व्यावहारिक अमरीकी आर्थिक प्रणाली से कोई समानता नहीं है, तब हम उन साम्यवादी प्रचार के कारखानों को खुराक पहुँचाते हैं, जो रूढ़िगत पूँजीवादी साम्राज्य-वाद के विरुद्ध घृणा पैदा करने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। प्राचीन अप्रचलित अमरीकी आर्थिक लोकगीत से मेल खाने के लिए अमरीकी राज-नीतिज्ञों द्वारा रचित हमारी अधिकांश वार्ता विदेशों मे हमारे रूप की पूर्ति ठीक उसी प्रकार करती है, जिस प्रकार मास्को उसकी पूर्ति करना चाहता है।

यह एक विरोधाभास है। इस अर्थ में हमारी आर्थिक शब्दावली प्रायः अत्यधिक सैद्धान्तिक है और विश्व के सैद्धान्तिक संघर्ष में अनाकर्षक है। तथापि, जैसा कि हम देख चुके हैं, हमारी राष्ट्रीय अमरीकी आर्थिक प्रथा ने आर्थिक न्याय के समन्वय का सफल प्रयास किया है, जिसने हमारे समाज में उग्रवादी मार्क्सवादी आन्दोलन की प्रगति को रोक दिया है। एक ओर जब

कि अमरीकी व्यवसायी कभी-कभी विश्व में सर्वत्र मान्य आर्थिक आदर्श की भाषा में वातचीत करते हैं, जो एडम स्मिथ के विश्व में भी कभी विद्यमान नहीं था, दूसरी ओर वे मजदूर युनियनों के साथ दीर्घकालिक ठेकों पर हस्ताक्षर करते हैं, जिसमें जीवन निर्वाह व्यय की अंक-सूची के अनुसार संचालन की परिवर्तनशील धाराएँ होती हैं और वे लगभग आश्वस्त वार्षिक वेतन को स्वीकार कर लेते हैं।

फिर भी, समस्त विश्व में लोग हमारे व्यावहारिक न्याय की अपेक्षा हमारी शब्दावली को अधिक अच्छी तरह जानते हैं। जव वे सोचते हैं कि अमरीकी व्यवहार में उन्होंने कुछ प्रशंसनीय गौरवपूर्ण चीज पा ली है, जैसा कि टी. वी. ए. मामले में हुआ, तव उन्हें यह सुनकर गहरा आघात लगता है कि हमारे प्रमुख वक्ता चुपके से प्रवेश करनेवाले समाजवाद के रूप में इसकी निन्दा करते हैं।

काल्पनिक भ्रमों के प्रति इस प्रकार की राजनीतिक मौखिक सेवा विदेशों में हमारा वहुत अहित करती है। अव हम और अधिक वड़े-वड़े अनियंत्रित वक्तव्यों को सहन नहीं कर सकते, जिनका अभ्यस्त हमारा राजनीतिक जीवन हो चुका है। इसके वजाय हमारे राजनीतिक नेताओं को स्पष्ट शब्दों में वात करना सीखना चाहिए, जो दोनों राजनीतिक दलों की वास्तविक सफलताओं पर अपने उचित अभिमान को परिलक्षित करती हो और तव हमारी वात अनसुनी हो जाने पर हम सभी को दुःखी होने का समान अधिकार होगा।

अपने सरकारी सूचना-कार्यक्रम पर पुनर्विचार मुझ में यह विश्वास पैदा करता है कि हम लोग साम्यवाद-विरोधी निषेधात्मक विचारों से पहले ही वहुत अधिक भरे हुए हैं। अव सव लोग जान गये हैं कि हम साम्यवाद के विरोधी हैं। अव लोग हमारे युग की वड़ी समस्याओं पर हमारे निश्चित विचारों को जानने के लिए उत्सुक हैं।

यद्यपि विदेशों में हमारे वहुतेरे पुस्तकालय उपयोगी हैं, तथापि वे और भी उपयोगी हो सकते हैं यदि वे जानवूझ कर स्वतंत्रता के समस्त पक्षों के विधेयात्मक अध्ययन के लिए केन्द्र वनने का प्रयत्न करें। हमारे पुस्तकालय राजनीतिक और आर्थिक प्रजातंत्र के सभी पहलुओं से सम्वन्धित विदेशी और अमरीकी लेखकों की पुस्तकों के व्यापक और मौलिक संकलनों को प्रस्तुत करके अपने प्रभाव को व्यापक वना सकते हैं।

यदि हम अपनी अमरीकी सूचना-सेवा का चार क्रान्तिकारी सिद्धान्तों

पर निर्माण करें, जो मध्यवर्ती विश्व के लोगों को इतना प्रेरित करते आये हैं और जो इस पुस्तक में बार-बार राष्ट्रीय स्वतंत्रता, मानवीय गौरव, आर्थिक प्रगति और शक्ति के रूप में व्यक्त हुए हैं, तो परिणाम उत्साहवर्धक होगा। विश्व के लोग अमरीका की चमक-दमक में अधिक दिलचस्पी नहीं रखते, बल्कि इस बात में दिलचस्पी रखते हैं कि हमने पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने लोकतांत्रिक समाज के सुधार के लिए किस प्रकार निरन्तर संघर्ष किया है, ताकि सबको अधिकाधिक अवसर प्राप्त हो सकें, हमारी समस्याएं उनकी समस्याओं से किस प्रकार सम्बन्धित हैं और हमारी सफलताएँ तथा असफलताएँ भी किस प्रकार उनकी सफलताओं और असफलताओं से सम्बन्धित हैं।

मैं अधिक-से-अधिक जोर देकर सुझाव प्रस्तुत करना चाहता हूँ कि, सूचना-कार्यक्रम किसी भी प्रकार कपड़े धोने के साबुन बेचने के समान नहीं है। बढ़ा-चढ़ाकर और गोलमोल की गयी अपीलें अन्त में न केवल असफल होती हैं, बल्कि इस प्रक्रिया में वे हमें नीचे भी गिरा देती हैं।

अयोग्यता के कारण अथवा विचारहीन काँग्रेस के सदस्यों के दबाव के कारण जब हम खोखले दावे करते हैं और झूठ बोलते हैं, तब लोकतांत्रिक विचार-विमर्श की हमारी पद्धति अतिरंजनाओं का भंडाफोड़ कर देती है। इसका परिणाम यह होता है कि तटस्थ लोगों को, जिनमें से सभी एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका में नहीं रहते, विश्वास हो जाता है कि मास्को और वाशिंगटन की कुटिल अपीलों में कोई भी चुनने योग्य नहीं है और दोनो में से किसी पर भी भरोसा नहीं किया जा सकता।

मनोवैज्ञानिक युद्ध गोबेल्स और स्तालिन से उधार लिया गया सनकीपने का कार्य है। यदि अपनी गतिविधियों का वर्णन करने के लिए हम इसके उपयोग के लिए आग्रह करते हैं, तो विश्व के उन करोड़ों लोगों के सम्मान को हम खोते जायेंगे, जो इस विश्वास पर पले हैं कि, अमरीका एक चतुर युक्ति अथवा एक खब्ती कूटनीति से परे कुछ और है।

हमारी सूचना सच्ची, निश्चित और सही होनी चाहिए। अच्छे उद्देश्य के लिए भी बेईमानी, बेईमानी ही है और जो उसका आचरण करता है, उसका मूल्य अनिवार्य रूप से वह घटा देती है।

एकतंत्रवादी शासन के सूचना-कार्यक्रम को अपने झूठे दावों के भंडाफोड़ के लिए, अपने देश में लोकतांत्रिक आलोचना के बिना कार्यान्वित होने का कूटनीतिक लाभ रहता है। वह इस मान्यता पर फूलता-फलता है कि लोग

जो कुछ सत्य समझते हैं, वह प्रायः उतना ही महत्वपूर्ण होता है जितना वास्तविक सत्य। विश्व के अनेक भागों में सोवियत-शान्ति-अभियान की सफलता, जिसका प्रतीक पिकासो के शान्ति-कपोत के रूप में भ्रामक ढंग से प्रस्तुत किया गया है, इस समस्या का अगम्य उदाहरण रही है। अधिकांश विश्व में पिछले कई वर्षों में यह एक लोकप्रिय धारणा रही है कि सोवियत संघ, न कि संयुक्त राज्य अमरीका, अस्त्रों की होड़ को रोकने के लिए सबसे अधिक आग्रह करता रहा है। विदेशों में अमरीका के स्वरूप को अन्य कोई धारणा इतना नुकसान नहीं पहुँचा सकती।

निःशस्त्रीकरण : बहाना या वायदा ?

१९४७ से, सोवियत आक्रमण और विध्वंस का खतरा जब हम पर पूर्णरूपेण प्रकट हो गया, तब से अधिकांश अमरीकी यह मानने लगे कि इसका रूप और सीमा औरों पर भी उसी प्रकार प्रकट हो गये हैं। इसके कारण हम शान्ति और निःशस्त्रीकरण के रूसी प्रचार की प्रभावशीलता को कम आँकने लगे हैं।

मास्को के इरादों के प्रति हमारी अनिश्चितता के बावजूद शान्ति और निःशस्त्रीकरण के रूसी दावे आज व्यापक रूप से मान्य हैं। असाम्यवादी जगत भर में, हमारे साथियों और तटस्थतावादियों के मध्य अधिकांश लोगों ने इस विश्वास को कस कर पकड़ लिया है कि, सोवियत संघ और संयुक्त-राज्य अमरीका के बीच शान्ति संभव है। यह दुर्भाग्य की बात है कि कुछ अमरीकी सेनानियों और राजनीतिक नेताओं की आलोचनाओं को, विदेशों में लोगों ने व्यापक रूप से शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के विरुद्ध माना है। जनेवा में राष्ट्राध्यक्ष आइसनहोवर ने अपने सच्चे और निष्कपट वक्तव्यों से अमरीका के शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के प्रति फिर से विश्वास पैदा करने में सहायता की।

विदेशों में यह व्यापक विश्वास कि शान्ति संभव है, अनेक दबावों और भावनाओं की जटिलता से उत्पन्न हुआ है, जिस में आणविक विनाश का भय, दो विश्वयुद्धों के भयानक संस्मरण, विदेशी प्रभुत्व, शान्ति और सद्भावना के लिए मनुष्य की गहरी अभिलाषा सम्मिलित हैं। इसका पोषण १९५५ में सोवियत रुखों में परिवर्तन के द्वारा बड़े नाटकीय ढंग से हुआ था।

१९५५ के जाड़े में दक्षिण एशिया, अफ्रीका और ब्रिटेन में भी मैंने पता

लगाया कि, अणुशक्ति नियंत्रण और निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी अमरीका के प्रारम्भिक कल्पनायुक्त प्रस्ताव या तो अज्ञात थे, या भुला दिये गये थे। युद्ध के वाद हमारे सूचना-विभाग की यह एक वहुत वड़ी असफलता है।

इसको समझा सकना और भी कठिन है, क्योंकि हमारा मसला बहुत ही वढ़िया है। अपने युद्धकालीन मित्र, रूस की सद्भावना पर भरोसा करके संयुक्त राज्य अमरीका ने तुरन्त ही द्वितीय विश्व-युद्ध के वाद अपनी सैन्य शक्ति का विघटन कर दिया। अणुवम के आविष्कार के वाद एक वर्ष से भी कम समय में, रूस ने यह प्रस्ताव किया कि आणविक शक्ति के अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ एक प्रभावशाली आयोजना तैयार करे।

उसी वर्ष, संयुक्त राष्ट्र संघ मे अमरीकी प्रतिनिधि, बर्नार्ड बरुच ने अणु-शक्ति नियंत्रण और विकास के लिए हमारी रचनात्मक और साहसपूर्ण योजना प्रस्तुत की। १९४९ में कुछ साधारण संशोधन के वाद इस प्रस्ताव को वृहत्सभा का जबर्दस्त समर्थन प्राप्त हुआ। इसको स्वीकार करने में वृहत्सभा ने स्पष्ट रूप से माना कि, शस्त्रीकरण के क्षेत्र की भाँति अणुशक्ति के नियंत्रण-क्षेत्र में भी, अस्त्र-निर्माण के रोकने के कागजी वायदे अपर्याप्त थे। समस्या का केन्द्रविन्दु संयुक्त-राष्ट्र की टोलियों के अन्तरराष्ट्रीय पर्यवेक्षण द्वारा संसार को यह भरोसा दिलाने में है कि एक वार किये गये वायदे पूरे किये जा रहे हैं।

वाद के महीनों में सोवियत यूनियन ने संयुक्त राष्ट्रीय अणुशक्ति-आयोग और परम्परागत शस्त्रीकरण सम्वन्धी संयुक्त राष्ट्रीय आयोग में वारम्बार प्रगति में वाधा प्रस्तुत की है, जव सामान्य निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव पर विचार-विमर्श हो रहा था। प्रथम आयोग में सोवियत यूनियन ने अणुशक्ति-योजना के नियंत्रक तत्वों को एकदम ठुकरा दिया। दूसरे आयोग में भी उसने उसी जोर के साथ सामान्य शस्त्रीकरण को प्रकट और प्रमाणित करने की प्रणाली के प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

१९५१ में गतिरोध समाप्त करने के प्रयत्न में, संयुक्त राज्य अमरीका ने एक नये आयोग के द्वारा, जो आणविक और परम्परागत दोनों अस्त्रों पर विचार करेगा, निःशस्त्रीकरण के नये मार्ग को प्रस्तावित करने में ब्रिटेन और फ्रान्स का साथ दिया। इस आयोग की स्थापना वृहत्सभा के मतों

अप्रैल, १९५२ में अमरीकी सदस्य ने प्रस्ताव रखा कि सब

फ्रैंकलिन रूजवैल्ट के पद 'भय से मुक्ति' के उनके अर्थ को

स्वीकार करना चाहिए। इसमें शस्त्रीकरण की विश्वव्यापी

और इस ढंग से आ जायगी कि विश्व में कहीं भी कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध भौतिक आक्रमण करने के स्थिति में नहीं होगा।

अमरीकी सदस्य ने अनेक 'आवश्यक सिद्धान्तों' की एक शृंखला प्रस्तावित की, जिसमें अणुवम सहित सभी प्रकार के अस्त्रों के निःशस्त्रीकरण का क्रमिक कार्यक्रम रखा गया था। उसने 'सौदेवाजी की प्रक्रिया' के विरुद्ध चेतावनी दी और कहा कि राष्ट्रों को अव अपनी शक्ति के लिए सेना की उन टुकड़ियों और अस्त्रों पर नही निर्भर करना चाहिए, जिनका वे किसी भी क्षण सूचना मिलने पर प्रयोग कर सकते हैं, वल्कि अपनी जनता के स्वास्थ्य, सुख और आर्थिक शक्ति पर निर्भर करना चाहिए।

एक महीने वाद अमरीकी, फ्रान्सीसी और ब्रिटिश प्रतनिधियों ने सशस्त्र सेना की संख्यात्मक सीमा के लिए अपने प्रस्ताव रखे—रूस, चीन और संयुक्त राज्य अमरीका प्रत्येक १० लाख से १५ लाख तक, फ्रान्स और इंग्लैण्ड प्रत्येक ६,५०,००० और प्रत्येक अन्य देश १,५०,००० से २,००,००० तक। इन सभी प्रस्तावों का पहले तो मजाक उड़ाया गया और वाद में इन्हें ठुकरा दिया गया।

१९५४ के पतझड़ में सोवियत संघ ने अपनी स्थिति में संशोधन करना प्रारम्भ किया। राजनीतिक विघटन में, जो अगले वसन्त में आरम्भ हुआ, मास्को अचानक उन स्थितियों को स्वीकार करता हुआ प्रतीत हुआ, जिनका अटलांटिक राष्ट्रों ने दीर्घ काल से समर्थन किया था और सोवियत प्रवक्ताओं ने वार-वार निन्दा की थी। १९५५ के सोवियत प्रस्ताव की अधिकांश भाषा निश्चयात्मक नहीं थी, उसमें संभवतः वच निकलने की अनेक धाराएँ थीं। फिर भी सोवियत संघ, पश्चिमी मित्रों द्वारा प्रस्तावित सशस्त्र-सेना की सीमा, धीरे-धीरे निःशस्त्रीकरण का संशोधित कार्यक्रम, किसी प्रकार का एक ही नियंत्रण-विभाग और कम-से-कम, वन्दरगाहों और हवाई अड्डों की सुविधाओं के निरीक्षण को स्वीकार करने के लिए तैयार जान पड़ा।

सोवियत कठोरता में लचीलेपन के इस अभाव से यह और भी अधिक महत्वपूर्ण है कि निःशस्त्रीकरण की दिशा में अमरीकी प्रयत्नों की कहानी को विदेशों में प्रभावपूर्ण ढंग से वार-वार दुहराया जाय। यदि, जैसा कि वहुतों को सन्देह है, समस्या के सम्वन्ध में क्रैमलिन के रुख में वास्तविक परिवर्तन हो, तो हमें गम्भीर विचार-विनिमय के लिए तैयार रहना चाहिए। निःशस्त्रीकरण के मामलों पर राष्ट्राध्यक्ष के विशेष सहायक के रूप में एक मंत्रिमण्डलीय

पद की रचना, निःशस्त्रीकरण के प्रश्न के सभी पक्षों के संयोजन, विश्लेषण और नाटकीयकरण में अमूल्य सहायता प्रदान कर सकती है।

निःशस्त्रीकरण-वार्ता के लम्बे इतिहास में पहली वार यह संभावना प्रकट हुई है कि युद्ध के अस्त्रों के व्यापक ढाँचे को भंग कर देने की प्रारम्भिक कार्रवाइयों पर प्रमुख सशस्त्र शक्तियाँ समझौता कर सकती हैं। अभी तक निःशस्त्रीकरण पर कठोर और दुराग्रही सोवियत नीति के सम्मुख संयुक्त राज्य अमरीका व्यावहारिक, राजनीतिक कठिनाइयों से वचने में सफल रहा है, जिसमें निःशस्त्रीकरण के लिए सीधे प्रयत्नों की आवश्यकता होती। हम अपने निःशस्त्रीकरण के प्रस्तावों के वारे में गम्भीर रहे हैं, परन्तु रूसी दुराग्रह के कारण हमें उन समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ा, जो इन प्रस्तावों की स्वीकृति से पैदा हो सकती थीं।

अव पहली वार हमें उन समस्याओं का सामना करना है और वे उन चार प्रमुख प्रश्नों के चारों ओर चक्कर काटती हैं, जो निःशस्त्रीकरण के सम्पूर्ण प्रश्न के प्रति हमारी मूल धारणा से संलग्न हैं—क्या निःशस्त्रीकरण सचमुच अव भी हमारे हित में है? क्या आणविक निःशस्त्रीकरण हमको वर्तमान की अपेक्षा अधिक या कम सुरक्षित वनायेगा, अर्थात् क्या नियंत्रण की व्यावहारिक प्रणाली का निर्माण संभव है? यदि इन प्रश्नों का उत्तर स्वीकारात्मक है, तो क्या ऐसा समझौता राजनीतिक दृष्टि से व्यवहारिक होगा? अन्त में, यदि सोवियत संघ द्वारा प्रस्तुत प्रकट रूप से सच्चे और व्यावहारिक प्रस्ताव को स्वीकार करने में हम असफल रहे, तो परिणाम क्या होंगे?

यह वात कि हमें अपने-आपसे पूछना चाहिए कि निःशस्त्रीकरण क्या अभी भी हमारे राष्ट्रीय हित में है, इस वात की द्योतक है कि हम लोग सफलता-पूर्वक लम्वी अवधि तक पूर्ण संकट में रहने के आदी हो गये हैं। इस भावना को इतने व्यापक रूप में स्वीकार कर लिया गया है कि शान्ति का एकमात्र आधार एक प्रकार का संतुलित आतंक हो गया है, और हम प्रायः यह भूलते प्रतीत होते हैं कि 'शान्ति' और 'आतंक' कभी कितने परस्पर-विरोधी प्रतीत होते थे और हमारी स्थिति कितनी खतरनाक है।

यदि शान्ति आतंक पर निर्भर है, तो हम अव भी निरन्तर आतंक की दया पर हैं और हमें पिछली पीढ़ी की अपेक्षा कहीं अधिक भयानक ढंग के खतरों का मुकावला करना है। युद्ध के वाद से करोड़ों लोगों के जीवन से सम्वन्धित अन्तिम निर्णय विश्व के मुट्ठी भर नेताओं के हाथ में हैं। जव आणविक सैन्य-

शक्ति अधिक राष्ट्रों को प्राप्त हो जायगी तो खतरे और भी बढ़ जायेंगे।

निःशस्त्रीकरण का कोई भी कार्यक्रम, जो इन खतरों को कम कर सकता है; निश्चित रूप से केवल हमारे राष्ट्रीय हित में है, बल्कि सरकार के उच्चतम स्तरों और विचारशील नागरिकों पर अविचलित और निरन्तर ध्यान की कोटियाँ बनाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

अभी तक निःशस्त्रीकरण की सभी बातें कार्यान्वय के मसले पर अटक कर रह गयीं। क्या शस्त्रीकरण के नियंत्रण की व्यावहारिक प्रणाली के लिए संभावनाएँ सचमुच सुधर गयी हैं? हमें इस तथ्य का सामना करना पड़ सकता है कि निकट भविष्य में कोई भी निःशस्त्रीकरण की ऐसी आयोजना नहीं प्रस्तुत कर सकता, जो शत-प्रतिशत सुरक्षित हो। टेक्निकल कठिनाइयाँ ही न जाने कितनी हैं, और कम-से-कम प्रारम्भिक स्थितियों में पूर्ण कार्यान्वय के लिए आवश्यक सूचना तक पहुँच के लिए कुछ सम्बंधित सरकारों की दीर्घ-कालीन राजनीतिक परम्पराओं में एकदम परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ेगी।

हमें यह भी मालूम हो सकता है कि, हमें अपने प्रथम व्यावहारिक उद्देश्य को एक चेतावनी-प्रणाली तक सीमित करना पड़ेगा, जिसका उद्देश्य पहले से किसी आक्रामक सैनिक तैयारी और ऐसे भारी और अचानक आक्रमण को रोकना हो, जो अपने पहले ही प्रहार में निर्णायक सिद्ध हो सकता है।

यदि ऐसी अग्रिम सूचना देनेवाली प्रणाली के कार्य आरम्भ करने से पारस्परिक विश्वास बढ़ता है, तो भावी कार्रवाई के लिए काम आसन हो जायेगा। उसके बाद रुढ़िगत अस्त्रों पर संख्यात्मक नियंत्रण शुरू हो सकता है, जिसके साथ आणविक शक्ति में कटौती भी शामिल होगी। यह स्पष्ट है कि आणविक और रूढ़िगत दोनों अस्त्रों के निःशस्त्रीकरण का कार्य एक साथ ही चलना चाहिए।

संभव है कि हमें पाँच या दस वर्षों तक निःशस्त्रीकरण की क्रमिक स्थितियों का अनुभव करना पड़े। प्रारम्भिक समझौतों की अपूर्णताओं को बाद के सुधरे हुए कार्यान्वय में विलय किया जा सकता है। इस प्रकिया को जारी रखने के लिए आवश्यक सद्भावना पैदा करने में स्वयं अनुभव अत्यन्त आवश्यक सिद्ध हो सकता है। किसी भी स्थिति में आज के अनिश्चित आतंक की अपेक्षा आशापूर्ण प्रयोग श्रेयस्कर होगा।

निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया कीं प्रारम्भ करने और जारी रखने की राज-

नीतिक व्यावहारिकता क्या होगी ? क्या प्रारम्भिक समझौते भी राजनीतिक दृष्टि से व्यवहारिक होंगे ? क्या वे संधि के रूप में संयुक्त राज्य अमरीका की सिनेट में दो तिहाई वहुमत प्राप्त कर सकेंगे ? क्या हम एक अन्तरराष्ट्रीय जाँच-अभिकरण का विश्वास करेंगे, जिसमें ओकरिज या अन्य किसी स्थान पर जाँच के लिए एक रूसी इन्सपेक्टर होगा ?

जनेवा में रूसियों के समक्ष राष्ट्राध्यक्ष आइसनहावर के प्रस्तावों के प्रति, जिनमें सैनिक प्रतिष्ठानों के नीलपत्रों के आदान-प्रदान और एक-दूसरे की प्रतिरक्षा-सुविधाओं के हवाई निरीक्षण की माँग की गयी थी, अधिकांश अमरीकियों की स्वीकारात्मक प्रतिक्रिया यह संकेत करती है कि जनमत इस प्रकार के प्रस्तावों को स्वीकार करने के लिए तैयार हो सकता है।

निःशस्त्रीकरण-समझौतों के विरोध में सच्चे संदेह करनेवाले होंगे और वे भी होंगे जो अपने आणविक अस्त्रों पर किसी प्रकार के प्रतिवन्ध का खुलकर विरोध करते हैं। एक वात और भी है, जो विलकुल प्रत्यक्ष नहीं, फिर भी बुरी तरह से उलझी हुई है। वह यह कि हमारी अधिकांश राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था ३० अरव डालर प्रतिरक्षा-वजट से वँधी हुई है। लाखों व्यक्ति प्रतिरक्षा-सम्बन्धी सामग्री वनाने के कार्य में लगे हुए हैं। यदि शस्त्रों के व्यय में वड़ी कमी की जाती है तो अमरीका में ऐसा कोई भी वड़ा समुदाय नहीं है, जो आर्थिक परिवर्तन के प्रभाव का अनुभव नहीं करेगा।

धीरे-धीरे किये जाने वाले निःशस्त्रीकरण की अर्थव्यवस्था का संक्रमण-काल कठिन होगा और व्यवस्था को सरल वनाने के लिए व्यवसाय तथा सरकार दोनों के कल्पनाशील और सहानुभूतिपूर्ण नेतृत्व की आवश्यकता होगी। जव तक युद्ध के लिए निर्धारित अपार निधियों को उत्पादक और शान्तिकालीन खर्चों के लिए हस्तान्तरित नहीं किया जायगा, तव तक राजनीतिक दवाव वहुत अधिक होगा। फिर भी अमरीका की भाँति जिस राष्ट्र को नये स्कूलों, नयी सड़कों और नये स्वास्थ्य-कार्यक्रमों की अत्यधिक आवश्यकता है, उसे निःशस्त्रीकरण के आर्थिक प्रभावों से घवड़ाना नहीं चाहिए।

इन संभाव्य वाधाओं के विना भी निःशस्त्रीकरण एक जटिल विषय है, और इसके सम्वन्ध में सतर्कतापूर्वक आशावादी से अधिक होना वेवकूफी होगी। फिर भी हम एक ऐसे विन्दु तक पहुँच गये हैं, जहाँ यह युग-प्राचीन मान्यता कि निःशस्त्रीकरण काल्पनिक है, निराशापूर्ण अस्वीकार्य सलाह वन गयी है। हमारी समस्याओं की निर्णायक नवीनता के सम्मुख, सर्वत्र लोग

अपने नेताओं से युद्ध को समाप्त करने के लिए अद्वितीय प्रयत्नों से कम की माँग नहीं कर रहे हैं।

जनेवा में आशा का प्रमुख आन्तरिक आधार सभी पक्षों में यह पारस्परिक विश्वास था कि युद्ध अन्ततः नीति का असंभव साधन बन गया है। दृष्टिकोणों और उद्देश्यों में व्यापक अन्तर पाये गये, परन्तु स्पष्ट मान्यता यह थी कि, इन मतभेदों के गम्भीर होते हुए भी, अब युद्ध उनका स्वीकार्य समाधान नहीं था।

यह सामान्य मान्यता ही विश्व-राजनीति की एक नयी सीमा है और यह अधिकतम महत्व की है।

अन्य बातों के साथ, उनका अर्थ यह है कि निषेधात्मक नीतियों को अब विश्व-जनमत सहन नहीं करेगा। सोवियत प्रस्तावों पर ध्यानपूर्वक, गम्भीरता से और प्रत्यक्ष रूप से इस संकल्प के साथ विचार करना चाहिए कि, यदि कोई समाधान प्राप्त नहीं होता तो इसका कारण यह नहीं होगा कि हममें कल्पना या संकल्प का अभाव था। हमारी मैत्री, तटस्थता के विकास और हमारे विदेशी अड्डों पर विनाशकारी प्रभाव पड़ेगा, यदि हम निःशस्त्रीकरण की दिशा में दूसरों द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रस्तावों का तिरस्कार करते प्रतीत होंगे अथवा यदि हम अन्यथा अपनी सद्भावना प्रदर्शित करने में असफल रहेंगे। हमको सतर्कतापूर्वक, किन्तु ईमानदारी के साथ, न केवल दूसरों के प्रस्तावों का प्रत्युत्तर देते हुए, बल्कि सक्रिय रूप से अपना भी प्रस्तुत करते हुए, और अनिवार्य रूप से परिव्याप्त खतरों के प्रति न केवल जागरूक होकर, बल्कि अद्वितीय अवसरों को पहचानते हुए भी आगे बढ़ना चाहिए।

जैसा कि हम देख चुके हैं, हमे माध्यमिक कार्रवाई से प्रारम्भ करना आवश्यक हो सकता है, किन्तु वर्षों तक प्रभावशाली होने के लिए निरस्त्रीकरण को मौलिक और व्यापक होना पड़ेगा। यदि इसका उद्देश्य कुछ चुने हुए हथियारों के नियमन तक ही सीमित रहता है, तो यह सफल नहीं हो सकता। इसमें अन्ततोगत्वा युद्ध का अन्त समाविष्ट होना चाहिए?

२० जनवरी, १९५५ को लास एंजेल्स में 'अमरीकी लीजन कन्वेशन' के सम्मुख जनरल डगलस मैकार्थर ने अपने उल्लेखनीय भाषण में हमारे युग के मुख्य प्रश्न को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया—"क्या हम एक आत्मघातक युद्ध के लिए निरन्तर बढ़ती हुई तैयारी का घातक दण्ड पीढ़ियों तक भोगते रहेंगे, जब कि बीच-बीच में शस्त्रीकरण के प्रतिबंधों और आणविक अस्त्रों के प्रयोग पर नियंत्रणों जैसे उपचारों के साथ हम खिलवाड़ कर रहे हैं?"

जनरल ने यह भी कहा कि युद्ध की समाप्ति से कम हमारा लक्ष्य नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा संभव हुआ, तो "ईसा के पर्वत पर के उपदेशों" के बाद वह सभ्यता में सबसे बड़ी प्रगति का परिचायक होगा, क्योंकि इस अवस्था में युद्ध की तैयारी में खर्च होनेवाले अरबों डालर भूमण्डल की दरिद्रता का मूलोच्छेदन कर सकते हैं।

उन्होंने अनुभव किया कि राष्ट्रीय विनाश के खतरों के साथ वर्तमान तनाव को दो बड़े भ्रमों के कारण कायम रखा जा रहा है। ये भ्रम, एक ओर अमरीका की और दूसरी ओर सोवियत रूस की धारणाएँ हैं कि कभी-न-कभी उसका विपक्षी आक्रमण करना चाहता है। जनरल का विश्वास था कि दोनों भूल कर रहे हैं, क्योंकि किसी भी पक्ष से युद्ध का अर्थ विनाश ही होगा।

मैकार्थर ने आगे कहा, "समस्या नेतृत्व की है। विश्व के नेताओं की जो तीव्र आलोचना हम कर सकते हैं, वह यह कि उनमें आयोजना का अभाव है। ऐसा एक महापुरुष कब सत्ता प्राप्त करेगा, जिसमें शान्ति की इस विश्वव्यापी इच्छा को कार्यान्वित करने की कल्पना और हिम्मत हो? बड़ी शीघ्रता के साथ यह एक आवश्यकता बनती जा रही है।"

मैकार्थर ने इस बात पर बल दिया कि अब हम एक नये युग में हैं। पुराने तरीके अब और अधिक काम नहीं देंगे। अब हमको पुराने बंधनों को तोड़ कर बाहर आ जाना चाहिए। नेतृत्व के लिए सर्वदा एक नेता होना चाहिए और वह नेता हमी को होना चाहिए। अब हमको विश्व की बड़ी शक्तियों के साथ युद्ध को समाप्त कर देने की अपनी तत्परता की घोषणा करनी चाहिए। परिणाम चमत्कारपूर्ण हो सकता है।

सचमुच यह संभव है।

पूर्व उल्लिखित अन्य क्षेत्रों की भाँति निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में यदि हम उसका उपयोग करें तो हमारे पास संयुक्तराष्ट्र संघ को उसे निरीक्षण और कार्यान्वय का अधिकार देकर उसे सुदृढ़ बनाने का अवसर है। विश्व की इतनी अधिक महत्वाकांक्षाओं का समावेश करनेवाली अन्य कोई संस्था नहीं है। संयुक्तराष्ट्र के घोषणा-पत्र की धारा १ में निहित, दो महान उद्देश्य युद्ध और वर्ग की दो विशाल समस्याओं के समाधान की आशा दिलाते हैं!

१. अन्तरराष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को कायम रखना और इस उद्देश्य से शान्ति के लिए खतरों को रोकने और हटाने के लिए प्रभावपूर्ण सामूहिक कार्रवाई करना।

२. विश्व की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा मानवीय समस्याओं के समाधान में अन्तरराष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना।

विभिन्न प्रकार से हम पहले ही सुझाव दे चुके हैं कि इन निश्चित सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान में संयुक्त राष्ट्र का कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण हो सकता है। यदि संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता बढ़ा दी जाय, तो अर्ध-विकसित जगत के और राष्ट्रों के प्रवेश से ऐसी समस्याओं पर और भी अधिक ध्यान केन्द्रित होगा। अपने अस्तित्व के प्रथम दशक में संयुक्त राष्ट्र (U.N.) ने राजनीतिक क्षेत्र में विश्व-शान्ति के लिए मूल्यवान योगदान किया— ईरान से सोवियत सेना की तथा सीरिया और लेबनान से ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी सेनाओं की वापसी, यूनान की सीमान्त घटनाओं की जाँच-पड़ताल, फिलस्तीन के संघर्ष को संभालना, हिन्देशिया में युद्धबन्दी, कोरियाई युद्ध में हस्तक्षेप और विराम सन्धि की वार्ता और चीन में संयुक्त राज्य अमरीका के कैदियों के सम्बन्ध में बातचीत।

यदि संयुक्त राष्ट्र संघ निःशस्त्रीकरण-नियंत्रण के प्रमुख क्षेत्र में दृढ़ता के साथ कार्रवाई करे, तो उसके प्रयास इसे नयी पहल प्रदान कर सकते हैं, जो इसकी अतीतकालीन सभी सफलताओं से बढ़ कर होगी।

यदि ऐसे उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना है तो संयुक्त राष्ट्र को सचमुच प्रभावशाली होने के लिए पर्याप्त व्यापक प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र के प्रति दो विभिन्न रुखों ने, सदस्यता के लिए बीसियों से भी अधिक आवदेन-पत्रों पर, जिनको अभी तक ठुकरा दिया गया है, निर्णय नहीं करने दिया। एक रुख संयुक्त राष्ट्र को एक ही प्रकृति वाले राष्ट्रों का गुट्ट मानता है, जिनका प्राथमिक उद्देश्य कतिपय सीमित, किन्तु स्वीकृत राजनीतिक लक्ष्यों को सुरक्षित रखना है। इस दृष्टिकोण से, जिसका अनुसरण समय-समय पर रूस और अमरीका दोनों ने किया है, शीत-युद्ध में सहायक प्रतीत होने पर संयुक्त राष्ट्र का मान किया गया, अन्यथा उसका कोई मूल्य नहीं समझा गया।

दूसरा रुख संयुक्त राष्ट्र को एक सभामंच के रूप में मानता है, जिसका मुख्य भावी लाभ उसकी सदस्यता की सार्वभौमिकता में निहित है, जहाँ विश्व-कार्य-सूची की वास्तविक समस्याओं पर विचार-विमर्श हो सकता है और प्रभावशाली ढंग से उन्हें पूरा किया जा सकता है। कदाचित् तनाव के क्षीण होने की अवधि में यह अधिक आशापूर्ण विकल्प अन्ततः मान्य हो सकता है।

सैंतीसवाँ प्रकरण

अवसर के अनुकूल कार्य

इस पुस्तक में हम देख चुके हैं कि शान्ति के नयी सीमाएँ बहुपक्षीय हैं। हम आणविक अस्त्रों से उस शान्तिपूर्ण विश्व की रचना नहीं कर सकते, जिसकी अत्यन्त आवश्यकता है। विश्वास, विचार और समझदारी के बिना हमारे डालर भी बिलकुल ही अपर्याप्त हैं। संगीन की नोकों पर हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उसे खरीदने में डालरों का प्रयोग नहीं कर सकते।

हम आणविक गतिरोध से शान्ति के प्रारम्भ तक भी नहीं पहुँच सकते, जब तक हम साधारण मानवता से समझौता नहीं कर लेते। मनुष्य केवल रोटियों के सहारे नहीं जीता। उसे न्याय चाहिए; उसे स्वतंत्रता चाहिए; उसे बन्धुता चाहिए।

समझने के अपने प्रयत्न-स्वरूप हमें आज की विश्वक्रान्ति के मूल तत्व को प्रत्यक्ष देखने के लिए हमें साहस और कल्पना से काम लेना चाहिए और विश्वास-पूर्वक उसे अपना कहने का दावा करना चाहिए। १७७६ में स्वतंत्रता-भवन मे इसका जन्म हुआ था और इसके लिए हमें क्षमाप्रार्थी होने का कोई कारण नहीं है। आज की भाँति भी उस समय उसका उद्देश्य मानव-मन और मस्तिष्क को हर प्रकार के अत्याचार से मुक्त करना था।

क्या आधुनिक अमरीका, अपनी समृद्धि और परिपक्वता की अवधि में विलियम जेम्स के शब्दों में, "हमारी सुषुप्त क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों" को सचेत कर सकता है? क्या हममें विश्व को दायित्वपूर्ण परिवर्तन के मार्ग से ले चलने की सामर्थ्य है? क्या हममें एक व्यापक और कल्पनाशील विश्वनीति को प्रारम्भ करने और उसे कायम रखने की सामर्थ्य है? क्या हम वाशिंगटन में आवश्यक नेतृत्व का और जोन्सपोर्ट, टोरिंगटन, एक्रीन और फोर्टवर्थ में आवश्यक जन-समर्थन का आवाहन कर सकते हैं?

हम इस भयानक चुनौती को अनेक लाभों के साथ सामना करते हैं। उनमें से अमरीकी उत्पादन क्षमता, यंत्र, कुशलता और सम्पत्ति की क्रमिक अंकात्मक तालिका है, जो प्रायः अमरीकियों और विदेशियों, दोनों के लिए, अमरीकी सफलताओं और शक्ति का अन्तिम मापदण्ड प्रस्तुत करती है।

तथापि यदि यही अमरीकी शक्ति की पूर्ण माप होती, तो अगली पीढ़ी में ही हमारा समाज टोयन्वी की इतिहास की चट्टानों पर चूर-चूर होनेवाली प्रारम्भिक सभ्यताओं की सूची में आसानी से सम्मिलित हो सकता था। समकालीन पर्यवेक्षकों के लिए असीरिया, रोम और नैपोलियन के साम्राज्य कभी उतने ही सर्वशक्तिमान प्रतीत हुए होंगे, जितना आज अमरीका दिखायी पड़ता है।

परन्तु आधुनिक अमरीका वमों, वायुसेना, फौलाद के कारखानों और भीड़ से भरे राजपथों की संयुक्त शक्ति से कहीं अधिक है। यह राष्ट्र-निर्माण के लिए चार शताब्दियों से एक स्वतंत्र राष्ट्र के संघर्ष की चरम सीमा है, जिसमें जीवन के अविच्छेद्य अधिकार, स्वतंत्रता और सुख के प्रयास सुरक्षित होंगे।

अमरीकी प्रजातंत्र ने उस शाश्वत चुनौती को खुशी के साथ स्वीकार कर लिया है और हम परिणाम पर गर्व कर सकते हैं। हमारे जो परिवार आज भी अपने ऊपर अभिजातीयता की शान चढ़ाये हुए हैं, कल उत्पन्न हुए और कल विलुप्त हो जायेंगे। अमरीकी नेताओं की किसी भी प्रतिनिध्यात्मक सूची से प्रकट होता है कि, उनके पिता और पितामह, उनसे भिन्न, किसान, सीमान्त-रक्षक, मजदूर अथवा 'केविन-वाय' (चौकी के लड़के) थे और उन्होंने अपनी अधिकतर निष्ठा, ईमानदारी और व्यक्तिगत योग्यता से ही ख्याति प्राप्त की थी।

पिछली शताब्दी में हमने तीन करोड़ प्रवासियों को आत्मसात कर लिया है और आज अमरीकियों में विश्व के अक्षरशः सभी जातीय, धार्मिक और राष्ट्रीय तत्वों का समावेश है। फ्रैंकलिन रुजवेल्ट ने एक बार "अमरीकी क्रान्ति की पुत्रियों" के समक्ष भाषण आरम्भ करते समय कहा था, "साथी प्रवासियो!"

अपने उत्पादन के फलों में व्यापक भाग लेने की दिशा में हमारी निरन्तर प्रगति और इस भाग को प्राप्त करने के लिए राजनीतिक शक्ति का सफल प्रयोग, दोनों ही आर्थिक प्रजातंत्र की दिशा में सच्चे विकास को सिद्ध करते हैं।

यदि हम आराम चाहते हैं, तो हम कठिन श्रम के गौरव के प्रति अभी भी वचनवद्ध हैं। यदि हमारी धार्मिक चेतना प्रायः उत्साहपूर्ण है, तो हम धर्म और राज्य को एक दूसरे से पृथक रखने में भी उतने ही उत्साही हैं। हमारे सामुदायिक आशावाद का मूल प्रगति में हमारे विश्वास और सार्वजनिक दायित्व ग्रहण करने की हमारी इच्छा में निहित है। जन-शिक्षण की हमारी

प्रणाली स्पष्टतः अमरीकी है और अधिकतर प्रजातांत्रिकी आवश्यकताओं के साथ विचित्र ढंग से बँधी हुई हैं।

एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में ऐसे मापदण्डों से नापी हुई हमारी सामर्थ्य बहुत अधिक है। हमारी उदारता और सहानुभूति हमारी निष्ठा और परिश्रम, स्वतंत्रता मानवीय गौरव और शान्ति में हमारा विश्वास—ये सभी संसार के उन करोड़ों लोगों को प्रभावित करते हैं, जो इन चीजों में विश्वास करते हैं और उन्हें चाहते हैं।

परन्तु इस वात से इन्कार करना ईमानदारी नहीं होगी कि, हमारे समाज में कुछ ऐसी गम्भीर दुर्वलताएँ पैदा हो गयी हैं, जो आज के विश्व में हमें वड़ी महँगी पड़ सकती हैं। इन दुर्वलताओं और उनके अभिप्रायों पर ध्यानपूर्वक विचार करना भी आवश्यक है।

यद्यपि हमारा जन्म क्रान्ति में हुआ, और हमारी संख्या समुद्रपार से आनेवाले लोगों से निरन्तर वढ़ती रही है, तथापि हममें से वहुतेरे विश्व के अधिकांश लोगों की आशाओं और अभिलाषाओं से दूर हो गये हैं।

यद्यपि हम भूमण्डल के सवसे अधिक साक्षर राष्ट्रों में से हैं, तथापि शायद ही एक प्रतिशत अमरीकियों को एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के इतिहास का प्रारम्भिक जानकारी से अधिक ज्ञान होगा, जहाँ मानवसमाज का वहुत वड़ा भाग रहता है और जहाँ भविष्य के रूप का निर्णय अधिकांशतः किये जाने की सम्भावना है।

यद्यपि दूसरों की सहायता के लिए इतनी उदारता के साथ किसी अन्य राष्ट्र ने नहीं दिया, तथापि सार्वजनिक वक्तव्यों से हम प्रायः लालची और स्वार्थी प्रतीत होते हैं।

यद्यपि हमारे राष्ट्र की रचना व्यक्ति की ईमानदारी और स्वाधीनता में हमारे विश्वास से हुई है, तथापि, विश्व के करोड़ों लोगों को विश्वास दिलाया गया है कि अव हमारी आस्था धन, सेना और दूसरों को उपदेश देने में ही रह गयी है।

यद्यपि विश्व की दो तिहाई जन-संख्या पीली अथवा काली है, तथा १८० वर्ष पूर्व हमारी स्वतंत्रता के घोषणापत्र में कहा गया था कि सभी मनुष्य वरावर पैदा हुए हैं, तथापि हमारा जातीय भेदभाव अभी तक समाप्त नहीं हुआ है।

यद्यपि संसार में हमारा जीवनस्तर सवसे ऊँचा है, तथापि हमारी वर्तमान समृद्धि का कुछ अंश शीत-युद्ध-प्रतिरक्षा कार्यक्रमों पर भयानक रूप से

आवारित है।

यद्यपि युद्धकाल में हम प्राय: कोई भी वलिदान देने को तैयार हैं, तथापि वास्तविक युद्ध के अभाव में, हममें से वहुतेरे उन चीजों के लिए वलिदान करने को तैयार नहीं दिखायी पड़ते, जिनसे युद्ध रोका जा सकता है।

यद्यपि अमरीकी मूलत: आशावादी हैं, तथापि आणविक संघर्ष ने कभी-कभी हमको अशोभनीय भाग्यवादी वनने के लिए विवश कर दिया है।

यद्यपि साम्यवाद-विरोधी के देश में हम वड़े कट्टर लोकतांत्रिक हैं, तथापि हमने अपने राष्ट्रीय मामलों में उन व्यवहारों को सहन किया है, जो पूर्व की इस कहावत को चरितार्थ करते हैं कि, विरोधी एक-दूसरे के अवगुण ग्रहण कर लेते हैं।

यद्यपि हमारे देश की जड़ें शिक्षा और ज्ञान के प्रति गहन सम्मान में दृढ़ता के साथ जमी हुई हैं, तथापि घवड़ा कर हमने एक ऐसा आतंकपूर्ण रुख अपना लिया है, जिसने हमारे अनेक विद्वानों को सतर्क और कल्पनाहीन वना दिया है, परान्वेषियों और दोषवेचकों (सेन्सरों) के समक्ष हमारी स्वतंत्रताओं को प्रतिरक्षा के आधार पर रखना पड़ा है और हमारे महान निजी संस्थानों की प्रतिष्ठा पर लापरवाही से आघात किया जाता है।

दुर्वलताओं की यह सूची हमारे विरुद्ध एक कठोर निर्णय के समान है। मैं इसको कम नहीं आँकना चाहता, क्योंकि इसी पर विश्व हमारे सम्वंध में फैसला करता है। न इस पुस्तक के तर्क से मेरा यह अभिप्राय है कि १७७६ की हमारी समस्याओं और आज की विश्व-समस्याओं की जटिलताओं के वीच कोई अन्तर नहीं है। फिर भी मुझे पूरा विश्वास है कि अमरीकी क्रान्ति को नवीनता और दृढ़ता प्रदान कर तथा विश्व के मामलों में सर्वप्रथम उसे केन्द्रित कर, एक जवर्दस्त राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक शक्ति वनाया जा सकता है, जो संसार के प्रत्येक स्त्री, पुरुष और वच्चे के जीवन को प्रभावित कर सकती है।

इस शक्ति के प्राप्त करने के अपने प्रयत्नों में हमारी मान्यताओं का गुण निर्णायक सिद्ध हो सकता है। वस्तुत: जिन मान्यताओं को हम स्वीकार करते हैं, उनके प्रति हमारे अभिवचन की मात्रा पर वहुत-कुछ अवलम्वित है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, हमारे विदेशी श्रोता कुछ-कुछ संशयलु हैं। यह वात चारों ओर फैल गयी है कि अपनी परम्पराओं से हमारा सम्पर्क टूट गया है। इसलिए हमारा पुन: अन्वेषण सच्चा होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता,

तो हम जेफ़र्सन और लिंकन की भाँति चाहे जितना भी बोलने का प्रयास करें वह खोखला ही मालूम होगा और हमारे सभी प्रतिवाद धोखे की निशानी प्रतीत होंगे। चालबाजी की दृष्टि से अमरीकी क्रान्तिकारी परम्पराओं की ओर झूठा प्रत्यागमन निश्चय ही असफल होगा।

'मनोवैज्ञानिक युद्ध' के सीमित उद्देश्यों के लिए नैतिक स्थितियों पर जोर देने और उन्हें अपने राष्ट्रीय जीवन का सर्वस्व मानकर उनका पालन करने में जो अन्तर है वह निश्चय ही हथकण्डे और प्रमाणिकता, चाल और सत्य के बीच का अन्तर है। इस प्रकार हमारी निष्कपटता की कसौटी राजनैतिक भाषणों, टेलीविजन के तमाशों, और 'वायस आफ अमरीका' के प्रसारणों में अपने क्रान्तिकारी नारों का बार-बार दोहराना नहीं है, बल्कि मानव-समाज की समस्याओं पर हमारे दिन-प्रतिदिन का व्यवहार है। अमरीकी परराष्ट्रनीति में व्यक्तिगत अमरीकी नागरिक का जीवन भी इतना क्यों उलझा हुआ है, इसका यह भी एक कारण है। उसका उलझना जितना चुनौतीपूर्ण है, उतना ही परिणामजनक भी है।

आखिरकार, हमारी स्वतंत्रता की घोषणा में स्पष्ट प्रजातंत्र का विचार, घटनाओं के निर्माण की सामर्थ्य रखनेवाली मानवीय शक्ति का विचार था, यह सिद्धान्त कि किसी समाज की उत्पादक शक्तियाँ उस हद तक प्राप्त होती हैं, जिस हद तक प्रत्येक सदस्य जाति, पद, धर्म या वर्ग की चिन्ता किये बिना, सामान्य भलाई के लिए अपना विशिष्ट योगदान करने को स्वतंत्र हो और सामाजिक शालीनता के सामान्य स्तर के प्रति भी वह उतना ही दायित्वपूर्ण हो। इस दृष्टि से, लोकतंत्र हमारे लिए तथा विश्व के लिए व्यापक भविष्य का मार्ग प्रशस्त करता है।

इस प्रकार प्रजातंत्र को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व बिखरा हुआ सामूहिक काम नहीं है। यह समान रूप से प्रत्येक व्यक्ति के कन्धों पर आश्रित है। धार्मिक स्वतंत्रता की हमारी परम्परा की रक्षा करना कैथोलिक, प्रोटेस्टैन्ट और यहूदी लोगों का पवित्र कर्त्तव्य है, और उनका भी, जिनका एकमात्र विश्वास सत्य और भ्रातत्व में है। ये विश्वास हमें देश और विदेश में व्यापक समझदारी और श्रेष्ठतर नीतियों के योग्य बनाते हैं।

इस प्रकार हम अन्याय के प्रतिकार और अपेक्षाकृत एक अधिक स्वस्थ और सुखी समाज के सहयोगात्मक निर्माण में प्रत्येक अवसर से लाभ उठाते हैं। 'मेफ्लावर कम्पैक्ट' और 'स्वतंत्रता के क्रान्तिकारी पुत्रों' के पूर्व के दिनों से

अमरीका के पास ऐच्छिक सहकारी गतिविधियों की अद्वितीय परम्परा रही है। हमारा राष्ट्र सहयोगियों का रहा है, और हमें आशा है कि रचनात्मक ऐच्छिक सहयोग के प्रति हमारी प्रेरणा कभी नहीं मरेगी।

जो श्रम-आन्दोलन, उस आदर्शवाद से लज्जित नहीं है जिसमें उसका जन्म हुआ था, वह देश और विदेश में प्रजातांत्रिक पुनर्जागरण के लिए संघर्ष करने में अधिक क्रियात्मक भाग ले सकता है। प्रत्येक दल, जिसने प्रवासियों, नीग्रों, गन्दी बस्तियों के निवासियों या अन्य अभागे लोगों की स्थितियों को सुधारने का संगठित प्रयास किया, न केवल अपने समाज में, अपितु समुद्रों, पर्वतों और लौहावरणों के पार, व्यक्ति के गौरव में दृढ़ता के साथ अपनी आस्था व्यक्त कर सकता है।

गैरसरकारी अमरीकी नागरिक सर्वदा अपने देश के सर्वोत्तम राजदूत रहे हैं। सिगरेट बाँटते हुए या अनाथों से मित्रता करते हुए अमरीकी सैनिक (जी आई) कुछ विशिष्ट पदाधिकारियों की अपेक्षा अमरीकी शालीनता और उदारता के प्रायः सच्चे प्रतिनिधि रहे हैं। विदेशों में अपने सम्बधियों के नाम अमरीकी प्रवासियों के पत्र, हमारे कितने ही राजनीतिज्ञों के सावधानी से तैयार किये गये वक्तयों की अपेक्षा, अमरीकी प्रजातंत्र का कहीं अधिक सही और प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत करते हैं।

उन अमरीकी प्रचारकों, डाक्टरों तथा शिक्षकों के आत्मत्याग ने, जिन्होंने सारे विश्व की दलित जनता के साथ अपने-आपको मिला दिया और हजारों प्रकार से उनकी सहायता की, अनेक राष्ट्राध्यक्षों के भाषणों की अपेक्षा कहीं अधिक अमरीकी भावना का प्रतिनिधित्व किया है।

ये ही वे बातें हैं, जिन्हें हमने सम्राटों और तानाशाहों से आगे बढ़ कर, उनकी प्रजा के हृदय तक पहुँचने के लिए पहले की थीं। यदि फिर से जागरूक अमरीकी परम्परा अमरीकी लोगों की चेतना को प्रभावित कर सके, तो हम अपने-आप ही विदेशों में और अधिक विश्वासोत्पादक रूप प्रस्तुत कर सकेंगे। यह एक स्वतंत्र और क्रियाशील जनता का रूप होगा, जो दया और सहनशीलता के लिए वचनबद्ध है, क्योंकि व्यक्ति के असीम मूल्य में उसका विश्वास असहमत होने के व्यक्तिगत अधिकार की रक्षा करता है।

एकतंत्रवादी सिद्धान्त वास्तव में इस प्रकार एकांगी प्रचारों में व्यस्त रहते हैं कि न तो हम उनका अनुकरण कर सकते हैं और न करेंगे। साम्यवाद राष्ट्रीय शक्ति-साधनों से समर्थित सुदृढ़ नेताओं के हाथों में एक सिद्धान्त है।

इसके विपरीत एक प्रकार से प्रजातंत्र असिद्धान्तवादी है। विभिन्नता, विचार-विमर्श, और अल्पसंख्यकों के मत के प्रति आदर उसकी विशेपताएँ हैं। तथापि अमरीकी प्रजातंत्र की सवसे वड़ी शक्ति सामान्य विश्वास की क्रियाशील भावना प्रदान करने की उसकी योग्यता रही है।

यदि हमारे राजनीतिक संभापण का सुर कुछ ऊँचा हो जाय, तो दोनों दलों में हमारे राजनीतिक नेता स्वयं सार्वजनिक विचार-विमर्श के उस आवश्यक वातावरण में योगदान करेंगे, जहाँ दो दलों का होना एक नारे से अधिक सिद्ध होगा। कठिन प्रश्न पूछने के अपने आवश्यक लोकतांत्रिक अधिकार को समर्पित किये विना, राजनीतिक नेता, चाहें तो लचीली, गतिशील नीतियों के निर्माण के लिए, दलगत सीमाओं को छोड़ कर एक साथ मिलकर कार्य कर सकते हैं। यही विश्वस्थिति की माँग है और यह अमरीकी जनता के जवर्दस्त वहुमत के समर्थन के विना असंभव है।

सवसे वड़ी चुनौती कदाचित् हमारी परराष्ट्र-नीति के संचालन में प्रत्येक अमरीकी के जागरूक और उन्मुक्त ढंग से भाग लेने की है। पेशेवर श्रेष्ठजनों की आवश्यकता में न तो आँख मूंद कर मौन सम्मति और न इसके विपरीत, जारी रहने वाली राष्ट्रीय नगर-सभा का विखरा हुआ विचार, आधुनिक प्रजातंत्र के इस भारी धर्म संकट का कोई समाधान प्रदान करता है। इन दोनों छोरों में समन्वय स्थापित करना चाहिए। विशिष्ट योग्य नेतृत्व की माँग के लिए जनता को सतर्क रहना चाहिए, परन्तु एक वार उसे पाने पर उसका निष्ठा किन्तु आलोचना के साथ अनुसरण करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

ऐसा करने के लिए परिपक्वता, राजनीतिक-सहिष्णुता और अन्य राष्ट्रों के साथ हमारे सम्वंधों की जटिलताओं की व्यापक समझदारी की आवश्यकता है; परन्तु अमरीकी व्यक्तिगत रूप से स्वयं इस मामले के वीच में है, और इसलिए चाहे भला हो या वुरा, उसकी पसन्द आखिरी होनी चाहिए। अपने विचारों को पक्का कर लेने पर कादचित् वह अधिक यथार्थवादी स्वीकारात्मक संदर्भ में, साम्यवाद के अपने भय को प्रस्तुत करेगा।

क्रेमलिन को सवसे अधिक भय इस वात का होना चाहिए कि हम अपने ऊपर साम्यवाद के सम्मोहन मंत्र का उच्चाटन करेंगे, निपेधात्मक उत्तरों के रूप में इसके प्रति अधिकतर सोचना वन्द कर देंगे, अपनी महान शक्ति की विस्तृत सीमाओं को समझेंगे और मानवता की आवश्यकताओं और उद्देश्यों की कुंजी, विधेयात्मक नीतियों के समर्थन के लिए संगठित होंगे।

यदि हमारी बड़ी संख्या इस आस्था के साथ रहे कि हम अपने भाई के रक्षक हैं, तो हम एक राष्ट्र के रूप में स्वयं अपने लिए ऐसे शक्तिशाली उद्देश्यों की व्यवस्था करने लगेंगे, जो 'युद्ध से शिक्षा' की बराबरी का काम करेंगे। जब हम एक बार विश्वव्यापी पैमाने पर वर्ग और युद्ध की समस्याओं का इस प्रकार समाधान करना प्रारम्भ कर देंगे, तो उसके साथ-साथ हम यह भी पायेंगे कि हमने सम्भाव्य साम्यवाद का सही सम्भाव्य अन्तस्वेष्टन प्राप्त कर लिया है।

जो शताब्दी लेनिन, सुनयात सेन, गाँधी और विल्सन से प्रारम्भ हुई, निश्चय ही उसकी रचना विचारों से होनेवाली थी। मानव-मस्तिष्क के लिए संघर्ष आज तीव्र और कोलाहलपूर्ण हो गया है। मैं विश्वास करता हूँ कि आज विश्व हमसे लिंकन की आत्मा की अपेक्षा करता है—और उस आत्मा को आंशिक रूप में पुनः ग्रहण करके ही हम परिवर्तनशील नये विश्व का सफलतापूर्वक सामना कर सकते हैं।

२१ फरवरी, १८६१ को 'स्वतंत्रता भवन' में लिंकन ने अमरीका के सन्देश को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार कहा था, "मेरी सभी राजनीतिक भावनाएँ उन भावनाओं से ली गयी हैं, जिनका जन्म इसी भवन में हुआ और यहीं से समस्त विश्व में जिनका प्रसार किया गया। यह केवल उपनिवेशों के मातृभूमि से पृथक होने का ही मामला नहीं था, बल्कि यह स्वतंत्रता का घोषणा-पत्र था, जिसने न केवल इस देश के लोगों को स्वतंत्रता प्रदान की, प्रत्युत भविष्य के लिए समस्त विश्व में आशा का संचार किया। इसने लोगों को आश्वस्त किया कि समय आने पर सभी लोगों के कन्धों से बोझ उतार दिया जायगा और सबको समान अवसर प्राप्त होंगे।"

यदि हम लिंकन की प्रजातांत्रिक आस्था का कुछ अंश भी प्राप्त कर सकें, और उसे विश्व में लागू कर सकें, तो हम देखेंगें कि हमारी अमरीकी क्रान्ति अपने समस्त गतिशील अभिप्रायों में पुनः जीवित हो उठी है और हम देखेंगे कि योरोप, एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के लोग मित्रता की भावना और नये विश्वास के साथ अपने हाथ हमारी ओर बढ़ाते हैं। तब आणविक विनाश का भय समाप्त हो सकता है और आंतक से उत्पन्न गत्यावरोध सम्भवतः धीरे-धीरे शान्ति में विलीन हो जायगा।

समाप्त

परिशिष्ट

अटलांटिक चार्टर : १४ अगस्त १९४१ को अमरीकी राष्ट्राध्यक्ष, रूजवेल्ट और व्रिटिश प्रधानमंत्री, चर्चिल द्वारा, उत्तरी अटलांटिक सागर में एक जहाज पर से की गयी, संयुक्त विज्ञप्ति।

बी–५२ (B-52) : एक प्रकार का अमरीकी वमवर्षक यान।

वाल्कन स्टेट्स : युरोप में डेन्यूब नदी के दक्षिण में स्थित वाल्कन राष्ट्र–युगोस्लाविया, वल्गेरिया, ग्रीस, आल्वेनिया, रूमानिया और तुर्किस्तान।

सी आई ओ (CIO) : (१) कांग्रेस आफ इन्डस्ट्रियल आर्गेनिजेशन : अक्टूवर १९३५ में स्थापित औद्योगिक संघटन की कांग्रेस।

(२) कमिटी आफ इन्डस्ट्रियल आर्गेनिजेशन : औद्योगिक संघटन-समिति।

कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो : साम्यवादी घोषणा-पत्र : सन् १८४८ में कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंजल्स द्वारा प्रकाशित पुस्तिका।

कामिन्फार्म (Cominform) : सन् १९४७ में व्यवस्थापित कम्यूनिस्ट सूचना केन्द्र।

कोलम्वो पावर्स (Colombo Powers) : कोलम्वो राष्ट्र–पाकिस्तान, वर्मा, लंका, इंडोनेशिया व भारत।

कामिन्टर्न (Comintern) : सन् १९१९ में व्यवस्थापित अन्तरराष्ट्रीय साम्यवादी सभा, जो १९४३ में विसर्जित कर दी गयी।

ड्रांग नाक ओस्टेन (Drang nach osten) : पूर्व की ओर वढ़ने की प्रवृति : विस्तारवाद।

एन्क्लोजर एक्ट (वाड़ा अधिनियम) : व्रिटिश पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत वह कानून, जिसने इंग्लेण्ड के रईसों को भू-स्वामी वना दिया और उन्हें अपनी अधिकृत जमीन पर घेरा डालने का अधिकार दिया।

ई डी सी (EDC) : योरोपियन डिफेन्स कम्यूनिटी : योरोप का प्रतिरक्षा-दल।

जी आई (GI) : अमरीकी सिपाही।

जी आई बिल आफ राइट्स (G I Bill of Rights) : द्वितीय विश्व-युद्ध के समय अमरीकी सैनिकों के युद्ध-निवृत्त होने पर उन्हें पुनः नागरिक जीवन में स्थापित करने के लिए कुछ विशेष अधिकार विषयक विधेयक।

आई एल–२८ (IL–28) : रूसी जैट बमवर्षक विमान।

कुलाक–(Kulak) : एक धनी किसान।

एम आई जी–१५ (MIG–15) : रूसी लड़ाकू जैट विमान।

मनरो डोक्ट्रीन (Monroe Doctrine) : २ दिसम्बर १८२३ को राष्ट्रपति मनरो द्वारा अमरीकी कांग्रेस को भेजे गये संदेश में स्पष्ट किया गया लेटिन अमरीकी विषयक उनका सिद्धांत।

नाटो (NATO : North Atlantic Treaty Organisation) : उत्तरी अटलांटिक संधि-संगठन।

एन के वी डी (NKVD) : रूसी सुरक्षा पुलिस।

ओ ई ई सी (OEEC : Organisation for European Economic Co-operation) योरोपीय आर्थिक सहयोग संस्था।

ओ एस एस (OSS : Office of Strategic Services) : अमरीकी सामरिक नीति-सेवा-कार्यालय।

सीटो (SEATO : South East Asian Treaty Organisation) : दक्षिण-पूर्वी एशिया संधि-संगठन।

एस एच ए एफ ई (SHAFE : Supreme Headquarters of the Allied Forces in Europe) द्वितीय विश्व-युद्ध में जनरल आइसनहावर का हैडक्वार्टर।

सनफेड (SUNFED : Special United Nations Fund for Economic Development) : आर्थिक विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र-संघ की निधि।

टी यू–४ (TU–4) : रूसी एटोमिक बमवर्षक यान।

टी वी ए (TVA : Tennessee Valley Authority) : १८ मई १९३३ के कानून द्वारा स्थापित टेनेसी घाटी फेडरल कारपोरेशन।

यूएन या यूनो (UN or UNO : United Nations or United Nations Organisation) : संयुक्त राष्ट्र अथवा संयुक्त राष्ट्र-संघ।

यू एन ए ई सी (UNAEC : United Nations Atomic Energy Commission) : संयुक्त राष्ट्र अणुशक्ति आयोग।

यूनेस्को (UNESCO : United Nations Educational, Scientific and Cultural Organisation) : संयुक्त राष्ट्र की शैक्षणिक वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संस्था।

यू एन जी ए (UNGA : United Nations General Assembly) : संयुक्त राष्ट्र संघ की जनरल असैम्बली।

यू एन आई सी ई एफ (UNICEF : United Nations International Children's Emergency Fund) : संयुक्त राष्ट्र की अन्तरराष्ट्रीय संकटकालीन शिशु-निधि।

उनरा (UNRRA : United Nations Relief and Rahabilitation Administration) : संयुक्त राष्ट्र संघ का सहायता व पुनर्वास प्रशासन।

वी-ई डे (V–E Day : Day of Victory in Europe in World War II) : द्वितीय विश्व-युद्ध में, योरोप में विजय का दिवस।

वी-जे डे (V–J Day) : द्वितीय विश्व-युद्ध में, जापान द्वारा विना शर्त किये गये आत्मसमर्पण का दिन।

वाइट हाउस (White House) : अमरीका का राष्ट्रपति-भवन।

व्हो (WHO : World Health Organisation) : विश्व-स्वास्थ्य-संस्था।

वर्ल्ड बेंक (World Bank) : अन्तर्राष्ट्रीय बेंक।

१५५८

★

तेरहवाँ प्रकरण

चीन और शीत युद्ध

पेकिंग में नया शासन स्थापित भी न हो पाया था कि फरवरी, १९५० में मास्को में माओ और स्तालिन ने एक तीस वर्षीय मैत्री की संधि पर हस्ताक्षर की घोषणा कर दी। चार महीने वाद कोरिया के साम्यवादियों ने ३८ वीं समानान्तर रेखा को पार कर दिया, सातवें जहाजी वेड़े ने फारमोसा को घेर लिया और संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेनाएँ युद्ध में उतर आयीं। अक्तूबर में चीनी साम्यवादियों ने स्वयं यालू नदी के पार हमला कर दिया और इतिहास में पहली वार चीनी और अमरीकी सैनिक एक-दूसरे की संगीनों के आमने-सामने आ गये।

यह सव उन लोगों के लिए वहुत घवराहट की वात थी, जिन्होंने आशा की थी कि पैकिंग और मास्को युद्ध के लिए समान आवार नहीं वना सकेंगे। किसानों के सुवार पर माओ के अविक वल देने और कुछ क्षेत्रों में निजी सम्पति वनाये रखनेवाली आर्थिक नीति पर उसके नरम वक्तव्यों ने काल्पनिक उड़ान को प्रोत्साहन दिया था। कुछ ऐसे भी लोग थे जो यह सोच रहे थे कि एक वार सत्तारूढ़ होने पर माओ मार्क्सवादी सिद्धान्तों को ठुकरा देगा और अपनी अन्तरराष्ट्रीय नीतियों को रूसी नीतियों के सदृश हो जाने से वचायेगा।

परन्तु ये आशाएँ मिथ्या सिद्ध हुईं। चीनी स्थिति से मेल न खाने पर सैद्धान्तिक विचारों को अलग करने में माओ सर्वदा स्वयं लेनिन का उद्धरण देता रहा। लेनिन ने एक वार लिखा, "मार्क्सवाद के सार्वभौमिक सत्य और चीनी क्रान्ति के ठोस व्यवहार पर अपने निर्णय को आवारित करते हुए, चीनी कम्यूनिस्ट पार्टी को स्पष्टतः स्वयं अपनी जटिल समस्याओं का स्वतंत्र अध्ययन करना था।"

इस प्रकार के मानदण्डों के वारे में कोई कठोरता नहीं थी और लचीली नीतियों का पालन करते हुए माओ प्रत्येक अवसर पर लेनिनवादी सिद्धान्तों के प्रति अपनी मौखिक आस्था व्यक्त करता रहा।

क्रेमलिन की नीतियों के प्रति पर्याप्त असन्तोष होते हुए भी माओ ने स्तालिन को विश्व-क्रान्ति का नेता मानने में कभी हिचक नहीं दिखायी। इस तरह जव अप्रैल, १९४१ में क्रेमलिन एशिया में जापानी आक्रमण के प्रवल विरोव से

हट कर स्पष्ट रूप से उसके परिणामों को स्वीकार कर लेने की नीति पर आ गया, तव माओ ने, मास्को के इस विचित्र रवैये के लिए स्तालिन को स्पष्टतः क्षमा कर दिया। जव जापानी सेनाएँ दक्षिण-पूर्व एशिया तथा पर्ल हार्वर पर आक्रमण की तैयारियाँ कर रही थीं, तव सोवियत रूस ने जापान के साथ मित्रता और तटस्थता की सन्धि कर ली, जिसका "इज़्वेस्तिया" ने वड़े उत्साह के साथ इस प्रकार स्वागत किया—"अनेक कठिन अनुभवों से निकलने के वाद सोवियत-जापान-सम्वन्ध निश्चय ही एक नयी स्थिति में प्रवेश कर रहे हैं, जिनके लाभप्रद सिद्ध होने की आशा है।"

उसके फल का नमूना शीघ्र ही प्राप्त हुआ। साठ दिनों में ही, जापान के साथी नाजी जर्मनी ने सोवियत संघ पर आक्रमण कर दिया। आठ महीनों के भीतर ही जापानियों ने पर्ल हार्वर पर हमला कर दिया और इस प्रकार योरोप में रूस के नये पश्चिमी मित्रों के प्रयत्नों को निर्वल वनाते हुए अपनी सेनाओं को दक्षिण पूर्वी एशिया की ओर भेज दिया।

सोवियत चालों से माओ के दुखी होने के अन्य व्यक्तिगत कारण भी थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद स्तालिन को चीन पर च्यांग के प्रभुत्व का इतना विश्वास था कि चीनी-सोवियत मैत्री-संधि के साथ संलग्न सोवियत नोट में, जिस पर अगस्त, १९४५ में मास्को में हस्ताक्षर हुए थे, इस वात की स्वीकृति थी कि चीन की केन्द्रीय सरकार के रूप में राष्ट्रीय सरकार को नैतिक तथा भौतिक सभी प्रकार की सहायता प्रदान की जायगी। अक्तूवर, १९४७ तक स्तालिन उन शक्तियों से अनभिज्ञ-सा मालूम होता रहा, जिनको माओ वड़ी कुशलता से संगठित कर रहा था, परन्तु यथार्थवादी माओ में प्रशंसा तथा प्रतीक्षा करने की सामर्थ्य थी।

यह कहने में उसका कुछ भी नहीं लगा, जैसाकि उसने स्तालिन की साठवीं वर्षगांठ पर कहा, "मार्क्स आज नहीं है और इसी तरह एञ्जिल्स तथा लेनिन भी नहीं हैं। यह वहुत वड़ी वात है कि मानवता के वीच आज स्तालिन है। अगर स्तालिन न होता तो निर्देश देने के लिए कौन होता? और चूंकि वह हमारे वीच है, सभी कुछ ठीक से चल सकता है।" यह एक प्रकार से ऐसे व्यक्ति की व्यर्थ, किन्तु सामयिक खुशामद थी, जिसने चीनी क्रान्ति की शक्ति को कभी भी ठीक से नहीं समझा।

कोरिया-युद्ध ने रूसी और चीनी नीतियों को फिर एक ही धक्के में एकत्र कर दिया। उस युद्ध में चीनी साम्यवादियों के प्रवेश के कारण काफी मतभेद

के विपय रहे हैं। इसके लिए स्पष्टतः यही कारण हैं—यालू नदी के किनारे अमरीकी सेनाओं के पड़ाव की संभावना से चीनियों की यथार्थ आशंका, चीनियों को अपनी सीमाओं से वाहर उलझाए रखने के रूसी प्रयत्न, घरेलू कठिनाइयों से जनता के ध्यान को हटा कर एक विदेशी शत्रु के विरुद्ध देशभक्तिपूर्ण एकता का पेकिंग के लिए अवसर, औद्योगिक आधार के रूप में मन्चूरिया पर नियंत्रण की आवश्यकता और उस पर रूसी प्रभुत्व से वचाने का प्रयास तथा समस्त एशिया में चीनी सैनिक तथा राजनीतिक प्रतिष्ठा की स्थापना का अवसर।

जैसा कि हम अमरीकियों को अनुचित प्रतीत होता है, एशिया के अधिकांश असम्यवादी प्रेक्षकों की यह सोचने की प्रवृत्ति है कि मास्को के अतिरिक्त, अन्य सभी वाहरी देशों से सम्वन्ध टूट जाने के कारण, चीन ने इस मान्यता पर कार्य किया कि हम लोगों ने उन्हें नष्ट कर देने का दृढ़ संकल्प कर लिया है। जो भी सही कारण रहे हों, साम्यवादियों ने स्वयं चीन पर अपने अधिकार को सुदृढ़ वनाने के लिए युद्ध का उपयोग किया।

१९५२ के अन्त तक युद्ध चीनी सरकार पर कदाचित् भारी वोझ हो गया था। अक्तूवर, १९५२ में, जव कि मैं नयी दिल्ली में था, चू एन ली न पैकिंग में भारतीय राजदूत को संकेत किया था कि चीनी सरकार संयुक्त राष्ट्र में भारतीय प्रतिनिधि द्वारा प्रस्तुत शान्ति-प्रस्ताव को अनुकूल दृष्टि से देखती है।

भारत सरकार के नेता और नयी दिल्ली स्थित अधिकांश राजदूत मेरी ही तरह विश्वस्त थे कि चीनियों ने रूस के भारी दवाव के कारण ही इस शान्ति-प्रस्ताव को ठुकराया था। इस दवाव का नाटकीय रूप युद्ध-वन्दियों के सम्वन्ध में भारतीय प्रस्ताव को विशिन्स्की के "सड़ा हुआ प्रस्ताव" कहने से प्रकट हो जाता है।

रूस और चीन की सौदेवाजी में दोनों की स्थिति को वरावर वनाने में स्वयं स्तालिन की मृत्यु ने सहायता की। जव तक स्तालिन जीवित था, माओ को, "मानवता के महान नेता" के उसी सिंहासन पर नहीं विठाया जा सकता था; परन्तु मालेन्कोव और चू एन ली स्तालिन की शव-मंजूषा के पीछे-पीछ साथ ही साथ चले और विशाल मकवरे की सीढ़ियों पर कन्धे से कन्धा मिलाकर कदम-व-कदम चढ़े थे।

१९५० में चीनी-सोवियत समझौते के समय का पूर्व-व्यवस्थित छाया-चित्र

'प्रवदा' ने प्रकाशित किया, जिसमें स्तालिन, माओ तथा मालेन्कोव को एक-साथ प्रदर्शित किया गया था। दिसम्बर, १९५३ में माओ का जन्मदिवस इतने सज-धज से मनाया गया जितना रूस के किसी वर्तमान शासक को कभी नसीव नहीं हुआ। माओ की चुनी हुई रचनाएँ मास्को और पैकिंग में एक साथ प्रकाशित हुईं। १९५५ में पाँचवें ग्रन्थ के निकलने पर रूसी समाचारपत्रों में अपने प्रख्यात एशियाई साथी की प्रशंसा में होड़-सी लग गयी।

माओ ने भी नये रूसी नेतृत्व के प्रति अपने विश्वास तथा मैत्री की प्रतिज्ञा द्वारा प्रत्युत्तर दिया। 'प्रवदा' में अपने एक विशेप लेख में उसने कहा कि नये शासक, साथी स्तालिन के उद्देश्य को निस्सन्देह जारी रखने में समर्थ होंगे, जिससे साम्यवाद का महान कार्य सुन्दर रीति से आगे वढ़ सके।"

चीन और रूस दोनो देशों में गुरुमंत्र देने के प्रमुख साधन—समाचार-पत्र और रेडियो, सार्वजनिक भाषण और स्कूली कार्यक्रम ने रूस और चीन की एकता की एक ठोस तस्वीर प्रस्तुत की है। साधारण व्यक्ति जो कुछ भी देखता और सुनता, उससे इसी निर्णय पर पहुँचता कि कार्य और विचार में पूर्ण मतैक्य है।

दोनों देशों के बीच व्यक्तियों के आदान-प्रदान का दुतर्फा मार्ग विस्तृत होता जा रहा है। न केवल सोवियत मशीनें, वल्कि सोवियत नियोजक, तंत्रज्ञ, तथा निपुण कारीगर भी चीन भेजे जा रहे हैं। उसके वदले में चीनी विशेषज्ञ और विद्यार्थी, प्रशिक्षण तथा शिक्षण के लिए रूस भेजे जा रहे हैं। सोवियत विश्वविद्यालयों में विदेशी छात्रों में सवसे वड़ी संख्या अव चीनियों की ही है।

चीन में रूसी भाषा को अधिक से अधिक चीनियों को यथासंभव शीघ्र सिखा देने का जवरदस्त प्रयत्न चल रहा है। "रूसी भापा लेनिन की भापा और समाजवादी की कुंजी है" चीनी सोवियत मैत्री संघ (साइनो-सोवियत फ्रेण्डशिप असोसिएशन) के महा मंत्री, चियेन शुन जुई ने घोषणा की—"रूसी सीख लेने पर सोवियत-चीनी मित्रता के मार्ग से सवसे वड़ा रोड़ा हट जायगा।" जिन क्षेत्रों में सोवियत अनुभव चीनी आवश्यकताओं के अनुकूल होंगे, वहां सोवियत नमूनों का निस्सन्देह प्रयोग किया जायगा। इस प्रकार, दिसम्वर, १९५४ में पेकिंग में होनेवाली विधान सभा की कम्यूनिस्ट प्रतिरूप, नेशनल पीपुल्स कांग्रेस के सदस्यों ने एक विधान स्वीकार किया, जिसके अन्तर्गत पेंतीस मंत्रियों की एक राज्यपरिषद द्वारा देश का शासन होगा। प्राप्त सूचनाओं से पता चलता है कि इनमें से सोलह मंत्रालय सोवियत शासन-प्रणाली का अनुपालन कर रहे

हैं। चीन की पंचवर्षीय योजना न केवल टेकनीक में, वल्कि औद्योगिक विकास पर सवसे अधिक वल देने में भी सोवियत नमूने को ही प्रतिविम्वित करती है।

इन्हीं समानान्तरों के कारण अमरीकी ऐसा सोचते मालूम होते हैं कि चीन साम्यवादी अल्वानिया का एक विशाल पिछलग्गू रूप है। यह वड़ी भारी भूल है। क्रेमलिन को पैकिंग के साथ वरावरी का अथवा लगभग वरावरी का सुलूक करना चाहिए और चीनी साम्यवादी वड़े कठोर सौदेवाज हैं। मास्को-सरकार चीनी महत्वाकांक्षाओं को किस हद तक सन्तुष्ट करना चाहती है, उसका प्रमाण पोर्ट आर्थर वन्दरगाह को वापस देना और १९५४ के पतझड़ में अपनी चीनी यात्रा के दौरान में वलगानिन तथा ख्रुशेव द्वारा दी गयी अन्य रियायतें हैं।

यदि समान शत्रु तथा समान विचारधारा का स्वाभाविक वल कमजोर भी हो जाय, तो पेकिंग को उचित मार्ग पर रखने के लिए मास्को के पास सम्प्रति कम से कम एक महत्वपूर्ण साधन है। औद्योगीककरण के अपने महत्वाकांक्षापूर्ण कार्यक्रम के लिए शस्त्रास्त्र, कच्चे माल तथा तांत्रिक सहायता के लिए चीन अभी भी रूस पर वुरी तरह निर्भर है।

पैकिंग-शासन की घरेलू सफलता तथा एशिया में अभीष्ट प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए इस कार्यक्रम की सफलता अत्यावश्यक है। यह सव समझवूझ कर अधिक संभव है कि रूस चीन के साथ एक नाजुक संतुलित नीति का ही पालन करे, जो चीन की औद्योगिक विस्तार की भूख को सन्तुष्ट करते हुए उस पर इतना नियंत्रण रखे कि वह रूस के लिए खतरा न वन जाय।

× × ×

१९५१ और १९५५ के वीच मुझे वीसों ऐसे लोगों से वातचीत करने का अवसर मिला, जो साम्यवादी चीन देख आये थे। उनमें अंग्रेज, भारतीय, पाकिस्तानी, वर्मी, हिन्देशियाई तथा जापानी भी थे। उनमें सरकारी अफसर, शिक्षक, सामाजिक कार्यकर्ता, क्लवों की औरतें और इन्जीनियर भी थे। उनमें से अधिकांश विवेकशील और मर्यादापसन्द लोग थे, जो सहयात्री नहीं, आगन्तुक थे और जिनको साम्यवादी समझाने—वुझाने के लिए अत्यधिक उत्सुक थे।

उनकी रिपोर्टों में आश्चर्यजनक समानता है। उनमें से अधिकांश का कथन है कि पेकिंग से प्राचीन हास्य, शोभा और आकर्षण लुप्त हो चुके हैं और उनका स्थान अनाकर्षक एवं समर्पित एकरूपता ने ग्रहण कर लिया है। मार्गों पर काफी तगड़े और रूखे सैनिक दिखायी पड़ते हैं। मजदूर विना छुट्टी के

सप्ताह में छः दिन और प्रति दिन आठ घण्टे काम करते हैं और उन्हें औसत मासिक वेतन लगभग तेईस डालर के वरावर मिलता है।

नागरिक सेवा से लेकर सोवियत निर्मित कीमती यंत्रों के कारखानों के निरीक्षण-कार्य तक के दायित्व तथा महत्वपूर्ण पद अधिकांश में युवकों तथा युवतियों को सौपे गये हैं। उनके नये दायित्वों के साथ वर्तमान शासन को जारी रखने का प्रमुख निहित स्वार्थ भी है।

दफ्तरों तथा कारखानों की दीवालों पर असंख्य प्रचार-पत्र लटकते दिखायी देते हैं। इनमें कुछ भयानक व्यंग-चित्र भी हैं, जिनमें जन-सेना के सेनानियों की जवर्दस्त संगीनों द्वारा फारमोसा (ताइवान) से वालस्ट्रीट के साम्राज्य-वादियों का सफाया करते हुए दिखाया गया है।

अमरीका शत्रु है। पश्चिम—विरोधी शत्रुता को, जो गत एक शताब्दी की दासता से उत्पन्न हुई थी, अव जानवूझकर संयुक्त राज्य अमरीका के विरुद्ध संचालित किया जा रहा है। संयुक्त राज्य अमरीका, जो चीन का कभी वड़ा मित्र था, जो चीन के हजारों युवकों का शिक्षक और चीनी प्रादेशिक एकता का घोपित संरक्षक था, आज 'कागजी शेर' के रूप में परिणत कर दिया गया है, जो ऐसी चीजों का प्रतीक है, जिनकी कोई भी गौरवशाली प्राचीन जाति क्षुब्ध होकर कटु निन्दा करेगी।

सम्भवतः मुख्य चीन के अधिकांश निवासी अव भी यही विश्वास करते हैं कि कोरिया-युद्ध अमरीका ने छेड़ा था और देशव्यापी महामारी फैलाने के लिए उसने रोग के कीटाणुओं का प्रयोग किया। वास्तव में कीटाणु-युद्ध का धोखा, चीनी अधिकारियों द्वारा, स्वास्थ्य सुधार से लेकर पश्चिम-विरोधी एकता प्राप्त करने तक के लिए खड़ा किया गया था। विदेशी यात्रियों को यह वतलाया जाता है कि चीन अमरीका का, उसके "युद्ध करने के पाशविक तरीकों" के प्रति कितना कृतज्ञ है। कहा जाता है कि अमरीका द्वारा गिराये गये कीटाणु-वम के कारण ही वहां के नगरों की सफाई की गयी तथा घातक कीड़ों के उन्मूलन में नाटकीय अभिरुचि दिखायी गयी।

अमरीका के प्रति घृणा और कोरिया-युद्ध की सैनिक आवश्यकताओं ने अपने विशाल प्रदेश पर अधिकार को सुदृढ़ करने, प्राचीन परिवार-प्रणाली को छिन्न-भिन्न करने, दुनिया की लड़नेवाली सवसे वड़ी सेना का निर्माण करने और कृपिप्रधान राष्ट्र को प्रवल औद्योगिक शक्ति में परिणत करने

के हेतु कठोर कार्रवाई के लिए स्वीकृति प्राप्त करने में पैंकिंग—सरकार की वड़ी सहायता की।

चीन में ईसाई धर्म-प्रचार-आन्दोलन को समाप्त करने के लिए व्यवस्थित प्रयत्न किये गये हैं। अप्रैल, १९५३ में हांगकांग के सीमावर्ती स्टेशन पर मैंने छः हजार निष्कासित धर्म-प्रचारकों में से कुछ को लोहे के पुल को पार करते देखा, जो पश्चिम जाने के लिए लौट रहे थे। १९५५ तक चीन में शायद चारसौ से अधिक धर्म-प्रचारक न रह गये होंगे और जो थे भी, वे अधिकतर या तो जेलों में थे या घर पर ही नजरबन्द थे।

वर्षों तक चीन में ईसाई धर्म-प्रचार-आन्दोलन चीनी समाज में पश्चिमी शिल्पकला और जीवन-मूल्य स्थापित करने का प्रमुख साधन रहा है। चीनी जीवन और विकास में बहुमूल्य योगदान देने वाले तेरह ईसाई कालेज और विश्वविद्यालय थे। मिशन स्कूलों ने वैज्ञानिक कृषि प्रणाली, जन—स्वास्थ्य, साक्षरता और दस्तकारी उद्योग को प्रारम्भ करने में नेतृत्व किया है। चीन में आधुनिक औषधि तथा चिकित्सालयों का सूत्रपात धर्मप्रचारकों द्वारा ही किया गया था। धर्म परिवर्तित लोगों में मेथाडिस्ट च्यांग काई शेक भी थे।

लेकिन जैसा कि हमने अभी देखा, ईसाई धर्म के प्रचार में सर्वदा पश्चिमी प्रभुत्व के साथ उसकी एकात्मकता, उसकी विभिन्न शाखाओं में दुःखद प्रति-स्पर्धा तथा ईसाई धर्मावलम्बी अनेक कुओमिन्तांग नेताओं की भ्रष्टता बाधक रही है। ईसाई धर्म से इतनी आशा नहीं की जा सकती थी की वह एक ऐसी जबर्दस्त योजना बनायेगा, जो जनता की दरिद्रता की विकट समस्याओं, ग्रामीण सम्पत्ति-स्वामित्व के प्राचीन आदर्शों तथा संकलित अन्यायों के लिए, जिनके भंडाफोड़ में स्वयं ईसाई धर्म ने काफी सहायता की थी, व्यावहारिक उत्तर होगा।

कुछ भी हो, पिछले तीस वर्षों में एक बहुत बड़ी और बढ़ती हुई संख्या में शिक्षित ईसाइयों और आदर्शवादी चीनियों की, जिन्होंने 'यथास्थिति' को ठुकरा कर 'नये चीन' के निर्माण की आवश्यकता महसूस की थी, आँखें खुल गयीं और चर्च से दूर हट कर या तो वे साम्यवादी दल में शामिल हो गये अथवा उनमें से बहुतों ने इटली और फ़्रांस के अपने समकक्षियों की तरह दोनों में सम्मिलित रहने में कोई विरोध नहीं पाया।

१९४५ तक ईसाई शिक्षाप्राप्त सैकड़ों चीनी युवकों ने येनान तक पहुंचने के लिए खतरों का मुकाबला किया और "कड़ुए घूंट" पिये। ईसाई विश्व-

विद्यालयों के भूतपूर्व छात्र लाल गुरिल्ला सेना में भरती हो गये, माओ त्से तुंग के प्रति वफादार वन गये और नये शासन में आज वे महत्वपूर्ण पदों पर हैं। कुछ ने न केवल विदेशी धर्म-प्रचारकों के वर्तमान निष्कासन में मदद की, वल्कि उन चीनी ईसाई पादरियों को सजा दिलाने में भी मदद की, जिन्होंने साहस के साथ साम्यवादियों द्वारा नवनिर्मित उन कठपुतली चर्चों का विरोध किया, जिनका निर्माण पेकिंग ने केवल प्रचार के लिए किया था।

इन नास्तिकों ने, जो आज चीन में सत्तारूढ़ हैं, अपनी आवश्यकता के लिए धर्म का उपयोग करने में भी झिझक नहीं दिखायी। माओ ने कहा, "यदि धर्म जन-गणराज्य में हस्तक्षेप नहीं करता, तो जन-गणराज्य भी उसमें हस्तक्षेप नहीं करेगा, केवल उन मौकों को छोड़कर, जब राज्य की सेवा के लिए, उसकी जरूरत होगी।

कम्यूनिस्टों द्वारा वौद्धधर्म की प्रशंसा के कदाचित् अनेक कारण हो सकते हैं। वौद्धधर्म से ही विकसित लामावाद का केन्द्र अशान्त तिव्वत के गर्भ में है। सिक्यांग और वाहरी मंगोलिया में लाखों नये वौद्ध हैं और दक्षिण में चीन के सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण धान-सम्पन्न पड़ोसी प्रदेशों में उनकी संख्या और भी अधिक है।

आजकल हाल ही में मरम्मत किया हुआ पैंकिंग का सुशोभित लामा-मन्दिर विशिष्ट दर्शनीय स्थान ह और सरकार द्वारा संस्थापित अखिल चीनी वौद्ध संस्था (आल-चाइना बुधिस्ट असोसिएशन) अपने श्रद्धालुओं से अपनी "मातृभूमि तथा विश्वशान्ति की रक्षा के हेतु सभी वौद्धों की एकता के लिए" कार्य करने की अपील करती है।

धर्म के इस प्रकार दुरुपयोग से यह वात छिपी नहीं है कि सरकार ने जानवूझकर चीनी जीवन के नतिक तथा सदाचार सम्वंधी आधारों को वदलने तथा "नयी नतिकता" स्थापित करन का प्रयास किया है। समान कार्यक्रम की ४२ वीं धारा में इस वात की व्यवस्था है कि "पितृभूमि के प्रेम, जनता के प्रेम, विज्ञान-प्रेम, श्रम-प्रेम और सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा को सभी देशवासियों की सार्वजनिक भावना के रूप में वढ़ाने का प्रयत्न किया जायगा।" ये 'पँाच प्रेम' आज जन-गणराज्य में नागरिकता के आधार हैं।

सामूहिक कार्य पर निरन्तर वल देकर व्यक्ति को राज्य के अधीन वना दिया गया है। परिवार को राज्य-हितों की पूर्ति के लिए संचालित किया जाता है और वर्ग-चेतना प्रत्येक राजनीतिक कार्य का आधार वना दी गयी ह। क्रान्ति

के मित्रों के प्रति आचरण का एक मापदण्ड है और इसके दुश्मनों के लिए, जिन्हें विनष्ट ही कर देना चाहिए, दूसरा मापदण्ड है।

महिलाओं की स्थिति विभिन्न प्रकार से सुधरी है। फिर भी, पारिवारिक आस्थाओं को हर संभव ढंग से समाप्त किया जा रहा है और माँ-बाप के विरुद्ध बच्चों से गवाही की आशा की जाती है। अगस्त, १९५१ में, चीनी साम्यवादी समाचारपत्रों के अनुसार यह उदाहरण पेश करने के लिए कि जनता के दुश्मनों के साथ क्या किया जाता है, च्यांग काई शेक के एक भूतपूर्व सैनिक साथी की साम्यवादी पुत्री ने यह माँग की कि उसके पिता को मृत्युदण्ड दिया जाय। चीनी रेडियो पर प्रायः इस प्रकार की घटनाएँ प्रसारित की जाती हैं। पारस्परिक जासूसी और चुगलखोरी की आदतों को प्रोत्साहन दिया जाता है। पेकिंग का 'पीपुल्स डेली' (दैनिक समाचारपत्र) दल के सदस्यों से अपील करता है कि प्रत्येक अन्य सदस्य पर, यहाँ तक कि अधिक से अधिक जिम्मेदार व्यक्तिपर भी व्यवस्थित, कड़ी तथा नियमित निगरानी रखी जाय।

माओ ने एक बार स्वतंत्र व्यवसाय के प्रति विनम्र मित्रता की बात कही थी, किन्तु पार्टी के आन्दोलनकारियों ने जनता के क्षोभ को व्यापारियों के विरुद्ध उकसाने का संगठित प्रयास करके उसे झूठा सिद्ध कर दिया है। गाँवों में अवैध मृत्यदण्ड देने की भावना का पोषण बड़ी सावधानी से किया गया है। "प्रति-क्रान्तिकारी अभियान के दमन में" सार्वजनिक रूप से फाँसी देने के उद्देश्य से जमीन्दारों को चुनने के लिए व्यावसायिक लोकनायकों की टुकड़ियाँ गांवों में भेजी गयीं। दिमागी सफाई के नये-नये तरीके अपनाये गये।

कोरिया-युद्ध के समय समाचारपत्रों की संख्या दो हजार से घटा कर ५३ कर दी गयी और प्रत्येक को सख्त हिदायत दी गयी कि वह कम्यूनिस्ट पार्टी के मुखपत्र, पेकिंग 'पीपुल्स डेली' की नीति का अनुसरण करे। जिस प्रकार रूस में इतिहास के पृष्ठों से अलोकप्रिय अंशों को निकाल दिया जाता था, उसी प्रकार यहां भी किया गया। लाखों पुस्तकें जब्त कर ली गयीं और उन्हें या तो जला दिया गया या कागज बनाने के लिए गला दिया गया। चीन में रहनेवाले पश्चिमी लोगों में से अधिकांश को या तो जबरदस्ती निकाल बाहर किया गया या जेलों में ठूंस दिया गया, या वे चुपचाप गायब ही हो गये।

सैन्यवादी एकता के इस कार्यक्रम का साधन साम्यवादी दल है। कोरिया-युद्ध के दौरान में जब ये घटनाएँ चरमोत्कर्ष पर थीं, तब दल के खूब दीक्षित सदस्यों की संख्या ६० लाख तक पहुँच गयी, जिनके ऊपर तीस लाख पक्के जवान

साम्यवादी थे, जो दलगत संगठन में नवजीवन डालने वाले थे।

फरवरी, १९५१ में नये विधान की इक्कीस धाराएँ स्वीकृत हुईं, जिनमें मृत्यु, आजीवन कारावास या नजरबन्दी के लिए व्यवस्था की गयी थी। जो लोग राजनीतिक मुकदमे के आडम्बर अथवा उन्मत्ततापूर्ण सार्वजनिक फाँसियों से बच गये थे, उनके पुनर्वास के साधन के रूप में श्रम-शिविर स्थापित किये गये, जहाँ जबर्दस्ती काम कराया जाता था।

'टाइम्स आफ इंडिया' के सम्पादक, फ्रैंक मोरायस ने अपनी चीन-यात्रा के बाद अनुमान लगाया कि १९५२ के मध्य तक २० लाख व्यक्तियों को फाँसी दी गयी। मैंने अन्य भारतीय प्रेक्षकों को ५० लाख का अनुमान लगाते हुए सुना है।

जब साम्यवादी चीनी प्रतिनिधियों से सफाई माँगी जाती है, तो वे साफ-साफ कह देते हैं कि जनता ने प्रतिक्रान्तिवादी शक्तियों के विरुद्ध बदला लेने का अपना पवित्र कर्तव्य निभाया और फिर वे दूसरी बातें करने लग जाते हैं। १९४९ में लिखे एक लेख में माओ ने स्पष्टरूप से अपने राजनीतिक दर्शन के इस पक्ष पर प्रकाश डाला है—'क्रान्तिकारी लोगों के लिए प्रजातंत्र और प्रतिक्रियावादियों के लिए तानाशाही, इन दोनों को जब एक साथ मिला दिया जाता है तब जनता की प्रजातंत्रात्मक तानाशाही का रूप बनता है।'

चौदहवाँ प्रकरण

पेकिंग का सन्तुलन-पत्र

अधिकांश पश्चिमी लोग पूछ सकते हैं कि किस प्रकार के लोगों को ऐसे आतंक पर आधारित कार्यक्रम की ओर आकृष्ट किया जा सकता है? फिर भी दुनिया की राजनीति में इस नयी शक्ति के व्यापक प्रभाव को इन्कार नहीं किया जा सकता। दुर्भाग्य से अमरीकियों ने इस बात को कम से कम समझा है, यद्यपि उन्हें पेकिंग की विशेष शत्रुता के लिए चुन लिया गया है और इसीलिए उनको और भी सतर्क रहने की जरूरत है।

चीन की आधुनिक सफलताएँ रक्तसिंचित हैं, फ़िर भी वे प्राप्त की जा रही हैं। चीन निस्सन्देह महान् विश्व-शक्ति के रूप में प्रकट होने जा रहा है। उसकी ये पाँच सफलताएं साफ प्रकट हैं:–

(१) आधुनिक चीनी इतिहास में साम्यवादी सरकार सर्वप्रथम संगठित और कुशल शासन की व्यवस्था कर रही है। देश का शासन ऐसे व्यक्तियों द्वारा संचालित हो रहा है, जो कठोर अनुशासन के अन्तर्गत हैं, वे चाहे नागरिक हों या सनिक। बहुतों को कोई वेतन नहीं दिया जाता, केवल निवास और भोजन, आवश्यक कपड़े, कुछ सिगरेट और उनके बच्चों को निःशुल्क शिक्षा तथा डाक्टरी सहायता दी जाती है। निःस्वार्थी चीनी युवक विदेशों से लौट कर कठोर और संयमी जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

एक निष्कासित कथोलिक पादरी ने पेकिंग-सरकार की शक्ति को कम समझने के विरुद्ध चेतावनी देते हुए लिखा है, "प्रशासन नितान्त ईमानदार है। मैं सोचता हूँ कि वर्तमान शासन में किसी चीनी अधिकारी को खरीदना पश्चिमी देश में किसी पदाधिकारी को खरीदने की अपेक्षा अधिक कठिन होगा।"

यदि वेतन दिये भी जाते हैं, तो बहुत ही कम। कहा जाता है कि माओत्से तुंग को १५० डालर से कम मासिक वेतन मिलता है और उसके मातहत काम करने वालों को और भी कम। एक स्तम्भित भारतीय अधिकारी ने मुझे एकबार बताया, "माओ के पास केवल एक सूट है और उसकी पत्नी साप्ताहिक मजदूरी पर काम करती है।"

इस संयम से उत्पन्न होने वाली चीजों में हैं एकता, व्यवस्था, अधिक स्वच्छ

सड़कें और उचित कर-वसूली। मक्खियों, लुटेरों, वैश्याओं और चण्डू-पियक्कड़ों की समाप्ति की व्यापक चर्चा अखबारों में की गयी है। विचारशील विदेशी प्रेक्षक भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

नयी व्यवस्था, स्वच्छता तथा उत्साह की प्रशंसा करने वाले एक भारतीय पदाधिकारी से मैंने पूछा, "१९५५ का पेकिंग, हिटलर के पोलण्ड पर आक्रमण के पूर्व १९३९ के बर्लिन से भिन्न है, इसे आप ठीक-ठीक कसे बतायेंगे? क्या उस समय जर्मनी विदेशी यात्रियों के लिए इतना ही आकर्षक नहीं था? आप क्यों सोचते हैं कि चीन उतना ही खतरनाक नहीं है?" उसने स्वीकार किया कि मेरी बात में कुछ तथ्य है, परन्तु उसने अनुरोध किया कि चीन की भौतिक प्रगति अथवा जनता पर सरकार के पूर्णाधिकार को कम भी न समझा जाय।

(२) व्यापक अनुभवहीनता, रूसी टेकनीक को आत्मसात करने की कठिनाइयों और १९५४ की बाढ़ जैसी अप्रत्याशित दुर्घटनाओं के बावजूद प्रथम चीनी पंचवर्षीय योजना (१९५३-५७) के अन्तर्गत चीन औद्योगीकरण की ओर निरन्तर बढ़ता जा रहा ह। चीन के इस महत्वपूर्ण कार्यक्रम और उसके भारतीय प्रतियोगी के कार्यक्रम की तुलना आनेवाले प्रकरण में करूँगा।

(३) चीन की सेनाओं के आधुनिकीकरण में त्वरित एवं चमत्कारपूर्ण प्रगति की जा रही ह। १९५४ में सभी के लिए सैनिक प्रशिक्षण प्रारम्भ किया गया। लाल सेना की टुकड़ियों को शीघ्रता के साथ उच्च कोटि के आधुनिक हथियारों से सुसज्जित किया जा रहा है। नयी चालें काम में लायी जा रही हैं।

सेनाध्यक्ष, जनरल मैक्सवैल टेलर ने, कोरिया में सिओल के अपने दफ्तर में, जबकि वे संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना के सेनापति थे, एक बार मुझसे कहा, "कोरिया—अभियान के परिणामों में से इस एक परिणाम को जल्दी नहीं भुलाया जा सकेगा कि हमने चीनियों को आधुनिक युद्ध की कला सिखा दी है।" इसके साथ यह भी कहना उचित होगा कि कोरिया में अमरीकी सेनाओं को भी एक नये प्रकार के युद्ध का ज्ञान हुआ।

विपुल सैन्य-शक्ति के अतिरिक्त चीन ने एशिया की सबसे प्रबल हवाई सेना भी तैयार कर ली है। वायु सेनाध्यक्ष (एअर फोर्स चीफ आफ स्टाफ) जनरल नाथन ट्विनिंग ने कहा, "विश्व में यह चौथी सब से बड़ी शक्ति

है।" १९५५ के अनुमानों से ज्ञात होता है कि चीन के पास ८५० रूसी लड़ाकू जैट विमान हैं, जिनमें से कम से कम ६५० 'मिग-१५' हैं। यह भी विश्वास किया जाता है कि उनके पास सौ से अधिक 'इल—२८' जेट बमवर्षक हैं।

कहा जाता है कि चीनी चालक, टी-बी-४ के विमान-दल के साथ, जो सोवियत अणु बमवर्षक का प्रारम्भिक नमूना है, प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं। अन्य पुराने ढंग के हवाई जहाजों को मिलाकार कुल संख्या दो हजार तक पहुँच जाती है। पर्याप्त चालक (आजकल २४०० प्रतिवर्ष के हिसाब से प्रशिक्षित हो रहे हैं) उन्हें उड़ाने के लिए तैयार हैं। वास्तव में संघर्ष की स्थितियों में चीनी हवाई सेना का प्रभाव केवल रूस के हवाई जहाज देने की इच्छा पर निर्भर नहीं करेगा, बल्कि प्रशिक्षित चीनी उड़ाकों की प्राप्ति पर भी निर्भर करेगा।

(४) साम्यवादी विशाल शिक्षा-कार्यक्रम को पूरा करने में बड़े अध्यवसाय से दो दृष्टियों से जुटे हुए हैं, एक तो निरक्षरता-निवारण और दूसरे सिद्धान्त की शिक्षा। सांस्कृतिक कार्यक्रम सर्वदा राजनीतिक प्रचार और आर्थिक पुर्ननिर्माण—योजनाओं के साथ संयोजित रहते हैं।

वैज्ञानिकों और टैकनीशियनों का प्रशिक्षण भी बहुत अधिक बढ़ा दिया गया है। खबर है कि आज चीन के विश्वाविद्यालयों में ढाई लाख पूर्व-स्नातकों में से आधे से अधिक इंजीनियरिंग पढ़ रहे हैं।

पेकिंग-रेडियो से चीन की सफलताओं को प्रायः खूब बढ़ा-चढ़ा कर समस्त एशिया में अनेक भाषाओं तथा बोलियों में प्रसारित किया जाता है। ऐसे प्रचार ने चीनी सीमा के बाहर भी नये शासन के लिए काफी समर्थन प्राप्त कर लिया है। स्याम, बर्मा, हिन्देशिया तथा अन्य स्थानों में १ करोड़ ४० लाख चीनी उसके विशेष लक्ष्य रहे हैं। अब चीन में लगभग 'दस हजार' संख्या बाहरी विद्यार्थियों की बतायी जाती है।

रूस की भांति समसामयिक चीन के अध्ययन से सीधे यह निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रीय शक्ति न केवल स्थूल सैनिक बल, महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति तथा औद्योगिक क्षमता का जटिल योग है, बल्कि उन मनोवैज्ञानिक एवं सैद्धान्तिक तत्वों का भी योग है, जो किसी राष्ट्र के आन्तरिक नैतिक मनोबल और पड़ोसियों के प्रति अपने आकर्षण का निर्माण करते हैं। आज साम्यवादी चीन में इन्हीं महत्वपूर्ण तत्वों का, जिनको प्रायः अनेक अमरीकी

नीति-निर्माता कम महत्व देते हैं, वहुत मेहनत और होशियारी के साथ, चीन को प्रवल एकता तथा गतिशीलता प्रदान करने के लिए, प्रयोग किया जा रहा है।

(५) चीनी राष्ट्रीय शक्ति का यह संगठन एक नये शासन-ढाँचे में कार्यान्वित किया जा रहा है। सितम्वर, १९५४ में राष्ट्रीय जन-सभा (नेशनल पीपुल्स कांग्रेस) में चीन का नया संविधान समाजवाद की दिशा में संक्रमण को सुविधाजनक वनाने के उद्देश्य से नयी प्रशासनिक कार्रवाइयों के साथ स्वीकृत हुआ, जिससे विशेषकर सोवियत और अन्य पिछलगू साम्यवादी अतिथियों को वड़ा हर्ष हुआ।

नये संविधान में कम्यूनिस्ट चीन को श्रमिक वर्ग द्वारा संचालित तथा मजदूरों और किसानों की मैत्री पर आधारित, जनता का प्रजातंत्रात्मक राज्य वनाया गया है। मध्यवर्गीय तत्वों को राज्य के संविधान की मौलिक परिभापा में कहीं भी स्थान नहीं दिया गया है।

लाल-शासन के प्रथम चार वर्षों में देश का विभाजन क्षेत्रीय-प्रान्तीय समुदायों में किया गया, जिसकी प्रशासनिक समितियाँ गृह-युद्ध की सेनाओं के कम्यूनिस्ट सेनापतियों द्वारा संचालित थीं। जून, १९५४ में सरकारी परिपद ने इस क्षेत्रीय विभाजन को समाप्त कर दिया और उसके स्थान पर केन्द्रीय सरकार और प्रान्तों के वीच सीधे शासन की कड़ी पुनः जोड़ दी गयी। १९५४ में दल के कठोर महामंत्री, शक्तिशाली लीउ शाओ ची ने एक अशुभ वात कही "प्रान्तीय शासक अपने दायरे से वाहर होते जा रहे हैं।"

मार्च, १९५५ में पेकिंग की घोपणा हुई कि दो चोटी के सदस्य, काओ कांग और जाओ शू शीह, दल के प्रति द्रोही थे और उन्हें अपमानजनक ढंग से निकाल दिया गया। कहा जाता है कि काओ कांग ने, जो मञ्चूरिया के औद्योगिक प्रतिष्ठान का प्रमुख था और जिसका पंचवर्षीय योजना में प्रमुख हाथ था, आत्महत्या कर ली। प्रारम्भ में, वह शेन्सी प्रान्त में गुरिल्लाओं का उस समय नेता था, जव 'लम्वी यात्रा' में वचे हुए लोगों ने सर्वप्रथम वहीं अपना सदरमुकाम स्थापित किया था। मार्च, १९५३ में, जव मैंने भारत छोड़ा, तव वह चीन की महान शक्ति और माओ का सम्भाव्य उत्तराधिकारी माना जाता था। साम्यवादी चीनी नेतृत्व से उसका हटाया जाना प्रथम महान परिवर्त्तन था।

१९५५ को गर्मियों में हुफेंग की कुछ स्वतंत्र ढंग की साहित्यिक संस्था की भी सरकारा द्वारा तीव्र भर्त्सना हुई और अनुशासन की कार्रवाई की गयी।

स्पष्टतः शासन में अधिकाधिक सैद्धान्तिक कट्टरता आ गयी । उदाहरण के लिए, चीनी साम्यवादी इतिहास को, वोरोडीन मिशन की असफलताओं तथा तत्कालीन अधिकृत सोवियत नीति के साथ माओ की मौलिक असहमति के उल्लेखों को निकाल कर, फिर से लिखा गया है।

यद्यपि राष्ट्रीय जन-सभा (National People's Congress) को "राज्य-शक्ति के उच्चतम साधन" का स्थान प्राप्त है, तथापि नियंत्रण दल के हाथों में ही रहता ह। उच्च कोटि के साम्यवादी ही आज सभी उच्चतम सरकारी पदों पर आसीन हैं, जिनमें गणराज्य के अध्यक्ष, जनसभा की स्थायी समिति के उपाध्यक्ष, राज्यपरिषद के प्रधान मंत्री, सर्वोच्च न्यायालय के अध्यक्ष तथा एटर्नी जनरल भी हैं।

माओत्से तुंग को चार वर्षों के लिए फिर गणराज्य का राष्ट्रपति चुन लिया गया है। वह दल का निर्विरोध नेता बना हुआ है। वह राष्ट्रीय प्रतिरक्षा परिषद का भी औपचारिक अध्यक्ष है और सर्वोच्च राज्य-सम्मेलन का भी। जनरल चू तेह को माओ के एकमात्र सहायक पद के लिए चुना गया है और कम से कम इस समय तो वह माओ का उत्तराधिकारी मालूम होता है।

× × ×

इन नये नेताओं को अभी एक बहुत बड़ी बाधा को पार करना ह। अन्ततः यह भी हो सकता है कि यही बाधा इनके किये-कराये को चौपट कर दे और उनके विशाल राष्ट्रीय परिवर्तन को उलटपलट दे। वह बाधा है चीनी किसान, जिसने माओ को सत्ता प्रदान की और जो किसी दिन उसको समाप्त भी कर सकता है।

चीन के ५८ करोड़ २० लाख लोगों में से ४७ करोड़ गाँवों में रहते हैं। आज उनके पास जमीन है, इसलिए नहीं कि जेफर्सन के छोटे काश्तकार मालिकों की ग्राम-आर्थिक योजनानुसार पेकिंग कुछ करना चाहता था, बल्कि इसलिए कि माओ जानता था कि भूमि-वितरण के द्वारा वह हमेशा के लिए ग्रामीण जमीन्दारों तथा अधिक समृद्ध किसानों की शक्ति नष्ट कर देगा और सत्ता की दिशा में बढ़ने में वह तत्काल किसानों का सामूहिक समर्थन प्राप्त कर सकेगा।

यह पूरा कर चुकने के बाद, माओ के सामने एक और धर्म-संकट है। एक ऐसा राष्ट्र, जहाँ अधिकतर लोग जमीन पर निर्वाह करते हों, कठोर राज-नीतिक और आर्थिक बन्धनों से मुक्त ग्राम-समाज हों, कभी न कभी स्वतंत्र

राष्ट्र वन सकता है। चीन के मामले में यह वर्तमान केन्द्रित साम्यवादी सरकार के अन्त का कारण वन जायगा।

इसके अलावा, स्वतंत्र ग्राम-समाज, वढ़ती हुई औद्योगिक आवादी तथा सेना के लिए अपना अतिरिक्त अनाज उसी हालत में देगा, जव किसान को इसके वदले में अच्छा स्वास्थ्य, कल्याणकारी सेवाएँ और रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीजें खूव मिलती रहें। सोवियत सहायता के वावजूद चीन की उत्पादन-क्षमता वहुत सीमित है। इसलिए यह पंचवर्षीय योजना के अनुसार भारी उद्योगों के शीघ्र विस्तार को विल्कुल धीमा कर देगी।

इस स्थिति के कारण माओ को अपने उन मौलिक वचनों को, जिनसे गृह-युद्ध-काल में चीनी किसानों का निर्णायक समर्थन प्राप्त हुआ था, भंग करना पड़ेगा। अधिक स्वतंत्रता के वजाय, ग्राम्य चीन पर और अधिक राजनीतिक तथा आर्थिक नियंत्रण लगाना पड़ेगा। सामूहिक उत्पादक सहकारी मण्डल के शीघ्र विकास के लिए एक विशिष्ट पद्धति अपनायी गयी है। १९६० तक समस्त चीन में इस संगठन को फैला देने की योजना है, जो उत्पादन, मूल्य-निर्धारण तथा सभी कृषि-उत्पादनों के वाजार पर कठोर नियंत्रण की व्यवस्था करती है।

एक पीढ़ी पूर्व, जिन संकटों से स्तालिन किसी प्रकार रूस में पार पा सका था और जो आज भी सोवियत संघ की एक वड़ी कमजोरी के रूप में हैं, उनकी अपेक्षा माओ की नयी सरकार के सामने और भी वड़े संकट हैं। १९१७ में वोलशेविकों ने एक ऐसी रूसी कृषि-पद्धति अपनायी, जिसने अपने अन्यायों के साथ-साथ युद्ध के पूर्व, निर्यात के लिए नियमितरूप से काफी गल्ला पैदा किया। जैसा कि १९२० के दशक में हुआ, यदि स्तालिन द्वारा नियंत्रित सामूहिक खेती का उत्पादन और भी नीचे गिर गया होता, तो भी क्रेमलिन को मालूम था कि उत्पादन कम से कम इतना अवश्य होगा जो रूसी जनता को खिलाने के लिए पर्याप्त होगा।

इसके विपरीत, चीन उस उत्पादन में कमी को सहन करने की स्थिति में नहीं है, जो अतीत में इसी प्रकार के ऐतिहासिक नियंत्रणों के वाद आरम्भ हुआ। अधिक से अधिक चीन अपनी आवश्यकता भर के लिए उत्पादन वढ़ा सकता ह। न्यूयार्क राज्य की जितनी आवादी ह, उतनी चीन में हर साल वढ़ जाती ह।

चावल और अनाज की उत्पादन-वृद्धि के लिए अधिक गुंजाइश नहीं है।

पहले ही से चीन में एक एकड़ भूमि में औसतन दो हजार पौंड चावल पैदा होता है, जो भारतवर्ष की औसत उपज का दुगुना है। चीन के अधिकांश भागों में ठंडी जलवायु ने साल में दो फसलों को असंभव वना दिया है। इसका मतलव यह है कि सावधानी के साथ प्रति एकड़ उत्पादन में वृद्धि, जो उसकी वढ़ती हुई आवादी के लिए आवश्यक होगी, रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीजों की पूर्ति तथा समुन्नत सेवाओं के रूप में प्रोत्साहन देने पर भी, एक हद तक पहुँच कर रुक जायगी। खेती के लिए नयी जमीन वहुत ही सीमित है।

पंचवर्षीय योजना के अनुसार खाद्यान्न-उत्पादन में १० प्रतिशत वृद्धि औद्योगीकरण के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक है। यदि यह वृद्धि नहीं हुई तो क्या होगा ?

एक पुलिस-राज्य विना परीशानी के जवर्दस्त अशान्ति को ठिकाने लगा सकता है; किन्तु यहाँ तो अनावृष्टि के वर्ष आते ही रहते हैं और दीर्घ-पीड़ित चीनी किसानों की सहन-शक्ति की भी एक सीमा है। इसके अलावा एशिया में चीन की प्रतिष्ठा का भी तो प्रश्न है। चीन की खेती में गिरावट या एक प्रथम श्रेणी का संकट भारत, जापान तथा अन्यत्र साम्यवाद की वदनामी का कारण वनेगा।

यह ध्यान देने योग्य वात है कि जो अनेक एशियावासी चीन गये और जिनसे मुझे वातचीत करने का मौका मिला, उनमें से किसी ने भी सरसरी निगाह से अधिक चीनी गांवों को नहीं देखा। उनका कहना है कि जो कुछ उन्होंने देखा, वह आकर्षक जान पड़ा; परन्तु उन्होंने स्वीकार किया कि प्रदर्शन के लिए कुछ नमूने स्थापित कर लेना आसान है। मैंने एक वार एक गैर-कम्यूनिस्ट एशियाई देश के चीन-स्थित राजदूत से पूछा कि उसने ग्रामीण चीन का कितना भाग देखा है? " वहुत कम " उसने स्वीकार किया। मैंने पूछा—"क्या किसानों के क्षेत्रीय और राष्ट्रीय समुदाय संगठित किये जा रहे हैं?" "नहीं, विलकुल नहीं।", उसने मुस्कराते हुए जवाव दिया—"माओ ने रूसी इतिहास अच्छी तरह पढ़ लिया है और उसे वहां के कुलक याद हैं।"

भारत में, जैसा कि हम देखेंगे, प्रजातंत्रात्मक सरकार के लिए, जिसने इसके क्रान्तिकारी इतिहास का अध्ययन किया है, किसानों का कल्याण प्रथम महत्व का है। औद्योगिक विकास को उच्च प्राथमिकता प्राप्त है, परन्तु यह व्यापक रूप से समझा जाता है कि एक स्वतंत्र स्थिर समाज के लिए स्वतंत्र स्थिर ग्राम आवश्यक हैं और इसीलिए वे सर्वप्रथम आते हैं।

हर हालत में चीनी किसान, जिसने साम्यवादियों को सत्ताधारी बनाया, चीन के भविष्य के लिए एक बड़े प्रश्न-चिन्ह के रूप में है। आज वह नारों और उत्तेजनाओं के बीच, चीन के नये रूप को आश्चर्यचकित हो कर देख रहा होगा। अपने गाँव की चाय की दूकान पर उसे माओ की नयी-नयी नीतियाँ कभी कभी क्रान्ति के वायदों की खोखली आवाज प्रतीत होती होंगी। अन्ततोगत्वा किसान जो कुछ निर्णय करेगा, वही चीन का भाग्य-निर्णायक होगा।

यह अस्वाभाविक नहीं है कि हम जो प्रजातंत्र का पक्ष लेते हैं और साम्यवादी आक्रामक अभिप्रायों से डरते हैं, यह आशा कर सकते हैं कि किसानों का बढ़ता हुआ असन्तोष पेकिंग की नीतियों को नम्र बना देगा, किन्तु परिस्थिति जटिल है। क्या पेकिंग की निराश और त्रस्त सरकार नरमी या विस्तार की ओर मुड़ेगी ?

क्या बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, वियतनाम, मलाया और सुमात्रा की सम्पन्न किन्तु अपेक्षाकृत खाली जमीन की ओर सैनिक अभियान का उग्र प्रलोभन होगा? अगर ऐसा होता है तो विश्व-संघर्ष निश्चित है। अन्यथा चीन के पश्चिम की ओर के साम्यवादी साथी पर भारी राजनीतिक दबाव डाला जा सकता है, जिसके साइबेरिया के अधिकांश विस्तृत मैदानों ने शायद ही कभी हल का मुंह देखा हो। क्या यह मास्को के नीति-निर्माताओं के लिए गहरी चिन्ता का नया स्रोत नहीं है ?

एक बात निश्चित है। जो धर्मसंकट माओ के समक्ष है. वह विश्व के मामलों में चीन के भावी योग के मूल प्रश्न तक और निश्चित ही एशिया में साम्यवादी सिद्धान्त की यथार्थता तक पहुँचता है। यदि माओ ग्रामीण नियंत्रण के अपने कार्यक्रम को तेज कर देता है, तो उसे किसानों में अशान्ति के खतरे का सामना करना पड़ेगा, जो अन्ततः भयानक लपटों में परिणत हो सकता है और जो कम से कम, खाद्यपूर्ति की कमी को और बढ़ा देगा। यदि वह गति धीमी कर देता है तो अपनी संयोजित अर्थव्यवस्था के भारी जूए में वह हार सकता है। कम्यूनिस्ट नेतृत्व में काफी खींचातानी और उलटफेर के बिना इस प्रश्न का समाधान असम्भव है। १९५५ में बहु-प्रचारित एक लेख में पेंकिंग के मार्क्स-लेनिन इंस्टीटयूट के प्रोफेसर, हुशेंग ने लिखा है कि चीन संक्रान्ति—काल में प्रविष्ट हो चुका है और सशर्त आत्मसमर्पण करनेवालों तथा प्रतिक्रियावादियों के बावजूद उसको देश के औद्योगीकरण को बढ़ाने और धीरे-धीरे कृषि के समाजवादी परिवर्तन के कार्य को पूरा करना है। उसने तीखेपन के साथ और

कहा, "जो कोई भी यह भूल जाता है, वह साम्यवादी नहीं है।" यहाँ स्पष्टतः एक मार्क्सवादी एक सर्वहारा की तलाश में है।

अन्य लोग, जिनमें कदाचित् चीन की विशाल सेनाओं के, जिनमें किसान युवक भी भर्ती हैं, मनोबल के लिए चिन्तित सेनापति भी हैं, ऐसी सैद्धान्तिक बातों से भयभीत हो, यह अभियोग लगा सकते हैं कि क्रान्ति का वर्तमान अस्तित्व उन लोगों के कारण खतरे में है, जो मार्क्स की जीर्णशीर्ण पुस्तकों से अभी भी चिपके हुए हैं।

परन्तु यह तो अटकलबाजी है और केवल एक बात निश्चित है कि चीन पर आज ऐसे संगठित, आत्मविश्वासी तथा महत्वाकांक्षी लोगों के समुदाय का नियंत्रण है, जो बुनियादी आर्थिक निर्माण के लिए, जिसे अर्धविकसित सभी देश चाहते हैं, मानवीय मूल्य की चिन्ता किये बिना अत्याचार तथा बल-प्रयोग करने के लिए तैयार हैं।

स्पष्ट है कि माओ और उसके समर्थक अल्पकालिक रूप में नहीं सोच रहे हैं। १९५४ की जन-सभा (पीपुल्स कांग्रेस) इस कोलाहलपूर्ण जयजयकार के साथ विसर्जित हुई– "वान सुई, वान सुई"–दस हजार वर्ष, दस हजार वर्ष।

चौथा भाग

गांधी का विकल्प

जब मैं रूस की ओर देखता हूँ तो वहाँ का जीवन मुझे प्रभावित नहीं करता। मैं बाइबिल की भाषा में कहूँगा कि सारी दुनिया पाकर भी मनुष्य को क्या मिलेगा, यदि उसने अपनी आत्मा खो दी। यंत्र का एक पुर्जा मात्र बन जाना मानव-सम्मान के विरुद्ध है। मैं चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति समाज का पूर्ण उत्साही और पूर्ण विकसित सदस्य बने।

मोहनदास करमचन्द गाँधी

पन्द्रहवाँ प्रकरण

भारतीय प्रस्तावना

मार्च, १९२३ में लेनिन ने कहा था, "संघर्ष का परिणाम अन्ततोगत्वा इस वात पर निर्भर करता है कि रूस, भारत और चीन में विश्व की अधिकांश आवादी है और निश्चित रूप से यह वहुमत, अप्रत्याशित तेजी से अपनी-अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई में खिच आया है। अतएव विश्व-संघर्ष के अन्तिम परिणाम के सम्वंध में कोई शंका नहीं रह सकती। इस अर्थ में समाजवाद की अन्तिम विजय पूर्णरूपेण और विना किसी शर्त के सुरक्षित है।"

२६ वर्ष वाद रूस और चीन एक संयुक्त साम्यवादी मोर्चे पर खिच आये थे, परन्तु भारत ने, अपने दो शक्तिशाली पड़ोसियों से दोस्ती का नाता रखते हुए और उनकी भौतिक सफलताओं के प्रति एक हद तक सराहना की भावना रखते हुए भी, अपने स्वतंत्र मार्ग पर ही चलने का निश्चय किया। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण वात तो यह है कि इस सन्देश के द्वारा कि परिवर्तन, उन्नति और विकास के लिये हिंसा अनिवार्य नहीं है, मार्क्स और लेनिन के सिद्धांत के मूलतत्व को चुनौती देने वाली एक नयी प्रकार की क्रान्ति भारत में हुई।

ऐसी क्रान्ति कैसे संभव हुई और वह भारत में ही क्यों हुई? इस प्रश्न के उत्तर के लिए, जैसा कि राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद तथा उनके असंख्य देश-वासियों ने, जव मैं वहां १९५१ में सर्वप्रथम गया, मुझे वतलाया कि भारत के गौरवाशाली अतीत के वारे में कुछ जानना चाहिए। आज भी भारत में प्रतिदिन प्रत्येक व्यक्ति उसी के साथ जी रहा है।

किपलिंग के कथन के विपरीत होते हुए भी, पूर्व और पश्चिम शताब्दियों से एक-दूसरे से मिलते आ रहे हैं। अधिकांश अमरीकियों ने अपने छात्र जीवन में एक स्थान पर पढ़ा है कि एक प्रसिद्ध योरोपवासी, महान सिकन्दर ३२५ ई० पू० अपने विश्व-साम्राज्य को मिस्त्र के सिकन्दरिया से लेकर दिल्ली के पश्चिम-उत्तर में अमृतसर तक वढ़ाते हुए भारत पहुँचा था और कहा जाता है कि वहाँ पहुँच कर वह रोया कि अव जीतने के लिए दुनिया में कोई स्थान वाकी नहीं रह गया।

भारत आने के वहुत पहले मैंने कुछ पंक्तियाँ सुनी थीं, जिन्हें मुझे वार-वार

सुनना पड़ा। वे अधिकांश भारतीय विद्यार्थियों को मालूम हैं और वे सिकन्दर की भारत-यात्रा के सम्बंध में एक भिन्न उत्तेजनात्मक प्रतिक्रिया प्रस्तुत करती हैं :–

"पूर्व प्रभंजन के समक्ष झुका,
धैर्यपूर्ण, गम्भीर उपेक्षा में
सैनिक-दल की गर्जना को जाने दिया,
और फिर लीन हो गया विचार में।"

अहिंसा का आधुनिक दोषारोपण? शायद! भारत की स्वयं अपनी प्राचीन युद्ध-परम्परा की टीका? संभव है। चाहे जो कुछ भी हो, भारतीय दृष्टि-कोण का यह लोकप्रिय एवं विशिष्ट प्रतीक मुझे आकर्षक लगा।

सिकन्दर के आगमन के बहुत पहले, आर्यों के प्रारम्भिक आक्रमणों के पश्चात् योरोप और भारत में एक सामान्य जातीय कड़ी स्थापित की जा चुकी है। भारत में आजकल काकेशियन आकृतियां, जो कभी-कभी पश्चिमी यात्रियों को चकित कर देती हैं, यद्यपि इतिहास तथा जिज्ञासा के अतिरिक्त ये बातें अप्रासंगिक हैं, इस बात की प्रमाण हैं कि भारतीय तथा पाकिस्तानी शारीरिक बनावट में, अन्य एशियावासियों की अपेक्षा हमसे अधिक निकट हैं।

भारत में सिकन्दर तथा अंग्रेजों के आगमन के बीच भारतीय इतिहास के दो हजार वर्षों की पश्चिमी इतिहास की पुस्तकों में अधिकतर उपेक्षा की गयी है। तथापि आज अनेक भारतीय, भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक काल की ओर निहार रहे हैं, यह जानते हुए भी कि भारतीय धर्म, दर्शन तथा नैतिकता की अधिकांश मौलिक कल्पनाओं का विकास और प्रतिपादन तीसरी शताब्दी (ईसा के बाद) के पूर्व ही हुआ था।

इस प्रकार सिकन्दर के बाद प्रथम शताब्दी में सम्राट अशोक का विशाल साम्राज्य अफगानिस्तान से मैसूर तक, जिसमें मध्य भारत का दकन तथा दक्षिण भारत का अधिकांश भाग सम्मिलित था, फैला हुआ था। एच. जी. वैल्स ने एक बार लिखा कि, कौन्स्टेन्टाइन तथा चार्लमेग्ने के नाम सुनने की अपेक्षा आज भी अधिकांश जीवित लोग अशोक की याद करते रहते हैं।

परन्तु अशोक का सम्मान उसके आदर्श के विस्तार के लिए अधिक होता है, न कि उसके साम्राज्य-विस्तार के लिए। हिन्दू समाज के प्राचीन चतुर्वर्ण व्यवस्था में पुरोहित ब्राह्मण वर्ग के बाद दूसरी कोटि में योद्धा क्षत्रिय वर्ग के अस्तित्व ने प्राचीन भारतीय समाज में संस्था के रूप में युद्ध के महत्व को

सिद्ध कर दिया है।

इस संदर्भ में छठी शताब्दी ईसा पूर्व, बौद्ध धर्म जाति-व्यवस्था तथा हिन्दू धर्म के उत्तरोत्तर ऱ्हास पर आक्रमण करने के लिए एक सुधार-आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ था। हिंसा के प्रवल विरोध के साथ उसने धीरे-धीरे अपने प्रभाव को, नेहरू के शब्दों में 'ताजी हवा के समान समस्त भारतवर्ष म फैला दिया।' २५०० वर्ष वाद मोहनदास गाँधी की याद दिलाने वाली भाषा में वुद्ध ने कहा था, "घृणा से घृणा शान्त नहीं होती। यह एक शाश्वत नियम है। हमें क्रोध को प्रेम से, छल को सत्य से, वुराई को भलाई से और लोभ को उदारता से जीतना चाहिए।"

वौद्ध प्रभाव से अशोक ने युद्ध का त्याग कर दिया। दरवार में शाकाहार अपनाया गया। अशोक इतना सच्चा वौद्ध था कि वह एक भिक्षुक वन गया और वह इतना पक्का धर्मप्रचारक था कि उसने ६४,००० वौद्ध महन्तों को अपने व्यक्तिगत वेतन-भोगियों में रखा था। उन्हें आदेश था कि वे वलपूर्वक धर्म परिवर्त्तन न करें, वल्कि देश–विदेश में शान्तिपूर्वक सदोपदेश द्वारा धर्म-प्रचार करें।

तीन शताब्दी पूर्व स्वयं वुद्ध ने अपने शिष्यों को वतलाया था कि उन्हें क्या शिक्षा देनी है–सभी देशों में जाओ और यह महान उपदेश दो कि गरीव और धनी, नीच और ऊँच सभी एक हैं, और जिस प्रकार समुद्र में सभी नदियां मिल जाती हैं, उसी प्रकार सभी जातियाँ इस एक धर्म में मिल जायं।

भारत के प्रधान मंत्री वनने के वहुत पूर्व, नेहरू ने लिखा था कि राष्ट्रीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की कसौटी यह है कि वह किस प्रकार के नेताओं के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करती है। गाँधीजी से दो हजार वर्ष से भी अधिक पहले करोड़ों भारतवासियों ने वुद्ध और अशोक के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की थी।

वुद्ध के वाद शताब्दियों तक आक्रमणों के क्रम तथा संघर्ष और विभाजन चलते रहे। भारत एक वार फिर गुप्त साम्राज्य के महान युग (३२०–४८० ई.) में उठा। वाद की शताब्दियों का संक्षिप्त वर्णन यह प्रकट कर देगा कि भारतीय संस्कृति और उसका प्रभाव व्यापकरूप से दक्षिणपूर्वी एशिया में फैल गया और अन्त में 'महान भारत' पूर्व और उत्तर में फैला, जिन्हे आज हिन्देशिया, मलाया, कम्वोडिया, लाओस, वर्मा और स्याम कहते हैं, जहां उसने चीन की विस्तारवादी शक्ति से मिल कर उसे रोक दिया। उसकी शाखाएँ फिलिपाइन्स तक भी पहुँच गयी थीं।

चीन के साथ भारत के ऐतिहासिक सम्बन्ध, उन स्थानों के अतिरिक्त जहाँ उनके प्रतिस्पर्धी आर्थिक और सांस्कृतिक स्वार्थ दक्षिणपूर्व एशिया में मिलते थे, अन्यत्र सदैव सीमित ही थे। यद्यपि आजकल दिल्ली और पेकिंग में प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्धों की वड़ी चर्चाएँ रहती हैं, फिर भी ये सांस्कृतिक सम्बन्ध थोड़े से भारतीय वौद्ध भिक्षुओं की चीन-यात्रा और उससे भी कम चीनी वौद्ध भिक्षुओं की भारत-यात्रा तक ही सीमित रहे। धीरे-धीरे एक हजार वर्ष की अवधि में धार्मिक और व्यापारिक सम्पर्क वढ़े, परन्तु जैसा कि कभी-कभी दावा किया जाता है, "दीर्घकालीन और घनिष्ठ सम्बन्धों" से वे वहुत दूर थे।

मुस्लिम विजेताओं के निरन्तर आक्रमणों ने १३ वीं शताब्दी तक हिन्दू सम्राटों और राजाओं के प्रभुत्व को विच्छिन्न कर दिया। इस युग में प्राचीन वैभव के अनेक साक्ष्य विनष्ट कर दिये गये—उदाहरण के लिए बिहार में नालन्दा विश्वविद्यालय, जिसमें कभी ३० हजार छात्र रहते थे, जला दिया गया। दीर्घकालीन मुस्लिम प्रभुता महान उदार मुगल सम्राट अकवर के शासनकाल (१५५६–१६०५) में चरमोत्कर्ष पर थी।

अकबर की मृत्यु के पाँच वर्ष पूर्व, महारानी एलिजावेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को फरमान दिया और ब्रिटिश प्रवेश-काल उच्च सैनिक टेक्नीक की सहायतासे प्रारम्भ हो गया। अधिक समय नहीं वीत पाया था कि अंग्रेज, डच, पुर्तगाली तथा फ्रांसीसी व्यापारी तथा साहसिक लोग भारत में अपना-अपना गढ़ वनाने के लिए लड़ने लगे। अगली शताब्दी के मध्य तक, ब्रिटेन की भुता स्थापित हो गयी।

भारतीयों ने मुझसे दुख के साथ कहा है, "तुम अमरीकियों ने उस समय अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की, जव हमने अपनी खो दी"। एक विचित्र संयोग है कि जिस लार्ड कार्नवालिस ने यार्कटाउन में वाशिंगटन के समक्ष अपनी तलवार समर्पित की थी, वही वाद में भारत में ब्रिटिश गवर्नर जनरल वना।

उसके और उसके उत्तराधिकारियों के कुशल निर्देशन में भारत उपनिवेश-वाद का एक वड़ा उदाहरण वन गया। वाद में लेनिन के अनेक सिद्धान्तों का यह आधार वना, औद्योगिक इंग्लैण्ड का संलग्न वृहद् कृषि-क्षेत्र, ब्रिटिश कारखानों के लिए कच्चे माल का उत्पादक और साथ ही तैयार ब्रिटिश माल के लिए विश्वसनीय और लाभदायक वाजार।

जैसा कि मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, वहुत-सी अच्छी वातें भी प्रायः भुला दी गयीं और अधिकांश भारतीयों के लिए ब्रिटिश उपनिवेशवाद के साथ

उनके दो शताब्दियों के अनुभव की स्मृतियो में, आर्थिक दासता के संकलित क्षोभ, ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति की निर्यातित विपदा, संस्कृतियों का अनिवार्य संघर्ष और गोरों की वर्णगत महत्ता के चिन्ह मौजूद हैं। कटु स्मृति का यह अवशेष यह समझने में सहायता करता है कि आज क्यों भारतीयों के लिए और सावारणतया एशियावासियों के लिए उपनिवेशवाद उस साम्यवाद से भी अविक क्षोभकारक है, जिसका चीन के वाहर वहुत कम एशियावासियों को साक्षात् अनुभव है।

भारत के हाल के सफल अहिंसात्मक स्वातंत्र्य संघर्ष की पार्श्वभूमि में यह याद रखना आवश्यक है कि ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के उसके प्रथम प्रयत्न हिंसात्मक और रक्तपातपूर्ण थे। चीन में तायपिंग विद्रोह के शुरू होने के सात वर्ष वाद, १८५७ में, ब्रिटेन की भाड़े की सेना वंगाल के सिपाहियों में महान भारतीय विद्रोह भड़क उठा।

सन् १७५७ के प्लासी-युद्ध में क्लाइव ने केवल नौ सौ योरोपीय सैनिकों तथा दो-हजार सिपाहियों से इंग्लैण्ड की महान विजय प्राप्त की थी। सात वर्षों के भीतर ही छोटे-छोटे सैनिक विद्रोह प्रारम्भ हो गये थे। वाद में १८२४ में, जव ४७ वीं पदाति सेना ने वर्मा में प्रवेश करने से इन्कार कर दिया, तव ब्रिटिश तोपखाने ने उन्हें उड़ा दिया; परन्तु दमन से केवल फूट वढ़ी। १८४४ में सात भारतीय रेजिमेण्टों ने विद्रोह किया और उनको भी वड़ी कठोरता से दवा दिया गया।

१८५० के दशक में भारतीय राष्ट्रवादी अपनी शक्ति महसूस करने लगे थे। उस समय ब्रिटिश अफसरों के मातहत दो लाख ५७ हजार भारतीय सैनिक ३६ हजार योरोपीय सैनिकों से वहुत अविक थे। पदच्युत भारतीय नरेश वड़ी दिलचस्पी से क्रीमियन युद्ध की प्रगति देख रहे थे और यह आशा कर रहे थे कि ब्रिटेन का प्राचीन शत्रु रूस, भारत में ब्रिटिश शासन का अन्त कराने में सहायता करेगा।

जव १८५६ में, नया गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग भारत के लिए रवाना हुआ तव वह चिन्तित था। उसने कहा—"भारतीय आकाश के स्वच्छ और शान्त होते हुए भी उसमें एक छोटा सा वादल प्रकट हो सकता है, जो मनुष्य के हाथ से वड़ा नहीं होगा, परन्तु जो धीरे धीरे वढ़कर अन्ततः फूट सकता है और हमारा सर्वनाश कर सकता है।"

एक वर्ष उपरान्त वंगाल में वह वादल फूट पड़ा जव कि हिन्दू

सिपाहियों को पता लगा कि कारतूसों में 'गाय और सूअर की चर्बी लगी रहती है। अभ्यास पर गयी हुई १९ वीं बंगाल पदाति सेना ने उन कारतूसों का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया, जिनको उन्होंने सभी भारतीयों को ईसाई बनाने का एक ब्रिटिश षड़यंत्र समझा।

इसी चिनगारी से शीघ्र ही सारे बंगाल में लपट फैल गयी। उत्तर-मध्य भारत में अन्य भारतीय सेनाओं ने विद्रोह कर दिल्ली की ओर कूच कर दिया और भूतपूर्व मुगल बादशाह को भारत का नया बादशाह घोषित कर दिया। इनको दबाने के लिए भेजी गयी भारतीय सेनाएँ भी उनसे मिल गयीं। कुछ समय के लिए ऐसा लगा कि अपनी अल्पसंख्या और सबसे अलग हो जाने के कारण अंग्रेज परास्त हो जायेंगे, परन्तु उत्तर मध्यभारत के कुछ ही भागों में किसानों तथा छोटे-छोटे दूकानदारों ने इस विद्रोह का साथ दिया। जब सिखों और गुरखों के नये दस्ते उनकी सहायता को पहुँच गये, तब युद्ध का ज्वार अंग्रेजों के पक्ष में पलट गया।

बहुत से भारतीय इसे अपनी आजादी की पहली जंग मानते हैं और झांसी की रानी, जो एक युवती राजकुमारी थीं और जिन्होंने अपने राज्य में विद्रोह का झंडा खड़ा कर अपनी सेनाओं का नेतृत्व करते हुए वीरगति प्राप्त की, जैसे देशभक्तों की प्रशंसा करते हैं। नेहरू ने अपनी पुस्तक, 'भारत की खोज' (डिसकवरी आफ इण्डिया) में इस विद्रोह को एक सामन्तवादी विस्फोट माना है, जिसका नेतृत्व सामन्तों तथा उनके अनुयायियों ने किया और जिसको विदेशी–विरोधी भावना का व्यापक तथा पूर्ण समर्थन प्राप्त था। सामन्तों को व्यापक क्षेत्र में जनता की सहानुभूति प्राप्त थी, परन्तु वे अयोग्य और असंगठित थे और उनके पास कोई रचनात्मक आदर्श या सामुदायिक हित न था। इतिहास में उन्होंने अपना भाग पूरा कर लिया था और भविष्य में उनके लिए कोई स्थान न था।"

१८५७ के असफल विद्रोह से भारतवासी सीखने लगे, जैसाकि नेहरू ने बाद में कहा, "सामन्ती व्यवस्था के दिन लद चुके हैं, उसके लिए युद्ध से स्वतंत्रता नहीं मिलेगी।" दुर्भाग्य से १८५७ में, अंग्रेजों ने यह नहीं सीखा कि हिंसा और प्रतिशोध की भावना से वफादारी नहीं पैदा होगी। नेहरू ने बताया है कि किस प्रकार उनके शहर, इलाहाबाद में ब्रिटिश सैनिकों तथा 'सिविलियनों' ने 'खूनी निर्णय' किये, या सैकड़ों भारतवासियों को बिना किसी प्रकार का मुकदमा चलाये फाँसी पर लटका दिया।

उन्होंने लिखा है कि कतिपय स्पष्टवादी तथा सम्माननीय ब्रिटिश इतिहास-कारों ने समय-समय पर पर्दाफाश किया है और उस समय विशाल पैमाने पर व्याप्त जातीय उन्माद तथा अवैध मृत्युदण्ड देने की प्रवृत्ति की एक झांकी दिखायी है। कोई भी यह सब भुला देना चाहेगा, क्योंकि यह एक भयानक चित्र है, जो नाजीवाद और आधुनिक युद्ध द्वारा स्थापित वर्बरता के नये स्तरों के अनुसार भी मानव को निकृष्टतम रूप प्रदर्शित करता है। यदि हम विरोध करते तो हमें एक साम्राज्यवादी जाति के 'सिंह गुणों' का स्मरण कराया जाता।

भावी प्रधान मंत्री ने अन्त में कहा, "एक भारतीय की हैसियत से यह सब लिखने में मुझे शर्म आती है, क्योंकि इसकी स्मृति से चोट पहुँचती है और इससे भी गहरी चोट इस बात से लगती है कि इस अपमान को हमने इतने समय तक कैसे सहन किया। मैं इसके लिए किसी भी प्रकार का प्रतिरोध पसन्द करता, उसका परिणाम चाहे जो भी होता।"

परन्तु अन्ततोगत्वा जो प्रतिरोध किया गया, वह विशेष प्रकार का था और इसने भारतीय क्रान्ति को एक विशेष प्रकार की क्रान्ति बना दिया।

सोलहवाँ प्रकरण

अफ्रीका से एक नये प्रकार की क्रान्ति

१८५७ के सैनिक 'विद्रोह' के वारह वर्ष वाद और विक्टोरिया के उस साम्राज्य की सम्राज्ञी वनने के ८ वर्ष पूर्व, जिसमें सूर्य कभी नहीं डूवता था, पश्चिमी भारत में, समसामयिक क्रान्तिकारी निकोलाइ लेनिन तथा सुन यात सेन के जन्म के दो वर्ष के भीतर ही मोहनदास गाँधी का जन्म हुआ।

गाँधी का जन्म वकीलों तथा सरकारी कर्मचारियों के परिवार में हुआ और लेनिन की भांति ही उन्हें भी वकील के रूप में शिक्षित किया गया। लेनिन की तरह गाँधी के विचार भी अनेक मिश्रित स्रोतों से प्राप्त थे, जिनमें पश्चिमी प्रभाव भी शामिल थे। गाँधी कानून के अध्ययन के लिए इंगलैण्ड गये और वाद में उन्होंने इन वर्षों के अंग्रेजी प्रभावों के प्रति प्राय: सम्मान व्यक्त किया।

लेनिन की भाँति ही गाँधी को भी निराशाजनक दरिद्रता के वीच अपने पेशेवर जीवन के साथ चलना कठिन मालूम हुआ। लेनिन को जार की पुलिस ने साइवेरिया भेज दिया और गाँधी स्वयं कुछ भारतीय व्यापारियों के सलाहकार के रूप में दक्षिण अफ्रीका गये।

भारत के एक न्यायालय में, जव वे पहली वार एक दस डालर के मामले में पैरवी कर रहे थे तव वे जज के सामने संकोचवश वोल भी न सके और लोगों की हँसी के वीच उन्हें कचहरी से वाहर निकल जाना पड़ा। एक व्रिटिश एजेण्ट के घर से निकाल दिये जाने के वाद, जहाँ वे अनिच्छापूर्वक अपने भाई के लिए सहायता माँगने गये थे, उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे फिर कभी नहीं सहायता माँगेंगे और न कभी अंग्रेजों के चापलूस वन कर रहेंगे।

अपने विश्वासों के अनुसार रहने का साहस उनका स्वर्णिम नियम वन गया। उन्होंने कहा, "मानव समाज में अर्थात् स्वतंत्रता-प्रिय समाज में कायरों के लिये कोई स्थान नहीं है।"

दक्षिण अफ्रीका में उनके साहस की परीक्षा जातीय भेदभाव से हुई, जिसे गोरे योरोपियनों ने भूरे भारतीयों तथा काले अफ्रीकियों पर लाद रखा था। पश्चिमी पोशाक पहने गाँधी ने, योरोपियनो के लिए सुरक्षित रेल के डिव्वे में यात्रा करने का आग्रह किया। जव उन्होंने वहाँ से हटने से इन्कार किया तो उन्हें जवर्दस्ती वाहर निकाल दिया गया।

ट्रेन रवाना हो गयी। ठंडी रात में प्लेटफार्म पर बैठकर उन्होंने अपने-आप से पूछा, "मैं अपने अधिकारों के लिए लड़ूं या भारत वापस चला जाऊं ?" रात में बहुत देर के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत वापस जाना कायरता होगी।

पहुँचने के एक सप्ताह के अन्दर ही गाँधी ने प्रिटोरिया के सभी भारतीयों की एक सभा बुलायी। वे उनकी हालत की एक तस्वीर खींचना चाहते थे।

२४ वर्ष की उम्र में, जनता के सम्मुख अपने प्रथम भाषण में उनकी झिझक चली गयी थी। जो व्यक्ति अपने अधिकारों के लिए लड़ना चाहता था, उसको उन्होंने एक नयी सलाह दी। उन्होंने सुझाव दिया कि हमारा पहला कदम होना चाहिए योरोपियनों की सही आलोचना का उत्तर देना और अपनी त्रुटियों को सुधारना। उन्होंने विशिष्ट रूप से भारतीयों से अनुरोध किया कि वे सफाई की आदतें डालें, जातीय तथा धार्मिक भेदभाव दूर करें और व्यापार में भी सत्य बोलें। इस ठोस नींव के आधार पर उन्हें अपने अधिकारों के लिए शान्ति, किन्तु दृढ़ता के साथ लड़ना चाहिए।

एक धनवान व्यापारी ने उदास होकर कहा, "यह देश आप जैसे आदमियों के लिए नहीं है। रुपया कमाने के लिए हम अपमान सहना बुरा नहीं मानते और इसीलिए तो हम यहाँ पर हैं।" परन्तु गाँधी के साहस तथा नये दृष्टिकोण ने भारतीय समुदाय को उद्वेलित कर दिया।

वर्षोपरान्त गांधी का कार्य सफलता के साथ पूरा हो गया। धैर्यपूर्ण बातचीत के द्वारा उन्होंने अदालत के बाहर विभिन्न पक्षों में समझौता कराया। उनका विश्वास था कि वकील का यही कर्त्तव्य है। जब वे भारत के लिए रवाना होने की तैयारी कर रहे थे, तभी योरोपीय धारासभा ने अचानक एक कानून पास कर भारतीयों के मत देने के सीमित अधिकार को भी रद्द कर दिया। गाँधी ही ऐसे व्यक्ति जान पड़े, जिन्हें इस भेदभाव के प्रतिरोध का मार्ग मालूम था। उनसे सहायता माँगी गयी। उन्होंने एक महीने तक रुकने की स्वीकृति दे दी, किन्तु वहां वे बीस वर्ष तक रह गये।

चूंकि उनके विचारों ने अफ्रीका, भारत तथा अन्य स्थानों में अगले पचास वर्षों में एक अपार शक्ति का संचार किया, इसलिए यह अत्यावश्यक है कि, कम से कम सामान्य रूप में उन्हें समझने की हम कोशिश करें कि वे विचार क्या हैं और किस प्रकार बड़े व्यावहारिक ढंग से उनके अनुभव तथा दर्शन से उनका विकास हुआ ?

१८९४ में गांधी ने नेटाल भारतीय कांग्रेस का संगठन किया और बाद में उसी प्रकार की संस्थाएँ ट्रान्सवाल और केपटाउन में भी स्थापित हुईं। पहले तो ऐसा प्रतीत हुआ कि उनका कार्यक्रम अफ्रीका में उसी प्रकार के वार्षिक आवेदनों की पुनरावृत्ति करना होगा, जिनके द्वारा उस समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भारत में अंग्रेजों पर निष्फल प्रहार कर रही थी।

परन्तु शीघ्र ही नये तत्व उभर आये। गाँधी ने जहाँ एक ओर योरोपियनों से भारतीयों के लिए लोकतांत्रिक अधिकारों की अपील की, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अपने लोगों में अभूतपूर्व रचनात्मक सेवा का कार्य आरम्भ किया।

नेटाल भारतीय कांग्रेस ने घरेलू स्वच्छता, व्यक्तिगत आरोग्य और उत्तम मकानों की आवश्यकता पर व्याख्यानों तथा शिक्षा-क्रमों की व्यवस्था की। गाँधी ने कहा कि अनेक भारतीयों की गन्दगी तथा निम्न कोटि के घरों को, जिन्हें योरोपियनों ने उन्हें अलग रखने का बहाना बना रखा है, स्वयं भारतीयों को दूर करना होगा। इसको पूरा करने के लिए उन्हें मिल कर काम करना सीखना चाहिए। निरक्षर तथा निम्नवर्ग के मजदूरों के बच्चों के लिए, जिनकी संख्या समाज में सबसे अधिक थी, उन्होंने नेटाल भारतीय शिक्षण संघ की स्थापना की, जिसका खर्च हाल में संगठित काँग्रेस के चन्दे से चलता था।

धीरे-धीरे रचनात्मक सेवा पर बल और अन्याय के लिए व्यक्तिगत तथा तात्कालिक दायित्व ने गाँधी के जीवन में क्रान्ति पैदा कर दी। उन्होंने अपनी कुलीनवर्गीय आदतों को छोड़ दिया और गरीबों की पोशाक तथा उनकी साधारण जीवन-प्रणाली अपनायी। उन्होंने अपना शहर का मकान भी छोड़ दिया और देहात के खेतों में चले गये, जहां बिना किसी ऊँच-नीच के भेदभाव के सभी भारतीयों के लिए सर्वदा द्वार खुला रहता था।

गाँधी ने कहा कि अधिकांश जनतन्त्रवादी तथा उदारवादी एवं हिंसात्मक क्रान्ति में विश्वास करने वाले भी यह सोचते हैं कि, जब तक वे शासन की बागडोर, मत या बल से प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक उन्हें सुधारों के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। उन्होंने सन्देह प्रकट किया कि जो आज छोटे-छोटे सुधारों के लिए, जो उनकी पहुँच में है, उत्सर्ग करने के लिए तैयार नहीं हैं, वे बाद में बड़े-बड़े सुधारों के लिए कैसे तैयार हो सकेंगे? उन्होंने पूछा, "नालियों की आवश्यक सफाई के लिए स्वराज आने तक क्यों रुका जाय?"

जनतंत्रवादी रचनात्मक सेवा के इस नये साधन के अतिरिक्त, गाँधी पहले के क्रान्तिकारियों की अपेक्षा एक भिन्न तथा अधिक कठिन लक्ष्य की खोज

में थे। न केवल अपने विरोधियों को शक्ति से न जीतने की उनकी इच्छा थी, वल्कि वे उनको मत-पत्रों की वाढ़ में भी फँसा कर नहीं छोड़ देना चाहते थे। वे उनको वदलना चाहते थे—या यों कहिए कि उनसे वातचीत करके या उनको समझा-वुझाकर सत्य को मनवाना चाहते थे, या उनकी वात स्वयं मानना चाहते थे।

औपनिवेशिक शासन के अत्याचार तथा आर्थिक शोषण से न तो वे सर्वहारा अधिनायकतंत्र का निर्माण करना चाहते थे और न वहुमत के प्रजातंत्रात्मक अत्याचार की स्थापना करना चाहते थे; प्रत्युत उनका उद्देश्य था, सव के हित के लिए कार्य करने वाले समान नागरिकों की समाज-रचना। उनका तर्क सचमुच ही उन क्रान्तिकारियों को विचित्र-सा लगा जो विश्वास करते थे कि हिंसा ही एक मात्र यथार्थवादी मार्ग है।

उन्होंने आग्रह किया कि एक अच्छे समाज के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ौसी में विश्वास रखे और समझाने-वुझाने की प्रणाली के प्रति सम्मान रखे। सत्य की खोज के लिए यह मान्यता आवश्यक है कि पूर्ण सत्य किसी एक व्यक्ति, एक दल, एक वर्ग, एक जाति के पास नहीं है और चूँकि सभी मानवीय विचार एकांगी हैं, इसलिए प्रत्येक दृष्टिकोण को व्यक्त करने की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए तथा उस पर विचार और उसका सम्मान होना चाहिए, भले ही प्राय: उसका विरोध हो और उसे ठुकरा दिया जाय। उन्होंने कहा, "सत्य की खोज के लिए मनुष्य को स्वतंत्र होना चाहिए। सत्य उसको मुक्त कर देगा।"

सत्य की इस कल्पना से उन्होंने अहिंसा अथवा प्रेम का सहज निष्कर्ष निकाला, जिसको निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) का गलत नाम दिया गया। उनके लिए वाइविल के उपदेश— अपने लिए दूसरों से जो करवाना चाहते हो वही दूसरों के साथ भी करो; जो तुम्हारे दाहिने गाल पर चाँटा मारता है उसके सामने वायाँ भी फेर दो; अपने पड़ौसी से उतना ही प्रेम करो, जितना अपने से करते हो —धार्मिक नेताओं द्वारा दुहराये जाने वाले नारे मात्र नहीं थे, वल्कि राजनीतिक कार्य के लिए आवश्यक और व्यावहारिक सिद्धान्त थे। ईसा के उपदेश (सर्मन आन दी माउण्ट) के अनुसार जीवन-यापन से कोई भी अपने विरोधी में श्रेष्ठ भावना जागृत कर सकता है और इस प्रकार मन और मस्तिष्क की एकात्मकता की ओर वढ़ सकता है, जो एक श्रेष्ठ मानव समाज के लिए आवश्यक है।

इन सिद्धान्तों का पालन करते हुए उन्होंने जानबूझ कर अपने शत्रु से लाभ उठाने का यत्न नहीं किया। १८९१, में जब एक बार दक्षिण अफ्रीकी गोरों की भीड़ के हाथ उन्हें लगभग अवैध मृत्यु-दण्ड मिल चुका था, तब उन्होंने उसके नेताओं को दण्ड दिलाने से इन्कार कर दिया, यद्यपि सरकार उन्हें दण्ड देने के लिए तैयार थी। १८९९ में, जब बोअर-युद्ध में अंग्रेज बहुत बुरी तरह फँस गये थे, तब गाँधी ने आंदोलन को बन्द कर दिया और ग्यारह सौ भारतीयों का चिकित्सा-स्वयंसेवक-दल बनाया, जिनमें से बहुतों को लेकर वे लड़ाई के मोर्चे पर सेवा करने के लिए गये। इसके लिए उन्हें और अन्य छत्तीस भारतीयों को 'साम्राज्य युद्ध तमगे' मिले।

गाँधी का विश्वास था कि सर्वदा समझा-बुझाकर सम्मानपूर्ण समझौते के लिए प्रयत्न करना चाहिए, अपने उद्देश्यों को इस सीमा तक निश्चित कर देना चाहिए कि वह विरोधी के स्वीकार करने की शक्ति में हो और तमाम विश्वासघात के बावजूद, विरोधी के शब्दों तथा उसके इरादों में विश्वास बनाये रखना चाहिए। उन्होंने कहा, "इसके पीछे यह विश्वास है कि 'नीरो' भी बिलकुल हृदयहीन नहीं था।"

जब गाँधी ने भारतीयों से दक्षिण अफ्रीका के प्रधान मंत्री, जान क्रिश्चियन स्मट्स के मौखिक आश्वासन पर आधारित समझौते को स्वीकार कर लेने के लिए कहा, तो उनमें से कुछ उग्र लोगों ने तर्क प्रस्तुत किया कि स्मट्स पहले ही हमको अनेक बार धोखा दे चुका है। गाँधी ने जवाब दिया, "अहिंसा में विश्वास रखने वाला भय को तिलांजलि दे देता है।"

गाँधी ने कहा, "विरोधी यदि बीस बार भी धोखा देता है, तो अहिंसक सिपाही को इक्कीसवीं बार विश्वास करने के लिए तैयार होना चाहिए, क्योंकि मानवीय प्रकृति में पूर्ण विश्वास ही उनके सिद्धान्त का सार है।"

समझौता करने की अपनी इच्छा के साथ गाँधी यह भी मानते थे कि, कुछ ऐसे शाश्वत सिद्धान्त हैं, जिनमें समझौता के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती और उनके पालन के लिए जीवनोत्सर्ग के लिए भी तैयार रहना चाहिए; परन्तु शासित की स्वीकृति पर आधारित समाज के प्रति वचनबद्ध होने के कारण, गाँधी ने सिद्धान्तों के नाम पर दूसरों की जान लेने के साधारण हिंसात्मक मार्ग को अस्वीकार कर दिया।

वे टालस्टाय से सहमत थे, जिन्होंने १९०५ के असफल रूसी विद्रोह के बाद लिखा कि रूस में जो कुछ चल रहा है, वह मानवीय एकता के साधन के

रूप में हिंसा के प्रयोग की व्यर्थता और हानि का प्रमाण है। टाल्स्टाय ने लिखा, "यद्यपि ईसाई दुनिया में असंख्य क्रान्तिया तथा क्रान्तिकारी हो चुके हैं, फिर भी, वहुसंख्यकों पर कुछ लोगों का प्रभुत्व, भ्रष्टाचार, मिथ्याचार, उत्पीड़न का भय, दासता, क्रोध और जनता की निर्ममता, ये सारी वातें पूर्ववत् वनी हुई हैं और फैलती तथा विकसित भी होती जा रही हैं।

टाल्स्टाय की रचनाओं में अपनी अहिंसा के लिए 'युक्तिसंगत आधार' देख कर ही गाँधी ने टाल्स्टाय को अपना गुरु माना। फिर भी, गाँधी ने यह महसूस किया कि टाल्स्टाय की हिंसा की अस्वीकृति पहला कदम मात्र थी। अन्याय के विरुद्ध एक प्रकार की सामूहिक तथा क्रान्तिकारी संघर्ष की आवश्यकता उन्होंने देखी। उन्होंने लिखा, "शान्तिप्रियता की अपेक्षा सच्चाई अधिक महत्वपूर्ण है।"

गांधी ने निष्क्रियता और विवशता की अपेक्षा युद्ध और पराजय को अच्छा समझा। वे पलायन और कायरता के वजाय 'रक्तपात' को भी सहन कर सकते थे। उन्होंने कहा, "मेरा तो विश्वास है कि जहाँ कायरता और हिंसा में से किसी को चुनना हो, वहाँ में हिंसा के लिए सलाह दूँगा।"

चूँकि गाँधी ने सत्य और न्याय के लिए संघर्ष का एक नया मार्ग ढूँढ़ निकाला, एसा मार्ग, जिससे हिंसावादी क्रान्तियों के भ्रष्टाचार से वचा जा सकता था, इसलिए उनको मार्ग के चुनाव की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी। उन्होंने कहा, "मेरी कल्पना की अहिंसा दुष्टता के विरुद्ध हिंसात्मक प्रतिरोध की अपेक्षा अधिक क्रियाशील और संघर्षशील है। हिंसा का रूप ही दुष्टता को वढ़ाने वाला है।"

भारतीयों में केवल रचनात्मक सेवा और योरोपियनों से प्रतिवेदन के द्वारा दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के अधिकारों की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयासों की विफलता के कारण ही, गाँधी अहिंसात्मक संघर्ष की इस नयी कल्पना पर पहुँचे। चूँकि वे भारतीयों से संख्या में (१०:१ के अनुपात में) कहीं अधिक थे, इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से भी सफल हिंसा के लिए दरवाजे वन्द थे और मतदान द्वारा विरोधी को अपदस्थ करने की सामान्य लोकतांत्रिक आशा भी नहीं थी। इस धर्मसंकट की स्थिति से एक नयी युक्ति निकली।

× × ×

१९०६ में यारोपियनों ने जव एशिया-विरोधी नया कानून लागू कर दिया तव गाँधी ने अपने अनुयायियों से उस कानून का खुले आम और शान्तिपूर्वक

उल्लंघन करने के लिए कहा। तुरन्त ही तीन हजार से भी अधिक लोगों ने ऐसा करने की शपथ ली। सामूहिक सविनय अवज्ञा का जन्म हुआ और गाँधी पहली बार जेल गये।

उन्होंने समझाया कि यह नया मार्ग क्यों अपनाया गया। "१९०६ तक मैंने केवल तर्क के प्रभाव पर भरोसा किया। मुझसे अधिक शायद ही किसी ने इतन आवेदन-पत्र भेजे होंगे और इतने कोरे तर्क स्वीकार किये होंगे और मैं इस मौलिक निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यदि आप सचमुच कोई महत्वपूर्ण कार्य करना चाहते हैं, तो केवल तर्क से काम नहीं चलेगा, आपको हृदय भी प्रभावित करना पड़ेगा।"

उन्होंने आगे कहा, "तर्क का प्रभाव अधिकतर मस्तिष्क पर पड़ता है, परन्तु हृदय पर प्रभाव कष्ट-सहन का पड़ता है। वह मनुष्य के आन्तरिक ज्ञान का द्वार खोल देता है। मानव जाति का चिह्न कष्ट सहन है, तलवार नहीं।"

यह जानते हुए कि वे राजनीतिक कार्य के परम्परागत लोकतांत्रिक दृष्टिकोण को नयी सीमाएँ प्रदान कर रहे हैं, गाँधी ने लिखा, "ब्रिटिश इतिहास के ऊपरी अध्ययन ने हमको यह सोचने के लिए मजबूर किया कि सारी सत्ता संसद के द्वारा जनता में आती है। सत्य तो यह है कि सत्ता जनता में निहित है।"

१८९४ में उन्होंने यह प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर दिया कि आवेदनों की राजनीति को ठोस रूप प्रदान करने के लिए मानव-सेवा में संगठित गैर-सरकारी प्रयत्नों की आवश्यकता है। अब १९०६ में उन्होंने निश्चय किया कि अन्याय का शान्तिपूर्ण प्रतिरोध दूसरा पक्ष है। उन्होंने लिखा, "सविनय अवज्ञा शक्ति का भण्डार है।" उन्होंने थोरियो के शब्द को हिन्दी में 'सत्याग्रह' नाम दिया, जिसका मोटे तौर पर अर्थ होता है 'आत्मबल'। उन्होंने सच्चाई के लिए संस्कृत शब्द 'सत्य' और खूब जोर से पकड़ने के लिए 'आग्रह' शब्द लिया।

उन्होंने समझाया कि सत्याग्रह का अर्थ दुष्ट के समक्ष समर्पण नहीं है, बल्कि इसका अर्थ अत्याचारी की इच्छा के विरुद्ध अपनी सम्पूर्ण आत्मा को लगा देना है। उनका विश्वास था कि सत्याग्रह के द्वारा, किसी भी अकेले व्यक्ति के लिए, अपने सम्मान, अपने धर्म, अपनी आत्मा की रक्षा के लिए अन्यायपूर्ण साम्राज्य की समूची शक्ति को चुनौती देना और उस साम्राज्य के पतन अथवा उसके पुनरुद्धार के लिए नींव डालना सम्भव है।

गांधी के सामूहिक सविनय अवज्ञा के प्रयोग के परिणामस्वरूप स्मट्स की जेलें

हजारों भारतीयों से खचाखच भर गयीं। गाँधी ने कहा कि स्वतंत्र व्यक्तियों को उसी प्रकार जल जाना सीखना चाहिए, जिस प्रकार दूल्हा अपनी नवविवाहिता पत्नी के कक्ष में प्रवेश करता है। जब कभी कोई कानून आत्मा के विरुद्ध हो, तो जेल जाकर कोई व्यक्ति अनुचित कानून का विरोध कर सकता है और कानून के प्रति सम्मान भी बनाये रख सकता है।

उन्होंने कहा कि इससे अधिक और क्या सम्मान प्रकट किया जा सकता ह कि अल्पसंख्यक बहुसंख्यक से कहें, "हम तुम्हारे कानून का पालन नहीं कर सकते, क्योंकि उसे हम अन्यायपूर्ण समझते हैं; परन्तु हम तुम्हारे कानून बनाने के अधिकार को स्वीकार करते हैं। जब तक हम इस कानून के बदलने के लिए तुम्हें नहीं मनवा लेंगे, हम जेल में ही रहेंगे। हम आशा करते हैं कि हमारी जेल में उपस्थिति तुम्हें फिर से सोचने के लिए विवश करेगी।"

जब स्मट्स ने फिर विचार किया, कैदियों को छोड़ दिया और कानून में संशोधन करने की प्रतिज्ञा की, तो गाँधी की नयी संघर्ष-प्रणाली विजयी होती दिखायी दी; परन्तु योरोपियनों के दबाव के कारण स्मट्स को अपनी प्रतिज्ञा भंग करनी पड़ी और तब गाँधी ने तुरन्त ही अपने अनुयायियों को दूसरी बार कष्ट सहन के लिए आह्वान किया। जेलें फिर भर गयीं, परन्तु इस बार यह क्रम कई वर्ष तक चलता रहा।

धीरे-धीरे पहले के उत्साही लोगों को और जेल जाना उचित नहीं मालूम हुआ और अधिकांश लोगों ने गाँधी का साथ छोड़ दिया। १९१२ में उन्होंने दुःख के साथ भारत में अपने मित्रों को लिखा, "मेरे कार्य का जहाँ उत्साह के साथ अनुसरण किया जा रहा था, अब अधिक से अधिक ६६ और कम से कम १६ व्यक्ति रह गये हैं, जो लड़ते जायेंगे, चाहे उन्हें आजीवन कैद ही क्यों न मिले।"

शीघ्र ही सख्त नये जातीय अध्यादेश जारी किये गये, जिनसे सत्याग्रह की अग्निपरीक्षा के लए नयी तत्परता पैदा हुई। गाँधी ने अपनी शिष्याओं को कोयले की खानों में मजदूरों से हड़ताल कराने के लिए भेजा। उनका पुराना जादू लौटता प्रतीत हुआ और हजारों मजदूरों ने हड़ताल कर दी।

उन्होंने तब भारतीयों को कानून तोड़ने के उद्देश्य से 'एशियाई' पार-पत्र (पासपोर्ट) के बिना राज्य की सीमाओं के पार चलने के लिए बुलाया। उन्हें फिर आशातीत सफलता मिली।

२८ अक्तूबर, १९१३ को जब गाँधी की पाँच हजार से भी अधिक बड़ी शान्ति-सेना नेटाल के मैदान के पार चली, तब उनके साथ इतने अधिक आदमी

थे, जितने प्लासी में क्लाइव के साथ, वैलीफोर्ज में वाशिंग्टन के साथ और वोयका में वोलिवर के साथ भी नहीं थे। ट्रान्सवाल की सीमा पर गाँधी को सशस्त्र पुलिस का सामाना करना पड़ा। वे उनकी वन्दूकों की परवाह न कर सीधे आगे बढ़े और उनके हजारों निहत्थे लोगों ने उनका अनुसरण किया। पुलिस विना गोली चलाये ही वापस चली गयी।

यद्यपि गाँधी स्वयं वन्दी हुए, तथापि अनुशासित अहिंसात्मक अभियान जारी रहा। अन्त में सरकार ने कूच करने वालों को वन्दी बना लिया और मजदूरों को उन खानों में काम पर वापस भेज दिया, जो न्यूकैंसिल जेल की वाहरी अंग मानी जाती थीं।

प्रथम विश्व-युद्ध के कुछ ही सप्ताह पूर्व स्मट्स फिर झुका, जाँच-पड़ताल के लिए एक आयोग की नियुक्ति की, कैदियों को छोड़ दिया और गाँधी की अधिकांश शर्तों को स्वीकार कर लेने का वचन दिया। इस बार उसने अपने वचन का पालन किया। तदुपरान्त दक्षिण अफ्रीका यूनियन पार्लमेण्ट (South African Union Parliament) ने 'इण्डियन रिलीफ विल' पास किया और उन कतिपय विशिष्ट अधिकारों का आश्वासन दिया, जिनके लिए गाँधी लड़े थे।

गाँधी के संघर्ष तथा कष्टसहन के कार्यक्रम का अनेक भारतीयों तथा कुछ योरोपियनों पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। स्मट्स के एक सेक्रेटरी ने समझाते हुए कहा, "मैं आपके आदमियों को पसन्द नहीं करता और उनको सहायता देने की कतई परवाह नहीं करता; परन्तु मैं करूं तो क्या? आप हमको जरूरत के दिनों में मदद देते हैं। हम आप पर हाथ कैसे उठा सकते हैं? मैं प्रायः यही चाहता हूँ कि आप लोग अंग्रेज हड़तालियों की तरह हिंसा करें और तव हम वतायें कि आप लोगों के साथ कसे निवटा जाय; परन्तु आप तो दुश्मन को भी कष्ट नहीं पहुँचाते... और यहीं पर हम विल्कुल वेवस हो जाते हैं।"

संघर्ष के प्रारम्भिक दिनों में स्मट्स ने कहा था, "एशियाई कैन्सर को, जिसने दक्षिण अफ्रीका के जीवन-तत्वों को खा डाला है, दृढ़ता के साथ नष्ट कर देना है।" तथापि संघर्ष के समाप्त होने के पूर्व स्मट्स ने गाँधी के पढ़न के लिए जेल में पुस्तकें भेजीं और गाँधी ने भी वदले में, जोहान्सवर्ग के वाहर अपने टालस्टाय-आश्रम में वनी, एक जोड़ी चप्पल भेजी।

वाद में गाँधी की ७० वीं वर्षगांठ पर स्मट्स ने उन्हीं चप्पलों को यह

दिखाने के लिए भारत वापस भेजा कि 'एक पुराने दोस्त' ने उन्हें हिफाजत से रखा था। उसके साथ एक पत्र में स्मट्स ने लिखा था, "मैं ऐसे महान पुरुष के जूतों में खड़ा होने योग्य भी नहीं हूँ।"

दलगत राजनीति के इतिहास के कठोर न्याय में, गांधी के अहिंसात्मक प्रयत्न अफ्रीका में निर्णयात्मक ढंग से सफल नहीं थे। उसके चालीस वर्ष वाद भी 'पृथक्करण' कानून के रूप में जातीय भेदभाव दक्षिण अफ्रीकी समाज पर वढ़ते हुए विकारकारी कोढ़ के समान है। जवकि गाँधी अफ्रीका में अपने नये ढंग के अहिंसात्मक क्रान्तिकारी प्रयत्न का प्रयोग कर रहे थे, सुन यात सेन के अनुयायियों ने इसके विपरीत मञ्चू राज्यवंश को वलपूर्वक उखाड़ फेंका। १९०५ की अपनी दुर्भाग्यपूर्ण क्रान्ति में भाग लेने के वाद लेनिन अपनी वोलशैविक पार्टी का पुनर्गठन सैनिक आधार पर कर रहा था, जिसके भाग्य में रूसी राज्य पर कब्जा करना वदा था।

फिर भी गाँधी ने अपनी अहिंसात्मक प्रतिरोध-प्रणाली के सर्वोत्तम प्रदर्शन के लिए सर्वदा अफ्रीका की ओर देखा। चूंकि उनके प्रयास भारतीय अल्पसंख्यकों तक ही सीमित थे, जिनका अनुपात १० : १ का था, इसलिए भारत में उन्हें और भी वड़ी वाधाओं का सामना करना था। वहाँ उन्हें अपने देश के विशाल तथा शक्तिशाली वहुसंख्यकों के साथ काम करना था, और अपनी नयी प्रणाली की महान् शक्ति को इस प्रकार प्रदर्शित करना था कि लोगों को पूर्ण विश्वास हो जाय। अव यही वात कि गाँधीवादी क्रान्ति का सूत्रपात दक्षिणी अफ्रीका में हुआ, इस वात की सूचक है कि उसका अन्तिम क्षेत्र भारत तक ही सीमित नहीं रहेगा।

सत्रहवाँ प्रकरण

भारत में गांधीवाद का प्रयोग

१८५७ के सनिक विद्रोह के वाद भीषण आतंक के समय से भारत में वहुत-कुछ हो चुका था। उस भीषण दमन ने ब्रिटिश पार्लमैण्ट को अगले वर्ष ही भारत में सुशासन के लिए एक कानून पास करने के लिए विवश कर दिया। इस कानून ने औपचारिक ढंग से शासन को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से सम्राज्ञी के हाथों में सौंप दिया।

तव पार्लमेण्ट के विधान से ही कम्पनी की सेनाएँ शाही सेना में मिला दी गयीं। उसका गवर्नर जनरल रानी का वाइसराय हो गया और १८७७ में दिल्ली में शानदार दरवार हुआ, जिसमें विक्टोरिया भारत की सम्राज्ञी घोषित की गयीं।

फिर भी विक्टोरिया के मुकुट में यह सर्वाधिक जाज्वल्यमान रत्न शायद ही सुरक्षित था। उनके उत्तराधिकार-काल में एक अंग्रेज सिविल सर्वेण्ट, एलन औक्टेवियन ह्यूम सात भागों की रिपोर्ट के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि भारत में वढ़ता हुआ राजनीतिक असन्तोष भूमिगत होता जा रहा है। उसने निश्चय किया कि हिंसात्मक विद्रोह के स्थान पर कोई विकल्प शीघ्र ही आवश्यक है।

कुछ भारतीयों का आज भी यही कहना है कि ह्यूम असन्तोष के लिए केवल एक सुरक्षा-पट खोलना चाहते थे, जिससे ब्रिटिश राज यहां अच्छी तरह कायम रह सके। यदि यह ठीक मान लिया जाय तो भी उसने अनजाने ही उस क्रान्ति के लिए एक यंत्र स्थापित कर दिया, जिसने अन्ततोगत्वा भारत को स्वतंत्र कर दिया।

चाहे कुछ भी हो, १८८३ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के समक्ष उसने अपना प्रस्ताव रखा कि इस पूरे उपमहाद्वीप के प्रमुख भारतीय, एक गैर-सरकारी वार्षिक संसद 'इण्डियन नैशनल कांग्रेस' में एकत्र हुआ करें। उसने कहा "यदि पचास सच्चे और अच्छे आदमी भी स्थापकों के रूप में मिल जायँ तो इसकी स्थापना हो सकती है।. . . . काम कैसे किया जाय, यह लोग जानते हैं।"

वम्बई में आयोजित कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में सम्पादकों, वकीलों,

प्रोफेसरों तथा व्यापारिक नेताओं के सम्मुख प्रारम्भिक शब्द कहने के लिए ह्यूम उपस्थित था ही। एक ब्रिटिश इतिहासकार के अनुसार, "सैनिक विद्रोह के वाद वाले वर्षों में, प्रतिक्रिया की दुर्भाग्यपूर्ण कार्रवाइयों ने रूसी दमन के तरीकों को अपना कर भारत को एक क्रान्तिकारी विप्लव के समीप ला दिया था और श्री ह्यूम का इसमें हस्तक्षेप के लिए प्रेरित होना विल्कुल सामयिक था।"

किन्तु काँग्रेस को मालूम हो गया कि सरकार से आवेदन करने से भारत की समस्याओं तथा संघर्षों का अन्त नहीं हो सकेगा। १९१५ में जव गाँधी वापस आये तो हिंसा की शक्ति वढ़ चुकी थी और स्वयं काँग्रेस स्वशासन की अपनी माँग में काफी संघर्पशील वन चुकी थी। गाँधी के आगमन से काँग्रेस धीरे-धीरे नये प्रकार की क्रान्ति का साधन वनने वाली थी, जिसका प्रयोग गाँधी ने अफ्रीका में किया था।

यह ठीक है कि उस समय गाँधी अकेले ही महत्वपूर्ण भारतीय क्रान्तिकारी न थे। उनके विचार शायद ही कभी विना चुनौती के मान्य हुए, परन्तु यदि भारतीय क्रान्ति किसी की कही जा सकती थी, तो वह गाँधी की ही थी और उनकी यही कहानी क्रान्ति के हमारे सर्वेक्षण के लिए महत्वपूर्ण है।

भारत में गाँधी ने अपना प्रथम लघु सत्याग्रह १९१७ के वसन्त ऋतु में शुरू किया; जवकि उसके कुछ ही महीनों वाद रूसी क्रान्ति को अपने हाथ में करने के प्रयत्न में लेनिन पेट्रोग्रैड पहुँचा। चीन उस समय युद्ध-प्रभुओं के अपूर्ण संघर्ष में उलझा हुआ था, जिसमें सुन की क्रान्ति विफल हो चुकी थी।

जव तक गाँधी ने भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस को अपने हाथ में कर उसे अहिंसात्मक क्रान्ति का साधन नहीं वना दिया, तव तक साम्यवादी यह दावा करते रहे कि नये सोवियत राज्य ने आखिरकार यह सिद्ध कर दिया कि उसने वर्ग-संघर्ष से एक विज्ञान का निर्माण किया है। कुछ भारतीय पहले ही प्राचीन मार्ग से मास्को यह पता लगाने जा रहे थे कि क्या सचमुच लेनिन ने ऐसा कोई उपाय ढूंढ़ निकाला है, जिससे सामन्ती किसानों की शक्तियों को प्रवाहित कर एक पिछड़े हुए समाज को वीसवीं शताव्दी में वढ़ाया जा सकता है।

गाँधी ने देखा कि साम्यवाद को भारत में पका-पकाया क्षेत्र मिल जायगा। जनता की दरिद्रता और शोषण ने पूरे उप-महाद्वीप को पश्चिमी साम्राज्य की श्रृङ्खला में एक वहुत ही कमजोर कड़ी वना दिया था—एक ऐसी कड़ी जिसे

तोड़ने का उपाय, लेनिन सोचता था कि, उसके पास है। शिक्षित युवकों में, और विशेषकर बंगाली युवकों में बढ़ती हुई क्रान्तिकारी प्रवृत्ति ने लेनिन जैसों के दल के लिए स्वाभाविक आधार प्रदान कर दिया था। १९१२ में एक अक्खड़ युवक ने वाइसराय पर उस समय बम फेंका, जब वे सुसज्जित हाथी पर बठ कर दिल्ली में प्रवेश कर रहे थे। सुभाष बोस ने, जिन्होंने द्वितीय विश्व-युद्ध के समय अंग्रजों की जेल से भागकर युद्ध में जापानियों का साथ दिया था, एक अंग्रेज शिक्षक पर, जिसने कहा जाता है कि भारत का तिरस्कार किया था, अपने कुछ साथी छात्रों के साथ आक्रमण कर और उसे घायल कर लोगों का ध्यान आकृष्ट कर लिया था।

प्रथम विश्व-युद्ध ने हजारों भारतीय सेनाओं को मध्यपूर्व और योरोप में भेज कर क्षोभ को और भी बढ़ा दिया था। पश्चिमी विज्ञान और टेक्नालोजी के विकास ने, जिसे उन्होंने अपनी आँखों देखा था, नमक-मिर्च लगाकर दी गयी उनकी रिपोर्टों के साथ, भारत में क्रान्तिकारी उत्तेजना को और भी बढ़ा दिया।

गाँधी जानते थे कि भारत में कम्यूनिज्म का अर्थ अंग्रेजों के पलायन तथा एक भारतीय सरकार की स्थापना से कहीं अधिक होगा। यह एक सुसंगठित मौलिक सामाजिक क्रान्ति होगी, जिसमें किसानों से अपने सामन्ती बंधनों को तोड़ने, जमीन्दारों की हत्या करने और जमीन पर कब्जा करने के लिए कहा जायेगा। ऐसी स्थिति में गांधी को मालूम था कि १८५७ के विद्रोह की भाँति बिखरे हुए प्रारम्भिक हिंसात्मक विस्फोटों की अपेक्षा इसमें कहीं अधिक प्रभाव तथा शक्ति होगी।

परन्तु वे साम्यवाद के आधार, हिंसा के सिद्धान्त के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने साम्यवाद के बारे में एक बार बोलते हुए कहा था कि यह क्रूरता एक दिन ऐसी भयानक अराजकता पैदा करेगी, जैसी हमने कभी न देखी होगी।

यह आशा रखना कि ऐसी हिंसा से या दल की तानाशाही से, जिसे साम्यवाद प्रथम कार्रवाई के रूप में प्रस्तावित करता है, एक अच्छा समाज प्रकट होगा, उनके लिए इसी प्रकार का कथन था कि हमें बबूल के पौधे से गुलाब का फूल मिलेगा। उनका कहना था कि साम्यवाद यह भूल जाता है कि वह जिस औषधि का प्रयोग करना चाहता है, वह रोग से भी भयंकर है।

तथापि गांधी ने साम्यवाद को एक प्रकार से उन लोगों के लिए, जो यह विश्वास करते थे कि बिना रक्तपात के क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जायगा,

स्वागत-योग्य चुनौती के रूप में समझा। उन्होंने कहा कि जो उत्प्रेरणा
आज समस्त संसार में फैल रही है, वह एक महान संकेत है। अराजकता की
शक्ति के रूप में यह भयानक है, परन्तु इसके पीछे एक पवित्र उद्देश्य है., वह
सुधार चाहती है, वह न्याय और समानता का शासन स्थापित करना चाहती है।

उनको यह वात उत्साहवर्धक लगती थी कि विश्व के लोग क्रान्ति के लिए
तैयार हैं और सभी शोषित, उत्पीड़ित एवं उपेक्षित लोग प्राचीन व्यवस्था का
अन्त चाहते हैं। वे साम्यवादियों से इस वात पर सहमत थे कि रोग अवश्य है,
जिसके उपचार की आवश्यकता है। वे इस वात से भी सहमत थे कि शासन-
परिवर्तन ही पर्याप्त नहीं है। ऐसी क्रान्ति होनी ही चाहिए जो हर समाज तथा
हर गाँव तक पहुँचा दी जाय; परन्तु क्रान्ति के रूप के सम्बंध में वे साम्यवाद
से अपनी पूरी शक्ति के साथ असहमत थे।

सर्वत्र अन्याय के विरुद्ध संघर्ष की जिम्मेदारी के प्रति गाँधी की व्यक्तिगत
स्वीकृति तथा उसके लिए कुछ करने का उनका दृढ़ संकल्प कोई नयी वात न थी।
सभी युगों में धार्मिक नेताओं ने सदैव यही निर्णय किया कि वे अपने भाइयों
के संरक्षक वनेंगे; परन्तु आधुनिक विज्ञान तथा टैक्नालोजी ने वह साधन
प्रदान किया है, जिससे दरिद्रता और अन्याय के अन्त के लिए और अधिक
दायित्वपूर्ण कार्य, राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से व्यावहारिक है।

यद्यपि गांधी स्वयं, आधुनिक टैक्नालोजी के अनेक पक्षों के प्रति संदेहशील थे,
तथापि भारत में उनके प्रथम प्रयत्नों का उद्देश्य, न्याय के लिए व्यावहारिक
संभावनाओं के प्रति लोगों को जागरूक करना था। भारत के दरिद्रों के साथ
एक हो जाने के लिए, उन्होंने किसानों की मामूली पोशाक अपनायी, हिन्दु-
स्तानी भाषा का प्रयोग किया, सर्वदा केवल तीसरे दर्जे में यात्रा की (क्योंकि
कोई चौथा दर्जा न था) और अपना घर गाँवों की झोंपड़ियों में वनाया।
शिक्षित वर्ग और उनके नेताओं के लिए, जो पाश्चात्य रंग में रंगे नगरों में
रहते थे, भारत के छः लाख गाँवों से दूर मानो किसी दूसरे महाद्वीप में हों—
इतनी दूर जितने साधारण रूसी जनता से जारशाही के कुलीनवर्ग थे—यही
संदेश था, "गाँवों में जाओ"।

गाँधी को इस वात का दुःख था कि भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस अधिकतर शिक्षितों
और धनाढ्यों की पार्टी थी। गाँवों में इसकी जड़ों का फैलाव नहीं था और
उदार आन्दोलन, प्रदर्शन तथा आवेदनों के द्वारा स्वराज्य का लक्ष्य प्राप्त करने
के अतिरिक्त और कोई कार्यक्रम नहीं था। गाँधी ने काँग्रेस को चेतावनी दी,

"स्वतंत्र भारत में नई दिल्ली के महलों और गरीव मजदूर वर्ग की दयनीय झोपड़ियों का भेद एक दिन भी नहीं टिकेगा, जवकि गरीव भी उसी सत्ता का उपभोग करेगा, जिसका देश का सवसे धनवान व्यक्ति करता है।"

जव वे काँग्रेस के एक वार्षिक अधिवेशन में प्रथम वार गये तो उन्होंने देखा कि, कैम्प की टट्टियों की कोई परवाह नहीं करता। जव उनके साथी कॉंग्रेस कार्यकर्त्ताओं ने कहा कि यह तो शूद्रों या अछूतों का काम है तव उन्होंने झाड़ू उठा कर स्वयं सफाई कर दी।

जिस क्रान्ति की उन्होंने कल्पना की, उसे सर्वप्रथम क्रान्तिकारी के जीवन में ही प्रारम्भ होना चाहिए। शिक्षित तथा रचनात्मक व्यक्तियों के ऐच्छिक संयम और अनुशासनपूर्ण ग्रामसेवा से किसानों और मजदूरों में जागृति पैदा होगी। इस सम्पर्क से प्रजातंत्रात्मक तथा शान्तिपूर्ण क्रान्ति का उद्‌भव होगा जिससे रामराज्य और स्वराज्य अर्थात् 'सुराज और स्वराज' दोनों प्राप्त हो सकेंगे।

धीरे-धीरे गाँधी ने काँग्रेस को, उसके राजनीतिक कार्य में दो अन्य 'विस्तार', जिनको उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में विकसित किया था, जोड़ देने के लिए समझाया; वे विस्तार थे रचनात्मक सेवा तथा अहिंसात्मक संघर्ष। उन्होंने एक चौदह सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसमें सीधे सम्पर्क द्वारा अस्पृश्यता-निवारण, सभी धार्मिक विश्वासों के प्रति सहिष्णुता, स्वच्छता, महिला-सुधार, ग्रामोद्योग को प्रोत्साहन, खादी का प्रयोग और दैनिक सूत-कताई, लोकतांत्रिक अनुशासन इत्यादि भी शामिल थे। उनका विश्वास था कि पूर्ण क्रान्ति के लिए ऐसा कार्यक्रम आवश्यक है।

गाँधी का विचार था कि व्यक्तिगत रूप से इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने और प्रत्येक गाँव में उसे चालू करने से भारत के गरीव और अमीर सभी में प्रजातंत्रात्मक आदतों तथा प्रवृत्तियों का निर्माण होगा। उन्होंने कहा कि भारत को अंग्रजों ने नहीं जीता, उसे हमने उन्हें दे दिया। जव हम अपने पर शासन करना सीख जायं तभी स्वराज है। इसलिए वह हमारी हयेली में ही है।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने में भी उन्हें विलम्व नहीं हुआ। विहार में, जव नील वगान के शोपित मजदूरों ने अपनी दुर्दशा की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया, तो उन्होंने ध्यानपूर्वक छानवीन करने का निश्चय किया। अधिकारियों ने जिला छोड़ देने के लिए उनके पास हुक्मनामा भेज दिया।

उन्होंने उसका उल्लंघन किया, गिरफ्तार हुए और मुकदमें में अपने को दोषी स्वीकार किया।

उनकी गिरफ्तारी से सारे जिले के भड़क उठने की आशंका से उन्हें छोड़ दिया गया। उनके बीस हजार भूमिहीन किसानों से सूचना एकत्र कर लेने के बाद, ब्रिटिश सरकार ने एक जाँच-समिति नियुक्त करना स्वीकार किया और अन्त में उनके गम्भीरतम अभाव-अभियोग दूर किये गये।

युद्ध-काल में किये गये व्यापक सुधारों की प्रतिज्ञाओं को भंग कर१९१९ में ब्रिटिश सरकार ने नागरिक स्वतंत्राओं पर नये प्रतिबंध लगा दिये। गाँधी ने तुरन्त ही देश से अपनी इस प्रतिज्ञा में साथ देने के लिये कहा, "हम गम्भीरता के साथ प्रतिज्ञा करते हैं कि हम विनम्रतापूर्वक इन कानूनों का पालन करने से इन्कार करेंगे......और हम यह भी निश्चय करते हैं कि संघर्ष में निष्ठा के साथ हम सत्य का पालन करेंगे और जीवन, व्यक्ति अथवा सम्पत्ति के प्रति हिंसा नहीं करेंगे।"

काँग्रेस ने स्वयं इस प्रयोग में शामिल होने का निर्णय किया। राष्ट्रीय उत्साह बढ़ा और अंग्रेजों ने हिंसा-द्वारा प्रतिकार किया। अमृतसर में जनता की एक सभा में जब लोगों ने तितर-बितर होने से इन्कार किया, तो अंग्रेज जनरल ने अपनी सेना को गोलियाँ चलाने की आज्ञा दे दी और एक हजार से अधिक लोग मारे गये।

तब गाँधी ने अंग्रेजों के साथ पूर्ण असहयोग के लिए आवाहन किया, जिसमें ब्रिटिश उपाधियों, नौकरियों तथा माल का बहिष्कार भी शामिल था। ब्रिटिश-विरोधी बंगाली आतंकवादियों से उन्होंने कहा, "मैं हिंसावादियों को भी इस शान्तिपूर्ण असहयोग की परीक्षा के लिए आमंत्रण देता हूँ।"

जब गाँधी के प्रथम सविनय अवज्ञाकारियों ने जेल जाना शुरू किया, तब भारत के उमड़ते हुए विद्रोह का समाचार रूस भी पहुँचने लगा।वहाँ उसने लिओन ट्राट्स्की की कल्पना को भी जागृत किया। १९१९ की गर्मी में, केन्द्रीय साम्य-वादी समिति के समक्ष एक ज्ञापन में ट्राट्स्की ने भारत की होनहार क्रान्तिकारी स्थिति की ओर संकेत किया और सुझाव पेश किया कि रूसी साम्यवाद का दबाव अब पश्चिम की अपेक्षा पूर्व की ओर जाना चाहिए।

ट्राट्स्की का विचार था कि लाल सेना के लिए, तत्कालीन सोवियत हंगरी की अपेक्षा भारत का मार्ग सरल और छोटा रहेगा। उसने केन्द्रीय समिति को, एक साथी लाल अफसर की मार्फत अपनी योजना भेजी, जिसमें उसका

सुझाव था कि अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए घुड़सवारों की एक पलटन मध्य एशिया होकर, औपनिवेशिक भारत की सहायता के लिए भेजी जाय।

परन्तु गाँधी अपने अनोखे और नये तरीकों का सफल प्रयोग करते प्रतीत हो रहे थे। अपनी जेल-कोठरी से युवक जवाहरलाल को यह महसूस हुआ कि देश एक ही प्रहार में स्वतंत्रता के लिए तैयार है। पचास हजार से अधिक भारतीयों को अहिंसात्मक अवज्ञा आन्दोलन के लिए जेल की सजाएँ दी गयी थीं।

उसी समय उत्तर प्रदेश में एक काँग्रेसी जुलूस भड़क उठा और उसने २२ पुलिस-मैनों को मार ड़ाला। गाँधी ने वहुत ही निराश हो कर सम्पूर्ण आन्दोलन को स्थगित कर दिया, उपवास किया और काँग्रेस को फिर से गाँवों की सेवा का रचनात्मक कार्य करने का निर्देश दिया। उन्होंने कहा कि मैंने यह विश्वास करके कि भारतीय जनता अहिंसात्मक युद्ध के अनुशासन के लिए तैयार है, 'हिमालय' जैसी वड़ी भूल की।

जेल में नेहरू तथा उनके साथियों ने आन्दोलन के स्थगन का क्रुद्ध होकर विरोध किया, परन्तु गाँधी शान्त रहे। उन्हें छः वर्ष की सजा दी गयी और उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक जेल से लिखा, "मैं एक पक्षी की भाँति प्रसन्न हूँ। हस्ताक्षर, मो. क. गाँधी, नं. ८२७।"

गाँधी ने न्यायालय में कहा, "मैं जानता था कि मैं आग से खेल रहा हूँ। मैंने जोखिम उठायी और यदि मुझे रिहा कर दिया गया तो मैं फिर वही करूँगा।" १९२४ में रिहा होने के वाद गाँधी ने निश्चय किया कि दूसरे आन्दोलन और कष्टसहन के पूर्व देश को कुछ वर्षों तक गाँवों में रचनात्मक सेवा करने की आवश्यकता है। उनका विश्वास था कि इस प्रकार की सेवा उनके अहिंसात्मक सिपाहियों के लिए उतना ही आवश्यक प्रशिक्षण है, जितनी फौज के लिए 'परेड' और अन्य अभ्यास।

गाँधी ने उन काँग्रेस-नेताओं द्वारा अपनी नीति की आलोचनाओं को अस्वीकार कर दिया, जो तत्काल स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए पूर्ण संघर्ष चाहते थे। गाँधी का उद्देश्य केवल अंग्रेजों को भगा देना नहीं था, वल्कि इस प्रकार भगाने का था जिससे भारतीय स्वयं शासन करने के लिए भी तैयार रहें। वे "विना अंग्रेजी के अंग्रेजी शासन" से कुछ अधिक चाहते थे, जिसको उन्होंने कहा कि वह 'शेर का स्वभाव है, न कि शेर।'

एक वड़े राष्ट्र के जीवन के सभी अंगों में वे नैतिक अहिंसात्मक क्रान्ति चाहते थे, जिसके अन्त में जाति, अस्पृश्यता तथा ऐसे ही अन्य अंधविश्वास

विनष्ट हो जायं, हिन्दू-मुसलमानों की भेद-भावना अतीत की बात हो जाय और अंग्रेजों या योरोपियनों के विरुद्ध शत्रुता का भाव पूर्णतया विस्मृत हो जाय। एक सामाजिक क्रान्ति का उद्देश्य "जातिहीन तथा वर्गहीन समाज" की रचना होनी चाहिए, जिसमें विकेंद्रित लोकतांत्रिक ग्राम-गणराज्य हों।

गाँधीने कहा, "जब तक स्वतंत्रता के प्रयास में काँग्रेस अहिंसा के सिद्धान्तों का पालन और सेवा नहीं करती, जिसके प्रति अनेक नेता केवल मौखिक आस्था दिखाते हैं, तब तक हम भारत को उस समय से सुखी नहीं पायेंगे जिस समय हम पैदा हुए थे।" वे यह नहीं सोचते थे कि काँग्रेस अचानक उन सिद्धान्तों का पालन करना सीख जायगी, जबकि वह सत्ता की भ्रष्ट करनेवाली स्थितिमें रहेगी। इसके अतिरिक्त कि हम अपने ही जीवन के प्रत्येक अंग में क्रान्ति का प्रतिनिधित्व करें, उनके लिए सामाजिक क्रान्ति लाने का दूसरा कोई मार्ग नहीं था।

× × ×

१९३० तक जनता का क्रान्तिकारी जोश फिर धीरे-धीरे बढ़ रहा था। ब्रिटिश साम्यवादियों के एक संगठन-मिशन ने भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना की और उसने मजदूर आन्दोलन में अपनी जड़ जमा ली। इसके नेताओं पर, जिनमें भारत में रहनेवाले कुछ ब्रिटिश साम्यवादी भी थे, षड्यंत्र के आरोप में मुकदमे चलाये गये और उन्हें लम्बी-लम्बी सजाएँ दी गयीं।

गाँधी ने देखा कि जेल-यात्रा के प्रति उन्होंने जो प्रतिष्ठा पैदा की थी, वही साम्यवादियों की शक्ति-वृद्धि में सहायक हो रही है। इसके अतिरिक्त, काँग्रेस के उग्रवादी लोग भी गाँधी के तरीकों को चुनौती दे रहे थे। सुभाष बोस जैसे युवक अपने-आप जेल जा रहे थे। राजनीति के पंडित के नाते गाँधी जानते थे कि सेवा और संघर्ष के विकल्पों में से संघर्ष का समय आ गया है।

२६ जनवरी, १९३० को काँग्रेस ने स्वतंत्रता की घोषणा ऐसी शब्दावली में की, जिससे अमरीकी भी परिचित थे, "हमारा विश्वास है कि यह भारतीयों का अविच्छेद्य अधिकार है....."। १७७६ के अमरीकी घोषणापत्र से उद्धृत अनुच्छेदों के साथ यह घोषणा-पत्र सारे देश में बड़ी-बड़ी सभाओं में पढ़ा गया— "यदि कोई सरकार किसी राष्ट्र को इन अधिकारों से वंचित करती है और उस पर अत्याचार करती है तो जनता को भी उसको उलट देने या नष्ट कर देने का अधिकार है।"

भारत ने नयी लड़ाई शुरू करने के लिए गाँधी के सुझावों की प्रतीक्षा की।

उसकी कम से कम माँगें वाइसराय के नाम एक पत्र में लिख दी गयीं। उनमें सभी राजनीतिक कैदियों की रिहाई, किसानों के लगानो में कमी, ग्रामीण नमक-उत्पादन पर से प्रतिवन्ध उठाना और नमक-कर की समाप्ति आदि मांगें शामिल थीं।

गाँधी ने लिखा, "गरीवों की दृष्टि से मैं नमक-कर को सवसे अधिक अन्याय-पूर्ण मानता हूँ। चूंकि स्वतंत्रता आन्दोलन देश के गरीवों के लिए है, इसलिए इसकी शुरुआत इसी बुराई से की जायगी। जव तक वाइसराय उनकी माँगों को स्वीकार नहीं करता, तव तक वे नमक-कानून तोड़ते रहेंगे और सभी भारतीयों से वसा ही करने के लिए कहेंगे।

काँग्रेस के शहरी नेताओं ने, जिनके लिए नमक-प्रतिवन्ध का कोई अथ नहीं था, पहले तो अपनी आशंकाएँ प्रकट कीं। नेहरू ने लिखा, "हम लोग चकित थे और उस साधारण नमक के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन को समझ नहीं सके।"

जव गांधी ने घोषणा की कि १२ मार्च, १९३० को वे अपना अहमदावाद-आश्रम छोड़ेंगे और दो सौ मील की पैदल यात्रा कर, समुद्र-तट पर, दण्डी ग्राम जायंगे और वहाँ ब्रिटिश कानून की परवाह न करते हुए नमक वनायेंगे, तव नेहरू ने कहा, "नमक अचानक एक रहस्यमय शब्द वन गया—शक्तिशाली शब्द !"

गाँधी ने प्रतिज्ञा की कि जवतक स्वराज नहीं मिल जायगा, तव तक वे अपने प्रिय आश्रम में नहीं लौटेंग। उन्होंने कहा, "हम भूखों, नंगों और वेकारों की ओर से यह कार्य कर रहे हैं। हम ईश्वर के नाम पर कूच कर रहे हैं।"

चौवीस दिनों तक सारा देश सांस रोके खड़ा रहा। दण्डी-यात्रा में दो सौ भारतीय ग्राम-पदाधिकारी अपने मूल्यवान सरकारी पदों से त्यागपत्र देकर संघर्ष में शामिल हो गये। रास्ते भर, हजारों विभिन्न पेशों के लोग, सड़क के दोनों किनारों पर, तेजी के साथ चलन वाले अपने महात्मा के दर्शन के लिए खड़े थे, और वे अपने विचित्र साथी क्रान्तिकारियों से हँसी-मजाक करते हुए तथा अपनी छड़ी घुमाते हुए चले जा रहे थे।

५ अप्रेल की रात में, जत्था समुद्र के किनारे पहुँच गया। गाँधी ने कहा, "ईश्वर ने चाहा तो, मैं अपने साथियों सहित कल प्रातः साढ़े छः वजे वास्तविक सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ कर दूँगा।" सूर्योदय के समय अपनी नियमित प्रार्थना-सभा के वाद उन्होंने समुद्र में स्नान किया; फिर नमक के किनारे पहुँचे और एक मुट्ठी नमक उठाया।

मानव के एक विशालतम साम्राज्य को चुनौती देकर ईश्वर के महासागर से इस नमक उठाने के साधारण कार्य का भारतीय किसानों पर स्वतंत्रता के बारे में इतना अधिक प्रभाव पड़ा जितना स्वतंत्रता-घोषणा-पत्रों के असंख्य वाचनों का भी नहीं पड़ा। नेहरू ने कहा, "ऐसा प्रतीत होता था, मानो किसी ने एक झरने को अचानक मुक्त कर दिया है। जब हमने जनता के अपार उत्साह और दावाग्नि की भांति नमक-निर्माण के प्रसार को देखा तब हम अत्यन्त लज्जित हुए।"

यद्यपि नेहरू सहित हजारों व्यक्ति गिरफ्तार हुए, फिर भी गाँधी स्वतंत्र रहे। उन्होंने वाइसरय को लिखा कि मैं सरकारी नमक-डिपो पर अहिंसात्मक धावा बोलना चाहता हूँ। दो दिनों के बाद उनकी गिरफ्तारी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को और भी बढ़ा दिया। शीघ्र ही लगभग एक लाख भारतीय, जिनमें १२,००० मुसलमान भी थे, जेल गये और इससे कहीं अधिक संख्या में लोगों ने शान्तिपूर्वक घुड़सवार पुलिस के लाठी-प्रहार सहन किये।

नमक-अभियान, जिसकी गाँधी ने योजना बनायी थी, उनकी अनुपस्थिति में भी चलता रहा। यह भारतीय क्रान्ति की ऐतिहासिक घटना हो गयी। २,५०० स्वयंसेवकों ने पूर्ण अहिंसा की प्रतिज्ञा की और सामूहिक धावे में भाग लिया। छोटी-छोटी टुकड़ियाँ उस कँटीले तारों से घिरे क्षेत्र की ओर बढ़ती गयीं, जहाँ हथियारों से लैस सेना नमक की रक्षा के लिए तैनात थी। जन-सागर की प्रत्येक लहर को पुलिस की लाठियों के प्रहार से वहीं गिरा दिया जाता था।

शीघ्र ही बेहोश लाशों से वहाँ की रक्तरंजित धरती पट गयी। फिर भी गांधीवादी सीधे उस निषिद्ध क्षेत्र की ओर अपनी रक्षा में हाथ उठाये बिना बढ़ते जाते। दिवस के अवसान तक तीन सौ व्यक्ति बुरी तरह घायल हुए और दो मर गये। पूर्ण अहिंसा के अनुशासन का पालन हुआ और गाँधी अपनी जेल की कोठरी में प्रसन्न थे।

सबसे अधिक खुशी उन्हें इस समाचार से हुई कि, पश्चिमोत्तर प्रान्त के विशालकाय मुस्लिम नेता, 'सीमान्त गाँधी' गफ्फार खाँ ने अनुशासित सविनय अवज्ञा आन्दोलन में खूंखार पठानों का सफल नेतृत्व किया। पुलिस के क्रूरतापूर्ण व्यवहार पर भी इन लोगों ने, जिनकी परम्परा सैनिक हिंसा थी, प्रतिकार में हाथ भी नहीं उठाया।

लन्दन 'डेली हेराल्ड' के भारत-स्थित संवाददाता न लिखा, "इस स्पष्ट

स्वीकृति से कि जेल में बन्द महात्मा भारतीय आत्मा का अवतार है, भयानक विनाश से बचा जा सकता है।"

तब वाइसराय लार्ड इरविन ने, जो बाद में लार्ड हेलीफक्स हो गये, बिना किसी शर्त के काँग्रेसी नेताओं को मुक्त कर दिया और गाँधी को बातचीत के लिए बुलाया। विन्स्टन चर्चिल इस खबर से प्रसन्न न थे।

चर्चिल ने कहा, "राजद्रोही, मिडिल टैम्पल का वकील, पूर्व में प्रख्यात ढंग का ढोंगी फकीर, अर्धनग्न गाँधी वाइसराय भवन की सीढ़ियों पर कदम रखे, वह भी ऐसी हालत में जबकि वह अभी भी सविनय अवज्ञा के विद्रोहात्मक आन्दोलन का संगठन एवं संचालन कर रहा है, और बराबरी की हैसियत से सम्राट के प्रतिनिधि के साथ बातचीत करे, यह भयानक और घृणास्पद बात है।"

गांधी का इरविन के साथ, जो स्वयं बड़े सहिष्णु तथा धार्मिक वृत्ति के आदमी थे, समझौता हो गया। संघर्ष स्थगित कर दिया गया और गाँधी ने भारतीय स्वायत्त शासन सम्बन्धी लन्दन में होने वाले दूसरे गोलमेज सम्मेलन में सम्मिलित होने का आमंत्रण स्वीकार कर लिया। इसकी पहली बैठक एक वर्ष पूर्व काँग्रेस नेताओं के प्रतिनिधित्व के बिना हुई थी।

इस बार भारतीयों को स्वायत्त शासन में और अधिक हिस्सा देने के लिए ब्रिटिश सरकार तैयार थी, परन्तु गाँधी की न्यूनतम शर्तों को स्वीकार करने के लिए तैयार न थी। अन्त में उन्हें अपनी असफलता की घोषणा करनी पड़ी और अधिक सेवा तथा संघर्ष के लिए भारत लौटना पड़ा। इरविन के स्थान पर दूसरे व्यक्ति को वाइसराय बनाया गया, जिसमें कल्पना का अभाव था। उसने चर्चिल के सख्ती के नुस्खे का प्रयोग करने की सरकारी नीति अपनायी। जब गाँधी स्वदेश लौटे तो उन्होंने देखा कि अनेक काँग्रसी नेता जेलों में ठूँस दिये गये हैं।

उसी समय ब्रिटिश सरकार ने अछूतों के लिए पृथक निर्वाचन की घोषणा कर दी। लन्दन में ही गाँधी ने प्रतिज्ञा की थी कि वे ऐसी कार्रवाई का, अपने जीवन की बाजी लगा कर भी विरोध करेंगे। उन्होंने देखा कि औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध मोर्चों और संघर्षों से देश को हटा कर, एक बार फिर राजनीतिक और सामाजिक निर्माण के कार्य की ओर उसे लगा देने का मौका आ गया है।

उन्होंने आमरण अनशन आरम्भ किया, जिसको तोड़ने की शर्त यह थी कि ब्रिटिश सरकार अपनी इस योजना को वापस ले, जो भारत को स्थायी रूप से

विभाजित कर देगी और अछूतों को हमेशा के लिए जाति-वहिष्कृत कर देगी। उन्होंने कहा कि तलवार के स्थान पर अहिंसावादी क्रान्तिकारी सैनिक का यह अन्तिम अस्त्र है।

छः दिनों तक राष्ट्र में फिर हलचल मच गयी। अछूतों के लिए हिन्दू मन्दिरों के दरवाजे पहली वार खोल दिये गये और सवर्ण तथा अछूत नेताओं ने इस भेदभाव को समाप्त कर देने का पवित्र समझौता किया।

नेहरू ने, जिन्होंने पहले राजनीतिक युद्ध के स्थगन को "वैठते हुए दिल" से स्वीकार किया था और कहा था कि वे उनके इस एक पक्षीय प्रश्न के लिए अन्तिम वलिदान से परेशान हो गये हैं, वड़ी भारी उथल-पुथल देखी और लिखा, "यरवदा जेल में वैठा हुआ यह छोटा-सा आदमी कैसा जादूगर ह! वह इस वात को भली भाँति जानता है कि जनता के हृदय को आन्दोलित करने के लिए क्या करना चाहिए।"

गांधी का जीवन अव पूर्णतः व्रिटिश मंत्रिमण्डल के निर्णय पर निर्भर था। एक सप्ताह के निराहार के पश्चात् जेल के डाक्टरों ने कह दिया कि अव मरीज खतरनाक स्थिति में पहुँच गया है। तभी शाही मंत्रिमण्डल ने अपने गम्भीर निर्णय को अचानक वदल कर अपने मुख्य शत्रु को वचा लिया।

गाँधी ने कहा, "व्रत शिथिल आत्माओं में हलचल पैदा कर देता है और प्रेमी हृदयों को कार्य की ओर प्रेरित करता है।" उन्होंन अछूतों का नाम हरिजन अर्थात् 'ईश्वर-पुत्र' रखा और कहा कि मेरा जीवन उन्हीं के हाथ में है। जेल से मुक्त होने के कुछ महीनों वाद उन्होंने उन लोगों की ओर से पदल यात्रा प्रारम्भ की और वे देश के कोने-कोने में पहुँच गये।

नमक-अभियान ने स्वतंत्रता नहीं दिलायी, परन्तु गाँधी को भारतीय जनता में वढ़ते हुए स्वावलम्वन और इंगलैण्ड तथा पश्चिम में व्यापक समझदारी और समर्थन के वढ़ते हुए साक्ष्य से वड़ी प्रसन्नता हुई। १९३१ में लन्दन-सम्मेलन के अवसर पर उनकी यात्रा के समय अनेक अंग्रजो ने जो उनका शानदार स्वागत किया और उनके अनशन के समय उनकी जीवन-रक्षा के लिए जो आन्दोलन किया, उससे उनको इसका सर्वप्रथम अनुभव हुआ।

जवाहरलाल नेहरू के पिता न द्वितीय महान आन्दोलन के समय अपनी मृत्यु-शया पर पड़े-पड़े देवदूत की भाँति कहा था, "मैं अव जा रहा हूँ, महात्माजी। मैं स्वराज देखन के लिए यहाँ नहीं रहूँगा, परन्तु मैं जानता हूँ कि आपने उसे जीत लिया है और वह शीघ्र ही आपके पास होगा।"

अठारहवाँ प्रकरण

मानव समाज के पंचमांश को स्वाधीनता

प्रत्यक्ष संघर्ष के पक्षपाती सुभाष वोस ने १९३३ में आन्दोलन के स्थगन को गांधी की "पराजय की स्वीकृति" कहा था, तथापि स्थगन के वाद ही अंग्रेजों ने १९३५ का भारत-सरकार-कानून वनाया और प्रान्तों को स्वायत्त शासन के पर्याप्त अधिकार प्रदान किये गये। यद्यपि अंग्रजों ने इसे किसी भी तरह गाँधी के लिए रियायत के रूप में नहीं समझा, तथापि शायद ही किसी ने सन्देह किया कि यह शक्तिशाली राष्ट्रीय आन्दोलन का परिणाम है, जिसका नेतृत्व लगभग २० वर्षों से गाँधी ने किया था। १९३७ में सीमित मताधिकार के आधार पर प्रान्तों में निर्वाचन भी हुए और काँग्रेस, मुस्लिम वहुमतवाले पश्चिमोत्तर प्रान्त सहित, नौ प्रान्तों में विजयी हुई।

यद्यपि गाँधी ने कोई भी पद स्वीकार नहीं किया, तथापि उनकी कांग्रेस पार्टी ने प्रान्तीय सरकारों का निर्माण किया और पहली वार राजनीतिक दायित्व का अनुभव किया। दस वर्ष वाद, ब्रिटिश सरकार भारत से विल्कुल चली गयी और भारतीय क्रान्ति की उपनिवेश-विरोधी स्थिति समाप्त हुई।

साम्यवादियों ने गांधी को अपने ढंग की वर्ग-क्रान्ति के लिए सर्वदा वाधक माना। उनके १९३९ के 'इण्टरनेशनल' ने दल के सदस्यों को "भारत में गाँधी-वादी" जैसी उन प्रवृत्तियों से लड़ने के लिए निर्देश दिये, जो कि निष्क्रियता सिखाने वाली और वर्गयुद्ध का खण्डन करने वाली कही जाती थीं। साम्य-वादियों के लिए गांधीवाद, "प्रतिक्रियावाद की ओर लौटना" था।

अभी १९५४ में 'ग्रेट सोवियत इन्साइक्लोपीडिया' (विशाल सोवियत ज्ञान-कोश) के नये संस्करण में गाँधी को प्रतिक्रियावादी, "शोपकों का वंशज", और "धार्मिक आस्थाओं से लाभ उठानेवाला" वताया गया ह, "जिसने जनरंजनात्मक ढंग से साधकों की नकल की और जिसने दक्षिण अफ़्रीका में जुलूओं के विरुद्ध ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सक्रिय सहयोग किया।"

इस कटुता से कदाचित् यह परिलक्षित होता है कि जव तक गाँधी जीवित रहे, भारत के साम्यवादियों को व्यापक जनसमर्थन प्राप्त करने में कभी सफलता नहीं मिली और उसके वाद भी ठोस समर्थन नहीं प्राप्त हो सका। गाँधी के कुछ गुणों को अपना कर उन्होंने भी कुछ प्रभाव पैदा करने की कोशिश की।

वे गुण थे– अन्याय के प्रति चिन्ता, गरीबों से मिलजुल कर रहना और कष्ट सहन के लिए तत्परता।

१९४७ में, जब अंग्रेजों ने भारत छोड़ने का निश्चय किया तब यह मानना कठिन न था कि मुश्किल से ११० पौण्ड वजन का यह नाटा आदमी, जिसके हाथ में केवल एक लम्बी लाठी और सत्याग्रह का अस्त्र था, स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए अधिकतर जिम्मेदार था। इसमें भी सन्देह नहीं कि भारत और ब्रिटन की मित्रता का, जिस पर राष्ट्रमण्डल का पुनर्निमार्ण हुआ, मूल आधार भी वही अस्त्र था, जिससे गांधी ने संघर्ष का संचालन किया था।

उपनिवेश-विरोधी क्रान्ति का यह कितना विचित्र तथा वैभवशाली चरमोत्कर्ष है! एक ओर भारत की रंग-बिरंगी सैनिक रेजिमेन्टों के और दूसरी ओर स्काटिश हाईलण्डर्स के सामूहिक बैण्ड 'गाड सेव द किंग' (ईश्वर राजा की रक्षा करे) की धुन बजाते हुए! सम्राट का ध्वज ध्वज-दण्ड से नीचे उतर रहा है और स्वतंत्र भारत का केसरिया, हरे और सफेद रंग का झण्डा, जिसके बीच में गाँधी का चर्खा है, गर्व के साथ ऊपर चढ़ रहा है। साथ ही दोनो बण्ड उस राष्ट्रीय गान की धुन बजा रहे हैं, जो कभी केवल क्रान्तिकारियों द्वारा गाया जाता था।

भारत के अनेक भागों में इसी दृश्य की पुनरावृत्ति हुई। प्रत्येक स्थान पर ब्रिटिश गवर्नरों, प्रशासकों, शासनाधिकारियों तथा अन्य लोगों की उत्साही भीड़ जयघोष के साथ स्वागत कर रही थी और उस समय सम्राट के चचेरे भाई वाइसराय माउण्टबैटन, जिन्होंने आकर यह घोषित किया था कि वे भारत के अन्तिम वाइसराय होंगे, से अधिक लोकप्रिय कोई व्यक्ति नहीं दिखायी दे रहा था। माउण्टबैटन ने नेहरू को प्रधान मंत्री बनाया और नेहरू ने सम्राट से माउण्टबेटन को स्वतंत्र भारत का प्रथम गवर्नर जनरल नियुक्त करने की प्रार्थना की।

ब्रिटेन और भारत की जो मित्रता आज असाम्यवादी जगत की स्थिरता में इतना अधिक योग दे रही है, वह दोनों राष्ट्रों की जनता तथा नेताओं की उदारता तथा शिष्टता की परिचायिका ह। जब औपनिवेशिक सरकार अपने निकृष्टतम रूप में थी, तब विरोध की प्रथम ध्वनियाँ ब्रिटिश लोकसभा में ही सुनायी देती थीं। गाँधी ने स्वयं कहा था कि अनेक बातों में उन्होंने अंग्रेजों से नियमितता, मितभाषिता, आरोग्य, स्वतंत्र विचार और निर्णय-पालन के गुण सीखे। आज भारतीय जनता स्पष्टता के साथ एक कानून के अन्तर्गत एक

संगठित राष्ट्र की स्थापना में ब्रिटेन के योगदान को स्वीकार करती है।

गाँधी की अहिंसात्मक प्रणाली की सफलता ब्रिटिश विवेकशीलता के प्रति कदाचित् उतना ही सम्मान ह। क्रान्ति के एक अनुभवी काँग्रेस सदस्य ने एक बार मुझसे कहा, "जिस आतंक ने कभी दया नहीं दिखायी, जिसने कभी समझौता नही किया, जो कभी संदिग्ध-निश्चय न था, ऐसा आतंक हमको पीस डालता। ब्रिटिश आतंक इतना क्रूर कभी नहीं था कि उसे जीता न जा सके।"

अंग्रेजों ने प्राय: महानता प्राप्त की है; किन्तु इतनी महानता कभी नहीं प्राप्त की जितनी उन्होंने दक्षिण एशिया में अपने सत्ता छोड़ते समय गौरव तथा निर्णयात्मकता का प्रदर्शन कर प्राप्त की। भारतीय स्वतंत्रता के प्रारम्भ-काल में ही ब्रिटेन ने उसी शालीनता के साथ वर्मा और लंका को भी छोड़ दिया। भारत में उसने पाकिस्तान को जन्म दिया। भारत में, काँग्रेस की प्रत्यक्ष शक्ति के कारण, ५८४ छोटे और बड़े राजाओं ने अपनी-अपनी रियासतों को नये भारतीय संघ में मिला देना मंजूर कर लिया और उसके वदले में केवल पेन्शन का वायदा स्वीकार किया, ऐसा वायदा जिसको नेहरू-सरकार तीव्र विरोध के सामने वड़ी कठिनाई से कायम रख सकी है। हदरावाद और काश्मीर में सशस्त्र संघर्ष हुए; परन्तु आश्चर्य तो यह है कि पचास काश्मीर नहीं उठ खड़े हुए।

इन असाधारण सफलताओं के मिलने पर भी १५ अगस्त, १९४७ के स्वतंत्रता-दिवस-समारोह के दृश्य से गाँधी वहुत दूर थे और उस समय प्रार्थना, कताई तथा उपवास में व्यस्त थे। उनके लिए तो भारत--विभाजन और उसके उपरान्त हिन्दू-मुसलमानों के दंगों ने इस स्वतंत्रता को एक महान पराजय में परिणत कर दिया था। उन्होंने कहा, "मुझे काट डालो, किन्तु भारत को नही"; परन्तु और अधिक हिन्दू-मुस्लिम दंगों से वचने के लिए काँग्रेस के नेताओं ने अनिच्छापूर्वक पाकिस्तान-निर्माण के ब्रिटिश प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

प्रारम्भिक गांधीवादी संघर्ष में मुसलमानों ने महत्वपूर्ण भाग लिया था। परन्तु अंग्रेजों द्वारा दोनों धर्मों के लिए निर्धारित पृथक निर्वाचन, अपने लिए पृथक धार्मिक राज्य वनाने के मुसलमानों के दृढ़ संकल्प तथा १९३७ के सीमित स्वशासन के अन्तर्गत सत्ताधारी कांग्रेस की भूलों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को धीरे-धीरे समाप्त कर दिया।

१९४६ में कलकत्ता में प्रथम दंगे के वाद पुलिस कार्रवाई तथा दंगाई

क्षेत्रों में गांधी की यात्राओं ने दंगों पर नियंत्रण करने में सहायता पहुँचायी। विभाजन ने फिर पंजाब में दंगों की एक नयी लहर पैदा कर दी, जहाँ एक बड़े प्रान्त को कृत्रिम सीमाओं द्वारा बाँट दिया गया और जहाँ लाखों आतंक-ग्रस्त मुस्लिमों, हिन्दुओं तथा सिखों को सीमा के पार छोड़ दिया गया, या उन्हें भगा दिया गया।

गाँधी ने अनुभव किया कि उनके सिद्धान्तों को न तो लोगों ने समझा और न स्वीकार किया। १९२५ में ही उन्होने कहा था, "मैं जानता हूँ कि मैं अधिकांश शिक्षित लोगों को अपने साथ ले चलने में असमर्थ हूँ।" तीस वर्ष बाद एक वयोवृद्ध गाँधीवादी ने, जो एक भारतीय राज्य के मुख्य मंत्री हैं, मुझ से कहा, "हममें से बहुतों के लिए सत्याग्रह धर्म था; परन्तु दूसरों के लिए यह केवल एक सफल टेकनीक था।"

१९४२ में, जब "भारत छोड़ो" आन्दोलन में अहिंसात्मक तरीके प्रभावहीन प्रतीत हो रहे थे, तब उग्रवादी युवक समाजवादियों ने, अंग्रेजो के विरुद्ध नहीं, बल्कि ब्रिटिश सम्पत्ति के विरुद्ध प्रत्यक्ष कार्रवाई प्रारम्भ कर दी थी। उन्होंने विचित्र भूमिगत आन्दोलन शुरु कर दिया था और महीनों तक अनेक गांवों में हथियारों के बल पर स्वराज्य स्थापित कर लिया था।

१९३८ में, गाँधी के स्पष्ट विरोध के बावजूद, सुभाष बोस को फिर काँग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। उन्होंने ही भारत को आजाद कराने के लिए उसी तरह आजाद हिन्द फौज की स्थापना की, जिस तरह वाशिंगटन ने अमरीका की स्वतंत्रता के लिए की थी। सिंगापुर से लम्बी यात्रा के बाद इस सेना ने जापानी सेनाओं की जबर्दस्त प्रगति के समय कुछ भारतीय सीमाओं में भी प्रवेश किया।

जेल में गाँधी इस बढ़ती हुई हिंसात्मक शक्ति के कारण बड़े उद्विग्न थे और जब युद्ध के बाद लौटने पर सुभाष के फौजी नेताओं का सारे देश में राष्ट्र-नायकों की भाँति स्वागत हुआ, तब गाँधी को महसूस हुआ कि उनका प्रभाव घटता जा रहा है। संयुक्त भारत के लिए और संघर्ष करने के उनके प्रस्ताव को स्वीकार करने के बजाय, जब काँग्रेस ने विभाजन स्वीकार करने का निर्णय किया, तो उन्होंने विजयोत्सव मनाने का कोई कारण नहीं देखा। भारतीय क्रान्ति में अनेक तत्व थे और कभी-कभी अगाँधीवादी तत्व इस शताब्दी के अनिवार्य जन-आन्दोलनों तथा रक्तपात के कतिपय निकृष्टतम काण्डों में सामने आ गये।

गाँवी का अन्तिम सत्याग्रह कुछ-कुछ अपने अनुयायियों के विरुद्ध भी था। स्वतंत्रता के चार महीनों वाद काश्मीर में युद्ध छिड़ जाने के वावजूद हिन्दू-मुस्लिम कटुता को दूर करने तथा पाकिस्तान को भारतीय खजाने से हिस्सा दिलाने के लिए गाँधी ने आमरण अनशन कर दिया।

उन्होंने कहा था, "यदि स्वतंत्रता-संग्राम में मैं वच गया, तो संभव है कि मुझे अपने ही देशवासियों के साथ अहिंसात्मक संग्राम करना पड़े।" छः दिनों के वाद, नयी सरकार ने पाकिस्तान के लिए ५५ करोड़ रुपये (२५ करोड़ डालर) संयुक्त भारत के खजाने से देना स्वीकार कर लिया, जो उसे विभाजन के उपरान्त मिले थे और हिन्दू-मुस्लिम नेताओं ने एक-दूसरे के धर्म के प्रति सद्भावना वनाये रखने की प्रतिज्ञाएँ कीं। यह अनशान इतना सफल प्रतीत हुआ कि गाँधी में नया आत्मविश्वास पैदा हुआ और वे १२५ वर्षों तक जीने की आशा करने लगे।

उन्होंने पहले स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य वनाया। फिर हिन्दू-मुस्लिम झगड़े को दूर करने की ओर उन्होंने घ्यान दिया और अव उन्होंने कहा कि वे शीघ्र ही सामाजिक तथा आर्थिक मामलों पर घ्यान देंगे और अपनी कार्य-प्रणाली से इस प्रकार की समानता और विकेन्द्रीकरण की स्थापना करेंगे, जो स्वराज को परिपुष्ट करेगा। उन्होंने प्रश्न किया, "इस दरिद्रता के रहते स्वतंत्रता कहाँ है? यदि मैं जीवित रहा तो मेरा काम राजनीति को सुधारना होगा।"

३० जनवरी, १९४८ को अपना अनशन तोड़ने के दस दिन वाद, जव अपनी नियमित प्रार्थना-सभा में वे असुरक्षित ही जा रहे थे तभी उनको तीन गोलियां लगीं और उनका प्राणान्त हो गया। हिन्दुओं की उन्मादपूर्ण धमकियों और कुछ दिन पूर्व वम फेंके जाने के वावजूद, उन्होंने पुलिस के संरक्षण को अस्वीकार कर दिया था।

नये प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू उनकी धधकती चिता के पास वैठे। उनके पास ही वैठे थे, भूतपूर्व वाइसराय माउण्टवेटन तथा लैडी माउण्ट वेटन। उनके चारों ओर आँसुओं की नदी की तरह विशाल भीड़ उमड़ रही थी। वाद में जव उनका भस्म गंगा नदी में प्रवाहित किया गया, तव गंगा के तट पर चालीस लाख से अधिक लोग एकत्र हुए थे। लोगों का कहना है कि इतिहास में किसी अन्य अवसर पर इतनी वड़ी भीड़ इकट्ठा नहीं हुई।

संयुक्त राष्ट्र-संघ में सम्राट के प्रतिनिधि ने असहायों, अनाथों तथा गरीवों

के इस मित्र की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए भविष्यवाणी की थी कि गाँधी की श्रेष्ठतम सफलताएँ तो अभी आगे आनेवाली हैं।

जनरल मैकआर्थर ने, जो उस समय जापान में सर्वोच्च सेनापति थे, कहा, "सभ्यता के विकास को यदि कायम रखना है, तो सभी लोग गाँधी के इस विश्वास को अन्ततोगत्वा अपनाये विना नहीं रह सकते कि विवादास्पद मामलों को तय करने के लिए शक्ति का व्यापक प्रयोग न केवल मूलतः गलत है, प्रत्युत स्वयं उसमें आत्मविनाश के कीटाणु भी सन्निहित हैं।"

गाँधी ने जनता में विश्वास किया था और उसकी शक्ति को दिखा भी दिया था। उन्होंने अहिंसात्मक प्रत्यक्ष कार्रवाई द्वारा शान्तिपूर्ण परिवर्तन की संभावना को सिद्ध कर दिया था। वे जानते थे कि केवल सरकार में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं, वल्कि मानव के पारस्परिक व्यवहार तथा सम्बंधों में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है। यह वात कि लोग उनकी सभी माँगों के अनुसार कार्य नहीं कर सके, केवल यही सिद्ध करता है कि वे मनुष्य ही थे।

यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि गाँधी ने अपने समकालीन क्रान्तिकारियों की अपेक्षा शक्ति का अधिक सफलतापूर्वक और स्थायी प्रभाव के साथ प्रयोग किया। क्या उन्होंने २०वीं सदी की सर्वश्रेष्ठ एवं पूर्ण क्रान्ति को प्रस्तुत नहीं किया? उदजन वम के युग में क्या यह आशा करना वहुत अधिक होगा कि गांधी की क्रान्ति इस शताब्दी की शेप क्रान्तियों के लिए आदर्श वनेगी?

उन्निसवाँ प्रकरण

नव भारत का उदय

दक्षिण एशिया, अफ्रीका, मध्यपूर्व और दक्षिणी अमरीका के कुछ भागों के लोग, जो अभी भी 'यथा स्थिति' को चुनौती दे रहे हैं, पूर्ण जनतांत्रिक क्रान्ति के गाँधीवादी आदर्शों को किस हद तक अंगीकार करेंगे, अधिकतर इस बात पर निर्भर करता है कि, ३७ करोड़ भारतीय किस प्रकार अपने महात्मा के कार्य को पूरा करते हैं।

जैसा कि हम देख चुके हैं, गांधी औपनिवेशिक शक्ति को निकाल बाहर करने, अथवा थोड़े से विदेशी नेताओं के बदले देशी नेताओं को रखने अथवा आर्थिक विकास करने के अतिरिक्त और भी कुछ चाहते थे। गाँधी की क्रान्ति में राष्ट्रीय स्वतंत्रता और आर्थिक विकास पर विशेष आग्रह था, परन्तु उसके साथ ही मानवता के मूलभूत नैतिक तथा आध्यात्मिक पुनरुद्धार के आधार पर मानवीय गौरव के विस्तार पर भी आग्रह था।

गाँधी की मृत्यु के साथ, भारत में गाँधीवाद एक संक्षेत्र (Prism) से निकलता हुआ दिखाई देता है और संक्षेत्र के दूसरी ओर निकल कर वह अनेक प्रकाश-किरणों में बिखर जाता है। प्रत्येक किरण में गाँधी का कुछ-न-कुछ गुण है, किन्तु किसी में भी वह केन्द्रित शक्ति नहीं है, जिसने एक साम्राज्य को उखाड़ फेंका। भारत आज भी उचित मार्ग के लिए आत्मान्वेषण के आन्तरिक संघर्ष में उलझा हुआ है।

जब ब्रिटिश सेनाएँ वापस चली गयीं, तब राष्ट्रीय स्वतंत्रता-संग्राम में विजय प्राप्त हुई, परन्तु राष्ट्रीय एकता की भावना के विकास के मार्ग में अभी भी भारी बाधाएँ मौजूद हैं। स्वतंत्र भारत की अनेक समस्याओं में से हमें पूर्ण क्रान्ति की आशा से दो समस्याओं पर अधिक ध्यान देना है, मानवीय गौरव और आर्थिक विकास।

विभाजन के बाद नेहरू-सरकार ने धर्मनिरपेक्ष राज्य के निर्माण के लिए, बड़ी सरगर्मी से और पर्याप्त सफलता के साथ काम किया, जिससे भारत के साढ़े चार करोड़ मुसलमान सुरक्षित रह सकें और नागरिकता के सम्पूर्ण अधिकारों का उपभोग कर सकें। ६० लाख से अधिक हिन्दू शरणार्थियों को शान्तिपूर्वक आत्मसात् कर लिया गया। आज भारत-सरकार तथा

विश्वविद्यालयों में अनेक ऊँचे पदों पर मुसलमान हैं।

१९५० में नया संविधान लागू किया गया, जिसने अमरीकी तथा ब्रिटिश अनुभवों से वहुत कुछ ग्रहण कर, हमारे जैसे अधिकारों के विधान के साथ संसदीय शासन की स्थापना की।

गाँवी के "ईश्वर-पुत्र" हरिजनों को पूर्ण वैधानिक अधिकार प्राप्त हैं। १९५५ में वनाये गये विधान में कहा गया है कि उनके प्रति यदि कोई किसी भी रूप में भेदभाव का व्यवहार करता है, तो उस पर जुर्माना किया जा सकता है और छः महीने तक जेल की सजा दी जा सकती है। महिलाओं का, जिनका भारत में आर्थिक दर्जा हमेशा नीचा रहा है, उद्धार किया गया है और अव कम से कम कानूनी तौर पर उन्हें वे सभी अधिकार प्राप्त हैं, जो संसार के किसी भी प्रजातंत्रात्मक देश में उन्हें प्राप्त हैं। यद्यपि पहले वाल-विवाह एक सामान्य प्रथा थी और औसतन हर लड़की तेरह वर्ष की होते-होते व्याह दी जाती थी, अव हिन्दू लड़कियों के लिए १५ वर्ष और लड़कों के लिए १८ वर्ष की कानूनी पावंदी लगा दी गयी है।

१९५१ के अन्त में मेरे भारत पहुँचन के वाद ही, नये गणतंत्र ने सार्व-भौमिक मताधिकार के आधार पर अपने प्रथम राष्ट्रव्यापी निर्वाचन का संचालन किया। प्रजातंत्र के सवसे वड़े निर्वाचन में १० करोड़ से अधिक लोगों ने शान्ति के साथ मतदान दिया। अमरीका के राष्ट्राध्यक्ष के निर्वाचन की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में मतदाताओं ने मतदान में भाग लिया।

नेहरू-सरकार की काँग्रेस पार्टी ने, जिस पर गाँधीवादी संघर्षों के उत्तराधिकार की छाप है, ४५ प्रतिशत मत प्राप्त किये और मौटे तौर पर ७३ प्रतिशत संसदीय सीटें प्राप्त कीं। विरोध पक्ष विभिन्न दलों में विभाजित था; प्रजा और समाजवादी दल (अव प्रजासमाजवादी दल) ने १६ प्रतिशत मत प्राप्त किये, परन्तु उसे वहुत कम सीटें मिलीं; साम्यवादियों को केवल ५ प्रतिशत मत मिले, परन्तु तेलंगाना में, जो अव आंध्र राज्य का भाग है, उन्हें काफी सीटें मिलीं। उग्र दक्षिणपक्षी रूढ़िवादी हिन्दू दलों को ५ प्रतिशत मत मिले और छिटपुट स्वतंत्रों तथा स्थानीय दलों ने शेप मत प्राप्त किये। नेहरू की काँग्रेस पार्टी ने केन्द्रीय तथा लगभग सभी राज्य-सरकारों में अपना दृढ़ अधिकार जमाये रखा।

एक पीढ़ी के हिंसा, सशस्त्र विद्रोह और भूमिगत कार्य ने, जसा कि चीन में हुआ, इस प्रकार के निर्वाचन को असंभव वना दिया होता। ब्रिटिश कानून

के प्रभाव ने गाँधी की अहिंसावादी प्रणाली से मिलकर, अनुनय-विनय में विश्वास को दृढ़ बना दिया था और जनता के लिए स्वायत्तने शासन की आदतों की स्थापना की।

× × ×

आर्थिक क्षेत्र में भी प्रगति बहुत ही आशाप्रद रही है। १९५१ में आर्थिक विकास के लिए पंचवर्षीय योजना का सूत्रपात हुआ। लक्ष्य-पूर्ति की तिथि अप्रैल, १९५६ रखी गयी।

मार्च, १९५३ में, जब मैंने राजदूत के रूप में भारत छोड़ा, बहुतों ने महसूस किया कि आयोजन के उद्देश्य बहुत ही महत्वाकांक्षापूर्ण हैं। साम्यवादी चीन के उत्तरी भाग के विकास—कार्यक्रम की ईर्ष्यालु टीकाएँ की गयीं, जहाँ समझौते और अनुनय-विनय की लोकतांत्रिक प्रणाली के लिए काम को धीमा करने की आवश्यकता नहीं थी और न स्वतंत्र मतदाताओं की अप्रसन्नता का कोई भय था।

दो वर्ष बाद जब मैं भारत फिर गया तब काफी परिवर्तन हो चुके थे। मैंने प्रायः सर्वत्र आत्मविश्वास की भावना पायी, जो इस ज्ञान से उत्पन्न हुई थी कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के अधिकांश लक्ष्यों से अधिक काम हो गया है। आंध्र के विशेष निर्वाचन में आर्थिक समस्याओं पर लड़ने वाले साम्यवादियों को गहरी हार खानी पड़ी और सन्देह करने वाले भी यह मानने लग गये थे कि कम से कम अभी तक तो भारतीय प्रजातंत्र सफल रहा।

इसका मतलब यह नहीं कि अब प्रचुर मात्रा में समस्याएँ और प्रश्न नहीं रह गये हैं। अभी भी आधे से अधिक भारतीय परिवार २५० डालर से कम वार्षिक आय पर गुजर कर रहे हैं। भारतीय कारखानो में मजदूर औसतन प्रतिदिन, १ डालर से कम पाता है और मध्यप्रदेश जैसे राज्यों में एक प्राथमिक शिक्षक २० डालर मासिक से अधिक नहीं पाता। लाखों व्यक्ति आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से बेकार हैं। यद्यपि खाद्यान्न का उत्पादन काफी अधिक है, तथापि एक साधारण ग्रामवासी को अपर्याप्त और अत्यन्त असंतुलित भोजन मिलता है।

जब हम उस दूरी को सोचते हैं, जो अभी भारत को पूरी करनी है, तो चिन्ता का गम्भीर कारण उपस्थित हो जाता है। किन्तु जब हम स्वतंत्रता के बाद भारत द्वारा तय की गयी दूरी को सोचते हैं, तो किसी हद तक विश्वास उत्पन्न हो जाता है। यह विशेष महत्वपूर्ण है; क्योंकि आज भारत जिस आर्थिक विकास के क्षेत्र में संलग्न है, उसे इतिहास हमारी शताब्दी का युद्ध समझ सकता है।

दो विशालकाय अर्ध-विकसित देश, चीन और भारत, जिनमें संसार की ४० प्रतिशत जनता बसती है, औद्योगिक विकास की गति और प्रणाली में भाग्यपूर्ण प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं। लोकतांत्रिक तथा एकतंत्रवादी आर्थिक विकास के अन्तरों और परिणामों को व्यावहारिक रूपसे प्रदर्शित किया जा रहा है। एशियाई मामलों के अधिकांश छात्रों न इस स्पर्धा की विशालता तथा इससे संलग्न जोखिमों को समझ लिया है। युद्ध से कुछ छोटे, किन्तु किसी भी घटना से अधिक इन प्रयोगों के परिणाम इस बात का निर्णय करेंगे कि शेष अर्द्धविकसित विश्व कौन-सा मार्ग अपनाये।

भारत के प्रजातंत्र होने के कारण उसे अनेक ऐसी समस्याओं का सामना करना है, जिनकी चीन अधिकतर उपेक्षा कर सकता है। इस प्रकार सबसे महत्व की बात यह है कि भारत-सरकार अपने वर्तमान मतदाताओं को प्रसन्न रखे अथवा अपने सबसे बड़े राजनीतिक क्षेत्र को खो दे। कतिपय भ्रामक सीमाओं के अन्तर्गत पेकिंग-सरकार मतों पर आधारित न होने के कारण, सख्त तरीकों का प्रयोग कर सकती है।

हम देख चुके हैं कि रूस और चीन में, दैनिक उपभोग की वस्तुओं को अन्य सुविधाओं के बदले प्राप्त करने और न्यूनतम सम्भव मूल्यों पर नगर के मजदूरों के लिए अधिकतम खाद्यान्नपूर्ति के लिए प्रयास करके किसानों का बुरी तरह शोषण किया जा रहा है। साम्यवादियों का आग्रह विशेषरूप से औद्योगिक विकास पर ह।

एकतंत्रवादी प्रणाली के अन्तर्गत भी इस मार्ग में खतरे तो हैं ही। भारत जैसे प्रजातन्त्र में इसका परिणाम सीधा राजनीतिक विस्फोट होगा। भारत में ७५ प्रतिशत लोग गाँवों में रहते हैं और उनके समर्थन के बिना कोई भी लोकतांत्रिक शासन समाप्त हो जायगा। स्वतंत्र एशियाई समाज के आधार की रचना के लिए, भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में ग्राम-विकास पर बहुत अधिक बल दिया गया है।

प्रजातांत्रिक तथा एकतांत्रिक प्रणाली के भेद दोनो देशों की योजना-प्रक्रिया में स्पष्ट रूप से परिलक्षित हैं। भारत ने प्रधान मंत्री नेहरू की अध्यक्षता में एक योजना-आयोग की स्थापना की। केन्द्रीय और राज्य-सरकारों के विभिन्न अधिकारियों, सलाहकार-मण्डलों तथा विशेषज्ञों से १५ महीनों तक परामर्श चलता रहा, जिसके अन्त में पंचवर्षीय योजना का प्रारूप सारे देश में वितरित किया गया।

व्यापक विचार-विनिमय तथा वादविवाद के प्रकाश में संशोधित योजना कुछ महीनों बाद भारतीय लोकसभा द्वारा भारत के आर्थिक प्रयास के लिए 'नीलपत्र' आयोजन के रूप में स्वीकृत हुई। निस्सन्देह इसमें हमारे युग की महानतम लोकतांत्रिक ग्राम्यक्रान्ति का प्रस्ताव था।

इसके विपरीत, यद्यपि हम चीन के योजना-कार्यक्रम के तंत्र के बारे में कुछ नहीं जानते, तथापि इस बात से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि दिसम्बर, १९५२ में पेकिंग से घोषित चीन की पंचवर्षीय योजना, परिस्थितियों के अनुसार रूस की प्रथम योजना की कार्बन-प्रतिलिपि मात्र है। जिस प्रकार रूस के आयोजकों ने अन्नोत्पादक, किन्तु अशान्त यूक्रेन की अवहेलना की, उसी प्रकार चीन ने कदाचित् चावल के सर्वोत्तम उत्पादक क्षेत्र दक्षिणी चीन की, जो सब से कम वफादार था, अवहेलना की।

चीनी योजना में सिकियांग तथा मञ्चूरिया जैसे सुरक्षित एवं भीतरी प्रान्तों के विकास पर अधिक बल दिया गया, जिस प्रकार रूस ने ट्रान्स-यूराल के निर्माण पर विशेष बल दिया था। भारत की भाँति विस्तृत और निश्चित लक्ष्य निर्धारित न कर, जिनके आधार पर प्रगति का निर्णय किया जा सकता है और आलोचना की जा सकती है, पाँच वर्षों के लिए कुछ व्यापक उद्देश्य बना लिये गये, जिनमें केन्द्रीय सरकार की बदलती हुई राजनीतिक अथवा आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार संशोधन होते रहे।

जिन तरीकों से ये योजनाएँ कार्यान्वित की जाती हैं, उनके भेद भी बिल्कुल स्पष्ट हैं। लोकतांत्रिक तथा एकतांत्रिक, दोनों ही देशों में समान रूप से आर्थिक विकास की बुनियाद पूँजी-निर्माण की प्रक्रिया है। आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक स्वस्थ राष्ट्र को अपने उत्पादन से कम खर्च करना चाहिए, जिससे कुछ बचत बनी रहे और जिसका उपयोग नये कारखानों के निर्माण और अन्य उत्पादक सुविधाओं में हो सके। यहाँ चीन, जिसमें एकतंत्रवादी सरकार का कठोर नियंत्रित प्रशासन-यंत्र है, भारतीय नेताओं से अधिक सुविधाजनक स्थिति में प्रतीत होता है, क्योंकि भारतीय नेता लोकतांत्रिक जनमत के प्रति उत्तरदायी हैं।

दैनिक उपयोग की वस्तुओं की उत्पादन-क्षमता को सीमित करने के लिए, भारत प्रायः पूर्णतः करों पर निर्भर करता है। भारतीय किसान के लिए बाजार बिलकुल खुले हुए हैं। कर से हुई आय, घाटे के बजट, विदेशी ऋण और अनुदानों से प्राप्त धन से रेलों, गोदियों, जल-विद्युत-कारखानों, सिंचाई-

बाँधों के निर्माण तथा मलेरिया-नियंत्रण और अन्य महत्वपूर्ण सेवाओं के लिए आर्थिक व्यवस्था की जाती है।

चीन में भी कर वास्तव में आय का एक प्रमुख साधन है; परन्तु इसकी पूर्ति सरकार-नियंत्रित उद्योगों से प्राप्त ठोस मुनाफों से की जाती है। वहाँ ८० प्रतिशत भारी उद्योग, ६० प्रतिशत हलके उद्योग, ९० प्रतिशत बैंक-उद्योग, ५० प्रतिशत फुटकर व्यापार और ८० प्रतिशत थोक व्यापार सरकार के नियंत्रण में है। अन्य सभी साम्यवादी राज्यों की तरह चीन में भी "उधार" और "ऐच्छिक योगदान" का महत्व है, जिसका, साधारण अर्थ है, बचत का अधियाचन या बलात् श्रम।

विश्वस्त आंकड़े पाना तो कठिन है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विनियोग के लिए इन तरीकों से प्राप्त चीन की आन्तरिक बचत उसकी वार्षिक राष्ट्रीय आय की १६ प्रतिशत तक पहुँच जाती है, जबकि भारत में जनतांत्रिक तरीकों से अभी तक केवल ७ प्रतिशत तक पहुँच पायी है।

जैसा कि हमने पिछले प्रकरणों में देखा है, चीन की आर्थिक योजना का उद्देश्य लोगों के उत्सर्ग को ध्यान में रखे बिना चीन को एक आधुनिक औद्योगिक शक्ति के रूप में परिणत करना है। वहां भारी उद्योगों को प्राथमिकता प्रदान की गयी है, जब कि रोजमर्रा की चीजों के उत्पादन और कृषि को गौण स्थान प्राप्त है।

इसके विपरीत भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना इस उद्देश्य से बनायी गयी है कि जीवन-स्तर कुछ ऊँचे हों और कृषि-विकास को स्थगित करने के बजाय उच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी है। दोनों ही अर्थतंत्रों में खाद्यान्न तथा अन्य कृषि-उत्पादन को निरन्तर बढ़ाने की घोर आवश्यकता है। इसके लिए भारत में किसानों को हर प्रकार से प्रोत्साहन दिया जा रहा है, जबकि चीन में किसानों को सख्त नियंत्रणों में रखा जा रहा है।

भारतीय योजना के अनुसार, अप्रैल, १९५६ तक सिंचाई और कृषि के लिए लगभग २ अरब २० करोड़ डालर के अतिरिक्त विनियोग की आवश्यकता है। चीन में, जहाँ की जनसंख्या २० करोड़ अधिक है, यह तुलनात्मक अंक १ अरब ६० करोड़ डालर है; परन्तु विद्युत और उद्योग में बिल्कुल विपरीत स्थिति है। भारत में २ अरब ३० करोड़ डालर की लागत है, जबकि चीन में वह ६ अरब २० करोड़ डालर तक पहुँच रही है।

क्या लोकतांत्रिक भारतीय योजना मानव-कल्याण का विशिष्ट उद्देश्य

रखते हुए दीर्घकालिक आर्थिक विकास के लिए आवश्यक औद्योगिक आधार बना सकेगी ? क्या चीन गाँवों में रहने वाले ४५ करोड़ चीनियों की सहनशीलता और पुलिस-नियंत्रणों की प्रभावशाली सीमाओं को किसी जगह भंग किये बिना औद्योगिक विस्तार की अपनी द्रुत गति को कायम रख सकेगा ? समस्त एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के अर्द्ध-विकसित देश, जो इसी प्रकार की समस्याओं में उलझे हुए हैं, भारत और चीन की प्रतिस्पर्धा की ओर ध्यानपूर्वक देख रहे हैं।

× × ×

एक चीज तो साफ नजर आती है। १९५५ तक पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में की गयी आशाओं की तुलना में भारतीय प्रगति कहीं अधिक हुई। यद्यपि एक स्वस्थ ग्राम-समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक भूमि-सुधार अभी किसी भी प्रकार पूर्ण नहीं हुआ, तथापि वह काफी आगे बढ़ा है। बड़ी-बड़ी अधिकांश जमीन्दारियां समाप्त कर दी गयी हैं। आज भारतीय किसान एक बहुत बड़े अनुपात में छोटे-छोटे मालिक के रूप में हैं और अपनी जमीन पर काम करते हैं। जमीन्दारों को दिये जाने वाले मुआवजे का जोड़ अन्ततः एक अरब डालर तक पहुँच जायगा।

कृषि-उत्पादन के लाभ उत्साहवर्धक हैं, क्योंकि १९५३ के उत्पादन से १९५५ में २० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। १९५४ में अच्छी वर्षा के कारण भारत एक लम्बे अर्से के बाद खाद्यान्न में स्वावलम्बी बन गया। परिणाम-स्वरूप प्रतिवर्ष २५ करोड़ डालर से ५० करोड़ डालर तक की विदेशी मुद्रा, जो पहले विदेशों से गेहूं और चावल मँगाने के लिए निर्धारित की जाती थी, अब कारखानों के विदेशी उपकरणों, रेलों के रोलिंग स्टाक, ट्रकों तथा अन्य आवश्यक चीजों की खरीद के लिए उपलब्ध है। १९५६ में सिंचाई की सुविधाओं के कारण वर्षा के अभाव में भी पर्याप्त खाद्य-उत्पादन-स्तर कायम रखा जा सकेगा।

चूंकि जल भारत का जीवन-रक्त है, पंचवर्षीय योजना ने सिंचाई को ही प्राथमिकता प्रदान की। पहली अप्रैल, १९५६ की लक्ष्य-तिथि तक सिंचाई वाली भूमि में कुल १ करोड़ ६७ लाख एकड़ की असाधारण वृद्धि हो जायेगी। यह वृद्धि जापान की कुल जमीन से, जिस पर खेती होती है, अधिक है और संयुक्त राज अमरीका की समस्त सिंचित भूमि से कुछ ही कम है।

भारतीय ग्राम-विकास का कार्यक्रम, जिसमें केवल खाद्यान्न-उत्पादन ही नहीं है, प्रत्युत जनस्वास्थ्य और शिक्षा भी शामिल है, एक ऐसा कार्यक्रम है, जिसके अध्ययन में मैंने वहुत समय लगाया और जिसकी वुनियादों से मुझे विश्वास है। उसकी प्रगति शायद सवसे अविक उत्साहवर्वक रही है।

फरवरी, १९५५ में मैंने मुलुंग सामुदायिक विकास योजना देखी, जिसमें ७५ गाँव और ६८ हजार लोग हैं और जो पूर्वी हैदरावाद के तेलंगाना खण्ड में अवस्थित है। यहीं १९४८ में साम्यवादियों ने अपना 'खूनी' विद्रोह किया था, जवकि उसी समय वर्मा, फिलिपाइन्स और हिन्देशिया में भी साम्यवादी उपद्रव हो रहे थे। यह एक ऐसा क्षेत्र था, जहाँ कुछ जमीन्दारों के पास वहुत अविक जमीन थी और अविकांश लोगों के पास या तो जमीन विल्कुल नहीं थी और यदि थी भी, तो वहुत ही कम। जवकि साम्यवादियों ने जमीन्दारों को मार भगाया और जमीन का वितरण किया, कई हजार व्यक्ति मारे गये और अनेक गाँव जला दिये गये। भारतीय सेना के दो डिवीज़नों तथा राज्य की पुलिस ने अन्त में शान्ति स्थापित की। १९५२ में मुझे सावधान किया गया कि मैं उस क्षेत्र से दूर रहूँ, क्योंकि विना सशस्त्र संरक्षक के वहाँ की यात्रा निरापद नहीं थी।

उत्पात के चिन्ह अभी भी सर्वत्र विद्यमान हैं। घात में वैठे विद्रोहियों से वचने के लिए, सड़क के दोनों ओर के जंगलों को, पाँच-पाँच सौ गज पीछे तक काट कर साफ कर दिया गया है। जहाँ दिखायी पड़ने वाले स्मरण-चिन्ह अपर्याप्त थे, योजना के संचालक ने अपने व्योरे में इस प्रकार की आलोचना की :

"यह गांव साम्यवादियों द्वारा विल्कुल नष्ट कर दिया गया था।"

"यहाँ पर जमीन्दार और उसका परिवार मार डाला गया था।"

"केवल दो वर्ष पूर्व यहाँ पर हमारे कार्यकर्त्ताओं को धमकी दी गयी थी कि वे या तो २४ घण्टे में भाग जाँय या अपनी जान से हाथ धोयें।"

"इस जिले भर में प्रत्येक घर के सामने हँसिया और हथौड़ेवाला लाल झण्डा था।"

१३० वर्ग मील के दायरे में, २ गाँवों और ६८,००० लोगों के यहाँ लाल झण्डों और तनी भृकुटियों के स्थान पर हमने मैत्रीभाव, उत्साह और ठोस सफलताएँ पायीं। ८० प्रतिशत जमीन अव उन्हीं की थी, जो उसे जोतते थे। मलेरिया की घटनाएँ घट कर ६० प्रतिशत से २ प्रतिशत रह गयी थीं। ६ से ११ वर्ष तक के वच्चों में आवे से अविक स्कूलों में पढ़ते थे। गावों की सड़कें

खूब साफसुथरी थीं और उनके किनारे-किनारे नालियाँ बनी थी। तीन नये गाँवों का आमूल निर्माण हुआ था। गाँव के लोगों ने सभी काम अपने सुधार के लिए वेतन पर किये थे।

१९५५ के वसन्त में भारतीय ग्राम-विकास-योजना ने १००,००० से अधिक गावों को, जिनमें ८ करोड़ की आबादी है, अपने अन्तर्गत ले लिया। दुनिया में अपने ढंग का यह महानतम प्रयत्न था। हमारी ही ग्राम-विस्तार-सेवा के नमूने पर आधारित प्रत्येक समुदाय को आधुनिक कृषि-प्रणाली, अच्छे बीज और खाद के प्रयोग, जन-स्वास्थ्य के मूल तत्व, मलेरिया-नियंत्रण, स्वच्छ जल और ऐच्छिक श्रम द्वारा स्कूलों के निर्माण की सलाह दी जाती है।

एक प्रशिक्षित कार्यकर्ता के मातहत इन योजनाओं की व्यवस्था के लिए पाँच या छः गाँव होते हैं। कृषि, जन-स्वास्थ्य तथा शिक्षा-विशेषज्ञ विशिष्ट परिस्थितियों में सहायता के लिए उपलब्ध होते हैं।

यह बात जानते हुए कि मनुष्य केवल रोटी के लिए नहीं जीता, इन योजनाओं में एक समाज शिक्षण-संचालक की भी व्यवस्था है, जो ग्रामीण नृत्य, कला तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों का संगठन करता है। योजनाओं के अनुसार इस बहुपक्षी विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत के सभी गाँव १९६१ तक आ जायंगे।

प्रशिक्षण और प्रशासन का बोझ बहुत बड़ा है। फोर्ड-फाउण्डेशन-निधि की सहायता से ४६ सुसज्जित स्कूलों की स्थापना की गयी है, जिनमें से प्रति वर्ष पाँच हजार प्रशिक्षित कार्यकर्ता और कई हजार प्रशासक तथा जन-स्वास्थ्य, कृषि, सिचाई, इन्जीनियरिंग, शिक्षण, समाजकार्य, धाय के कार्य तथा सांस्कृतिक कार्यों के विशेषज्ञ बाहर निकलते हैं।

जन-स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी बहुत अधिक सफलता प्राप्त की गयी है। मलेरिया से प्रभावित सभी क्षेत्रों में वर्ष में दो बार डी. डी. टी. के छिड़कने का कार्य भी ग्रामविकास-योजना का एक भाग है। परन्तु मानव-जीवन और उत्पादन-क्षमता पर मलेरिया के भयानक प्रभाव के कारण यह उचित समझा गया कि मलेरिया को निर्धारित तिथि १९६१ के पूर्व, १९५७ में ही देश से निकाल बाहर करने का प्रयत्न किया जाय। सामान्यतः मलेरिया फसल काटने के समय में फैलता है, जिससे भारत के कुल वार्षिक उत्पादन की ६ प्रतिशत हानि होती है।

१९५३ में मलेरिया-ग्रस्त क्षेत्रों को १९० जिलों में विभाजित किया गया और प्रत्येक जिले में १० लाख की आवादी है। राष्ट्र भर में १८,७५० आदमियों को प्रशिक्षित किया गया और घर-घर तथा गाँव-गाँव में डी. डी.टी. का छिड़काव प्रारम्भ हुआ।

१९५४ में एक सौ जिलों में, जिनकी कुल आवादी १० करोड़ है, अमरीकी चतुर्थ कार्यक्रम (अमेरिकन पाइन्ट फोर) द्वारा प्रदत्त डी. डी. टी. पूर्ण रूप से और दो-दो तीन-तीन वार छिड़की गयी। १९५५ में डी. डी. टी. छिड़कने का कार्य १३ करोड़ ६० लाख लोगों की आवादी तक पहुँच गया। १९५७ तक सभी १९० जिले पूरी तरह से शामिल हो जायेंगे। १९५५ तक प्रतिवर्ष औसतन १० करोड़ मलेरिया-रोगियों की संख्या घट कर ढाई करोड़ तक पहुँच गयी।

यद्यपि प्रथम पंचवर्षीय योजना का विशेष ध्यान ग्राम-विकास-कार्य की ओर ही रहा है तथापि उद्योग में भी काफी ठोस प्रगति की गयी है। १९५२ और १९५५ के वीच औद्योगिक उत्पादन ३७ प्रतिशत वढ़ गया।

भारतीय रेलों का आधुनिकीकरण शीघ्रता से हो रहा है। १९५५ तक भारत में रेल के डिब्बों का निर्माण छः हजार से वारह हजार तक हो गया है। दो हजार और इंजिन वढ़ाये गये, जिनमें से एक तिहाई भारतीय कारखानों में ही वनाये गये थे। अप्रैल, १९५६ तक जल-विद्युत-उत्पादन में भी योजना के अनुसार ५१ प्रतिशत की वृद्धि होगी।

इस विकास-योजना-कार्यक्रम के ९३ प्रतिशत पर भारत की आन्तरिक सम्पत्ति से खर्च हो रहा है, जिसे मुख्यतः भारी करों के रूप में प्राप्त किया जाता है। शेष धन, विश्व-वैंक के ऋणों, कोलम्वो-योजना के अनुदानों और चतुर्थ कार्यक्रम से प्राप्त होता है। अर्थशास्त्रियों तथा वित्तविशेषज्ञों के लिए यह आश्चर्य की वात है कि युद्धोत्तरकालीन मुद्रा-स्फीति १९५५ तक अधिक नहीं वढ़ी। मुख्यतः अच्छी फसलों के कारण १९५२ के मूल्यों की अपेक्षा १९५५ के मूल्यों में कुछ कमी आ गयी।

ऐसा संभव मालूम होता था कि कुछ अपवादों के अतिरिक्त पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य अप्रैल, १९५६ तक या तो पूरे हो जायंगे या कुछ और अधिक हो जायंगे। चीनी प्रतिस्पर्धा को ध्यान में रखते हुए द्वितीय पंचवर्षीय योजना में औद्योगीकरण पर अधिक वल दिया जायगा और सधे हुए ढंग से ग्राम-विकास तथा उन्नति को कायम रखने और वढ़ाने का प्रयत्न किया जायगा।

आशा की जाती है कि भारत का आज का महत्वपूर्ण औद्योगिक उत्पादन १९६१ तक दुगुना हो जायगा। यह भी अपेक्षित है कि तब तक फौलाद का उत्पादन ५० लाख टन तक पहुँच जायगा। पर्ल हार्बर-काण्ड के पूर्व जापान का लगभग यही उत्पादन था।

यह एक वहुत ही महत्वाकांक्षापूर्ण कार्यक्रम है। १९५५ में मैंने जो अनुकूल वातावरण देखा था, उसके कायम रहने पर क्या भारत अपने लक्ष्य तक पहुँच सकेगा? १९५५ में भारत अपनी साधारण उपज का ९३ प्रतिशत खुद ही खपा गया, जो केवल जनता के जीवन-निर्वाह मात्र के लिए ही पर्याप्त था। विकास और विस्तार के लिए इसमें से केवल ७ प्रतिशत ही वचा।

निरन्तर विस्तार तथा वर्तमान भारी-करों के जारी रहने के परिणाम-स्वरूप, १९६१ तक खपत उपज की ८८ प्रतिशत से अधिक नहीं हो पायेगी, जिससे १२ प्रतिशत के महत्वपूर्ण अंश को अन्य सुविधाओं में लगाया जा सकेगा। क्या विना राजनीतिक विस्फोट के प्रजातंत्र द्वारा यह अत्यधिक 'पेट कटाई' वर्दाश्त हो सकेगी?

यह उतने ही उपयुक्त अनेक प्रश्नों में से एक है, जो मुझे आशा है, प्रत्येक वस्तुवादी प्रेक्षक के मस्तिष्क में उठेगा। दूसरा है, क्या आज की योग्य नागरिक सेवा (Civil Service) प्रशासन के लिए इतनी अधिक विस्तृत हो सकेगी कि छः वर्षों में वह भारत के उन सभी गांवों तक पहुँच जाय, जिनकी जनसंख्या संयुक्त राज्य अमरीका की दुगुनी है? इसके लिए चार लाख से अधिक प्रशिक्षित पुरुषों और महिलाओं की आवश्यकता होगी।

इसके अलावा, किसी समाज पर राजनीतिक दबाव का समय, जैसा मैं पहले कह चुका हूं, संभव है तव तक न आये, जव तक वह भयंकर दरिद्रता में डूवा हुआ हो, वल्कि उस समय आये जव वह एक अधिक उन्नत और अच्छे जीवन की संभावना को महसूस करे और यह अनुभव करने लगे कि उसकी उन्नति और भी तीव्र गति से होनी चाहिए। यदि जनता की वढ़ती हुई आशाएँ, चाहे वे कितनी भी अनुचित क्यों न हों, अधिक समय तक अतृप्त रह जायं, तो उसके राजनीतिक परिणाम क्या होंगे? असफलताओं को कम समझने वाले लोकप्रिय वक्ताओं की कमी न रहेगी।

प्रतिवर्ष भारतीय विश्वविद्यालयों से पचास हजार युवक और युवतियां स्नातक वनकर निकलती हैं, जिनमें से अधिकांश के पास 'कला' (Arts) की डिग्री होती है और जिनमें राष्ट्रोत्थान के कठिन कार्य के प्रति उदासीनता

होती है। क्या ऐसे साधन निकाले जा सकते हैं, जिनसे इन युवा स्नातकों को गाँवों, कारखानों तथा गंदी बस्तियों में जरूरी कामों को उत्साह और परिश्रम के साथ करने के लिए तैयार किया जा सके? अथवा वे केवल हिंसा की राजनीति की ओर आकृष्ट हो हताश और क्षुब्ध बुद्धिजीवी के रूप में पार्श्वरेखा पर ही खड़े रहेंगे? क्रान्तियों का नेतृत्व प्रायः भूखे किसानों द्वारा नहीं, बल्कि उन हताश मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों द्वारा होता है, जिन्होंने अपने जीवन में शायद ही कभी एक दिन भी भूख बरदाश्त की होगी।

भारत के भूमि-सुधार कार्यक्रम से लाभ हुआ है। क्या वर्तमान उन्नति राजनीतिक दृष्टि से विरोधी शक्तिशाली जमींदारों के विरोधों के बावजूद कायम रहेगी? यदि नहीं, तो अधिक उत्पादन के पुरस्कार अधिक लोगों को न मिलकर कुछ ही लोगों को प्राप्त होंगे और साम्यवादी आन्दोलनकारियों को एक अवसर प्राप्त हो जायगा।

कुछ उल्लेखनीय अपवादों को छोड़कर, भारतीय उद्योगपतियों ने छोटी-छोटी लाभ की इकाइयों द्वारा दीर्घकालीन विस्तार की अपेक्षा सट्टेबाजी द्वारा शीघ्र लाभ पर विशेष ध्यान दिया है। कुछ लोगों ने तो कर देने में भी बेईमानी की है। इन प्रवृत्तियों ने भारत में निजी पूंजीवाद को बदनाम कर दिया है। क्या भारत की निजी स्वामित्व-प्रणाली में पुनरुज्जीवन का संचार किया जा सकता है, जिससे वह विकास की योजनाओं में महत्वपूर्ण योग दे सके?

नौकरी और काम देने की संभावनाओं को तेजी से बढ़ाना बहुत आवश्यक है और यहाँ शिथिलता अत्यन्त खतरनाक होगी। औद्योगिक विकास आवश्यक है, किन्तु यह अन्तिम समाधान नहीं है। दुनिया की ६० % मोटरकारें अमरीकी कारखानों में १३ लाख मजदूरों द्वारा बनायी जाती हैं। भारत के लाखों बेकारों या अर्ध-बेकारों को मुख्यतः गाँवों में मकान-निर्माण, सड़क-निर्माण, दस्तकारी तथा ग्रामोद्योगों में लगाया जा सकता ह। वर्तमान योजना अपर्याप्त प्रतीत होती है।

इनमें से सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न ह, 'क्या विकास की प्रक्रिया में राष्ट्रीय गौरव और व्यक्तिगत योग की भावना को कायम रखा और बढ़ाया जा सकता है?'.. सरकार और जनता के बीच परस्पर स्वीकृत वह साझीदारी होनी चाहिए, जो राष्ट्र को संगठित रखती है और वर्तमान कार्य के लिए आध्यात्मिक शक्ति तथा उत्तेजना की भावना प्रदान करती है। गांधी की भूमि में यह एक विशेष प्रासंगिक चुनौती है।

वास्तव में गांधी की भावना क्या थी? क्या उनकी सफलता भारत के दीर्घकालिक इतिहास में केवल क्षणिक और अस्थायी है? क्या गांधी का कार्यक्रम केवल स्वतंत्रता प्राप्त करने की एक प्रणाली मात्र था? क्या गांधी ने भारत के भावी विकास के लिए कोई गतिशील, स्थायी तथा मौलिक संचालन-शक्ति छोड़ी?

इन आशाओं के साथ कि भारत न केवल अपनी कठिन समस्याओं का समाधान करेगा, बल्कि अपने आदर्श से एक भौतिक तथा प्रायः प्रमत्त विश्व के समक्ष एक नवीन मार्ग प्रस्तुत करेगा, मैं एक अमरीकी की हैसियत से स्वीकार करता हूँ कि मुझे प्रायः निराशा के अवसर देखने को मिले हैं।

एक उदाहरण काश्मीर का है। भारत में राजदूत होने के नाते काश्मीर समस्या के कानूनी तथा राजनीतिक पहलुओं को ध्यानपूर्वक समझने का मेरा दायित्व रहा है। मेरा विश्वास था कि इस प्रश्न पर भारतीयों का सदैव औचित्यपूर्ण कानूनी दावा रहा है।

तथापि, नवम्बर, १९४७ में, भारत-सरकार ने वचन दिया था कि जैसे ही काश्मीर की भूमि से सभी विदेशी सेनाएँ हटा ली जायंगी, वहाँ जनमत लिया जायगा। १९५५ तक यह जनमत नहीं लिया गया और अब जनमत की संभावना भी बहुत कम दिखायी देती है।

१९५३ के ग्रीष्मऋतु में, काश्मीर के प्रधान मंत्री शेख अब्दुल्ला की गिरफ्तारी के बाद अमरीका-विरोधी प्रचार-आन्दोलन को, जो बड़ी होशियारी से संगठित किया गया मालूम होता था, देख कर मैं व्यग्र हो उठा। आकस्मिक अमरीकी भ्रमणार्थियों पर गुप्तचर होने का आरोप लगाया जाने लगा। यहां तक कि एडलाई स्टीवेन्सन भी, जो वहाँ कुछ दिनों के विश्राम के लिए गये थे, इस दोषारोपण से न बच सके। उत्तरदायी समाचार-पत्रों ने उन्हें अमरीकी गुप्तचर बताया, जो काश्मीरी पर्वतों में गुप्त हवाई अड्डे के निर्माण की योजना बनाने के लिए गये थे।

भारत ने अमरीका के नीति-निर्माताओं को मास्को और पेकिंग के साथ व्यवहार में 'कुछ ढुलमुल' बता कर अनुचित नहीं किया; परन्तु क्या भारत पर यह दायित्व नहीं है कि वह अपने पड़ोसी पाकिस्तान से समझौते के लिए और अधिक सुदृढ़ प्रयत्न करे?

यद्यपि भारतीय नेताओं का यह कहना ठीक हो सकता है कि पाकिस्तान को संतुष्ट करने के लिए वे 'आधा रास्ता' तय कर चुके हैं, किन्तु क्या यह

पर्याप्त है ? भारत को एक महान राष्ट्रीय नेता का वरदान प्राप्त है, उसे एकता पैदा करने वाली राजनीतिक पार्टी मिली है और पाकिस्तान की अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल सरकार का लाभ प्राप्त है। इन परिस्थितियों में क्या गाँधी पाकिस्तान के लिए 'आधे रास्ते' तक जाकर रुक जाते? पाकिस्तान के साथ अच्छे व्यवहार के लिए मुसलमानों की ओर से गाँधी का अन्तिम अनशन स्वयं इस प्रश्न का उत्तर है।

इसके अतिरिक्त क्या गाँधी का भारत विश्व के समक्ष नागरिक स्वतंत्रता के प्रति पूर्ण सम्मान का आदर्श प्रस्तुत करने के लिय बाध्य नहीं था ? जो शेख अब्दुल्ला काँग्रेस दल के अधिकांश लोगों के मित्र थे, वे आज १९५५ में भी बिना मुकदमा चलाये जेल में बन्द हैं, यद्यपि भारत ने वर्षों से अब्दुल गफ्फार खां को उसी प्रकार कैद रखने पर पाकिस्तान की आलोचना की है। १९५५ में भारत वापस आने से पूर्व मैंने १९५१-५३ से भी अधिक भ्रष्टाचार की बातें सुनीं; इस बार भारत के कुछ राज्यों के मंत्रि-पद के अधिकारियों पर भी अभियोग थे। कुछ राज्य-विधान-सभाओं में जमींदारों के कक्षों की गतिविधियाँ भी अपमानजनक बतायी गयीं।

स्वतंत्रता के अपने दीर्घकालीन संग्राम में और उसके नेताओं द्वारा प्रस्थापित सिद्धान्तों में भारत ने स्वयं अपने लिए उच्च स्तर प्रस्तुत किये थे। यदि भारत को उसके मित्र उन्हीं मापदण्डों से जाँचें तो क्या उन्हें दोषी ठहराया जायगा ?

× × ×

जब फरवरी, १९५५ में दक्षिण भारत में मद्रास राज्य के गाँधीग्राम में एक ग्राम प्रशिक्षण-केन्द्र म मैं गया, तब ये प्रश्न मेरे मस्तिष्क में थे। यहाँ पर लगभग तीन सौ युवक और युवतियाँ ग्राम-सेवा के लिए, जिसे गाँधीजी ने समझा और प्रोत्साहित किया था, अपने-आपको तैयार कर रही थीं। हम सूर्यास्त की प्रार्थना में उपस्थित थे। बड़ी भावप्रवणता तथा मिठास के साथ हमने गाये जाने वाले भजनों को सुना। इनमें से कुछ तो आधुनिक थे और कुछ प्राचीन वैदिक साहित्य से लिये गये थे। बाइबिल, कुरान और गीता से भी कुछ अंश पढ़े गये। सब में मानवीय एकता पर और व्यक्ति की महत्ता पर, चाहे वह किसी भी, जाति, धर्म अथवा वर्ण का हो, बल दिया गया था।

उसी रात हमने उन लोगों से बातचीत की, जो गाँधी के बहुत निकट रह चुके थे और जो उनकी सफलताओं तथा विफलताओं में भाग ले चुके थे। मैंने बताया कि मैं उनके उस आध्यात्मिक त्याग से कितना प्रभावित था, जिसका

एक रूप हमने अभी स्कूल में ही देखा और मैंने उनसे पूछा कि भविष्य के लिए इसकी व्याख्या वे किस प्रकार करते हैं ?

उनमें से एक ने कहा, "भारत आनेवाले वर्षों में अपने महान गौरव के दिन देखेगा। यदि नेहरू न होते तो शायद हम राष्ट्र के रूप में जीवित न रह पाते। उनकी निष्ठा और राजनीतिक कुशलता ने हमको एकता के सूत्र में बाँधा और हमारा नेतृत्व किया। उनके साहस ने उन धार्मिक उग्रवादियों को पीछे फेंक दिया, जिनका रोष हमें निगल गया होता।"

उसने आगे कहा, "परन्तु भारत के लिए नेहरू अपनी सारी महत्ता के साथ आधे रास्ते पर ही हैं। नेहरू के सेवानिवृत्त होने अथवा उनके देहावसान के बाद भारत और भी अधिक गाँधीवादी हो जायगा।"

मुझे याद था कि नेहरू के संभाव्य उत्तराधिकारियों में दो नाम प्रायः लिये जाते थे; एक तो बम्बई राज्य के मुख्य मंत्री मोरारजी देसाई का और दूसरा जयप्रकाश नारायण का, जो समाजवादी दल के भूतपूर्व अध्यक्ष और विसकोन्सिन विश्वविद्यालय के 'ग्रेजुएट' हैं।

मैं उन्हें वर्षों से जानता हूँ और उनके साथ मेरी मुलाकातें स्मरणीय अनुभवों के रूप में हैं।

मुझे काँग्रेस के नये अध्यक्ष उ. न. ढेबर से हुई अपनी बातचीत भी याद आयी। वे भी गाँधी के एक सच्चे और योग्य अनुयायी हैं, जिन्होंने दल के भीतर की भ्रष्टता को निर्मूल करने और जन-कल्याण के प्रति गाँधीवादी आस्था को काँग्रेस में पुनः लाने का अपना दृढ़ संकल्प बताया।

उड़ीसा में विनोबा भावे के साथ मेरी पत्नी के निवास के दिन का स्पष्ट वर्णन भी याद था—"भारत का पद-यात्री सन्त", जिसको जमीन्दारों ने स्वेच्छा से, भूमिहीनों में वितरण के लिए ४० लाख एकड़ भूमि दे दी। उसने उनके साढ़े तीन बजे प्रातःकालीन यात्रारम्भ, प्रातःकालीन प्रार्थना और उनके प्रति उन हजारों लोगों की भक्ति-भावना का वर्णन किया, जो उनसे दिन में मिलते और बातें करते थे।

गाँधी की मृत्यु के बाद हैदराबाद में साम्यवादियों ने हजारों एकड़ जमीन छीन कर लोगों में वितरित की थी। साधक विनोबा, जिन्हें गाँधी ने एक बार अहिंसा के प्रथम आदर्श के रूप में चुना था, १९५१ में हैदराबाद गये और वहाँ पर उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे गाँधीवादी प्रणाली से भूमिहीनों की समस्या का समाधान करेंगे।

हदरावाद के एक गाँव में उन्होंने छोटे-वड़े जमीन्दारों से यह समझने की अपील की कि भूमिहीन भी उनके भाई हैं और भूमि में उनका भी भाग होना चाहिए। एक जमीन्दार ने जमीन दे दी और भूदान की तीर्थ-यात्रा प्रारम्भ हो गयी।

विनोवा ने सवसे अपनी भूमि का छठा भाग मानों उनके छठे वेटे को देने के लिए माँगा। इसी सन्देश के साथ भूमिहीनों के लिए भूमि एकत्र करने के लिए उन्होंने १९५१ में भारत की यात्रा शुरू कर दी। भारत भर के कई हजार गाँवीवादी कार्यकर्त्ता, जो पृथक-पृथक केन्द्रों में कार्य कर रहे थे, उस विचारधारा के समर्थन में एकत्र हो गये।

१९५५ में हमने अनुभव किया कि भूदान-आन्दोलन समस्त भारत में नतिक पुनर्जागरण को अभिव्यक्त कर रहा है। भारत जैसे परस्पर विरोधी तत्वों से पूर्ण विस्तृत देश में व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर किसी को शीघ्र कोई सामान्य निर्णय नहीं करना चाहिए, चाहे वे अनुभव कितने भी स्पष्ट क्यों न हों। यह कह चुकने के वाद, मैं फिर कहूँगा कि अपने स्वयं के ज्ञान तथा भारत में अपन जीवन से हमें वड़ा प्रोत्साहन मिला। गम्भीर और समृद्ध आध्यात्मिक जीवन की देदीप्यमान संभावनाएँ, जो स्वतंत्रता की वड़ी सफलता के वाद के वर्षों में कुछ धूमिल सी हो गयी थीं, फिर चमकने लगी हैं। भारतीय जनता नैतिक मूल्यों पर अविकाधिक सोचने लगी है।

गाँवों और देहातों में दस-पन्द्रह मील चल चुकने के वाद विनोवा हर रात को खेत जोतने वालों के साथ अपनी आत्मिक एकता के प्रतीक स्वरूप फावड़ा उठाते थे। वे जमींदारों को दिखाते थे, जैसा कि गाँधी ने अंग्रेजों को दिखाया था, कि उनके द्वारा 'उत्पीड़ित' लोग नहीं, वल्कि वे स्वयं अपने अन्याय और अत्याचार सवसे अधिक भोगते हैं।

विनोवा के नतिक प्रभाव का पता कुछ इस वात से चलता है कि समाजवादी नेता जयप्रकाश नारायण ने भूदान के लिए तथा आधुनिक प्रजातंत्रात्मक भारत के अहिंसात्मक विकासके लिए जीवन दान दिया है। विनोवा के सहायक के रूप में वे अनेक भारतीय युवकों को इस काम में खींच रहे हैं। वे उनको विशेषकर लाखों एकड़ भूमि के वितरण तथा ग्रामदान के सैकड़ों गाँवों के पुनर्गठन में लगा रहे हैं।

न तो जयप्रकाश नारायण और न विनोवा ही भूदान को भूमिसुधार-विधान का विकल्प मानते हैं, वल्कि इसके विपरीत उन दोनों व्यक्तियों का तो यह

कहना है कि भूदान से एक आवश्यक वातावरण का निर्माण होगा और गाँधी-वादी शक्ति अर्थात् विश्वस्त जनता के शक्ति-स्त्रोत को मुक्त करके उचित विधान बनाया जा सकेगा।

जो यह सिद्धान्त स्वीकार करते हैं कि साम्यवाद अन्ततोगत्वा एक और अधिक शक्तिशाली विचार से ही परास्त किया जा सकता है, वे इस क्षीण-काय, वृद्ध पुरुष में एशिया की महानतम प्रजातंत्रात्मक शक्ति का दर्शन कर सकते हैं। विनोबा का कथन है कि, हम साम्यवादियों के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि बिना हिंसा के क्रान्ति नहीं हो सकती। हम विश्वास करते हैं कि भारत जैसे देश में और प्रजातंत्रात्मक शासन-व्यवस्था में मतदान द्वारा, बिना हिंसा के क्रान्ति पूरी की जा सकती है।

विनोबा ने आगे कहा, "स्वराज्य प्राप्त करके इसकी सामर्थ्य को सिद्ध कर चुकने के बाद गाँधीवाद को काल्पनिक और अव्यवहारिक नहीं कहा जा सकता। साम्यवाद ने भी, सम्प्रति प्राचीन चीन में जान फूंक कर अपनी शक्ति को सिद्ध कर दिया है। इससे कुछ कार्यकर्त्ताओं को दोनों पद्धतियो में समन्वय करने का प्रलोभन मिलता है। सच्ची बात तो यह है कि इन दोनों सिद्धान्तों का समन्वय असंभव है। दोनों में मौलिक भेद हैं। सूर्य की तरह यह स्पष्ट है कि दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं।"

१९५५ में, भारत में हमारी अन्तिम रात को राष्ट्रपति ने हमें राष्ट्रपति-भवन में १९२९ और १९३० के गाँधी के जीवन तथा प्रयासों को चित्रित करने वाली एक फिल्म देखने के लिए आमंत्रित किया था। उस फिल्म में बड़े नाटकीय ढंग से, विशाल जनसमूह, पुलिस-प्रहार के सम्मुख अनुशासनपूर्ण अहिंसा, गाँधी के विदेशी वस्त्र के बहिष्कार के फलस्वरूप लंकाशायर में बेकार वस्त्र-मजदूरों की भीड़ तथा ब्रिटेन-यात्रा के समय उन्हीं के बीच गाँधी की पद-यात्रा और उनके उल्लासपूर्ण स्वागत के दृश्य दिखाये गये थे।

हमारे अतिरिक्त, दर्शकों की संख्या लगभग चालीस थी, जिसमें गाँधी के स्वतंत्रता प्राप्त करने के साधन काँग्रेस पार्टी की कार्यकारिणी के सदस्य भी शामिल थे। उनमें से बहुतेरे चित्र में युवा रूप में दिखायी दिये, जो आस्था के साथ अपने महात्मा के निर्देश और प्रेरणा पर कार्य कर रहे थे। बाद में उसी रात को प्रीतिभोज के समय नेहरू ने गाँधी द्वारा छोडी गयी विरासत और अपने तथा अपने साथियों पर पड़े दायित्व के बारे में स्वाभाविक रूप से बातचीत की।

उसी समय मुझे उन ग्राम-कार्यकर्त्ताओं के निष्ठावान चेहरे याद आये, जो मैंने गाँधीधाम, हैदरावाद में उनके स्कूलों में और ग्रामों में काम करते समय देखे थे। मैं सोचता हूँ कि जो भावना उनमें भरी जा रही है, उससे न केवल भारतीयों की स्वतंत्रता तथा विकास का आश्वासन प्राप्त हो सकता है, प्रत्युत समुद्र पार करोड़ों लोगों को भी प्रथ-प्रदर्शन प्राप्त हो सकेगा।

क्या विनोवा के शब्द सत्य हो सकेंगे ? उन्होंने पूछा, "मार्क्स और गाँधी के सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन से वढ़कर हमारे लिए और क्या आकर्षक चीज हो सकती है ? लेनिन मार्क्स में समाया हुआ है और टालस्टाय की छाया गाँधी पर पड़ती है। दोनों सिद्धान्त आमने-सामने एक-दूसरे को निगल जाने के लिए उद्यत हैं।"

ऊपर से तो यही मालूम हो सकता है कि अखाड़े मे उतरे हुए दो प्रतिद्वन्द्वियों में, एक ओर रूसी नेतृत्व में साम्यवादी हैं और दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमरीका के नेतृत्व में पूंजीवादी, परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से पूंजीवादियों की शक्ति क्षीण हो गयी है और यद्यपि अपनी सन्य-शक्ति के कारण पूंजीवाद प्रवल प्रतीत होता ह, तथापि मैं उसे साम्यवाद के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में जीवित नहीं मानता। मैं विश्वास करता हूँ कि अन्ततोगत्वा गाँधीवाद के साथ ही साम्यवाद को अपनी ताकत की आजमाइश करनी होगी।

अमरीकी विनोवा के इस तीखे आरोप को स्वीकार नहीं करेंगे कि हमने अपना लोकतांत्रिक विश्वास खो दिया है, परन्तु यह हमारे क्रान्ति के सिद्धान्तों पर पुनर्विचार के लिए हमें विवश करेगा कि हमने उन सिद्धान्तों का कहां तक पालन किया है और विनोवा जैसे व्यक्ति हममें क्यों कमियाँ देख रहे हैं। इस वीच साम्यवाद के मुकावले यदि गाँधीवाद ने एक नये क्रान्तिकारी विकल्प का निर्माण किया तो यह वहुत ही महत्वपूर्ण लक्षण होगा, क्योंकि यह मानवीय गौरव की कल्पना पर आधारित एक विकल्प है।

बीसवाँ प्रकरण

भारत और शीतयुद्ध

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में गाँधी के महान नेतृत्व की कहानी और नये भारतीय राष्ट्र की सामाजिक और आर्थिक उन्नति को अधिकांश अमरीकी सहानुभूति और प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं; परन्तु संभव है कि उनके मस्तिष्क में अन्तरराष्ट्रीय मामलों में भारतीय नीति के सम्वंध में कुछ भ्रम हो। वे जानना चाहते हैं कि भारत पृथकतावादी है या तटस्थ, अमरीका-विरोधी है या केवल साम्यवाद का पक्षपाती? उन्हें भारत के दो विशाल पड़ोसियों, रूस और चीन के प्रति भारत के रुख से विशेप रूप से चिन्ता है।

प्रधानमंत्री नेहरू के रुखों के कारण यह चिन्ता होती है। यह एक महत्व-पूर्ण वात है, क्योंकि नेहरू के विचारों ने अधिकांश भारतीयों के परराष्ट्र-नीति सम्वंधी विचारों को, १९२५ के कांग्रेस के वार्पिक अधिवेशन के समय से ही, जव अन्तरराष्ट्रीय प्रश्नों के अध्ययन और संस्था के समक्ष सिफारिश पेश करने के लिए परराष्ट्र-विभाग की स्थापना हुई, प्रभावित कर रखा है।

कदाचित् १९२७ इससे भी अधिक महत्वपूर्ण तिथि ह। १५ जनवरी, १९५५ को मद्रास में संवाददाताओं में भापण करते हुए नेहरू न स्वयं कहा था कि मद्रास का १९२७ का कांग्रेस-अधिवेशन इस परराष्ट्र-नीति का जनक था, जिसका पालन स्वतंत्रता के वाद से किया जा रहा है। नेहरू ने कहा कि तटस्थता और प्रत्येक राष्ट्र के साथ मैत्रीपूर्ण सम्वंध और सभी देशों की स्वतंत्रता के प्रति हमारा सामान्य दृप्टिकोण अथवा उपनिवेश-विरोध की हमारी परराष्ट्र नीति उसी समय से प्रारम्भ हुई। नेहरू ने कहा कि यह याद रखना जरूरी है, क्योंकि इसका अर्थ यह है कि हमारी परराष्ट्र-नीति अचानक प्रस्फुटित नहीं हो गयी, वल्कि यह हमारे वर्षो के चिन्तन-मनन का स्वाभाविक परिणाम ह।

यद्यपि किसी सत्ताहीन दल के प्रस्ताव उसके सत्तारूढ़ होने पर विदेश-नीति के साथ सर्वदा मेल नहीं खाते, तथापि यह कहना उचित ही होगा, जैसा कि नहरू ने कहा, कि वर्तमान भारत-सरकार की कम से कम एक पीढ़ी से अपनी एक ही परराष्ट्र-नीति रही है।

नियमित रूप से कांग्रेस दल के प्रस्तावों में उपनिवेशवाद-विरोधी तथा जाति-विरोधी सिद्धान्तों का समावेश होता आया है। १९२८ में कांग्रेस ने

च्यांगकाई शेक के चीन को, पूर्ण राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेने और विदेशी प्रभुत्व के युग को समाप्त कर देने के लिए, कुछ असामायिक दवाइयाँ भेजीं।

१९३६ में, कृष्ण मेनन ने, जो १९५५ में भारत के भ्रमणशील राजदूत थे, कांग्रेस को एक रिपोर्ट भेजी थी, जिसमें लिखा था कि साम्राज्यवाद ही युद्ध के जारी रहने का कारण है और शान्ति के लिए उसका उन्मूलन अत्यावश्यक है।

कांग्रेस स्पष्ट रूप से फासिस्टों के आक्रमण के विरुद्ध थी और १९३६ में उसने स्पेन के लिए, जो फासिस्ट शक्तियों तथा विदेशी भाड़े की सेनाओं द्वारा समर्थित एक सैनिक गुट से लड़ रहा था, अपनी गहरी सहानुभूति और चिन्ता व्यक्त की। एक वर्ष बाद शंघाई में जापानी सेनाओं के उतरने पर कांग्रेस ने लोगों से, चीनियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए, जापानी माल का बहिष्कार करने के लिए कहा। १९३८ में योरोप में साम्राज्यवादी युद्ध की तैयारियों की निन्दा की गयी और जब युद्ध प्रारम्भ हो गया तब नाजी आक्रमण के विरुद्ध भी उसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया गया।

उस समय भी, जब भारतीय सेनाएँ ब्रिटेन की ओर से युद्ध कर रही थीं, उपनिवेशवाद के विरुद्ध जोर में कमी नहीं आयी। मार्च, १९४६ में, भारत से अंग्रेजों के जाने के १७ महीने पूर्व कांग्रेस ने, हिन्देशिया, मञ्चूरिया, हिन्दचीन, ईरान और मिस्र से विदेशी सेनाओं को तुरन्त वापस लेने की माँग की, जब कि इस बात पर भी बल दिया गया कि एशिया की स्वतंत्रता की समस्या का मूल तत्व भारत है और उसी की स्वतंत्रता पर अनेक देशों की स्वतंत्रता और विश्व-शान्ति निर्भर है।

उसी वर्ष के सितम्बर में संवाददाताओं के समक्ष श्री नेहरू ने उस भारतीय नीति को स्पष्ट किया, जिसका वह एक स्वतंत्र राष्ट्र की हैसियत से पालन करेगा और नेहरू ने भी उल्लेखनीय दृढ़ता के साथ उसका पालन किया। उन्होंने कहा कि परराष्ट्र-नीति के क्षेत्र में भारत एक स्वतंत्र नीति का अनुसरण करेगा और एक-दूसरे के विरुद्ध गठित गुटों की दलगत राजनीति के चक्कर में नहीं पड़ेगा। वह परतंत्र राष्ट्रों के लिए स्वतंत्रता के सिद्धान्त का पालन करेगा और चाहे जहाँ भी हो, जातीय भेदभाव का विरोध करेगा। वह एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र के शोषण के बिना अन्तरराष्ट्रीय सहयोग, एवं सद्भावना के लिए अन्य शान्तिप्रिय राष्ट्रों के साथ मिलकर काम करेगा।

नेहरू ने संयुक्त राष्ट्र संघ को भारत के सम्पूर्ण और स्पष्ट सहयोग का वचन दिया और यह भी वचन दिया कि वह संयुक्त राष्ट्र में अपनी भौगोलिक

स्थिति, आवादी तथा शान्तिपूर्ण प्रगति के अनुसार पूरी शक्ति से भाग लेगा। उन्होंने कहा कि भारतीय प्रतिनिधि सदैव यह स्पष्ट करेगा कि भारत सभी उपनिवेशों तथा परतंत्र देशों की स्वतंत्रता तथा उनके आत्मनिर्णय के पूर्ण अधिकारों का समर्थक है।

भारतीय परराष्ट्र-नीति का यह उतना ही स्पष्ट सामान्य व्यक्तव्य है, जितना कहीं भी हो सकता है। भारत के स्वेच्छा से ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से संवद्ध रहने की एक नयी वातके अतिरिक्त, पिछले दशक में यह कभी भी जारी की गयी होती। भारतीय परराष्ट्र-नीति की पृष्ठभूमि और सोवियत यूनियन तथा साम्यवादी चीन की घटनाएँ तथा प्रवृत्तियां, इन दोनों के संदर्भ में अपने साम्यवादी पड़ोसियों के प्रति भारतीय नीति कई वर्षों से काफी स्पष्ट रही है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान में स्वतंत्रता-संग्राम की अन्तिम स्थितियों में भारतीय साम्यवादियों ने अधिकांश जनता से शत्रुता मोल ले ली थी, क्योंकि मास्को की आज्ञा पर उन्होंने ब्रिटिश विजयके लिए वाइसराय को पूर्ण समर्थन प्रदान किया था। जव कि गाँधी और नेहरू भारत की विशाल अहिंसात्मक हड़तालों के प्रमुख नेता थे, साम्यवादियों ने, हड़तालें तोड़ने वालों के रूप में अंग्रेजों की सहायता की थी। इस प्रकार भारत में साम्यवादियों ने वड़े ही महत्वपूर्ण मौके पर भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध किया और फलतः वे वदनाम भी हो गये।

अधिकांश भारत में साम्यवाद-विरोधी भावना ने उस समय और भी जोर पकड़ा, जव स्वतंत्रता के कुछ ही दिनो वाद, हैदरावाद के तेलगांना क्षेत्र में उन्होंने अपने हिंसात्मक कारनामों का प्रदर्शन किया। हम देख चुके हैं कि इस विद्रोह को, जो कि अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद की विश्वव्यापी चाल का एक अंग था, कठोर सैनिक शक्ति द्वारा दवा दिया गया और इसमें काफी खर्च किया गया। १९५१ म जव मैं भारत आया, तव एक अधिकारी ने शेखी वघारते हुए कहा, "हमारी सरकार ने रूस के अतिरिक्त सभी देशों की अपेक्षा अधिक साम्यवादियों को जेलों में वन्द कर रखा है।"

उन दिनों से साम्यवादो दल ने अपनी चालो में वहुत-कुछ परिवर्तन किये हैं, यद्यपि वह अभी भी मास्को से निर्देशन ग्रहण करता है। कभी-कभी वह अहिंसा का भी समर्थन करता है; परन्तु उसका यह दावा फरवरी, १९५५ में आन्ध्र के चुनाव में, फिर झूठा सावित हो गया। कांग्रेस दल के नेताओं की

सम्पत्ति जला दी गयी और व्यक्तिगत हिंसा की धमकियों से वातावरण गूंज उठा, क्योंकि साम्यवादी अगाँधीवादी ढंग से राज्य की विधान-सभा का चुनाव जीतने के लिए निकल पड़े थे।

इन ज्यादतियों के लिए अधिकांश भारतीय सोवियत संघ को दोषी ठहराते हैं, क्योंकि सामान्यतः ऐसा विश्वास किया जाता है कि सोवियत नेतृत्व के निर्देश पर ही भारतीय साम्यवादी कार्य करते हैं। चीन की मुख्य भूमि पर साम्यवादियों की अन्तिम विजय तक यह निर्देश बिलकुल स्पष्ट था। माओ की शीघ्रगामी विजय के कारण भारतीय तथा अन्य पिछलग्गू देशों के साम्यवादियों को मास्को की उदासीनता बर्दाश्त करनी पड़ी। माओ की प्रारम्भिक सफलताओं के प्रति, मास्को और अन्य पिछलग्गू साम्यवादी देशों की भांति, भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी ने भी उदासीनता प्रदर्शित की। इस प्रकार, जुलाई, १९४९ में भी, जब कि माओ की सेनाओं ने अधिकांश चीन को पदाक्रान्त कर डाला था, भारतीय साम्यवादी समाचारपत्र उन्हें तिरस्कार के साथ "भूमि-सुधारक" के रूप में प्रचारित कर रहे थे। उसी महीने में एक अधिकृत घोषणा के अनुसार, भारत के साम्यवादी दल ने मार्क्सवाद के आधिकारिक स्रोतों के रूप में मार्क्स, एन्जिल्स, लेनिन और स्तालिन को स्वीकार किया। इनके अतिरिक्त, उसने मार्क्सवाद के नये स्रोतों का पता नहीं लगाया है।

ब्रिटेन, भारत, बर्मा और पाकिस्तान द्वारा माओ-सरकार की स्वीकृति के कुछ ही पूर्व जनवरी, १९५० तक, मास्को की आज्ञाओं पर भारतीय साम्यवादियों ने 'माओवाद' को भी साम्यवाद का उचित रूप मान लिया था। जून, १९५५ में, नेहरू की मास्को-यात्रा के दो दिनों बाद भारतीय साम्यवादी दल ने अचानक ही अपनी काँग्रेस-विरोधी स्थिति को वापस ले लेने की घोषणा कर दी। यह बात इस कथन की पुष्टि करती है कि मास्को अभी भी भारतीय साम्यवादी दल की गतिविधियों का निर्देशन करता है, यद्यपि मेरी राय में, आन्ध्र में कड़ी हार खाने के बाद भारतीय साम्यवादियों को और कोई अन्य विकल्प नहीं रह गया था।

इन विरोधी तत्वों को सन्तुलित करने के लिए सोवियत यूनियन को उस साल कम से कम तीन लाभ प्राप्त थे। उनमें से एक है, उपनिवेशवाद सम्बंधी रूढ़िगत मार्क्सवादी-लेनिन का दृष्टिकोण, जिसने भारतीय नेताओं पर पहले अच्छा प्रभाव डाला था। दो बड़े युद्धों के दरम्यान साम्राज्यवाद सम्बन्धी

प्रायः सभी अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों में, जबकि भारतीय नेताओं के मस्तिष्क में स्वतंत्रता का विचार सर्वोपरि था, सोवियत प्रतिनिधियों ने हमेशा अपने को उपनिवेशवाद का विरोधी घोषित किया। जैसा कि हम देख चुके हैं, उपनिवेश-विरोधी हित का यह निरन्तर मौखिक अनुमोदन उस समय आया, जबकि रूढ़िवादी दबावों को, जिनका ज़ारों ने रूसी पड़ोसियों के विरुद्ध प्रयोग किया था, क्रेमलिन ने कुछ समय के लिए ढीला कर दिया।

क्रेमलिन का दूसरा लाभ, जिस पर मैंने संक्षेप में एक पिछले प्रकरण म विचार किया है, अधिकांश शिक्षित भारतीयों का उन तत्वों से असाधारण रूप से अपरिचित होना है, जिन्होंने शीत युद्ध के अवरोध को पदा किया। १९४५-५५ के दशक में, जब कि पश्चिम स्तालिन की कठोर नीतियों का अनुभव कर रहा था, भारत अंग्रेजों की अन्तिम वापसी, साम्प्रदायिक दंगों तथा नये राज्य के निर्माण के स्मरणीय कार्यों में व्यस्त था। सोवियत संघ ने जिस शीत युद्ध की चालों का पोलैण्ड, ईरान, यूनान, तुर्की, जर्मनी और कोरिया में अनुसरण किया, उनसे अमरीका ने शिक्षा ग्रहण की, किन्तु उसे भारत में या तो पढ़ा ही नहीं गया या पढ़ा भी गया तो बिल्कुल सरसरी निगाह से।

१९५५ में नयी दिल्ली में विश्व मामलों की भारतीय परिषद (Indian Council of World Affairs) के सम्मुख मैंने एक व्याख्यान दिया, जिसमें मने उन १४ मुख्य बातों की एक तालिका बतायी, जिनके आधार पर अमरीकी परराष्ट्र-नीति, जैसाकि मैंने अनुभव किया, युद्धोत्तर काल में निश्चित रूप से ठीक-ठीक प्रदर्शित हो चुकी है। जो बातें मैंने कहीं, उनमें से अधिकांश मेरे श्रोताओं के लिए बिल्कुल नयी थीं।

तीसरी बात, जो आंशिक रूप से सोवियत कार्रवाई की व्यापक अनभिज्ञता के परिणामस्वरूप है, यह दृढ़ विश्वास है कि मास्को की चाहे कुछ भी गलतियाँ हों, वह हृदय से शान्ति चाहता है। उदाहरण के लिए, अनेक असाम्यवादी भारतीय यह मानते हैं कि वर्तमान आणविक प्रतियोगिता अमरीका की पदा की हुई ह, जिसको हम अमरीकी नहीं छोड़ेंगे। नेताओं में भी कुछ ही ऐसे हैं, जिन्हें अणु-नियंत्रण सम्बन्धी अचेसन-लिलियन्थाल-बारुच योजना याद है। सोवियत संघ के और अधिक निरस्त्रीकरण और तनाव को कम करन के स्पष्ट दावों ने गहरा प्रभाव डाला है और समझौते के लिए सच्ची इच्छा व्यक्त करने की मास्को की पूर्व अस्वीकृतियाँ या तो बड़ी जल्दी भुला दी गयी हैं या उपेक्षित की गयी हैं।

यह वड़े आश्चर्य की वात होगी, यदि हम यह विचार न करें कि अगले दशक में सोवियत रूस ने भारत को अपने पक्ष में करने के लिए कितने ज़बर्दस्त प्रयत्न किये हैं। मास्को शक्ति के नये विस्तारों को समझता है और इसीलिए वर्तमान विश्व-संदर्भ में वह भारत के व्यापक महत्व को स्वीकार करता है। चीन के कठिन नियंत्रण की दृष्टि से भी भारत की सन्तुलन-शक्ति को क्रेमलिन समझता है। इन चाटूक्तियों के प्रति दिल्ली की क्या प्रतिक्रिया होगी, यही एक स्पष्ट प्रश्न है।

फिर भी, इसमें सन्देह नहीं कि उसने साम्यवादी चीन के उद्भव का भारतीयों में साम्यवाद के प्रति सम्मान उत्पन्न करने में उपयोग किया। विश्व के रंगमंच पर नये होने के कारण भारतीय साम्यवादी दल के हाल के वर्षों के अप्रिय कारनामों के उत्तरदायित्व से चीन भारतीयों की दृष्टि से बच जाता है।

यद्यपि १९५१-५३ में मैं इन भारतीय दृष्टिकोणों से परिचित था, तथापि १९५५ तक उन्होंने गहरी जड़ें जमा लीं। न केवल सरकारी नेताओं में, वल्कि अधिकांश शिक्षित भारतीयों में भी, 'नये चीन' के प्रति एक प्रकार का उत्साह तो नहीं, किन्तु आश्चर्यजनक मात्रा में सहिष्णुता का भाव था।

अधिकांश भारतीय जानते हैं कि माओ तथा उनके साथियों ने किस प्रकार अपने विपक्षियों को हिंसा से समाप्त किया और नैतिक सिद्धान्तों के प्रति उनकी कितनी घृणा है, परन्तु वे चीन में उन एशियाई लोगों को भी देखते हैं, जिनका पश्चिमी लोगों द्वारा दीर्घकाल तक शोषण और अपमान हुआ, जिन्होंने सुन यात सेन और च्यांग काई शेक के मातहत उपनिवेशवाद के विरुद्ध युद्ध किया और अन्तमें माओ के नेतृत्वमें उसको मार भगाया तथा जो आज आधुनिक अर्थव्यवस्था के निर्माण के लिए संघर्ष कर रहे हैं। यदि पारस्परिक स्वार्थ के इन तत्वों को भौगोलिक संदर्भ में रख कर देखा जाय तो चीन के प्रति भारत की नीति आसानी से समझ में आ जाती है।

चुंकिंग में, १९४० में च्यांग काई शेक से भेंट के समय नेहरू ने कहा था, "मैं अपने को, प्राचीन परम्परा का एक अंग मानते हुए भी, इन दो ऐतिहासिक प्राचीन देशों तथा सभ्यताओं को जोड़ने वाली एक और कड़ी के रूप में समझता हूँ।" १९५४ में जब वे पेकिंग गये, तब उन्होंने लगभग इसी प्रकार की बात कही।

सिद्धान्तों में गम्भीर मतभेदों के बावजूद, नेहरू और उनके साथी तथा अन्य

शिक्षित भारतीय चीन की ओर कहीं अधिक आशा से देखते हैं, जिसको अधिकांश अमरीकी तथ्यों के आधार पर बहुत उचित नहीं मानते। सचमुच यह भारत का चीन के साथ विवाह करने के प्रयत्न जैसा मालूम होता है, जो इस आशा से किया जा रहा है कि संभव है, भारत चीन को नरम दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रभावित करे। भारतीय परराष्ट्र-नीति के मूल में यही आकांक्षा छिपी है और सभी कठिनाइयों के बीच में यह नेहरू की सबसे बड़ी बाजी है।

× × ×

इस जटिल और प्रायः भावात्मक पृष्ठभूमि पर हमको अमरीका और अमरीकी नीति के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करनी चाहिए। चीन के प्रति उसकी धारणा की भाँति अमरीका के प्रति भी उसकी धारणा धुँधली है। अपने संग्राम के प्रारम्भिक दिनों से ही उसन अमरीका को पश्चिमी औपनिवेशिक शक्तियों की साधारण निन्दा से अलग रखा है। उसे ज्ञात था कि अमरीका प्रथम बड़ा राष्ट्र ह, जिसने योरोपीय शक्ति के प्रभुत्व को समाप्त कर दिया। सौ वर्षों से अमरीका ने, कुछ विशेष अपवादों को छोड़कर, पराधीन देशों के स्वशासित होने के प्रयत्नों का समर्थन किया है। अप्रैल, १९४० में नेहरू ने अमरीका के बारे में लिखा, "इस महान प्रजातंत्रात्मक देश के साथ, जिसने साम्राज्यवाद, फासिज्म, हिंसा, आक्रमण और निकृष्टतम कोटि की अवसरवादिता से पूर्ण इस संसार में अकेले ही लोक-तांत्रिक स्वतंत्रताकी मशाल को जलाये रखा, भारतीय विचार अधिकाधिक मिलते गये।"

युद्ध-काल में भारतीय स्वतंत्रता के लिए अमरीका के समर्थन को अधिकांश भारतीयों ने निश्चित ही मान लिया था। अमरीकी सरकार के दो उच्च प्रतिनिधि ब्रिटिश सरकार के अनुरोध पर वापस बुला लिये गये थे, क्योंकि वे भारत में कांग्रेस दल की स्वतंत्रता की माँग का समर्थन करते थे।

तथापि आज शिक्षित भारतीय को अमरीका एक पहेली प्रतीत होता है। जापानी शासन से पूर्वी एशिया को मुक्त करने, फिलीपाइन्स को स्वतंत्र करने के वचन को पूरा करने और अन्त में हिन्देशिया की स्वतंत्रता का समर्थन करने के बाद उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि अमरीका उन सिद्धान्तों से अधिकाधिक दूर हटता जा रहा है, जिन्होंने भारत के लोकतांत्रिक प्रवक्ताओं को अनुप्रणित किया था।

भारतीय यह बताने से कभी बाज नहीं आते कि जिन एशियाई राष्ट्रों से

हमने सम्बन्ध स्थापित किये हैं, उनमें स्वतंत्र निर्वाचन के आधार पर वनी सरकारें नहीं हैं और जवकि हमारे वहुत से उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) के साथियों के पास अफ्रीका और एशिया में भी उपनिवेश हैं, जिनसे वे मजवूती से चिपके हुए हैं।

सैनिकों को सार्वजनिक वक्तव्य से रोकने वाली ब्रिटिश परम्परा में पले भारतीय सैनिक, अधिकारियों के युद्ध-भाषणों, प्रेस-कान्फ्रेन्सों तथा अखवारी इश्तेहारों की भरमार से चौंक गये हैं।

अंग्रेजों के प्रस्थान से मध्य पूर्व और दक्षिण पूर्व एशिया में उत्पन्न राजनीतिक तथा सनिक रिक्तता अथवा ब्रिटिश नेतृत्व में भारतीय सेना की निःशक्तता, भारतीयों को विशेष चिन्तित नहीं करती; परन्तु जव अमरीका इन रिक्तताओं की पूर्ति करने का प्रयास करता है तो वे हमको ऐसे मित्र के रूप में नहीं देखते, जो साम्यवाद को रोके हुए है और जिससे कि वे स्वतंत्रतापूर्वक अपने राष्ट्र का विकास कर सके हैं, वल्कि वे समझते है कि हम नयी औपनिवेशिक चाल चल कर अनधिकार प्रवेश करना चाहते हैं।

इस आरोप पर जव हम अपना क्षोभ प्रकट करते हैं, तव उन्हें ब्रिटिश उपनिवेशवाद की उद्दण्डता याद आ जाती है। जव उनको और उनके नेताओं को हम अपना पक्ष और नेतृत्व ग्रहण करने के लिए वुरा-भला कहते हैं, तो उनको और भी वुरा लगता है और वे हमसे पूछते हैं, तो क्या १९३० के दशक में अंग्रेजों की सहायता में आपकी असमर्थता का यह मतलव था कि आप नाजियों के पक्षपाती थे?

संयुक्त राज्य अमरीका और चीन के प्रति ये परस्पर विरोधी दृष्टिकोण एक साथ मिलकर एक विकट आदर्श प्रस्तुत करते हैं, जिससे कोई निष्कर्ष निकालना वहुत कठिन है।

आधुनिक भारत के नेताओं ने वहुत पहले से निस्सन्देह प्रजातंत्रात्मक स्वतंत्रता के प्रति अपनी व्यक्तिगत तथा राजनीतिक निष्ठा स्थापित कर दी है। जिन घटनाओं की हम चर्चा कर आये हैं, उनसे अर्थात् भारतीय क्रान्ति की कहानी से, नये राज्य के उदार प्रजातंत्रात्मक संविधान से, उसके राजनीतिक तथा संसदीय जीवन की शक्ति से और उसके आर्थिक विकास के ढंग से यही सिद्ध होता है।

जहां भारत के राष्ट्रीय हितों का निश्चित रूप से प्रश्न आया है, वहाँ उसने उनके संरक्षण के लिए वड़ी दृढ़ता के साथ अपना संकल्प व्यक्त किया है। इस

प्रकार हिमालय की सीमा पर नेपाल, सिकिम और भूटान राज्यों की अखण्ड-
नीयता का उसने आश्वासन दिया है और इस बात पर कोई सन्देह नहीं करता
कि इस आश्वासन का उद्देश्य चीनियों के अनधिकार प्रवेश को रोकना है।

यह भी बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होता है कि उत्तर से सैनिक आक्रमण की
दशा में भारतीय सेनाएँ, बर्मा की सेनाओं का और मुझे विश्वास है कि, पाकि-
स्तान की सेनाओं का भी समर्थन करेंगी। यद्यपि अन्तमें चीन द्वारा तिब्बत की
विजय मान्य की गयी, तथापि दिल्ली में वह बहुत ही चिन्ता का कारण
बनी रही।

यदि चीनी नीति स्पष्टत: विस्तारवाद की हो जाती है तो भारत और उसके
पड़ोसियों को भी अपनी नीति निर्धारित करनी पड़ेगी। मुझे विश्वास है कि
बहुत संभव है, जिस स्थान पर भारत अपनी प्रतिरक्षा की रेखा खींचेगा, वह
वही होगा, जहाँ ६०० ई. और १२०० ई. के बीच चीनी और भारतीय संस्कृति
तथा राजनीति के प्रबल प्रभावों का दक्षिण पूर्व एशिया में संगम हुआ था और जो
कम्बोडिया, लाओस, स्याम और बर्मा की उत्तरी सीमा पर है। अपनी सीमाओं
से दूर एशिया की सैनिक समस्याओं पर भारत की स्थिति तब तक तटस्थता
की ही रहने वाली है, जब तक कोई स्पष्ट और सीधा आक्रमण न हो। इससे यह
परिलक्षित नहीं होता कि भारत "साम्यवाद का पक्षपाती" है। इनमें से कुछ
अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्याओं पर भारत के विचारपूर्ण निर्णय, अधिकांश
अमरीकियों के विचारों की अपेक्षा बहुत अधिक सही निकलते जा रहे हैं।

कोरिया में विराम-संधि का प्रश्न एक उदाहरण है। जून, १९५० में,
दक्षिणी कोरिया पर प्रारम्भिक साम्यवादी आक्रमण को आक्रमक कार्य कह
कर संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा की गयी निन्दा का भारत ने समर्थन किया।
इंडोन (Indon) में मैकार्थर की विजय के तीन महीने बाद चीनी सरकार ने
पैकिंग स्थित भारतीय राजदूत को चेतावनी दी कि यदि संयुक्त राष्ट्र संघ की
फौजें ३८ वीं समानान्तर रेखा पार करेंगी तो चीन युद्ध में शामिल हो
जायगा।

नयी दिल्ली ने उसी रेखा पर युद्ध बन्द करने का अनुरोध किया। चेतावनी
की परवाह न करते हुए हम उत्तरी भाग में कूद पड़े। चीनी लाल सेना तुरन्त
ही यालू के पार जा पहुँची। तीन वर्ष बाद हमने लगभग ३८ वीं समानान्तर
रेखा पर ही अन्त में समझौता करने का निश्चय कर लिया। इस बीच १६,०००,
अतिरिक्त अमरीकी और न जाने कितने अधिक चीनी और कोरियावासी मारे

गये या घायल हुए।

भारतीय नेताओं ने वताया कि उन्होंने असाम्यवादी दक्षिणी कोरिया को साम्यवादी आक्रमण से वचाने के सिद्धान्त का समर्थन किया और वे हम से उसी समय अलग हुए, जव उन्होंने समझा कि कोरिया को वलपूर्वक एक करने का प्रयत्न करके हम उस सिद्धान्त की अवहेलना कर रहे हैं।

भारत ने वार-वार हिन्दचीन में फ्रांसीसी औपनिवेशिक राज्य के समर्थन की निरर्थकता के लिए चेतावनी दी। जनवरी, १९५४ में नेहरू ने जव समझौते की वात कही तो उत्तरदायी अमरीकियों ने उन पर "साम्यवादी सहानुभूति" का आरोप लगाया और कहा कि वे हो ची मिन्ह को आसन्न पराजय से वचाना चाहते हैं। तीन महीने वाद दायेनवीनफू (Dienbenphu) का पतन हुआ और फ्रांस की सारी सेना को लाल नदी के डेल्टा में सैनिक विपत्ति का सामना करना पड़ा।

अप्रैल, १९५५ में क्वेमोय और मात्सु के मामले में भारत ने अमरीका से नरम होने का प्रवल अनुरोध किया। यह नीति अन्त में राष्ट्रपति आइसनहावर के व्यक्तिगत वुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय से लागू हुई। भारत ने वन्दी अमरीकी उड़ाकुओं को छुड़ाने के लिए भी चीन के साथ मध्यस्थता करने में सहायता की। यद्यपि उसने फारमोसा पर चीन के कानूनी अधिकार का समर्थन किया है, तथापि उसने चू के सामरिक वक्तव्यों के सम्मुख भी इस मामले के शान्तिपूर्ण समावान का निरन्तर समर्थन किया है।

अनेक वर्षों में तया जटिल और भावात्मक पृष्ठभूमि में भारत की विदेश-नीति के इन पहलुओं का रूप वना है। चाहे ठीक हो या गलत, भारतीय नेता निष्ठा के साथ यह विश्वास करते हैं कि ये नीतियाँ सही-सही उनकी आवश्यकताओं और उद्देश्यों को परिलक्षित करती हैं। इन अनेक अत्यधिक महत्वपूर्ण आवश्यकताओं में से एक आवश्यकता उसके आर्थिक संकट से पैदा होती है। भारत को शान्ति की अवधि की घोर आवश्यकता है, जिसमें वह अपने साधन-स्त्रोतों को विकसित कर सके और अपनी प्रजातंत्र प्रणाली की प्रभावोत्पादकता सिद्ध कर सके।

भारतीय नेता प्राय: पूछते हैं, "यदि साम्यवादी भारत को ले लें तो आपके विचार से वे कहाँ से आयेंगे? यदि आप यह सोचते हों कि वे खैवर के दर्रे से होकर रूस से आयेंगे या आसाम के पर्वतों से होकर चीन से, तो यह आपकी भूल है।"

वे आगे कहते हैं, "यदि साम्यवादी भारत में लोकतांत्रिक शक्तियों को हरा देते हैं, तो यह हार कलकत्ते की गन्दी वस्तियों में और हैदरावाद के पिछड़े गाँवों में होगी। भारतीय प्रजातंत्र का उत्थान या पतन उसकी सैनिक शक्ति पर नहीं निर्भर करता, वल्कि जो कुछ हम करते हैं या नहीं करते, उसी पर निर्भर करता है।"

इन तथा अन्य भारतीय दृष्टिकोणों से हम चाहे जो भी निष्कर्ष निकालें, मेरे विचार से भारतीय परराष्ट्र-नीति को अपने ही राष्ट्रीय उद्देश्यों और शीत युद्ध की अपनी व्याख्या के आधार पर समझना गलत होगा। केवल नेहरू के मुख्य समर्थक होने के कारण भारत को "तटस्थतावादी" मानना अमरीकियों की भूल होगी। एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के अर्धविकसित देशों में भी न्यूनाधिक मात्रा में यही स्थिति व्याप्त है और किसी भी तरह यह केवल उन्हीं तक सीमित नहीं है। जापान, इटली, फ्रांस और जर्मनी में भी वहुत काफी अल्पसंख्यक तटस्थता को राजनीतिक कार्यक्रम का आवश्यक अंग मानते हैं।

यदि मध्यवर्ती विश्व को आणविक अस्त्र रखने वाले देशों के दो गुटों से इसी प्रकार दूर खींचने का साधारण प्रयास जारी रहा तो भारत का स्थान वहुत महत्वपूर्ण हो जायगा। परिणामस्वरूप भारत का मूल्यांकन उसके दावों के आधार पर होना चाहिए; रूसी या अमरीकी गुट में शामिल होने वाले उम्मीदवार के रूप में नहीं, वल्कि विश्व के दूसरे विशालतम राष्ट्र के रूप में, विशालतम प्रजातंत्र के रूप में और अभी हाल में स्वतंत्र हुए तथा शीघ्र ही स्वतंत्र होने वाले एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों के प्रमुख नेता के रूप में।

अधिकांश विचारवान भारतीय चीन की मौलिक शक्ति को जानते हैं और उसके सम्वध में चिन्तित हैं, किन्तु चूंकि उनके साम्यवादी ढंग के साम्राज्य-वाद का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं रहा है, अतः वे उतनी चिन्ता नहीं करते जितना हम सोचते हैं कि उन्हें चिन्ता करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उनका यह भी विश्वास है कि जो वन्धन रूस और चीन को एक साथ वाँधे हुए हैं, वे अटूट नहीं हैं।

वे कहते ह, "आपकी नीतियाँ मास्को और पेकिंग को एक ही मानती जान पड़ती ह। यह तो पराजयवाद की वात है और यह उन ऐतिहासिक शक्तियों की अनभिज्ञता प्रदर्शित करती हैं जो कभी न कभी अपने आप को प्रदर्शित करेंगी। हम रूस और चीन के लिए संचार का मार्ग खुला रख कर तनाव को ढीला रखने में सहायता करते हैं अन्यथा उसका परिणाम युद्ध हो सकता है। कौन

जानता है कि साम्यवाद ग्रामीण चीन में असफल हो सकता है? तब शायद माओत्सेतुंग हम से विल्कुल भिन्न विचार ग्रहण करने के लिए वाध्य होंगे।

अव हम सर्वोपरि उस तथ्य की ओर ध्यान देते हैं, जिसका अत्यन्त महत्व है और वह है इस वात की सम्भावना कि भारत और चीन सार्वजनिक वक्तव्यों तथा सद्भावनापूर्ण यात्राओं के जाल से एशिया के नेतृत्व के लिए प्रतिद्वंद्वी के रूप में प्रकट होंगे, ऐसी प्रतिद्वंद्विता, जिसको भारत में अधिकाधिक स्वीकार किया जा रहा हैं। हो सकता है कि यह स्पर्धा दोस्ती के दावों के साथ चले और सेना की अपेक्षा आर्थिक और सामाजिक रूपों में अभिव्यक्त हो और अच्छे के ही लिए हो।

किसी भी हालत में, सद्भावना के ये वक्तव्य उस अन्तर्निहित तर्क को नहीं मिटा सकते, जो चीन और भारत को एशिया और अफ्रीका के अर्धविकसित महाद्वीपों के नेतृत्व के लिए अनिवार्यतः प्रतिद्वंद्वी वना देता है। जव हम भारत की स्थिति और वड़े प्रश्नों के प्रति उसके दृष्टिकोणों का सर्वेक्षण करते हैं, जिनका सम्बंध युद्धोत्तर काल में अर्धविकसित और औपनिवेशिक राष्ट्रों से है, तव यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने चुनौती स्वीकार कर ली है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में, वह उपनिवेशवाद का लड़ाकू और कट्टर शत्रु सिद्ध हो चुका है और अभी भी परतंत्र राष्ट्रों के स्वाधीनता के अधिकारों का समर्थक है। इस स्थिति के कारण वह प्रायः इस अमरीकी दृष्टिकोण से टकरा जाता है कि आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को समसामयिक यथार्थ राजनीति के सामने छोड़ देना चाहिए। फिर भी सर्वोपरि, मैं यही सोचता हूं कि एक और प्रजातंत्रवादी देश का होना हमारे हित में ही है, जो स्वतंत्रता का पक्ष उन मौकों पर ग्रहण करता रहा है, जव सही या गलत, हमें महसूस हुआ है कि हमने स्वतंत्रताका पक्ष न ग्रहण करके उस क्षेत्र को छोड़ दिया है।

फिर, भारत ने कोलम्वो-शक्तियों की नियमित वैठकों के आयोजन में भी मुख्य रूप से भाग लिया है, जिनमें, पाकिस्तान, वर्मा, लंका, हिन्देशिया और भारत शामिल हैं। एशियाई और अफ्रीकी शक्तियों के वाण्डुंग-सम्मेलन के सूत्रपात करने वालों में भारत भी था, जिसके परिणाम महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। हमारे सुझाव पर १९५५ में, अमरीकी सहायता-निधि के सहकारी प्रादेशिक उपयोग के प्रश्न पर, जैसा कि हमारे विदेश-सहायता-कार्यक्रम में सोचा गया था, विचार-विनिमय करने के लिए उसने शिमला में एशियाई सरकारों का एक सम्मेलन वुलाने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।

इन तथा अन्य तरीकों से भारत ने एशिया और अफ्रीका के देशों के बीच स्थायी और आत्मविश्वासपूर्ण अन्तर-सरकारी सम्बंधों के विकास में बहुत ही महत्वपूर्ण भाग लिया है। उसकी आबादी, अनन्त साधन-स्रोत तथा उसके नेतृत्व का दीर्घकालिक प्रशिक्षण, इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि उसका यह रूप बना रहेगा। उन्हीं क्षेत्रों में साम्यवादी चीनी नेतृत्व को ठुकराये बिना यह नहीं चल सकता।

विशाल आबादी, समृद्ध साधन-स्रोत, आकर्षक गांधीवादी विरासत, स्वतंत्रता के बाद शान्तिपूर्ण प्रगति का अखण्ड आलेख और लोकतांत्रिक आदर्श के प्रति अटल निष्ठा पर भारतीय नीति निर्भर कर सकती है। भारत में पढ़नेवाले अनेक अफ्रीकी विद्यार्थियों ने इस प्रभाव का अनुभव किया है। १९५४ में जब अफ्रीकी विद्यार्थी काँग्रेस के सम्मुख दिल्ली में नेहरू ने नये अफ्रीका के लिए भारतीय अनुभवों की सार्थकता पर दिल्ली में भाषण किया तब सभी ने बड़े ध्यान से सुना।

उन्होंने चेतावनी दी, "क्रान्तियाँ अपने बच्चों को भी खा जाती हैं"। परन्तु उन्होंने यह विचार प्रस्तुत किया, "शायद भारत ने उस दूषित चक्र को तोड़ने का मार्ग ढूंढ़ लिया है। जब भारत और इंग्लैण्ड में समझौते का समय आया, तब हम लोग शान्ति के साथ अलग हो गये और कटुता का चिन्ह भी न रहा। सही तरीके से कार्य करने में यही गुण है।

"गाँधीजी ने सर्वदा यही कहा कि साध्य से साधन अधिक महत्वपूर्ण है; क्योंकि गाँधीजी के इसी आग्रह तथा आदर्श का ही फल था कि एक अंग्रेज भारतीय भीड़ में से निकल जाय और उस पर कोई हाथ न उठाये। यह अनुशासन की बात और मानसिक वृत्ति थी, जिसकी शिक्षा उन्होंने हमें दी। मैं नहीं समझता कि आप लोग अन्यत्र कहीं ऐसे द्वेषरहित राष्ट्रीय आन्दोलन का उदाहरण पा सकेंगे।

"मैं चाहता हूँ कि आप इस पर सोचें, क्योंकि मुझे भय है कि अफ्रीका के रक्तपात के मार्ग पर जाने और हानि उठाने की सम्भावना है और मैं नहीं कह सकता कि अपना रचनात्मक और निर्माणात्मक जीवन शुरू करने के पूर्व इसमें एक या दो पीढ़ी बीत जायगी।"

नेहरू ने स्वीकार किया कि अफ्रीका की परिस्थितियां भिन्न हैं, परन्तु उन्हें विश्वास था कि, ये शान्तिपूर्ण तरीके जितने भारत के लिए उचित, उपयुक्त और अत्यन्त व्यावहारिक थे, अफ्रीका के लिए उससे भी अधिक उप-

योगी और व्यावहारिक सिद्ध होंगे और उसका सुफल अफ्रीका को मिलेगा और हिंसा का कोई भी मार्ग सम्भवतः गम्भीर कठिनाइयों की ओर ले जायगा।

उन्होंने कहा कि नैतिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से हिंसा गलत होगी। उन्होंने यह नहीं माना कि अफ्रीका में व्यापक एकता और "रचनात्मकता तथा निर्माणात्मकता" तभी प्राप्त की जा सकती है, जब ऐसे तरीकों को अपनाया जायगा जो विघटन के बजाय एकता स्थापित करने में सहायक होंगे।

इस प्रकार प्रधान मंत्री की ध्वनि में शेष अर्धविकसित देशों तथा उपनिवेशों के लिए भारत की प्रासंगिकता की धारणा व्यक्त थी। ये नम्र तथा संतुलित शब्द हमारे ऊबा देने वाले संघर्ष में अनुपयुक्त प्रतीत हो सकते हैं, परन्तु कोई जल्दबाज व्यक्ति ही कहेगा कि वे अथवा कोई राष्ट्र, जो इनके प्रति निष्ठावान होंगे, मनुष्य और उसके मन को प्रभावित करने में शक्तिहीन होंगे।

पाँचवाँ भाग

वाण्डुंग से चुनौती

इस सम्मेलन की सफलता इस बात से नहीं नापी जायगी कि हम अपने लिए क्या करते हैं, प्रत्युत इससे नापी जायगी कि हम समस्त मानव जाति के लिए क्या करते हैं। हमारी शक्ति हमारी ऐतिहासिक दृष्टि तथा भविष्य के निर्माण के महत्वपूर्ण उद्देश्य से निःसृत है। यदि यह उद्देश्य क्षोभ और प्रतिहिंसा की भावना से कलंकित है तो यह सम्मेलन क्षीण और विस्मरणीय वस्तु सिद्ध होगा।

इसीलिए हमें आघात या मानसिक पीड़ा से नहीं, बल्कि अपनी सामान्य आशाओं से शक्ति प्राप्त करनी चाहिए। यदि उस शक्ति की कसौटी हमारी क्षमा करने की योग्यता हो, तो कहा जा सकता है कि हम अपने युग के महान पुरुष हैं।

कार्लोस रोमुलो

वाण्डुंग सम्मेलन में फिलीपाइन्स के प्रतिनिधि

इक्कीसवाँ प्रकरण

नये एशिया और नये अफ्रीका का सम्मेलन

रक्तरंजित क्रान्तियां, जिन्होंने रूस और चीन को उलट दिया और शान्तिपूर्ण क्रान्ति, जो भारत के स्वरूप को बदल रही है, ये सब वर्तमान विश्वव्यापी उथल-पुथल के विशालतम तथा अधिकतम नाटकीय प्रदर्शन हैं। मनीला से केपटाउन तक फैले हुए मध्यवर्ती विश्व म एक जागृति उत्पन्न हो रही है, जिसने पहले ही एशिया और अफ्रीका के मानचित्रों को बदल दिया है और आने वाले वर्षों में और भी परिवर्तन अवश्यंभावी हैं।

अप्रैल, १९५५ में हिन्देशिया के बाण्डुंग में हुए सम्मेलन की अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थिति की दृष्टि से इस जागृति के स्वरूप पर विचार किया जा सकता है। इस सुन्दर पर्वतीय नगर में २९ राष्ट्रों और डेढ़ अरब लोगों के प्रतिनिधि, आक्रा, अदिसअबाबा, काहिरा, बगदाद, नई दिल्ली, कराची, काबुल, बंकाक तथा एशिया और अफ्रीका की अन्य राजधानियों से संसार की स्थिति पर विचार-विनमय के लिए एकत्र हुए।

इस अवसर पर बाण्डुंग के प्रमुख मार्ग का नाम एशिया-अफ्रीका-मार्ग रख दिया गया था और सम्मेलन की बैठकों के स्थान का नाम, पुराने कनकोर्डिया-क्लब से, जो पहले डच पदाधिकारियों के लिए सुरक्षित था, 'गेडुंक मेरडेका' अथवा स्वतंत्रता-भवन रख दिया गया। हिन्देशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने अपने विशेष भाषण में एशिया और अफ्रीका के स्वतंत्रता-संग्रामों के लिए प्रेरणा-स्वरूप चीन और रूस की क्रान्तियों का जिक्र न कर अमरीकी क्रान्ति की चर्चा की थी।

उसके उद्धरण मसीहा, बुद्ध या वेदों से नहीं लिये गये थे, बल्कि लाँगफैलो की कविता "दि मिड नाइट राइड आव पाल रीवेरे" से लिये गये थे। सुकर्ण ने अपने श्रोताओं को याद दिलाते हुए कहा कि बाण्डुंग-सम्मेलन, अमरीकी क्रान्ति के प्रारम्भ, "संसार भरमें सुनी गयी बंदूकों की आवाज," की १८० वीं वर्षगाँठ के साथ हो रहा है।

हिन्देशिया के राष्ट्रपति ने प्रतिनिधियों को बतलाया कि जो संग्राम, १८० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था, उसमें अभी पूर्ण विजय प्राप्त नहीं हुई है और यह विजय तब तक नहीं प्राप्त होगी जब तक हम अपने संसार का सर्वेक्षण

करके यह नहीं कह देते कि उपनिवेशवाद मर गया है। एशिया और अफ्रीका के विस्तृत क्षेत्र आज भी स्वतंत्र नहीं हैं। उन्होंने सम्मेलन से अपील की कि इस बात का प्रमाण दिया जाय कि एशिया और अफ्रीका का पुनर्जन्म हुआ है; इतना ही नहीं, नये एशिया और नये अफ्रीका का जन्म हुआ है।

वाण्डुंग में इस शताब्दी की तीन महान क्रान्तियों में से दो क्रांतियां एक ही रंगमंच पर मिलीं, जिनकी ओर शेष एशिया और अफ्रीका के श्रोताओं ने ध्यानपूर्वक देखा और जो आज भी अपने ढंग से परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील हैं।

एक क्रान्ति का प्रतिनिधित्व साम्यवादी चीन के प्रधान मंत्री, चू एन ली कर रहे थे। भारतीय उपमहाद्वीप की गाँधीवादी क्रान्ति का प्रतिनिधित्व न केवल प्रधान मंत्री नेहरू कर रहे थे, बल्कि एक प्रकार से पाकिस्तान, लंका और बर्मा के प्रधानमंत्री भी कर रहे थे, जिनकी स्वतंत्रता भारत को सम्मानपूर्वक छोड़ने के ब्रिटिश निर्णय का सहज परिणाम थी। शासन की रोजमर्रा की प्रणालियों में अनुपम योग्यता रखने वाले बर्मा के ऊ नू ने, जो स्वयं एक संयमी बौद्ध हैं, अहिंसा में गांधी की कुछ निष्ठा अपनायी थी और महत्वपूर्ण आध्यात्मिक पुनरुत्थान में अपने देश का नेतृत्व किया था।

१९४७ में, जब नयी दिल्ली में अनधिकृत एशियाई सम्बन्ध-सम्मेलन हुआ था, तब सोवियत एशियाई गणराज्य भी आमंत्रित थे और उन्होंने अपने प्रतिनिधि भी भेजे थे, परन्तु इस बार सोवियत संघ को बिल्कुल ही नहीं बुलाया गया। साम्यवादी चीन के अभ्युदय मात्र से सोवियत संघ एशिया की शक्ति के रूप में बहुत कम प्रतीत हो रहा था।

योरोप और एशिया का अधिकांश अनामंत्रित श्वेत-जगत वाण्डुंग की ओर कुछ भय से देख रहा था। अफ्रीका में और एशिया के कुछ भागों में उपनिवेशवाद के विरुद्ध तीव्र क्षोभ और एशियाई साम्यवाद का उद्भव इस ओर संकेत कर रहे थे कि ये दो प्रश्न संसार के अश्वेत लोगों के इस प्रथम साधारण सम्मेलन में कितने विस्फोटक हो सकते हैं।

१९४५ की गर्मियों में, जब युद्ध का अन्त हुआ, तब भी चीन, जापान और स्याम के अतिरिक्त समस्त एशिया, अधिकांश अफ्रीका, वेस्ट इण्डीज के कुछ भाग और मध्यवर्ती तथा दक्षिणी अमरीका पर औपनिवेशिक साम्राज्य का प्रभुत्व था। विश्वके २ अरब ३० करोड लोगों में से ८५ करोड़ लोग तब भी योरोपीय उपनिवेशवाद के अन्तर्गत थे और केवल ८ करोड़ साम्यवाद के अन्तर्गत।

दस वर्ष बाद ढाई अरब लोगों के संसार में ये आंकड़े उलट गये। सोवियत

संघ, साम्यवादी चीन और उनके पिछलग्गुओं की कुल संख्या ८५ करोड़ से काफी ऊपर पहुँच गयी। हिंसात्मक या अहिंसात्मक विद्रोह के परिणामस्वरूप ६५ करोड़ भूतपूर्व औपनिवेशिक जनता स्वतंत्रता तथा सामान्यत: प्रजातंत्रात्मक ढंग के शासन के अन्तर्गत प्रकट हुई है। और लोग भी शीघ्र ही स्वतंत्र होने वाले हैं। योरोपीय उपनिवेशवाद के अन्तर्गत अब केवल १८ करोड़ लोग रह गये हैं।

इन आंकड़ों का प्रभाव भयजनक था और पश्चिमी राजधानियों में बहुत से ऐसे लोग थे जो आशंकित थे कि वाण्डुंग में साम्यवादी शक्ति की प्रगति को और भी बल मिलेगा। ऐसी भी आशंकाएँ थीं कि चू एन ली उपनिवेश–विरोधी स्मृतियों को और भी प्रज्ज्वलित करेंगे और सम्मेलन को विश्वव्यापी आधार पर पश्चिम-विरोधी तथा अमरीका-विरोधी प्रदर्शन में परिणत कर देंगे।

कुछ लोगों ने चेतावनी दी कि यह कहीं बिल्कुल जातीय रूप न ग्रहण कर ले। चूंकि केनिया में एक स्थानीय जातीय युद्ध चल रहा था और दक्षिण अफ्रीका का आकाश जातीयता के गरजते हुए काले बादलों से आच्छादित था, इसलिए इस अश्वेत-सम्मेलन में, जिसमें दो महाद्वीपों के अधिकांश भाग शामिल थे, इस बात की सम्भावना प्रतीत होती थी।

कदाचित् इसी घबराहट के परिणामस्वरूप अमरीकी सरकार ने सम्मेलन के लिए बधाई-पत्र तक नहीं भेजा और विदेश-विभाग के एक पदाधिकारी ने एक काँग्रेसमैन को लिखे गये एक पत्र में सरकारी रुख का बड़े गलत शब्दों में वर्णन करते हुए कहा कि यह हमारी "उदार उदासीनता" है; परन्तु हम उदासीन तो बिल्कुल ही नहीं थे। अमरीकी समाचारपत्रों ने सम्मेलन के महत्व को पहले से ही ठीक-ठीक समझ लिया था और इस एशियाई घटना को सदा की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण मान कर अधिक संख्या में अमरीकी संवाददाता वाण्डुंग गये थे।

अनेक एशियाई और अफ्रीकी प्रतिनिधि, जो पश्चिम से घनिष्ठ सम्बंध रखते हैं, लन्दन और वाशिंगटन की भाँति ही आशंकित थे। फिलीपाइन्स के जनरल रोमुलो ने कहा कि वाण्डुंग-सम्मेलन के प्रमुख उद्देश्यों में से एक यह भी था कि उस 'जातिगत मैत्री' के पोषण को रोका जाय, जो कभी बढ़कर सारे विश्व को प्रकम्पित कर सकती है।

परन्तु ऐसा कुछ न हुआ। हां, अटलांटिक राष्ट्रों के चिन्तित प्रेक्षकों को कई कठोर साम्यवाद-विरोधी भाषण सुनने का अवसर मिला और बड़े जोरों के

साथ यह याद भी दिलायी गयी कि अमरीका ने फिलीपाइन्स को स्वाधीन करने सम्बन्धी अपने वचन को पूरा किया।

राष्ट्रपति सुकर्ण की मुख्य वार्ता में यह भी कहा गया कि भूतपूर्व औपनिवेशिक जगत को यह समझना चाहिए कि उनकी क्रान्ति एक नयी स्थिति में पहुँच गयी है। उन्होंने कहा, "मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि हम केवल उन प्रथम-कोटि के उपनिवेशवाद पर ही विचार न करें, जिसे हम हिन्देशियावासियों तथा अन्य भाइयों ने एशिया और अफ्रीका के विभिन्न भागों में देखा है, वल्कि उपनिवेशवाद राष्ट्र के भीतर ही छोटे, परन्तु विदेशी समुदाय द्वारा आर्थिक वौद्धिक एवं शारीरिक नियंत्रण की आधुनिक पोशाक में भी है। यह वहुत ही चतुर और प्रवल शत्रु है और अनेक रूपों में प्रकट होता है। जहाँ कहीं, जब कहीं और जैसे भी यह प्रकट हो, उपनिवेशवाद एक बुराई है, जिसका संसार से मूलोच्छेद कर देना चाहिए।"

विभिन्न स्थितियों में उपनिवेशवाद की उनकी व्याख्या न केवल योरोपीय आर्थिक शोपण पर लागू प्रतीत होती थी, वल्कि घरेलू सामन्तवाद और अन्तर-राष्ट्रीय साम्यवाद पर भी। तुर्की, ईरान, लीबिया, इराक, पाकिस्तान, लंका, स्याम और फिलीपाइन्स के प्रतिनिधियों द्वारा दिये गय भाषणों में उपनिवेश-वाद के नये रूपों में वह साम्यवादी रूप भी शामिल था, जिसके वे विरुद्ध थे।

इराक के विदेश-मंत्री डाक्टर अल-जमाली ने पूर्वी योरोप और मध्य एशिया पर साम्यवादी आक्रमण के इतिहास का सिंहावलोकन किया और कहा कि साम्यवादियों ने संसार के सामने एक नये प्रकार के उपनिवेशवाद को ला रखा है, जो पुराने की अपेक्षा कहीं अधिक भयावह है। लंका के प्रधानमंत्री, सर जान कोटलावाला ने प्रतिनिधियों से पूछा, "यदि हम उपनिवेशवाद के विरुद्ध एक हैं, तो क्या यह हमारा कर्तव्य नहीं हो जाता कि हम जिन प्रकार पाश्चात्य साम्राज्यवाद का विरोध करते हैं, उसी प्रकार सोवियत उपनिवेशवाद का भी करें?"

यद्यपि इन भाषणों ने अनेक पश्चिमी प्रक्षकों को काफी आश्वस्त किया, तथापि इस तथ्य से आँख नहीं मूंद लेनी चाहिए कि पश्चिम के अच्छे से अच्छे मित्र के पास उस योरोपीय उपनिवेशवाद के वारे में वोलने के लिए एक भी मीठा शब्द न था, जो आज भी एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका में उनकी छाती पर सवार है।"

साम्यवाद-विरोधी, साम्यवाद-समर्थक, तटस्थ और स्वतंत्र सभी ने वाण्डुंग

से अन्त में सर्वसम्मति से यही विज्ञप्ति प्रकाशित की, "उपनिवेशवाद अपने सभी रूपों में एक बुराई है, जिसका शीघ्र ही अन्त कर देना चाहिए।"

प्रतिनिधियों ने मुख्यतः पश्चिमी इरियन (डच न्यू गाइना) के मामले में हिन्देशिया के पक्ष का समर्थन किया और हिन्देशिया के साथ यथासम्भव शीघ्र अपने समझौते को कार्यरूप में परिणत करने के उद्देश्य से फिरसे बातचीत शुरू करने के लिए नीदरलैण्ड-सरकार से अनुरोध किया। उत्तरी अफ्रीका के राष्ट्रों को आत्मनिर्णय के अधिकार की अनवरत अस्वीकृति की ओर संकेत करते हुए प्रस्ताव में कहा गया कि, एशिया-अफ्रीकी सम्मेलन, अल्जीरिया, मोराक्को और ट्यूनिशिया के लोगों के आत्मनिर्णय के अधिकारों के समर्थन की घोषणा करता है और फ्रान्सीसी सरकार से अनुरोध करता है कि अविलम्ब इस प्रश्न को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाया जाय। अदन के मामले में भी सम्मेलन ने यमन के पक्ष का समर्थन करने का निश्चय किया, जहाँ लाल सागर के मुहाने पर ब्रिटेन का अड्डा कायम है।

नये और अल्पपरिचित साम्यवादी साम्राज्यवाद की स्पष्ट भर्त्सनाओं के बावजूद, पुराने ढंग के उपनिवेशवाद के बन रहने के भय की ओर बाण्डुंग में सभी ने सबसे अधिक संकेत किया और इस तथ्य को कम महत्व का समझना खतरनाक होगा। यह भय न केवल उपनिवेशवादी शक्तियों पर सीधे आक्रमण से प्रकट था, बल्कि भूत और वर्तमान दोनों में, औपनिवेशिक सम्बन्धों के साथ जातीय भेदभाव और आर्थिक विकास का अभाव जिस स्वाभाविक ढंग से जुड़ा हुआ है, उससे भी प्रकट होता था।

इन तथा अन्य समस्याओं के सुलझाने के अनेक साधन और उपाय थे और सम्मेलन में विभिन्न राजनीतिक विचारों में तीव्र मतभद भी प्रकट हुए। एशिया और अफ्रीका में अनेक राजनीतिक विचार-धाराएं हैं; हिंसा और शान्ति की; साम्यवाद, प्रजातंत्र और सामन्तवाद की, तटस्थता और गाँधीवाद की; इनके अलावा कुछ और भी हैं और ये सब एक दूसरे से मिल भी जाती हैं।

तथापि यह कदाचित् महत्व की बात है कि साम्यवादी तथा सामन्तवादी, दोनों एशिया, प्रजातंत्र के विचारों और शक्तियों का कम से कम मौखिक समर्थन करना आवश्यक समझते हैं। न केवल "मानवीय मौलिक अधिकारों और संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के सिद्धान्तों और उद्देश्यों के प्रति सम्मान का पहला सिद्धान्त स्वीकृत हुआ, बल्कि वक्तव्य में संयुक्तराष्ट्र के मानवीय

अधिकारों के घोषणा-पत्र को और भी विशेषरूप से समर्थन प्राप्त हुआ।

जब कि संसार के "मूक" लोग अन्त में अपनी आवाज बुलंद कर पाते हैं तो वे, जैसा कि हम आगे अधिक विस्तार से देखेंगे, उन्हीं निश्चित प्रजातंत्रात्मक उद्देश्यों की मूलतः पुष्टि करते हैं, जिनके लिए हम अपने राष्ट्र के जन्म से ही प्रयत्नशील हैं। चू एन ली ने उस संस्था को पूर्ण समर्थन देने की आवश्यकता क्यों समझी, जिसने कोरिया में साम्यवादी आक्रमण के विरुद्ध युद्ध का नेतृत्व किया और जिसने अभी भी उनकी सरकार को बहिष्कृत कर रखा है? स्वेच्छाचारी सामन्तवादी शासनों के प्रतिनिधियों ने भी अधिकारों के उस विधेयक का समर्थन क्यों किया, जिसका कार्यान्वय उनकी वर्तमान शासनप्रणाली का ही अन्त कर देता?

मुझे विश्वास है कि इसका उत्तर उपनिवेश-विरोधी क्रान्तियों के रूप और इतिहास में मिलेगा। उस इतिहास में मुख्यतः उत्तरी अटलांटिक राष्ट्रों के साथ 'रंगीन' जातियों के संघर्ष हैं। उस संघर्ष से कहीं मौलिक लोकतांत्रिक महत्वाकांक्षाओं का जन्म हुआ, जो एशियाई और अफ्रीकी क्रान्तियों के मूल में कार्य कर रही हैं और उसी कहानी में यह जानने की कुञ्जी है कि इन अपूर्ण क्रान्तियों का भविष्य अराजकता और साम्यवाद का है अथवा शान्ति, कानून और प्रजातंत्र का।

बाईसवाँ प्रकरण

औपनिवेशिक क्रान्तियों की समीक्षा

एशिया का पश्चिम के साथ बड़े पैमाने पर सामना धर्म-युद्ध की यात्राओं से प्रारम्भ हुआ, जब कि काफी संख्या में योरोपियन पहले पहल पूर्व की ओर गये। वहाँ उनको अपनी सभ्यता से भी अधिक समृद्धिशाली सभ्यताएँ मिलीं और पूर्व की सम्पत्तियाँ शीघ्र ही हजारों साहसिक यात्रियों और शाही अन्वेषकों को चुम्बक की तरह खींचने लगीं।

१३ वीं शताब्दी में कुबलाई खान के कल्पित चीन-सम्बन्धी मार्कोपोलो के वृत्तान्तों ने पश्चिम को एशिया की ओर जाने के लिए और भी उत्साहित किया। शीघ्र ही ऊँटों के स्थल-मार्गों के साथ साहसिक जहाजों की होड़ लग गयी। भारत की अपार सम्पत्ति को ही ढूंढ़ते-ढूंढ़ते कोलम्बस अमरीका से जा टकराया।

प्रगट रूप से धर्म और व्यापार ही उस समय की प्रेरक शक्तियाँ थीं। वास्को डि गामा कुमारी आशा अन्तरीप (केप आफ गुड होप) का चक्कर लगा कर और हिन्द महासागर को पार करके कुछ वर्षों बाद भारत पहुँचा। उसने कहा, "हम ईसाइयों और मसालों की तलाश में आये ह।" १६ वीं और १९ वीं शताब्दी के मध्य, दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका, भारत उपमहाद्वीप, मलाया प्रायद्वीप, इण्डीज (अब हिन्देशिया) वस्तुतः विश्व के आधे दक्षिणी भाग का अधिकांश, पश्चिमी औपनिवेशिक प्रभुत्व के अन्तर्गत आ गया।

१८७४ तक, जब स्टेनली कांगो के किनारे-किनारे अफ्रीका के मध्यभाग तक पहुँचा, जो अभी तक पश्चिमी उपनिवेशवाद के लिए अन्तिम अविजेय क्षेत्र था, अधिकांश इतर-योरोपीय जगत आधे दर्जन पश्चिमी साम्राज्यों में विभाजित हो गया। उस समय के एशिया के मानचित्र गुलाबी, नीले, हरे, लाल, नारंगी, पीले रंगों में यह प्रकट करते थे कि आधा एशिया और लगभग सम्पूर्ण अफ्रीका, बड़ी सफाई के साथ ब्रिटेन, स्पेन, बेलजियम, जर्मनी, फ्रांस, पुर्तगाल और नीदरलैण्ड में बँटे हुए थे।

औपनिवेशिक लूट के लिए इस होड़ ने लेनिन के साम्राज्यवादी युद्ध के सिद्धान्त के लिए कच्ची सामग्री प्रदान की, जिस पर हम विचार कर चुके हैं। वस्तुतः बहुतों के लिए यह सही ही मालूम होती है। इसी ने इस गर्वोक्ति

को भी जन्म दिया कि ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं होता।

परन्तु अन्त में सूर्यास्त होने लगा और आज अफ्रीका ही एकमात्र महाद्वीप है, जहाँ पश्चिमी ढंग का प्राचीन उपनिवेशवाद कायम है। एशिया में मलाया, हांगकांग, मकाओ, उत्तरी वोर्निओ, गोवा, पश्चिमी न्यूगिनी और दक्षिणी अमरीका के गाइना को छोड़कर, शेष औपनिवेशिक क्षेत्रों ने २० वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक किसी न किसी प्रकार पश्चिमी शासन से अपने को मुक्त कर लिया।

विश्व की एक तिहाई जनता द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने की कहानी—वह कहानी जिसमें दक्षिणी अमरीका भी शामिल है—रूस और चीन में जो कुछ हुआ, उससे कम महत्वपूर्ण नहीं है। हां, संख्या और वर्तमान सैद्धान्तिक प्रभाव की दृष्टि से भारतीय उपमहाद्वीप की क्रान्ति एक बड़ी घटना है। जैसा कि हम देख चुके हैं, गाँधीवादी संग्राम एक सामूहिक, अहिंसात्मक और प्रत्यक्ष संघर्ष का आदर्श था, जो औपनिवेशिक विद्रोह के इतिहास के लिए और सचमुच विश्व के इतिहास के लिए विल्कुल नयी चीज थी।

सीरिया, लेवनान, लीविया और फिलीपाइन्स जैसे कभी के पराजित राष्ट्रों के दूसरे आदर्श हैं, जो विना विशेष रक्तपात के स्वतंत्र हो गये। मिस्र और कुछ हद तक, इराक भी, पश्चिमी औपनिवेशिक वन्धनों से समझौते द्वारा ही मुक्त हुए थे, परन्तु संघर्ष तो उन्हें भी करना ही पड़ा था।

गोल्डकोस्ट, सूडान और नाइजेरिया में, ब्रिटेन की "रचनात्मक त्याग" की विवेकपूर्ण नीति के कारण, जिसका सफल अनुभव भारत, पाकिस्तान, वर्मा और लंका में प्राप्त हुआ, विना हिंसा के स्वतंत्रता आ रही है। सच पूछा जाय तो नाइजेरिया और गोल्डकोस्ट में अफ्रीकियों के वीच "हमको गाँधी वनना चाहिए" का नारा व्यापक रूप से लोकप्रिय रहा है और वहाँ के राष्ट्रीय संग्राम में अधिकतर भारतीय संग्राम के अनुभवों से काम लिया गया है।

परन्तु औपनिवेशक विश्व के वाहर और भीतर सामान्यरूप से क्रान्तियों में शान्तिपूर्ण प्रणाली की परम्परा नहीं रही है। उदाहरण के लिए, १०७५ में हमारी खुद की क्रान्ति कुछ अहिंसक नहीं थी। कुछ वर्षों पूर्व जव पोर्टो रीको के गवर्नर लुई मुनोज मेरीन कांग्रेस समिति के समक्ष प्रश्नों का उत्तर दे रहे थे, तो उस समय उनसे पूछा गया कि क्या आप अपने देश को हिंसात्मक ढंग से स्वतंत्र कराना चाहते हैं? उन्होंने मुस्कराते हुए उत्तर दिया कि मैं जनरल वाशिंगटन और क्रान्तिकारी सेना के प्रति असम्मान का भाव नहीं

रखता; मैं आशा करता हूँ कि पोर्टो रीको के मामले में शान्तिपूर्ण ढंग ही पर्याप्त होंगे। ऐसा ही हुआ।

परन्तु औपनिवेशिक विश्व में सशस्त्र विद्रोह का आदर्श आज तक प्रचलित है। वाण्डुंग-सम्मेलन से सात वर्ष पूर्व हिन्देशिया के देहातों में ही वहुत अधिक रक्तपात हुआ था। नये गणराज्य ने दो मोर्चों पर लड़ कर ही स्वतंत्रता प्राप्त की।

भारत की भाँति ही हिन्देशिया में राष्ट्रवादियों को व्यवस्थित रूप से जेलों में ठूंसा गया और जेलयात्रा परिचय-पत्र वन गयी थी। नये हिन्देशिया गणराज्य के नेता सुकर्ण, शहरयार और हट्टा डच सरकार के साथ समझौता करके शान्तिपूर्ण ढंग से स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहते थे, पर द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्त में स्पष्ट हो गया कि डच, भारत में ब्रिटेन के विपरीत, किसी-न-किसी वहाने हिन्देशिया से चिपके ही रहना चाहते थे।

जव, गणराज्य की सेनाएँ, जिनको कुछ हथियार जापान से प्राप्त हो गये थे और वापस जाने वाली डच सेनाएँ, जिनके पास अमरीकी हथियार थे, युद्ध के लिए आमने-सामने डट गयीं, तव हिन्देशियाई साम्यवादियों ने मौका पा कर एक सेना का संगठन किया और सितम्वर, १९४८ में नयी क्रान्तिकारी सरकार पर हमला कर दिया। यदि डच सेनाओं ने उसी समय आक्रमण कर दिया होता तो शायद उन्होंने अटलांटिक राष्ट्रों के सम्मुख, साम्यवाद के विरुद्ध हिन्देशिया के संरक्षक के रूप में सफलता के साथ अपने को प्रस्तुत कर दिया होता।

परन्तु डच रुक गये। नये गणराज्य की वफादार सेनाओं ने मोर्चा लिया और तुरन्त ही साम्यवादी विद्रोह को कुचल दिया। लगभग नौ हजार साम्यवादियों और उनके अनुयायियों को गणतंत्री सरकार ने कैम्प जेलों में वन्द कर दिया। कुछ सप्ताहों वाद, जव डचों ने अन्त में आक्रमण कर दिया तो गणराज्य की सेनाओं ने तुरन्त ही लगभग दो सौ साम्यवादी नेताओं का काम तमाम कर दिया, जिससे उनके स्वतंत्र होने का कोई प्रलोभन न रह जाय।

स्थिति स्पष्ट हो जाने पर और 'नाटो' के माध्यम से भी डच शक्ति के निष्फल हो जाने पर अन्त में अमरीका ने राष्ट्रपति सुकर्ण और हिन्देशियाई राष्ट्रवादियों का पूर्ण समर्थन किया। संयुक्तराज्य अमरीका के भूतपूर्व सिनेटर और उत्तरी कैरालिना विश्वविद्यालय के अध्यक्ष डा. फ्रैंक ग्राहम ने वातचीत में प्रमुख रूप से भाग लिया और अन्त में १९४९ में डचों को हटाने में सफलता मिली।

हिन्दचीन में उपनिवेश-विरोधी क्रान्ति भड़क उठी और एक अत्यन्त खर्चीले गृह-युद्ध में परिणत हो गयी। हिन्देशिया की भाँति जापानियों के चले जाने के बाद स्थानीय राष्ट्रवादियों ने स्वतंत्र गणराज्य की घोषणा कर दी। यद्यपि राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने यह कह कर कि हिन्दचीनी लोगों को उनकी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए, अमरीकी शंकाओं को प्रकट किया, तथापि फ्रान्सीसी सेनाओं ने १९४५-४६ के पतझड़ और जाड़े में पुनः युद्ध-क्षेत्र में प्रवेश किया।

जापानियों के विरुद्ध युद्ध में मास्को-दीक्षित साम्यवादी हो ची मिन्ह ने, जो अपने को कट्टर वियतनामी राष्ट्रवादी कहते थे, गुरिल्ला सेनाओं का नेतृत्व किया था। चतुर और आत्मत्यागी हो ची मिन्हको अमरीकी 'ओ. एस. एस.' ने जापानियों की अधिकार जमाने वाली सेनाओं को परेशान करने में बहुत ही विश्वसनीय साथी माना था।

उस समय भी हो ची मिन्ह (वह, जो चमकता है) का जीवन उल्लेखनीय था। क्षीणकाय, झुकी हुई कमर, शरीर और आत्मा की कल्पनातीत सहन-शक्ति वाले हो ची मिन्ह ने सारे विश्व का भ्रमण किया था। फ्रांस में केबिन वाय, लन्दन में बावर्ची और मोण्टमाट्रे में फोटोग्राफर का काम भी उन्होंने किया था। १९१९ में भाड़े का सूट पहने और वुडरो विल्सन के सभी राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के सिद्धान्त से प्रेरित होकर वे पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में वियतनाम की स्वतंत्रता के लिए अपील करने के उद्देश्य से हाजिर हुए। मित्रराष्ट्रों ने उनको सुनने से इन्कार कर दिया और उन्हें विश्वास हो गया कि विल्सन के १८ सूत्र एशियावासियों के लिए नहीं हैं।

१९२२ में हो ची मिन्ह मास्को में लेनिन, ट्राटस्की और बुखारिन से मिले। वहाँ वे मार्क्सवाद की अन्तरराष्ट्रीय शाला में सम्मिलित हुए। १९२५ में हो ची मिन्ह बोरोडिन के साथ दुभाषिए के रूप में कैण्टन गये। १९२७ में मास्को लौटने पर उन्होंने हिन्दचीन साम्यवादी दल का संगठन किया, जो कौमिण्टर्न में शामिल हो गया।

परन्तु इस सोवियत प्रशिक्षण के बावजूद, बहुतेरे जानकारों का यही विश्वास रहा कि हो ची मिन्ह क्रोधी, घमण्डी, बड़े ही व्यक्तिवादी. एशियाई राष्ट्रवादी हैं, जिन्होंने वियतनाम की स्वतंत्रता की स्थापना को अपना प्रथम लक्ष्य बना रखा था। इस लक्ष्य-पूर्ति के प्रयत्नों में उन्हें पश्चिमी जेलों का भी मजा चखना पड़ा। १९३१ में फ्रांसीसी आज्ञा पर अंग्रेजों ने उन्हें हांगकांग जेल में रख दिया। अठारह महीने जेल के सीकचों में बन्द रहने के बाद वे तपेदिक से मृतप्राय

हो गये थे।

१९४५ में हो ची मिन्ह ने वियतनाम के लिए तत्काल स्वतंत्रता की माँग की। वातचीत के दौरान में, जो पेरिस में शुरू हुई थीं, उन्होंने सभी को, जो उनसे मिला, मोहित कर लिया, जिस प्रकार चू एन ली ने वाद में १९५४ में जनेवा में और १९५५ में वाण्डुंग में अपने प्रतिरोधियों की अनिच्छित प्रशंसा प्राप्त कर ली थी।

फिरभी, हो ची मिन्ह ने गृह-युद्ध की धमकी देने में संकोच नहीं किया। समुद्रपार के प्रदेशों के लिए फ्रान्सीसी सोशलिस्ट मंत्री मेरियस माउतेत से उन्होंने कहा, "यदि हमको लड़ना ही पड़ेगा तो हम लड़ेंगे। यदि आप हमारे दस आदमियों को मारेंगे तो हम आपके एक आदमी को मारेंगे, परन्तु अन्त में आप ही इससे ऊब जायेंगे।"

१९४६ के समाप्त होने के पूर्व ही एक फ्रान्सीसी युद्ध-पोत ने हैफोंग शहर पर गोलावारी कर चार हजार व्यक्तियों को मार डाला और युद्ध शुरू हो गया। आठ वर्ष वाद, १९५४ तक हो ची मिन्ह की भविष्यवाणी सही सावित होती दिखायी दी। फ्रान्सीसी थक गये। दियनवियनफू का पतन हुआ और शीघ्र ही हो ची मिन्ह की वड़ी-वड़ी तस्वीरें हनोई की भूतपूर्व फ़्रांसीसी उत्तरी राजधानी में सड़कों की शोभा वढ़ाने लगीं।

यह था प्रथम उपनिवेश-विरोधी सफल विद्रोह, जिसका नेतृत्व साम्यवादियों ने किया। हिन्दचीन ही में साम्यवादी क्यों सफल हुए, जव कि अन्यत्र वे असफल रहे? इसके वहुत से कारण थे।

प्रारम्भ से ही फ्रांसीसियों ने अपने प्राचीन वभव के अवशेपों से चिपके रहने का दृढ़ निश्चय कर लिया था और इस प्रयत्न में उन्होंने वदनाम जापानी पिट्ठू, वियतनाम के सम्राट वाओदाई का सहारा लिया। एशियाई जीवन के नये तथ्यों की सर्वथा अमान्यता ने हो ची मिन्ह के राष्ट्रीय आन्दोलन के संगठन-कार्य को अपेक्षाकृत आसान वना दिया।

युद्ध प्रारम्भ होने के चार वर्ष वाद फ्रेंच यूनियन की तीन लाख से अधिक सेना के पास सामग्री का अभाव था, वह वुरी तरह दवी हुई थी और योग्य फ्रान्सीसी सेनापतियों की इस तीव्र गति से वलि दी जा रही थी कि उसकी क्षतिपूर्ति फ़्रान्स की सैनिक अकादमी भी नहीं कर सकती थी और इसीलिए अमरीका की सहायता की आवश्यकता पड़ी।

अमरीका की गति साँप-छछूंदर की सी थी। हिन्दचीन पर औपनिवेशिक

अधिकार था और हम अपने इतिहास में हमेशा से उपनिवेशवाद के विरुद्ध रहे हैं; परन्तु हम योरोप में शक्ति-संतुलन को दृढ़ बनाने के लिए फ्रांस को एक महान शक्ति बनाये रखने के लिए भी चिन्तित थे। एशिया में साम्यवाद के प्रसार से हम और भी अधिक परेशान थे। हिन्दचीन पर कब्जा करने के बाद दक्षिणपूर्व के समृद्ध एशिया पर जापानियों की द्रुतगामी विजय की स्पष्ट स्मृतियां होते हुए भी हम फ्रांस की प्रबल सहायता के लिए इच्छा न होते हुए भी जा पहुँचे।

फ्रांस स्वयं मार्शल-योजना के अन्तर्गत जितनी मदद पाता था, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक हिन्दचीन के युद्ध में खर्च कर रहा था और १९५० और १९५४ के बीच फ्रांसीसियों के उपयोग के लिए सैनिक सामग्री में संयुक्त राज्य अमरीका ३ अरब डालर खर्च कर चुका था। अप्रैल, १९५३ में, जब मैं आखिरी बार सेगाँव गया, उस समय अमरीकी पोतों से प्रतिदिन औसतन दस हजार टन माल उतरता था।

एक बार जब फ्रांसीसी साम्यवादियों को हराने और व्यवस्था स्थापित करने में सफल हुए तो हमने आशा की कि अब वे हिन्दचीन को स्वतंत्र करना स्वीकार कर लेंगे। अधिकांश एशियावासियों और अधिकांश अमरीकियों को, जो उस समय एशिया में कार्य कर रहे थे, ऐसा महसूस हुआ कि इस जुए में हार निश्चित है। युद्ध में जीतने का केवल एक ही मार्ग था और वह यह था कि हिन्दचीन में शीघ्रता से अत्यावश्यक और बहुत पहले से वचनबद्ध आर्थिक और राजनीतिक सुधार किये जायं, साथ ही पूर्ण स्वतंत्रता की स्पष्ट प्रतिज्ञा की जाय और उस स्वतंत्रता की प्राप्ति और रक्षा के लिए एक प्रबल वियतनामी सेना का विकास और प्रशिक्षण किया जाय।

परन्तु साम्यवाद-विरोधी राष्ट्रवादी नेताओं को अमरीकी आग्रह पर दी गयी रियायतें विद्वेषपूर्ण, अपर्याप्त और विलम्बित थीं; क्योंकि इन रियायतों के बाद प्रायः अनिवार्यरूप से फ्रांसीसी संघ की सेनाओं पर साम्यवादी विजय प्रारम्भ हो गयी, वे फ्रांसीसी निष्ठा की अपेक्षा साम्यवादी शक्ति का न्यूनांकन करती प्रतीत होती थीं।

दुराग्रही फ्रांस ने अत्यन्त प्रारम्भिक ग्राम-सुधारों का समर्थन करने से भी इन्कार कर दिया और इस प्रकार अपने पक्ष को और भी कमजोर बना दिया। अगस्त, १९५२ में, अपने सेगाँव के कार्यालय में फ्रांसीसियों द्वारा नियंत्रित वियतनामी प्रधान मंत्री ने स्पष्टतः स्वीकार किया कि हो ची मिन्ह

ने अधिकांश ग्रामीण जनता का समर्थन प्राप्त कर लिया है। उसने कहा कि जब उसकी सेना ने एक गाँव पर अधिकार कर लिया तो उसने सब कर्ज रद्द कर दिये और भूमि जोतनेवालों को दे दी। यदि फ्रांसीसियों ने उसी गाँव पर फिरसे अधिकार प्राप्त कर लिया तो उन्होंने जमीन्दारों तथा महाजनों को फिर सत्ताधारी बना दिया। इस प्रकार किसानों को कम्यूनिस्टों का समर्थन करने के लिए हर तरह से प्रोत्साहन मिला।

अन्त में फ्रांसीसी, अपनी अरक्षा के कारण, एक बड़ी वियतनामी प्रतिरक्षा-सेना बनाना नहीं चाहते थे। इसका मतलब था कि साम्यवाद को रोकने के लिए, मजबूत स्वदेशी लड़ाकू टोलियां, जैसा कि यूनान और कोरिया में उपलब्ध थीं, यहाँ न मिल सकीं और युद्ध का सारा बोझ विदेशी सेना के कन्धों पर आ पड़ा।

परिस्थिति की विडम्बना देखिये कि जिन प्रमुख राजनीतिक नारों ने फ्रांसीसियों को हराने में कम्यूनिस्टों की सहायता की, वे स्वयं फ्रांसीसी क्रान्ति के नारे थे। बेसिल (Bastill) के पतन से लेकर दियनवियनफू के पतन तक, इन नारों का मार्ग तूफानी, खूनी और दुःखपूर्ण ही रहा है। साम्यवादियों द्वारा उनका भ्रष्ट रूप कदाचित् पेरिस की फांसियों के आतंक की अपेक्षा कहीं अधिक भयानक था, परन्तु शायद वह उसी का एक प्रकार था।

अधिकांश प्रेक्षक, जिन्होंने भारतीयों, बर्मियों, लंकावासियों या पाकिस्तानियों में स्वतंत्रता की भयानक इच्छा देखी थी, इस बात पर एकमत थे कि यदि गांधीवादी मार्ग असफल हो गया होता तो, चाहे साम्यवादी नेतृत्व होता या अन्य, हिंसाका यह रूप सीधे दक्षिणी एशिया के उस पार तक फैल गया होता।

अनेक अवसरों पर मैंने इस समस्या पर नेहरू तथा ऊ नू जैसे एशियाई नेताओं से विचारविनिमय किया है। सभी को विश्वास है कि यदि अंग्रेजों के साथ समझौते के शान्तिपूर्ण प्रयत्न असफल हो जाते तो उनको और भी हिंसात्मक तरीकों से नृशंसतापूर्वक बाहर निकाल दिया जाता।

तेईसवां प्रकरण

अफ्रीका का जागरण

वाण्डुंग-सम्मेलन के गलियारों में अफ्रीकी प्रतिनिधि तथा पर्यवेक्षक अपने एशियाई सहयोगियों की भांति जानते थे कि उनकी महान और कठिन समस्याओं का शान्तिपूर्ण समाधान निश्चित नहीं था।

कांग्रेसी आदम क्लेटन पोवेल ने, जो पर्यवेक्षक के रूप में वाण्डुंग गये थे, दक्षिणी अफ्रीका के निग्रो प्रतिनिधियों के शब्दों का उद्धरण देते हुए कहा, "हम अधिक दिनों तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते। अब हमको वन्दूकें मिल ही रही हैं। यदि हम उनको स्वीकार कर लेते हैं, तो आधुनिक युग के इतिहास का सबसे बड़ा हत्याकाण्ड उपस्थित हो जायगा।"

जोहान्सवर्ग (दक्षिणी अफ्रीका) के मोजेज कोटाने ने, उस अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करते हुए, जिसने अभी तक गांधी की अहिंसावादी प्रणाली का पालन किया था, सम्मेलन को अशुभ चेतावनी दी, "हम डूब रहे हैं और हम किसी भी तिनके का सहारा ले लेंगे, जो हमें मिल जायगा।"

जबकि ये प्रतिनिधि वाण्डुंगमें अपने देशवासियों के प्रति सहानुभूति प्राप्त करने के प्रयत्न कर रहे थे, तभी पृथक्करण-कार्यक्रम दक्षिणी अफ्रीका में तेजी से चल रहा था, जिसके अन्तर्गत जोहान्सवर्ग के हजारों अफ्रीकानिवासी गोरों के नगर से बाहर बारह मील दूर जबर्दस्ती निकाल कर भेजे जा रहे थे।

पहले से ही दक्षिणी अफ्रीकी कानून अफ्रीकियों को ऐसा कोई व्यवसाय करने से रोकता है, जो उन्हें गोरों की वस्ती के सम्पर्क में लाता है। अश्वेतों के लिए निर्धारित क्षेत्र के अतिरिक्त, अन्य क्षेत्रों में कोई व्यापार करने से भी वह उन्हें रोकता है। कोई भी अफ्रीकी अपने प्रान्त से दूसरे प्रान्त में नहीं जा सकता और न कोई गोरा किसी अफ्रीकी को दायित्वपूर्ण पद पर या किसी कुशल कार्य में नियुक्त कर सकता है। ये प्रतिबंध सभी अफ्रीकियों पर लागू होते है, चाहे झाड़ियों में रहने वाले आदिवासी हों या ब्रिटेन में शिक्षा-प्राप्त डाक्टर।

अप्रैल, १९५५ में, जब कि प्रतिनिधिगण वाण्डुंग–सम्मेलन में व्यस्त थे, संसार के दूसरी ओर दक्षिण अफ्रीकी वण्टू-शिक्षा-विधान लागू किया जा

रहा था। इस विधान के अनुसार राष्ट्रवादी सरकार उन सब चर्च स्कूलों को अपने आधीन कर लेगी, जो कभी अधिकांश अफ्रीकी विद्यार्थियों की शिक्षा के एक मात्र साधन थे और इस "उदार कला" की शिक्षाके स्थान पर कुछ साधारण कारीगरी तथा प्राचीन वण्टू संस्कृति की शिक्षा देगी। इन प्रतिबन्धों का उद्देश्य यह था कि अफ्रीकी प्रारम्भिक से अधिक शिक्षा न ग्रहण कर सकें।

'देशी मामलों' के मंत्री जिस शिक्षण या मताभिव्यक्ति को 'देशद्रोहात्मक' समझेंगे, वह दण्डनीय अपराध होगा, जिसमें अपील के लिए भी अधिकार नहीं होगा। इसीलिए शायद अफ्रीकी गोरे राष्ट्रवादी यह समझते हैं कि उनके उद्देश्य की दृष्टि से सबसे अधिक 'देशद्रोहात्मक' पुस्तक 'डास कैपिटल" नहीं, बाइबिल है और इसीलिए चर्च स्कूलों पर प्रतिबन्ध लगाया जा रहा है।'

बाण्डुंग में एकत्र प्रतिनिधि दक्षिण अफ्रीका की इन अशुभ प्रवृत्तियोंको समझ रहे थे और वे जानते थे कि भूतपूर्व प्रधानमंत्री मलान के कठोर जातिवादी विश्वासों को, उसके और अधिक उग्रवादी उत्तराधिकारी प्रधान मंत्री स्ट्रिडम के अन्तर्गत कई गुनी शक्तिसे बढ़ाया जा रहा है। दक्षिणी अफ्रीका सम्बन्धी प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ और उसमें स्थिति को स्पष्ट शब्दों में बताया गया, "यह सब न केवल मानवीय अधिकारोंका पूर्ण उल्लंघन है, बल्कि सभ्यता के मौलिक मूल्यों तथा मानवीय सम्मान का निषेध भी है।"

यदि सच्चे अर्थ में अफ्रीका का प्रश्न हमें उपनिवेश-विरोधी विद्रोह का अंग न भी प्रतीत हो, क्योंकि वहाँ विदेशी शासन का नहीं, बल्कि जातिभेद-मूलक स्थानीय शासन का विरोध किया जा रहा था, तथापि भूतपूर्व गोरे उपनिवेशवादियों के लघु अल्पमत का यह शासन एशियाइयों और अफ्रीकियों को उपनिवेशवाद का निकृष्टतम प्रदर्शन प्रतीत होता है। दक्षिण अफ्रीका की घटनाएं विश्व की शेष औपनिवेशिक समस्याओं के समाधान में हिंसात्मक अथवा शान्तिपूर्ण परिवर्तन की सम्भावनाओं को प्रभावित करेंगी।

गांधी के पुत्र मणिलाल ने अहिंसक प्रतिरोध के आन्दोलन को चलाने में उसी प्रकार सहायता की, जिस प्रकार स्वयं महात्मा ने पहले-पहल अफ्रीका में सत्याग्रह-प्रणाली का आधी शताब्दी पूर्व आविष्कार किया था। दुर्भाग्य से अभी तक, गांधीवादी प्रतिरोध को पुलिस की क्रूरता द्वारा कुचला गया है। यदि दक्षिण अफ्रीकी निराश होकर शान्तिपूर्ण तरीकों को छोड़ दें तो सारा अफ्रीका प्रतिहिंसा की भावना से प्रज्ज्वलित हो उठेगा और अफ्रीका

के अधिक आशापूर्ण भागों में भी मर्यादा की शक्तियां अत्यन्त क्षीण हो जायंगी।

पश्चिमी अफ्रीकी विद्यार्थियों के सम्बंध में कहा जाता है कि वे दक्षिणी अफ्रीकी सरकार के विरुद्ध स्वतंत्रता का संग्राम चलायेंगे। अफ्रीका और भारत में मैं अफ्रीकी युवकों से मिला, जिन्होंने मुझे बड़ी गम्भीरता से बताया, "अब हम बहुत अधिक दिनों तक चुपचाप दक्षिण अफ्रीका में इस बर्बरता को देखते नहीं रहेंगे।" वस्तुतः मैं किसी ऐसे बाहरी जानकार पर्यवेक्षक को नहीं जानता, जो दक्षिण अफ्रीका में आने वाले दस वर्षों को गम्भीर निराशा की दृष्टि से नहीं देखता।

× × ×

समस्त अफ्रीका में ५५ लाख गोरे हैं। दक्षिणी अफ्रीका में एक करोड़ अफ्रीकी हैं, जबकि २५ लाख गोरे हैं, जो आपस में अंग्रेज और डच के रूप में बड़ी शत्रुता के साथ विभाजित हैं। अफ्रीकान्दरों (Afrikanders) ने एक-तंत्रवादी राज्य के निर्माण के अपने निरन्तर प्रयत्न में न केवल अंग्रेजों पर गहरा आघात किया है, प्रत्युत अफ्रीकी और एशियाई भावनाओं को भी कुचल दिया है।

अफ्रीका के उत्तरी छोर पर, फ्रान्सीसी उत्तरी अफ्रीका में, जहाँ २ करोड़ २५ लाख अरब बेरबर (Arab Berber) और २५ लाख योरोपियन हैं, अशान्ति का वायुमण्डल गूंज रहा है और फ्रान्सीसी औपनिवेशिक प्रशासन हिन्दचीन की-सी अशुभ परिस्थितियों से गुजर रहा है।

१९५४ में प्रधानमंत्री मेण्डेस-फ्रान्स के नाटकीय पहल के कारण अन्त में अगले वसन्त में उनके उत्तराधिकारी ने एक समझौता किया, जिसमें ट्यूनीशिया को आन्तरिक स्वायत्त शासन प्रदान किया गया। ट्यूनीशिया की राष्ट्रीय 'निओ दस्तूर पार्टी' की शक्ति और आत्मसंयम का यह महत्वपूर्ण प्रमाण है। उसके नेता हबीब बोरगीबा ने, जिन्होंने गाँधीवादी संघर्ष का मार्ग ग्रहण किया और जिन्होंने फ्रांस में अपने देशनिकाले को कटुतापूर्ण नहीं बनने दिया, प्रधान-मंत्री फौरे से समझौते की बातचीत की।

परन्तु बहुत दिनों से विलम्बित यह सफलता ट्यूनिशिया में छिटपुट आतंक के वातावरण में प्राप्त हुई और फ्रांसीसी प्रवासियों तथा उग्र राष्ट्रवादी अरबों के बीच विरोध बराबर चलता ही रहा। बाण्डुंग-सम्मेलन के समय ही, जब इस समझौते की घोषणा हुई, ट्यूनीशिया के फ्रांसीसी प्रवासियों की एक विरोध-सभा ने उस समझौते को बेकार घोषित कर दिया।

फ्रांसीसी निवासियों ने घोषणा की कि वे फ्रांस द्वारा 'रीजेन्सी' में अपने पुत्रों के परित्याग को स्वीकार नहीं करेंगे और न फ्रांसीसी-टयूनीशियन समुदाय शीघ्र पूर्ण विनाश को ही स्वीकार करेंगे। उन्होंने हर साधन से संघर्ष करने के दृढ़ संकल्प को दोहराया ताकि टयूनीशिया फ्रांसीसी शान्ति का उपभोग कर सके।

टयूनीशियाई राजनीति के दूसरे छोर पर पुराने दस्तूर दल न उतने ही जोरदार ढंग से समझौते का विरोध किया। वह हमेशा से ही फ्रांस के साथ सभी समझौतों को ठुकराता रहा हैं। वोरगीवा (Bourguiba) की पार्टी के एक गुट, नियो-दस्तूर, ने अपने निर्वासित महामंत्री, सलाह वेन यूसुफ के नेतृत्व में उनका समर्थ किया।

जिस दिन पेरिस में समझौते की घोषणा हुई, वेन यूसुफ वाण्डुंग में फ्रांसीसियों की नीति को "यातना और हत्या" की नीति कह कर भर्त्सना कर रहे थे और उत्तरी अफ्रीका में संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्रवाई का समर्थन न करने के लिए संयुक्त राज्य अमरीका की निन्दा तथा संयुक्त राष्ट्र संघ में रूसी समर्थन की प्रशंसा कर रहे थे एवं टयूनीशिया की पूर्ण स्वतंत्रता की माँग कर रहे थे।

तीन वर्षों के देशनिकाले के वाद टयूनिस वापस आने पर वोरगीवा का राष्ट्रपिता के रूप में शानदार स्वागत हुआ। यहाँ तक कि टयूनिस के वृद्ध वे ने अपना सिंहासन छोड़कर उनका "मेरे वेटे, मेरे प्यारे वच्चे" कह कर स्वागत किया।

वोरगीवा ने लोगों को वताया कि आन्तरिक स्वायत्त शासन पूर्ण स्वतंत्रता की दिशा में एक कदम मात्र है, परन्तु उसके लिए धैर्य और संयम की आवश्यकता ह। उन्होंने कहा, "हमारी नयी स्वतंत्रता हमारे सम्मुख नये-नये दायित्व प्रस्तुत कर रही है; जातीय पक्षपात और विदेशी चीजों के प्रति घृणा से सावधान रहो। सभी टयूनीशियाई भाई-भाई हैं। मुस्लिम और यहूदी दोनों समान हैं और हमें आपस में भाईचारे का सम्वन्ध रखना चाहिए।"

फ्रांसीसियों के प्रति भी उन्होंने उसी तरह के मैत्रीपूर्ण सम्वन्ध के लिए अनुरोध किया, जैसाकि भारतीयों ने संघर्ष के वाद व्रिटेन के साथ किया था। उन्होंने कहा कि हमारी परम्परा का तकाजा ह कि हम अतिथिसत्कार की भावना रखें और इस मुल्क में सभी मेहमानों की इज्जत करें।

किसी को नहीं मालूम कि उत्तरी अफ्रीका में और विशेषतः अल्जीरिया और

मोराक्को में समय पर सामूहिक रक्तपात को रोकने के लिए हिंसा की प्रवृत्ति को नियंत्रित किया जायगा। परन्तु वाण्डुंग के भाषण में शायद इसलिए वार-बार हिंसा की धमकियाँ दी गयीं कि फ्रांसीसी सरकार इस समस्या का अविलम्ब शान्तिपूर्ण समाधान करे।

× × ×

अफ्रीका महाद्वीप के इन उत्तरी और दक्षिणी विस्फोटक छोरों के बीच एक विशाल क्षेत्र है, जो संयुक्त राज्य अमरीका से लगभग दुगुना बड़ा और साधनसम्पन्न है। यहां पर गोरों की कुल आवादी पाँच लाख है, यानी रोड द्वीप के प्रोविडेन्स नगर की आवादी से भी कम है और १६ करोड़ अफ्रीकी हैं। यहाँ कोई भी पर्यवेक्षक उपनिवेशवाद के उग्र और मृतप्राय विभिन्न रूपों को देख सकता है।

लाइबेरिया, इथियोपिया, मिस्र और लीबिया के चार स्वतंत्र बहु-जातीय राष्ट्र स्वभावतः सबसे अधिक अन्तर प्रस्तुत करते हैं। अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी अनन्त समस्याएं हैं, परन्तु यहाँ कोई औपनिवेशिक अत्याचारी व्यक्ति नहीं है, जिसको विलम्ब या गलती के लिए दोष दिया जाय।

अगले कुछ ही वर्षों में इन स्वतंत्र राष्ट्रों की श्रेणी में भूतपूर्व ब्रिटिश उपनिवेश सूडान, गोल्ड कोस्ट और नाइजीरिया भी आ जायंगे। सुमालीलैण्ड पर इटली का 'संरक्षण' १९६० में समाप्त हो जायगा।

पश्चिमी और भूमध्य-रेखा वाले फ्रांसीसी अफ्रीका और बेलजियन कांगो के औपनिवेशिक क्षेत्रों में, जो कुल मिलाकर संयुक्त राज्य अमरीका से बड़े हैं, राजनीतिक विकास की गति धीमी है। पूर्वी तट पर मोजम्बीक और पश्चिमी तट पर अंगोला में पुर्तगाली, जो सबसे पहले अफ्रीका आये थे, आज भी दावा करते हैं कि वे सबसे वाद में ही जायंगे।

अन्त में रह जाता है ब्रिटिश अफ्रीका। पश्चिमी ब्रिटिश अफ्रीका में, जहाँ अफ्रीकियों और योरोपियों में कोई स्पर्धा नहीं है, स्थिति बहुत ही उत्साहजनक है, क्योंकि यह तराई का क्षेत्र उष्णकटिबन्धीय घातक बीमारियों से इतना ग्रस्त था कि वह पीढ़ियों से "गोरों की कब्र" के नाम से विख्यात था। योरोपीय यहाँ पर मुख्यतः गुलामों और सोने के लाभप्रद व्यापार के लिए और साथ ही, मजे की बात है, कि ईसाई बनाने के लिए भी आये। इसलिए वहाँ पर कोई ऐसा अंग्रेज प्रवासी नहीं है, जो विशेषाधिकारों के लिए प्रयत्न करे।

शासन की अपनी असाधारण प्रतिभा और कठिन स्थितियों का सामना

करने की अपनी इच्छा से ब्रिटिश अफसर इन पश्चिमी अफ्रीकी उपनिवेशों को यथासम्भव शीघ्र छोड़ देने के लिए ईमानदारी के साथ कार्य कर रहे हैं। टोगोलैण्ड के संयुक्त राष्ट्रीय ट्रस्टीशिप के एक ब्रिटिश जनरल अफसर जार्ज सिंक्लेयर में, जिनके साथ मैं १९५५ की सर्दियों में दो दिन रहा, उनका रुख प्रतिविम्वित होता है।

उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक कहा, "मैं एक वृक्ष की शाखा पर वठा हूँ और मैं प्रति दिन उसका कुछ न कुछ अंश आरी से काटता ही रहता हूँ। यदि मैं अन्त में सफल होता हूँ, तो शाखा एक दिन कट जायेगी, मेरा अफ्रीकी सहायक मेरा स्थान लेन को तयार होगा और मैं इस कार्य से मुक्त हो जाऊँगा।"

गोल्डकोस्ट और नाइजीरिया, दोनों में ही सभी सरकारी विभागों के प्रमुख अफ्रीकी हैं और वहाँ संयुक्त ब्रिटिश और अफ्रीकी नागरिक सेवाएँ हैं। गोल्डकोस्ट में पेनसील्वानिया के लिंकन विश्वविद्यालय के स्नातक, कामे नक्रूमा प्रधान मंत्री हैं और कई वर्षों से एक अमरीकी मजदूर यूनियन के सदस्य हैं। जनवरी, १९५५ के प्रारम्भ में नक्रूमा ने विश्वास के साथ मुझ-से कहा कि दो वर्षों की भीतर ही स्वतंत्रता प्राप्त हो जायेगी। नाइजीरिया भी धीमी गति से स्वतंत्रता की ओर जा रहा है।

दोनों देशों में प्रमुख वाधा कट्टर ब्रिटिश औपनिवेशिक विरोध नहीं है, वल्कि उनके अपने प्रादेशिक मतभेद ह, जो प्रायः पश्चिमी रंग मे रंगे अफ्रीकी वुद्धिजीवियों और कवाइली सरदारों के वीच झगड़ों से और भी जटिल हो जाते ह। फिर भी यह जानकर विश्वास होता है कि वहुत ही कम पश्चिमी अफ्रीकी अपने को स्वतंत्र कर देने की ब्रिटिश इच्छा पर शंका करते हैं।

ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका की स्थिति मूलतः भिन्न है। यद्यपि यहाँ भूमध्य रेखा के दोनों ओर ब्रिटिश प्रदेश मीलों तक फैले हुए हैं, तथापि अधिकांश भूमि ऊँची ह और वर्ष भर मौसम अच्छा रहता है।

पिछले पचास वर्षों में इस आदर्श जलवायु ने हजारों योरोपियनों को वसने के लिए आकृष्ट किया है। दूसरी पीढ़ी के परिवारों ने गहरी जड़ें जमा ली हैं और उस सुन्दर और समृद्ध देश में काफी पैसा भी लगा दिया है। कुछ अपवादों के अतिरिक्त, वे अपनी इस अद्वितीय अनुकूल आर्थिक और राजनीतिक स्थिति से किसी भी मूल्य पर चिपके रहने के लिए कृतसंकल्प हैं।

दक्षिणी रोडेशिया में ५ करोड़ एकड़ सर्वोत्तम भूमि २५,००० योरोपियनों के हाथों में है। मुझे वताया गया कि इस भूमि का १० प्रतिशत से भी

कम भाग जोता जाता है। ३ करोड़ ६० लाख एकड़ भूमि, जिसमें से अधिकांश रेतीली और अनुपजाऊ है, उन ११ लाख अफ्रीकियों को दी गयी है, जो देहातों में रहते हैं। एक अफ्रीकी कहावत है–"जब गोरे आये तो उनके पास बाइबिल थी और हमारे पास भूमि; और अब उनके पास भूमि है और हमारे पास बाइबिल।"

राजनीतिक दृष्टि से स्थिति विस्फोटक ही है। एक अफ्रीकी किसान अपनी कमजोर रेतीली भूमि से योरोपियनों के उपजाऊ लाल खेतों की ओर देखकर बरबस कह उठता है, "यह इसलिए है कि उसकी चमड़ी सफेद है और मेरी काली।" इसी प्रकार रोडेशिया की ताँबे की खानों में कार्य करनेवाला अफ्रीकी मजदूर औसतन उसी खान के योरोपीय मजदूर की मजदूरी का बीसवाँ भाग पाता है और अपनी हीन स्थिति को इस भावना से कोसता है कि वह गोरों की जातीय उच्चता के कारण है।

१९५५ में हमने केनिया में वातावरण को हिंसा और कटुता की भावना से परिपूर्ण पाया। तीन वर्ष पूर्व किकुयू कबीले के एक ठोस अल्पसंख्यक दल ने, दो अन्य कबीलों के कुछ आदमियों के साथ गुप्त माऊ माऊ संस्था के अन्तर्गत भयानक रक्तरंजित विद्रोह में भाग लिया, जिसके परिणामस्वरूप ४०,००० योरोपीय और एक लाख २० हजार एशियावासी, ५० लाख अफ्रीकियों के बीच आतंक और मृत्यु की दुनिया में जी रहे थे।

नैरोबी से ९५ मील दूर, माऊ माऊ क्षेत्र के मध्य स्थित न्येरी नगर में एक रविवार को अपरान्ह में हमने पास के होटलों और मदिरालयों में हजारों योरोपीय प्रवासियों के झुण्ड के झुण्ड आते-जाते देखे। सभी के पास स्वचालित पिस्तौलें और बहुतों के पास बन्दूकें भी थीं। ज्यों ही लगभग ७५ वर्ष के वृद्ध स्त्री-पुरुष की एक जोड़ी निकली, हमने देखा कि पुरुष के पास एक छोटी हलकी बन्दूक थी और महिला के पास .४५ स्वचालित पिस्तौल।

योरोपीय प्रवासियों ने सोते-जागते हर समय हाथ में या पासमें एक बन्दूक रखना सीख लिया था। ऐसी बहुत सी हृदयविदारक कहानियाँ हैं, जिनमें विश्वस्त अफ्रीकी नौकरों ने माऊ माऊ की सौगन्ध खाकर आतंकवादियों के गिरोहों को उन परिवारों का सफाया कर देने में सहायता की, जिनके यहाँ उन्होंने बीस-बीस साल तक नौकरी की थी।

माऊ माऊ आन्दोलन एक बर्बर प्रतिक्रिया है। १९५५ में वह समाप्त प्रतीत होने लगा था, इसलिए नहीं कि आवश्यक सुधार हो गये थे, बल्कि इसलिए

कि माऊ माऊ ने अति कर दी थी और अपने ही कबाइली साथियों को अपने भयानक रक्तपात से दहला दिया था।

फिर भी, मौलिक समस्या रह ही गयी और वह समस्या है भूमि, जैसा कि विश्व के उन अधिकांश भागों में है, जहाँ क्रान्ति का भय है। केनिया में अच्छी से अच्छी भूमि अधिक से अधिक सात हजार योरोपियनों के हाथों में है और उसमें से भी बहुत सी बेकार पड़ी रहती है।

एक शिक्षित युवक किकुयू ने मुझसे कहा, "हमें उन योरोपियनों से कोई झगड़ा नहीं है, जो एक हजार एकड़ जमीन जोतते और अच्छी फसलें पैदा करते हैं, परन्तु हम अफ्रीकियों को इस पर आपत्ति जरूर होती है जब वे अपनी अच्छी भूमि का एक छोटा भाग ही जोतते हैं और हमें कुछ ही एकड़ चट्टानी धरती में बाँध रखा जाता है। योरोपियन वास्तव में हमें काफी और 'सीसल' जैसी लाभदायक फसलों को उपजाने की अनुमति नहीं देते और कभी देते भी हैं तो कठोर प्रतिबन्धों के साथ।"

यह अफ्रीकी अपने ढंग का ईमानदार, नरम और शिक्षित युवक था। क्या योरोपीय समय रहते उससे और उसके जैसों से समझौता करने के लिए तैयार हैं? यदि नहीं, तो कुछ ही समय में उसके स्थानपर ऐसे लोग आजायंगे जो कड़ी भाषा का प्रयोग करेंगे।

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि पूर्वी अफ्रीका भर में जन-स्वास्थ्य, मकान और शिक्षा के क्षेत्र में काफी उन्नति हुई है। केनिया और मध्यवर्ती अफ्रीकी संघ, दोनों में बहुजातीय विश्वविद्यालय विकास के मार्ग पर हैं, परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में गति भयानक रूप से धीमी रही है, जहाँ विस्फोटों की अधिक संभावना है।

सौभाग्य से ब्रिटिश पदाधिकारी यह समझते जान पड़ते थे कि सुधार के लिए और भी अधिक मौलिक कार्रवाइयों की आवश्यकता है। ब्रिटिश सेना के एक पदाधिकारी ने कहा, "स्थिति केवल सैनिक महत्व की नहीं है। सेना के पास काले-गोरे के तनाव का कोई इलाज नहीं है। माऊ माऊ द्वारा प्रस्तुत समस्याओं को केवल गोलियाँ नहीं सुलझा सकतीं।"

एक योग्य औपनिवेशिक शासक ने मुझे बतलाया, "सुधार होने चाहिए, जबर्दस्त सुधार, अन्यथा योरोपियन समाप्त हो जायेंगें। थोड़ेसे विवेकशील योरोपीय प्रवासी इस बात को ठीक ठीक समझ रहे हैं और भरसक प्रयत्न भी कर रहे हैं; परन्तु अभी तक अधिकांश लोगों ने हिलने से इन्कार कर दिया

है। यदि वे आज के युग की वास्तविकताओं के प्रति जागरूक नहीं होते, तो एक दिन वे समस्त अफ्रीका का विध्वंस कर देंगे।"

जून, १९५५ में एक ब्रिटिश शाही आयोग ने बड़े साहस के साथ केनिया, युगाण्डा और टांगानीका में बहुजातीय आधार पर भूमि-सुधार का समर्थन किया और सुझाव पेश किया कि भूमि को किसी वर्णभेद के आधार पर न देकर उसके सर्वोत्तम उपयोग के आधार पर दिया जाय। हमें उम्मीद है कि सरकार उचित कारवाई करेगी और गोरे प्रवासी अपना कटु विरोध कम करेंगे। अभी भी कुछ रचनात्मक कार्य के लिए समय है।

सहारा के दक्षिण में फ्रांसीसी अफ्रीका की स्थिति, एक ओर ब्रिटिश पश्चिमी अफ्रीका की और अधिकतर युगाण्डा की विवेकशील उदारता और दूसरी ओर ब्रिटिश केनिया और मध्यवर्ती संघ के बीच की है। इस विशाल फ्रांसीसी क्षेत्र में स्थिति कुछ ढीली है, क्योंकि ऐसा संघर्ष पैदा करने वाले योरोपीय जमीन्दारों की संख्या कम है, जिसके कारण हिन्दचीन की दुःखान्त घटना घटी और जिसने मोरक्को, ट्यूनीशिया और अल्जीरिया में फ्रांसीसी और अफ्रीकी सम्बंधों को विस्फोटक स्थिति तक पहुँचाने में सहायता की।

यह कोई नहीं कह सकता कि भूमध्यरेखा वाले अफ्रीका में फ्रांसीसियों ने कुछ करने का प्रयत्न नहीं किया। शिक्षा, स्वायत्त शासन और जन-स्वास्थ्य में उनका कार्य बढ़ रहा है। उदाहरण के लिए, कहा जाता ह कि पच्चीस वर्ष पूर्व, ६० प्रतिशत अफ्रीकी किसी हद तक निद्रारोग से पीड़ित थे। १९५५ तक फ्रांसीसी डाक्टरों ने इस रोग को घटाकर ३ प्रतिशत तक पहुँचा दिया है।

फ्रांसीसी शासक आशा कर रहे हैं कि फ्रांस के साथ उपनिवेशों का स्थिर और स्वतंत्र सम्बंध विकसित हो सकेगा। फ्रांस की दृढ़ नीति फ्रांसीसी संस्कृति में धीरे धीरे, किन्तु पूर्ण रूप से आत्मसात करने की रही है। जब कोई अफ्रीकी फ्रांसीसी शिक्षा और व्यावसायिक पद प्राप्त कर लेता है तो वह फ्रांसीसी समुद्रपार-विभाग का पूर्ण नागरिक हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसके साथ पूर्ण सामाजिक समानता का व्यवहार होता है।

तथापि यह अत्यन्त सन्देहास्पद है कि "पूर्ण नागरिकता" वस्तुतः सार्थक होगी और यह कोई भी नहीं कह सकता कि फ्रांस की इस नीति का भविष्य निरापद है। ट्यूनीशिया, मोरक्को, अल्जीरिया, मडागास्कर और फ्रान्सीसी भूमध्य रेखा वाले अफ्रीका के लोगों को यह नागरिकता का अधिकार धारा

सभा (Chamber of Deputies) में ४० प्रतिशत प्रतिनिधित्व प्रदान करेगा। बहुत ही कम लोग इस संभावना पर गम्भीरता से ध्यान देते हैं।

× × ×

बेलजियन कांगो में औपनिवेशिक प्रशासक अपने अनोखे प्रकार के अफ्रीकी औपनिवेशिक समाज का विकास करने का प्रयत्न कर रहे हैं। कांगो के आर्थिक साधन-स्त्रोत अनन्त प्रतीत होते हैं और बेलजियन सरकार उन्हें निपुणता और पूरी शक्ति के साथ विकसित करने में संलग्न है। शहरों में अफ्रीकियों को विकास के सुन्दर अवसर प्रदान किये गये हैं, जिसमें सभी प्रकार की टेक्निकल शिक्षा भी शामिल है। उनको स्वास्थ्य-रक्षा के लिए अच्छे उपचार और मकान भी प्राप्त हैं और शहरी इलाकों में एक प्रकार की आर्थिक सुरक्षा की भावना भी है।

यदि एक अफ्रीकी अच्छी शिक्षा प्राप्त कर लेता है और काफी आमदनी कर लेता है तो उसे अधिकांश सामाजिक सुविधाएँ भी प्राप्त हो जाती हैं, जो बेलजियनों को प्राप्त हैं। १९५५ में वह पद केवल कुछ ही सौ व्यक्तियों को प्रदान किया गया था, परन्तु कम से कम सैद्धान्तिक रूप से उनके लिए कोई सीमा नहीं ह, जो अन्ततोगत्वा इसके अधिकारी हो सकते हैं। अधिकारियों ने अफ्रीकियों को मताधिकार नहीं दिया है, परन्तु जातीय महत्ता की भावना को कम करने के लिए उन्होंने ८० हजार बेलजियनों को भी मत का अधिकार नहीं दिया है।

फिर भी, किसी चीज का अभाव स्पष्ट प्रतीत होता ह। ऐसे प्रयत्नों के सम्बंध में कोई भी यह कह सकता है, जैसा कि मैंने, लिओपोल्डविले के कुछ पत्रकारों के समक्ष १९५५ में कहा था, "युद्ध के पूर्व अफ्रीका में अधिकांश औपनिवेशिक सरकारें लोगों को कुछ करती थीं। अब आप लोगों के लिए कुछ कर रहे हैं। यह काफी अच्छी प्रगति है। परन्तु मैं नहीं समझता कि आप अफ्रीकियों से तब तक आवश्यक सहयोग स्थापित कर सकेंगे, जब तक आप उनके साथ-साथ काम न करने लग जायं। क्या गौरव, आत्मसम्मान और साझीदारी की भावना से कम किसी चीज पर वे समझौता करेंगे?"

सर्वत्र अफ्रीकी बाहरी संसार के प्रति अपनी बढ़ती हुई दिलचस्पी प्रदर्शित कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, शिक्षित अफ्रीकी एशिया की ओर बड़ी दिलचस्पी से देख रहे हैं और यह दिलचस्पी केवल बाण्डुंग जैसे औपचारिक सम्मेलनों तक ही सीमित नहीं है।

१९५५ के जाड़े की एक रात में गोल्डकोस्ट के मंत्रिमण्डल के कई अफ्रीकी सदस्यों और उनकी पत्नियों के साथ हम अक्रा में भारतीय कमिश्नर के घर में बैठे हुए तीन भारतीय फिल्में देख रहे थे। पहली तो टेलीविजन पर बनायी हुई एक लन्दन-पत्रकार-सम्मेलन की थी, जिसमें नेहरू तीन ब्रिटिश पत्रकारों के प्रश्नोंका उत्तर दे रहे थे। उनमें से एक ने नेहरू से पूछा, "क्या आप महसूस करते हैं कि भारत के प्रधानमंत्री की हैसियत से अफ्रीकी स्वतंत्रता के प्रश्न को बार-बार उठाकर आप अफ्रीका के मामले में सहायता कर रहे हैं?" नेहरू के चेहरे पर कुछ गम्भीरता आ गयी, उन्होंने कहा, "यथा-स्थिति बनाये रखने की आपकी अपील से मैं खामोश नहीं हो सकता। यदि मैं भारत का प्रधान मंत्री न होता तो मैं और भी अधिक जोर देकर बोलता।"

गोल्डकोस्ट मंत्रिमण्डल के सदस्यों ने एक दूसरे की ओर देखा और वे मुस्कराये। आखिर यहाँ एक एशियाई राष्ट्र का नेता मिला, जो हमारी गहनतम महत्वाकांक्षा—स्वराज्य—को समझता है।

एक दूसरी फिल्म दिखायी गयी। हिन्देशिया के प्रधानमंत्री अली शास्त्र अमितजयो नयी दिल्ली के हवाई अड्ड पर आ रहे थे। नेहरू आत्मविश्वास के साथ मुस्कराते हुए उनके स्वागतार्थ आगे बढ़े। बैण्ड बज उठे। भारतीय सेना की पूरी रेजिमेण्ट ने स्वागत में 'परेड' किया। अपनी स्थिति और शक्ति पर विश्वास रखने वाले नये भारत की इस झाँकी से अफ्रीकी दर्शक बड़े प्रभावित हुए। यहाँ उनके सम्मुख उनके द्वितीय प्रिय उद्देश्य—मानवीय गौरव और समानता का चित्र था।

तीसरी फिल्म शुरू हुई। दामोदर नदी, जो बिहार के उत्तरी राज्य में अपनी भयानक बाढ से गांवों को जलप्लावित करती हुई 'शोक की घाटी' में बहती चली जा रही थी, जैसा कि वह हजारों वर्षों से करती आ रही है। दृश्य बदला। विशाल बाँध बन रहा था। जब सतर्क और विश्वस्त भारतीय इञ्जीनियर इसके परिणामों को बाढ़-नियंत्रण, विद्युत-शक्ति और सिंचाई के लाभों के रूप में वर्णन कर रहा था, तब वह औपनिवेशिक जगत के तीसरे महान उद्देश्य—शीघ्रगामी आर्थिक विकास—का चित्रण कर रहा था।

जब प्रकाश हुआ तो कमरे में एक प्रकार का उत्साह भरा हुआ था। दूरवर्ती एशिया में एक नया राष्ट्र उपनिवेशवाद से छुटकारा प्राप्त कर अपनी जनता को लाभ पहुँचा रहा है। अफ्रीका ने हर्षध्वनि की। बाण्डुग-सम्मेलन के उपरान्त ये बन्धन निश्चय ही और घनिष्ठ होंगे।

आज अफ्रीका के सम्बंध में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि २० करोड़ लोग जागृत हो रहे हैं। एक लम्बी रात के बाद सुषुप्त की निद्रा भंग हो रही है और वह आँखें मलते हुए अपने पौरुषेय के लिए युवक की उत्सुकता और अधीर भावना से अँगड़ाई ले रहा है। इसका अर्थ है कि अफ्रीका अपनी विस्फोटात्मक समस्याओं, संघर्षों और बड़े-बड़े समाचारों से गूंजता रहेगा।

अफ्रीका की बढ़ती हुई क्रान्ति निर्माण की ओर जायेगी या विध्वंस की ओर, जसा की सभी क्रान्तियों में होता है, यह एक लाजवाब सवाल है। वस्तुतः दक्षिणी अमरीका और एशिया के पूर्व के क्रान्तिकारी महाद्वीपों में भी अभी इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर नहीं प्राप्त हुआ ह; क्योंकि, जैसा कि हम देखेंगे, औपनिवेशिक शासन पर विजय ही संघर्ष का अन्त नहीं है। जब तक एक निश्चित और गहरी सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति नहीं हो जाती और नागरिक स्वतंत्रता नहीं प्राप्त हो जाती, तब तक वापस जाने वाले औपनिवेशिक प्रशासकों द्वारा रिक्त स्थानों में केवल अराजकता फलेगी, जो साम्यवाद को अथवा स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के क्रान्तिकारी आदर्शों के भ्रष्ट रूपों को ही आमंत्रित करेगी।

यह अलिखित, किन्तु मौलिक प्रश्न बाण्डुंग-सम्मेलन के प्रतिनिधियों के सम्मुख सबसे महत्वपूर्ण था।

चौबीसवाँ प्रकरण

पूर्ण जनतांत्रिक क्रान्ति

रूस, चीन, भारत और औपनिवेशिक जगत की क्रान्तियों के व्यापक सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि 'क्रान्ति' शब्द विभिन्न लोगों के लिए विभिन्न अर्थ रखता है। पूर्ण जनतांत्रिक क्रान्ति पर विचार करने के पूर्व यह उचित होगा कि हम क्रान्ति का अर्थ समझ लें और यह भी जान लें कि हम किस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करते हैं।

अतीत काल में जो सबसे अधिक चमत्कारपूर्ण क्रान्तियाँ हुई, वे हिंसात्मक थीं और बहुतों के लिए क्रान्ति केवल संगठित घृणा और क्रूरता तथा मारकाट और फूँकफाँक का दूसरा नाम है। कुछ हिंसात्मक क्रान्तियाँ अत्याचार के विरुद्ध पवित्र विद्रोह थीं, जबकि दूसरी क्रान्तियाँ निरर्थक और ध्वंसात्मक थीं। संसार के उधर-उधर बिखरे हुए भागों में क्रान्तिकारी हिंसा की यह युगों प्राचीन प्रणाली आज भी कायम है।

दूसरे छोर पर गांधी जैसे पुरुष के शान्त, किन्तु व्यापक रूप से क्रान्तिकारी विचार हैं, जो कार्यरूप में परिणत किये जाने पर किसी भी समाज में शान्तिपूर्ण किन्तु पूर्ण और मौलिक परिवर्त्तन उत्पन्न करेंगे। राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करन के लिए कुछ स्थानों में क्रान्तियाँ इन दो अतियों के बीच विभिन्न मात्राओं में हिंसा के साथ हुई हैं।

ये भिन्नताएं क्रान्तिकारी वर्णपट में कुछ और भी संकेत करती हैं। जिस प्रकार क्रान्ति का हिंसात्मक होना आवश्यक नहीं है, उसी प्रकार उसका आकस्मिक होना भी आवश्यक नहीं है। क्रान्ति और विकास दोनों में परिवर्तन का भाव ह। प्रथम शब्द द्वितीय की अपेक्षा शीघ्रगामी परिवर्तन का अर्थ देनेवाला समझा जाता है। परन्तु परिवर्तन की गति ही दोनों के बीच 'एकमात्र' अथवा 'निर्णायक' विभाजक नहीं है। तुलनात्मक महत्व भी प्रासंगिक है।

इस प्रकार व्यापक उत्पादन के प्रारम्भ के साथ जो परिवर्तन हुए, वे इतने प्रभावशाली थे कि हमने सर्वदा उनको 'औद्योगिक क्रान्ति' ही कहा है, यद्यपि आर्थिक विकास के क्रम में एक शताब्दी से भी अधिक लग गया। चौथी शताब्दी में ईसाई धर्म, सातवीं में इस्लाम धर्म, १६ वीं में प्रोटेस्टैंट धर्म की धार्मिक क्रान्तियों की बात हम उनकी सफलता की गति के कारण नहीं, बल्कि उस

समय के उनके महत्व के कारण करते हैं। अनेक ऐतिहासिक परिवर्तन इस अर्थ में विकासवादी समझे जाते हैं, कि उनमें अपेक्षाकृत हिंसा की आकस्मिकता और सनसनी का अभाव था। फिर भी उनके प्रभाव और प्रहार इतने ध्वंसात्मक और क्रान्तिकारी रहे हैं कि उनका यह व्यापक और क्रियात्मक वर्णन उचित ही है।

इस दृष्टि से सभी राष्ट्रों और लोगों के लिए प्राप्ति के सामान्य स्तर के रूप में "मानवीय अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा" के समर्थन में वाण्डुंग के अधिकांश प्रतिनिधियों ने अपने सम्मुख एक क्रान्तिकारी लक्ष्य रखा था, जो केवल विदेशियों को भगा देने की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा और कठिन कार्य था।

उनमें से अधिकांश को यह भली भाँति ज्ञात था कि जिस उपनिवेशवाद के विरुद्ध उन्होंने इतने दिनों तक संघर्ष किया है और जो अब जागरणशील विश्व के सूर्य की तपन में गलता जा रहा है, वह उनकी वास्तविक समस्याओं का लघु और बाह्य रूप मात्र है। संयुक्त राष्ट्र संघ का 'अधिकार-विधेयक' पूर्ण राजनीतिक प्रजातंत्र, आर्थिक कल्याण, सभी के लिए अवसरों की समानता का मापदण्ड प्रस्तुत करता है—निस्सन्देह ये ऊँचे मापदण्ड हैं, उन महाद्वीपों के लिए जहां भूख, दरिद्रता, रोग और अज्ञान का राज है।

फिलीपाइन्स के कार्लोस रोमुलो ने प्रश्न किया, "जब राजधानी में राष्ट्रीय ध्वज फहराया जाता है, विदेशी शासक चला जाता है और सत्ता हमारे नेताओं के हाथ आ जाती है, तो क्या स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है? क्या राष्ट्रीय स्वतंत्रता का यही अर्थ है कि सत्ता कुछ विदेशियों के हाथ से कुछ स्वदेशियों के हाथ में आ जाय?"

वाण्डुग में सर्वसम्मति से उत्तर 'नहीं' का था। चूँकि बहुत से प्रतिनिधि ऐसी ही अल्पजनशासित स्वदेशी सत्ता का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, इसलिए उनमें से कुछ लोगों ने निश्चित रूप से आधे दिल से ही 'नहीं' कहा होगा। फिर भी, वाण्डुंग-प्रस्तावों से चार प्रजातंत्रात्मक उद्देश्य प्रकट हुए, जो न केवल अटलांटिक राष्ट्रों की जनता को पुनः विश्वास प्रदान करते हैं, बल्कि उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि वे उनको अपने समाज के आदर्शों पर पुनर्विचार के लिए चुनौती देते हैं।

१. विदेशी प्रभावों से मुक्त प्रजातंत्रात्मक स्वशासन।

२. जाति, धर्म अथवा वर्णभेद के बिना पूर्ण मानव-सम्मान की स्थापना।

३. द्रुतगामी आर्थिक विकास, जिसमें अधिक से अधिक लोग भाग ले सकें।

४. युद्ध की समाप्ति और सद्भावना के विस्तारवान क्षेत्रों का निर्माण।

यदि इन लक्ष्यों को एक साथ मिला दिया जाय तो पूर्ण जनतांत्रिक क्रान्ति से कम न होगा। क्या ऐसी क्रान्ति इतिहास में कभी संभव हुई? यदि हम अपनी जाँच-पड़ताल एक पीढ़ी में एक ही देश तक सीमित रखें तो उत्तर केवल 'नहीं' होगा।

फिर भी, एक अवधि में कतिपय राष्ट्र अन्यों की अपेक्षा पूर्ण प्रजातंत्रात्मक क्रान्ति के काफी निकट पहुँच गये हैं। जैसा कि हम अगले भाग में देखेंगे, अमरीकी क्रान्ति ने इनमें से तीन उद्देश्यों को बड़ी मात्रा में प्राप्त कर लिया है। उसने ब्रिटिश उपनिवेशवाद को उखाड़ फेंका, अधिकारों के विधेयक के साथ प्रजातंत्रात्मक सरकार की स्थापना की और धीरे-धीरे ऐसी शक्तियों को पैदा किया, जिन्होंने निर्जन प्रदेश को उद्योगवाद के केन्द्र के रूप में परिणत कर दिया और मोटे तौर पर अवसर की समानता का एक ढाँचा प्रदान किया। गृह-युद्ध के महँगे मूल्य पर, उसने अड़तालीस राज्यों में, जो प्रतियोगी प्रभु-सत्ताओं में परिवर्तित हो गये होते, एक स्थायी शान्ति का क्षेत्र बनाने में सफलता प्राप्त की।

जिसे 'अमरीकी स्वप्न' कहा गया है, उसके स्थायी क्रान्तिकारी अभिप्राय, अमरीकी अनुभवों की क्रान्तिकारी सफलताओं की भाँति ही महत्वपूर्ण रहे हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से अमरीकियों की प्रत्येक पीढ़ी 'यथास्थिति' के बारे में संदिग्ध रही है। अमरीकियों ने उन नेताओं का गहरा सम्मान किया है, जो जीवन के प्रत्येक पक्ष में अधिकाधिक लोकतांत्रिक अवसरों के लिए अमरीकी क्रान्ति के उदार प्रतिपादक रहे हैं।

अधिकांश एशिया और अफ्रीकावासियों को भारत का उदाहरण अवश्य ही अधिक उपयुक्त प्रतीत हो सकता है। गांधी ने कहा था, "केवल गोरे साहबों के स्थान पर भूरे साहबों को रख देने का अर्थ है, शेर की जगह पर शेर के स्वभाव को स्थान देना। ब्रिटिश राज के स्थान पर स्वायत्त शासन अर्थात् 'स्वराज' होना चाहिए, जिसमें "जातिहीन और वर्गहीन समाज" की आदर्श सामाजिक व्यवस्था हो।"

ग्राम-सुधार उनकी उत्कट अभिलाषा थी। विदेशी शासक के विरुद्ध अथवा अपने ही लोगों के विरुद्ध संघर्ष में अहिंसा ही उनका साधन था, यहां तक कि

प्रजातंत्री भारत सरकार के विरुद्ध भी उन्होंने इसीकी धमकी दी थी। उनका आग्रह था कि इन संग्रामों में प्रयुक्त साधन लोकतंत्र, अवसर की समानता और शान्ति के उद्देश्यों के अनुकूल होने चाहिए।

जैसा कि हमने देखा है, गाँधीजी अपने साथी क्रान्तिकारियों से गरीवों में मिलजुल कर रहने, गाँवों की रचनात्मक सेवाओं में लग जाने, किसी भी अन्याय के विरुद्ध सत्ताधारी होने के पूर्व भी व्यक्तिगत दायित्व स्वीकार कर और स्वर्णयुग की प्रतीक्षा में न वठ उसे दूर करने और सदा सत्य और अहिंसाके प्रति निष्ठावान रहने के लिए आग्रह किया करते थे। यह स्पष्ट है कि गांधी ने जिस पूर्ण क्रान्ति की कल्पना की थी, उसे पूरा करने में भारत सफल नहीं हुआ ह; परन्तु इसका प्राणवान संविधान, इसके महान् स्वतंत्र चुनाव और उसकी ग्राममूलक पंचवर्षीय योजना, ये सभी तथ्य उस क्रान्ति की मौलिक शक्ति को सिद्ध करते हैं, जो इन सभी लक्ष्यों को एक संगठित कार्यक्रम में समन्वित करने का प्रयास करती है।

जव क्रान्ति इन उद्देश्यों से वहुत कम प्राप्त करके रुक जाती है, तव क्या होता है, यह वाण्डुंग के उन अनेक प्रतिनिधियों को स्पष्टतः ज्ञात रहा होगा जो विश्व के विभिन्न भागों में दर्दनाक ढंग से विखरी हुई इस प्रकार की अनेक असफल क्रान्तियों से परिचित थे। ऐसी अपूर्ण क्रान्तियों के खतरों का प्रमाण है लेटिन अमरीका, जो हमारी दक्षिणी सीमा पर है।

× × ×

यद्यपि दक्षिणी अमरीका को वाण्डुंग में नहीं वुलाया गया था, तथापि इसका अधिकांश प्रारम्भिक इतिहास वहुत ही शिक्षाप्रद है। दक्षिणी अमरीका के "मुक्तिदाता" साइमन वोलीवर १७८३ में वेनेजुला के एक कुलीन परिवार में पैदा हुए थे और उनको योरोप में शिक्षा प्राप्त हुई थी। वोलीवर ने पेरिस में फ्रांसीसी क्रान्ति के कुछ अन्तिम दृश्यों को अपनी आँखों देखा था। उन्होंने क्रान्ति के अधःपतन और नैपोलियन के उत्थान को भी देखा था।

१८१० में संयुक्त राज्य अमरीका होते हुए वेनेजुला लौटने पर, उन्होंने शीघ्र ही स्पेन के शासन से मुक्त करने के कर्तव्य में अपने को तल्लीन कर दिया और सशस्त्र विद्रोह में भाग लिया। १८११ की चौथी जुलाई को दक्षिणी अमरीका के विद्रोहियों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी।

कुछ समय के लिए परास्त और निर्वासित वोलीवर ने १८१२ में औपनिवेशिक स्पेन के विरुद्ध "मृत्यु पर्यन्त युद्ध" का आदेश जारी कर दिया। अपनी

छोटी-सी सेना का नेतृत्व करते हुए उन्होंने एंडीज (Andes) पर्वतों को पार किया और वेनेजुला होते हुए १८१३ में कारकस में प्रवेश किया। उन्होंने कहा, "जहाँ एक बकरी जा सकती है, वहाँ एक सेना भी जा सकती है।"

उन्होंने न्यू ग्रनाडा में क्रान्तिकारी कॉंग्रेस की एक बैठक बुलायी और १८१४ में दो हजार आदमियों के साथ बोगोटा पर कब्जा कर लिया। दीर्घकाल तक गुरिल्ला-युद्ध करने के बाद १८२० तक उन्होंने पूर्णरूपेण वेनजुला, न्यू ग्रनाडा, क्विटो (आज का इक्वेडर) पर अधिकार कर लिया, जिसे उन्होंने कोलम्बिया गणराज्य के नाम से संगठित कर दिया और स्वयं उसके राष्ट्रपति बन गये।

दो वर्षों में ही वे अर्जेण्टाइनावासी सान मार्टिन से मिल गये। उसने लगभग उन्हीं साधनों से चिली को स्वतंत्र किया और दोनों ने मिल कर स्पेनवालों को पेरू से खदेड़ बाहर किया। १८२५ में जब 'अपर पेरू' स्वतंत्र राज्य बना, तब उसका नाम बोलीवर रखा गया और बोलीवर को उसका "स्थायी संरक्षक" घोषित किया गया।

बोलीवर, उनके समकालीन सान मार्टिन और ओ'हिगिन्स द्वारा उत्पन्न इस संघर्षशील नयी क्रान्तिकारी भावना ने अवशिष्ट दक्षिणी और मध्य अमेरिका के अधिकांश भाग से योरोपीय शासन को उखाड़ फेंकने की प्रेरणा दी। वर्षों के युद्ध के बाद १८२१ में मैक्सिको ने तीन शताब्दियों के स्पेनिश प्रभुत्व का अन्त कर दिया।

यद्यपि इस प्रकार विदेशी शासन से छुटकारा मिला तथापि जिस प्रकार स्वतंत्रता के बाद संयुक्त राज्य अमरीका और भारत में बहुत हद तक निर्माणात्मक तथा रचनात्मक सामाजिक शक्तियाँ क्रियाशील हुई, उसी प्रकार यहाँ न हुआ। स्वयं बोलीवर के प्रदेश में और उनके जीवन-काल में ही प्राचीन सामन्ती व्यवस्था में संशोधन करने के उनके विनम्र प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए।

तत्कालीन घटनाओं को देखकर बोलीवर ने अपने एक मित्र को लिखा, "मैं वृद्ध हूँ, अपमानित तथा निराश हूँ और वेतन भी बहुत कम पाता हूँ। मैंने क्रान्ति का अनुमोदन कभी नहीं किया और अन्त में मैंने स्पेन के विरुद्ध अपनी क्रान्ति के लिए दुःख भी प्रकट किया।"

विदेशी शासकों के स्थान पर स्थानीय शासकों के शासन के अन्तर्गत जनता का सामन्ती शोषण चलता ही रहा। अपनी मृत्यु के कुछ ही दिनों पूर्व बोलीवर ने निराशापूर्ण व्यंग के साथ कहा था, "इतिहास में तीन महान् मूर्ख

हुए—जीजस, डोन क्विजोट और मैं...। क्रान्ति का कार्य समुद्र में हल चलाने जैसा है।" इस प्रकार अपने जीवन-काल में ही बोलीवर की सफलता विफलता में परिणत हो गयी।

लेटिन अमरीका में पीढ़ियों तक सत्ता प्राप्ति के उद्देश्य से भयानक विप्लव होते रहे, जिनमें से अधिकांश सैनिक विद्रोह थे। आकस्मिक सशस्त्र विप्लव, हत्याएं तथा गृहयुद्ध ही लोगों के लिए शासन-परिवर्तन के एक मात्र साधन प्रतीत होते थे।

१८२१ और १८७६ में डियाज की तानाशाही के जन्म के बीच, मेक्सिको में दो सम्राट, दो रीजेन्सियाँ और कई तानाशाह हुए और अनेक कामचलाऊ शासन-परिषदें बनीं और कुल, ७४ से कम सरकारें नहीं बनीं। इन आन्तरिक फूटों के बावजूद स्पेनिश शासन को पुनः स्थापित करने के सारे प्रयत्न असफल रहे। जबकि अमरीका गृह-युद्ध में उलझा हुआ था, फ्रान्स के पिट्ठू सम्राट मक्सिमिलन ने, जो नैपोलियन तृतीय का आश्रित था, योरोप के साथ पुनः औपनवेशिक सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किये, परन्तु अन्त में उसका स्वयं भीषण अन्त हुआ।

मैक्सिको और यूरुगुए जैसे कुछ दक्षिण अमरीकी देशों में प्रबल प्रजातंत्रात्मक आधार पर स्थिर शासनों की स्थापना हुई। संयुक्त राज्य अमरीका की सरकारी तथा गैर-सरकारी सहायता से अनेक लेटिन अमरीकी देशों में तेजी से आर्थिक विकास हो रहे हैं।

तथापि लेटिन अमरीका के अधिकांश भागों में लोकतांत्रिक विकास पीढ़ियों पीछे है, जिसके लिए अभी भी पर्याप्त आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रमाण हैं।

१९५४ में, एक ही वर्ष में निकारागुआ और कोस्टा रीका के बीच छोटे पैमान पर युद्ध हुआ। इक्वेडर, पेरू, पेरागुए और बोलीविया ने क्रान्तिकारी प्रयत्नों के दमन की घोषणा कर दी। षड़यंत्रों और संकटों के वातावरण में ब्राजील के राष्ट्रपति ने आत्महत्या कर ली। पनामा के राष्ट्रपति की हत्या कर दी गयी और उप-राष्ट्रपति पर षड्यंत्र का अभियोग लगाया गया।

स्वतंत्र राष्ट्र ग्वाटेमाला और ब्रिटिश गाइना के उपनिवेश में साम्यवादी शासन थे। प्रथम शासन को एक सैनिक विद्रोह ने उखाड़ फेंका, जिसके सम्बंध में अधिकांश दक्षिणी अमरीकी राष्ट्रों का मत था कि संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा करवाया गया था और दूसरा, लन्दन द्वारा ब्रिटिश गाइना

में हाल ही में लागू किये गये नये संविधान को वापस लेकर, दबा दिया गया।

अर्जेण्टाइना के पेरोनवाद (पेरोनिज्म) के इतिहास में भी सामाजिक क्रान्ति के लिए कच्ची सामग्री उपलब्ध है। यद्यपि पेरोन और एविटा ने "वस्त्र-हीनों" के हित और सबके लिए सामाजिक न्याय के संयुक्त आधार पर अपनी शक्ति का निर्माण किया था, तथापि जो साधन अपनाये गये थे, वे १९३० के योरोपीय फासिज्म की याद दिलाते हैं।

बाण्डुंग में प्रचारित जनतांत्रिक, आर्थिक और सामाजिक कार्रवाइयों की सार्थकता किसी भी ऐसे पर्यवेक्षक को स्पष्ट हो जायगी, जो आधुनिक दक्षिणी अमरीकी नगरों के बाहर जायगा, जहाँ अधिकांश किसानों का जीवन-स्तर भारत के निम्नतम स्तर से कुछ ही ऊँचा है।

इस अस्थिरता का एक दूसरा कारण यह है कि अधिकांश लेटिन अमरीकी अर्थव्यवस्था निर्यात-योग्य नकदी फसलों, काफी या तेल जैसे खनिज पदार्थों पर निर्भर करती है। यदि विश्व के बाजारों में प्रमुख वस्तुओं का भाव गिर जाता है, तो हजारों परिवारों के जीवन में विपत्ति आ जाती है, क्योंकि उनकी आय का साधन वही वस्तु है।

इसी कठिनाई को दूर करने के लिए बाण्डुंग-सम्मेलन ने यह सिफारिश की थी कि एशिया और अफ्रीका के देशों को चाहिए कि वे अपने निर्यात के व्यापार को बढ़ाने के लिए, जहाँ कहीं आर्थिक दृष्टि से व्यावहारिक हो, निर्यात के पूर्व कच्चे माल को पक्के माल में परिणत करने का प्रयत्न करें।

× × ×

यदि सामन्ती अवशेषों तथा जनता के हितार्थ व्यापक आर्थिक विकास की योजना के अभाव ने लेटिन अमरीका की उपनिवेश-विरोधी क्रान्तियों को प्रभावहीन बना दिया तो यही बात मध्यपूर्व के सम्बंध में भी कही जा सकती है। वहाँ भी विदेशी शासन से औपचारिक मुक्ति का अर्थ बहुसंख्यक जनता के लिए और अधिक स्वतंत्रता कभी नहीं रहा। जहाँ पर स्थानीय अत्याचारियों ने बलपूर्वक अपना शासन स्थापित नहीं किया, वहाँ भी लोकतांत्रिक प्रक्रिया का कार्य प्रायः एक छोटे और विशेष सुविधाप्राप्त तथा शिक्षित अल्पसंख्यकों तक ही सीमित है।

६ करोड़ अरबों का स्वदेश और ३६ करोड़ मुसलमानों का आध्यात्मिक केन्द्र, अरब जगत, अपने ही देशवासियों के लिए अत्यन्त दरिद्रावस्था में है। प्राचीन तथा वैभवशाली इतिहास के इस प्रदेश के ३५ लाख वर्ग मील क्षेत्र

में से ९० प्रतिशत रेगिस्तान ह। समस्त अरब जगत में उतनी ही भूमि जोती-बोयी जाती है, जितनी इओवा राज्य में।

भूमि के अतिरिक्त, इस क्षेत्रका एकमात्र साधनस्रोत तेल है; परन्तु इस महत्वपूर्ण पदार्थ के विशाल साधनस्रोतों और अन्तरमहाद्वीपीय जल, स्थल और वायु मार्गों पर फले हुए अरब जगत की महत्वपूर्ण औद्योगिक स्थिति ने मिल कर इस क्षेत्र को विश्व-कूटनीति में अत्यन्त महत्वपूर्ण बना दिया है। १९३९ तक मध्य अरब के मरुस्थल और यमन के पर्वत ही योरोपीय शक्तियों द्वारा 'अरक्षित' थे।

पीढ़ियों से मध्यपूर्वीय नवयुवकों के हृदयों में अमरीकियों के लिए विशेष स्थान रहा है। विल्सन और रूजवेल्ठ ने उन्हें प्रोत्साहन प्रदान किया। बेरुत में अमरीकी विश्वविद्यालय ने एक बड़ी संख्या में मध्यपूर्वीय नेताओं को शिक्षा-प्रदान की। फिर भी आज अनेक कारणों से अमरीकी प्रतिष्ठा गिर गयी है।

मध्यपूर्व के अधिकांश भाग में आज भी अरब-समाज में कुछ हजार अत्यन्त सम्पत्तिशाली जमींदार तथा व्यापारी हैं; मुट्ठीभर मध्यमवर्गीय पेशेवर लोग और टेक्नीशियन हैं और विशाल जनसमूह भूमिहीन या लगभग भूमिहीन किसान हैं। जनता और नेताओं के बीच की खाई इतनी गहरी है कि उसे पाटा नहीं जा सकता और यह खाई असह्य होती जा रही है। १९५२ में मिस्र में सुधारों के प्रारम्भ के पूर्व, देशके बड़े-बड़े जमीन्दारों के पास, जिनकी संख्या अन्य मालिकों के एक प्रतिशत से भी कम थी, ९४ प्रतिशत छोटे जमीनदारों से भी अधिक भूमि थी। इस प्रणाली ने एक ओर उच्चवर्ग में अविश्वसनीय भोगविलास और दूसरी ओर निम्न वर्ग में दारुण दुःख की सृष्टि की।

बाण्डुंग में मिस्र का प्रतिनिधित्व उसके प्रधानमंत्री नासिर ने स्वयं किया। १९५२ में सैनिक गुट के, जिसन पूर्ण लोकतांत्रिक क्रान्ति का वादा किया, सत्तारूढ़ होने के समय से ही मिस्र एक अर्धविकसित भूमि में राजनीतिक प्रजातंत्र तथा सामन्तवाद द्वारा प्रस्तुत धर्मसंकट का सामना कर रहा है।

प्रधान मंत्री नासिर और क्रान्ति कमान परिषद (Revolution Command Council) के उनके अन्य साथी सच्चाई से यह विश्वास करते जान पड़ते हैं कि चुनाव लड़ने के लिए राजनीतिक दलों की स्वतंत्रता से शीघ्र ही एक संसद का निर्माण होगा, जिसमें विशेप 'स्वार्थ' सीटें खरीद कर पहुँच जायंगे और मिस्र की साधारण जनता के हितों की पुनः उपेक्षा की जायगी।

आर्थिक सुधार का प्रश्न इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि, मुझे विश्वास है

कि ये निष्ठावान जनतांत्रिक प्रवृत्ति वाले शासक अपनी नींव सुदृढ़ बनाने के लिए उदार स्वेच्छाचारी शासन की अवधिपर निर्भर करते हैं। १८ मई, १९५५ को काहरा में प्रधानमंत्री नासिर ने घोषित किया, "हम उस संसद की स्थापना में मिस्र का कोई लाभ नहीं देखते, जहाँ पर बड़े-बड़े जमींदारों के स्वार्थों के हितैषी अथवा इराक, लन्दन, वाशिंगटन या मास्को के स्वार्थों के रक्षक मिस्रियों के रूप में भेष बदल कर बठेंगे। पहले की भाँति हम स्वतंत्रता की पुनः स्थापना इसलिए नहीं करेंगे कि लोग स्वार्थ-सिद्धि के लिए इसका दुरुपयोग करें।"

अतएव जब तक शिक्षा-प्रणाली का विस्तार नहीं हो जाता, एक नया असैनिक (नागरिक) नेतृत्व तैयार नहीं हो जाता, भूमि-सुधारों के द्वारा छोटे-छोटे स्वतंत्र किसानों का एक वर्ग विकसित नहीं हो जाता और आर्थिक विकास के द्वारा जीवन-स्तर ऊँचा नहीं हो जाता, तब तक "ज्ञातव्य भविष्य" के लिए मिस्र अपनी स्वतंत्रता को कुछ विश्वासपात्रों के हाथों में ही रखना चाहता है।

"विश्वासपात्रों के हाथों में" स्वतंत्रता की विचारधारा खतरनाक है, चाहे कितने ही ऊँचे और विचारवान इसके संरक्षक क्यों न हों। १९२० के तुर्की के अतातुर्क की भाँति नासिर इसको निर्मूल करने के लिए जिन अलोकतांत्रिक तरीकों का उपयोग करना आवश्यक समझते हैं, वह अवशिष्ट सामन्ती राजनीतिक शक्ति का परिचायक है। एक बार विफल क्रान्ति को आवश्यक जनतांत्रिक सुधारों के द्वारा फिर से संचालित करना किसी भी राजनीति सत्ता के लिए निश्चय ही अत्यन्त कष्टसाध्य कार्य है।

इस विषय में भारत में राजनीतिज्ञता का कार्य मध्यपूर्वीय देशों की अपेक्षा सरल रहा ह और यह इस उप-महाद्वीप में दीर्घकालिक ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अनेक अवगुणों के विरुद्ध एक महान गुण हो सकता है। प्रारम्भ में ब्रिटिश कानून और बाद में भारत का संसदीय संस्थानों तथा नागरिक सेवा में अधिकाधिक भाग लेना भारतीय स्वतंत्रता के पूर्व उत्तरदायित्वपूर्ण स्वायत्त शासन के लिए प्रशिक्षण था।

पाकिस्तान में भी योग्य तथा लोकतांत्रिक प्रवृत्तिवाले लोगों का एक दल ऐसी नींव डालने के लिए प्रयत्नशील है, जिस पर एक स्वतंत्र समाज के विकास तथा उसे कायम रख सकने का भरोसा किया जा सके। रूढ़िवादी और नरम विचारों के मुसलमानों में फूट, पश्चिमी पाकिस्तान का प्रारम्भिक विभाजन, देश की दो स्पष्ट भागों में पृथकता, विभाजन के द्वारा क्षेत्र के अधिकांश

भूतपूर्व औद्योगिक उत्पादन की हानि और प्रशिक्षित 'सिविल सर्वेण्टों' तथा लोकप्रिय राष्ट्रीय नेताओं के अभाव ने उनके कार्य को और अधिक कठिन वनाने तथा लोकतांत्रिक प्रक्रिया को धीमा वनाने में सहायता की है।

यह विचित्र वात ह कि सामाजिक समानता की प्रणाली की रचना में और एशिया की भूमि पर प्रजातंत्रात्मक आर्थिक विकास में सव से वड़ा प्रसार मध्य पूर्व में–किन्तु अरव जगत की सीमाओं के वाहर–एक छोटे से प्रवल देश इसराइल में हो रहा है, जो इतनी भयंकर अरव-शत्रुता का लक्ष्य वना हुआ है। डायसपोरा के यहूदी नेताओं द्वारा मरुस्थल से निर्मित और अनन्त पश्चिमी पूँजी और सद्भावना द्वारा विकसित इस राज्य ने पूर्ण क्रान्ति प्राप्त कर ली होती, यदि एक भयानक तथ्य–शान्ति–का अभाव न होता, जिसे राज्य को जन्म देने वाली वटनाएँ ही दूर रख रही हैं।

× × ×

एशिया के दूसरे छोर पर अपूर्ण क्रान्ति की पहेली का एक और दृष्टान्त है। वाण्डुंग-सम्मेलन में जापान ही एक ऐसा देश था जो स्पष्टतः अर्वविकसित न था। अमरीकी सेना द्वारा परास्त होने के अभी कुछ ही वर्ष पहले इस शक्तिशाली औद्योगिक राष्ट्र ने चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया में लगभग ५० करोड़ जनता पर अपने ढंग के उपनिवेशवाद की स्थापना की थी।

जापान की शक्ति और कुशलता भविष्य में एक लम्वे अर्से तक, और आशा है कि इस वार अधिक शान्तिपूर्ण प्रसंग में, एशिया और संसार पर गहरा प्रभाव डालती रहेगी। आशा है कि भविष्य में जापान व्यापक अर्थ में भारत के साथ एशियाई असाम्यवादी शक्ति का प्रवलतम स्रोत सिद्ध होगा।

पुर्तगालियों ने १५४२ में जापान को "खोज निकाला"। १५४९ में सेंट फ्रान्सिस जेवियर्स के नेतृत्व में जेसुइट धर्म-प्रचारक वहाँ पहुँचे और शीघ्र ही डचों, स्पेनिशों और अंग्रेजों ने अपने व्यापारिक केन्द्र खोल दिये। तथापि १६७३ तक विदेशी-विरोवी जापानी राष्ट्रवाद की लहर ने सव को खदेड़ वाहर किया।

१८५३ में कमोडर पैरी के अपने छोटे अमरीकी जहाजी वेड़े के साथ वहाँ पहुँचने के पूर्व लगभग दो सौ वर्षों तक जापान पश्चिमी लोगों की पहुँच के वाहर ही रहा। अगली दो पीढ़ियों में अमरीकी और ब्रिटिश विचारों पर आधारित आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तन इतनी तीव्र गति से हुए कि इतिहास में उसकी तुलना नहीं मिलती।

१८६७ में जब मुत्सु हितो (Mutsu Hito) सम्राट हुए तो उन्होंने 'मेइजी' की उपाधि ग्रहण की, जिसका अर्थ 'प्रगतिशील शासन' होता है और राजनीतिक सुधारकों तथा युवक प्रशासकों की एक टोली के प्रबल समर्थन से उन्होंने जापान के रूप को शीघ्र ही बदल दिया। १८८१ में राष्ट्रीय संसद की स्थापना हुई, और १८८५ में योरोपीय पद्धति पर मंत्रिमण्डल की नियुक्ति हुई।

आर्थिक विकास भी उतना ही द्रुतगामी था। जापानी इंजीनियर, वैज्ञानिक तथा व्यवस्थापक प्रशिक्षण के लिए योरोप और अमरीका गये और एक औद्योगिक राष्ट्र के निर्माण के लिए वापस आये। सदा की भाँति, तीव्र आर्थिक विकास का भार किसानों पर पड़ा, जिन्होंने बड़ी कठिनाई से नगरों में बढ़ती हुई मजदूरों की आबादी को मामूली मुआवजे पर खाद्यान्न प्रदान करने के लिए भारी दबाव के अन्दर कार्य किया।

परन्तु शान्ति के स्वभाव उदीयमान राष्ट्रीयता के इस चित्र के अंग नहीं थे। १८९५ में जापान ने विदेशी अभियानों की ओर ध्यान दिया। चीन के विरुद्ध उसने युद्ध की घोषणा कर दी और फारमोसा के नये प्रदेश को जीत लिया। १९०२ में जापान ने ब्रिटेन के साथ एक सैनिक सन्धि की और चार वर्ष बाद जारशाही रूस की प्रबल शक्ति को परास्त कर उसने संसार को चकित और एशिया को प्रसन्न कर दिया। १९१० में उसने कोरिया को आत्मसात कर लिया। ब्रिटेन के साथ मिलकर जापान की सैनिक शक्ति ने अगली पीढ़ी तक के लिए एशिया में रूसी विस्तार को निरुत्साहित किया और इस प्रकार लन्दन को एशिया-सम्बन्धी मामलों के भार से मुक्त रखा।

परन्तु जापान ने और अधिक विस्तार प्रारम्भ कर दिया। १९३१ में मन्चूरिया में अल्पकालिक चीनी युद्ध प्रारम्भ हुआ और १९३७ में पेकिंग में फिर शुरू हुआ। इनमें जापान आंशिक रूप से ही सफल हुआ था कि उसने दक्षिण-पूर्व में अभियान शुरू कर दिया और साथ ही पर्लहार्बर पर भी आक्रमण कर दिया। १९४५ में जब जापानी नेताओं ने अन्त में "मिसौरी" युद्धपोत पर जनरल मैकआर्थर के समक्ष समर्पण किया, तब जापान का भविष्य अन्धकारमय हो गया।

आर्थिक विकास और युद्ध पर ध्यान केन्द्रित होने के कारण तथा लोकप्रिय व्यापक आधार के निर्माणार्थ मौलिक, सामाजिक और आर्थिक सुधारों में असफलता के कारण, जापान में प्रजातंत्र की जड़ें जम नहीं पायीं। यह विश्वास

कर कि जापानी समाज में पूर्ण सुधार की आवश्यकता है, हमने प्रारम्भ से ही जापान के पुनर्निर्माण के लिए मौलिक प्रयत्नों में अपने अधिकारों का प्रयोग किया। हमने विशाल व्यापारिक एकाधिकारों को हटाने के प्रयत्न किये, बचे हुए धनाढ्यों पर भारी कर लगा दिये और जमीन जोतने वाले छोटे-छोटे किसानों को दे दी तथा महिलाओं को बराबरी के अधिकार प्रदान किये।

परन्तु यह तो ऐसी क्रान्ति थी, जो विदेशी शासकों द्वारा लादी गयी एक प्रकार से उदार उपनिवेशवाद की प्रतिक्रिया थी। यद्यपि मेकआर्थर के शासन के बहुत से कार्य अनुचित थे, तथापि उसमें एशिया के सर्वोत्तम भूमि-सुधार का कार्यक्रम भी था। यह मानव-इतिहास का अत्यन्त क्रान्तिकारी कार्यक्रम था, जिसने जापान के प्रजातंत्रात्मक जीवन में नवीन आशा का संचार कर दिया। यदि क्षुब्ध किसान अभी भी जमीन्दारों को भारी कर देते रहते, तो नगरों के विक्षुब्ध मजदूरों और छात्रों के साथ उनके अनिवार्य राजनीतिक गठबन्धन ने जापानी राजनीति में उथलपुथल मचा दी होती।

हमारे आग्रह पर जापान के नये संविधान ने युद्ध का त्याग कर दिया और उसने कभी भी सशस्त्र सेना न रखना स्वीकार कर लिया। तदुपरान्त पुनःशस्त्रीकरण के प्रति जापानियों की अनिच्छा न केवल अणु-युद्ध की भयानकता और पर्याप्त सेना रखने में भारी व्यय के ही परिणामस्वरूप थी, अपितु कुछ ही समय पहले की हमारी अधिकार-नीति द्वारा, उनके लिए युद्ध के प्रति निर्धारित आदर्शवादी नवीन दृष्टिकोण को, त्याग देने के स्वयं हमारे आग्रह के कारण उत्पन्न, भ्रम के फलस्वरूप थी।

इस वैधानिक प्रावधान को स्वीकार करने के उसके समझौते का उल्लेख करते हुए सेनापति मेकआर्थर ने प्रधानमंत्री शिडेहारा के कहे हुए शब्दों का इस प्रकार उद्धरण दिया है; "दुनिया हम पर हँसेगी और अव्यावहारिक स्वप्न-द्रष्टा के रूप में हमारा मजाक उड़ायेगी, परन्तु आज से १०० वर्ष उपरान्त हमें 'अवतारी पुरुष' कहा जायगा।" व्यापक भूमि-सुधारों के साथ भी सेना के 'लोकतंत्रीकरण' के द्वारा प्रजातंत्र की स्थापना की जा सकती है या नहीं, यह एक खुला प्रश्न है। फिर भी, एक बात निश्चित है और वह है उस खतरे की, जो ठोस प्रजातंत्र के आधार के निर्माण के लिए समानान्तर प्रयत्न के बिना आर्थिक सुधार और विकास के कार्यान्वयन में सन्निहित है।

जापान और जर्मनी, प्रजातंत्रात्मक संस्थाओं से रहित द्रुतगामी औद्योगीकरण की स्थिरता और विश्व-शान्ति के परिणामों के दो नये असाम्यवादी

उदाहरण हैं। इन दोनों ही देशों ने एक ऐसी आर्थिक शक्ति संचित कर ली, जिसने संसार में उथलपुथल मचा दी और उन परम्पराओं और संस्थाओं का विकास नहीं किया, जो उस शक्ति के संचालन पर नियंत्रण रखती हैं।

जब जर्मनी और जापान में औद्योगीकरण की प्रक्रिया चल रही थी, योरोप आत्मतुष्टि के साथ उसे देखता रहा। तथापि ये ही दो राष्ट्र द्वितीय विश्व-युद्ध में अटलांटिक देशों के सबसे बड़े शत्रु हो गये और उनकी ध्वंसात्मक शक्ति को बहुत भयानक मूल्यों पर रोका जा सका।

भारत अथवा सहारा के दक्षिण औपनिवेशिक अफ्रीका के प्राकृतिक साधन-स्रोत जापान और जर्मनी के साधन-स्रोतों से कहीं अधिक हैं। इसके अतिरिक्त उनकी आबादी भी कहीं अधिक है और उनके हृदयों में अभाव-अभियोग की गहरी तथा टिकाऊ भावना भी है। साम्यवादी रूस और चीन का संकेतसूचक उदाहरण हमारी इस चिन्ता का मौलिक कारण नहीं है कि उनका आर्थिक विकास क्या रूप ग्रहण करेगा, बल्कि इससे उसकी अत्यावश्यकता और तत्परता को बल मिलता है।

किसी भी देश में औद्योगीकरण और आर्थिक विकास सर्वदा बड़े पैमाने पर उसके राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन के कारण होते हैं; परन्तु इस बातको बार-बार नहीं दुहराया जा सकता कि मार्क्स के विपरीत परिवर्तन के रूप का निर्णय औद्योगीकरण से नहीं होता।

विपरीत तथ्य साधारणतया ठीक हैं। विकासमान औद्योगिक समाज का रूप आर्थिक विकासों के साथ होने वाले सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों द्वारा निर्धारित होता है और ये तो विकल्प के प्रश्न हैं। विकास-प्रक्रिया की प्रत्येक अवस्था और स्थिति की पूर्ति उन साधनों द्वारा हो सकती है, जो प्रजा-तंत्रात्मक अथवा अप्रजातंत्रात्मक उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं।

कृषि-उत्पादन में वृद्धि के लिए कृषि का पुनर्गठन, देहाती और नगरीय आबादी की शिक्षा-दीक्षा, नागरिक सेवा और निजी नेतृत्व की गुटबन्दी की भावना तथा परम्पराएँ, भारी उद्योग या विकेन्द्रीकरण के बीच पूंजी का निर्धारण—इन सब का दो में से किसी भी प्रकार से उपयोग किया जा सकता है; या तो जनता को थोड़े से शासकों की इच्छा और सत्ता के अधिकाधिक अधीन बनाने के साधन के रूप में, अथवा प्रेरणा-शक्ति और स्वावलम्बन की आदतों के निर्माण, सहयोग और लोकतांत्रिक समझौते की संस्थाओं और राजनीतिक शक्ति तथा आर्थिक प्रगति के व्यापक आधार के साधनों के रूप में।

गति प्राप्त करने के उद्देश्य से किसी भी विकास-कार्यक्रम के लिए आवश्यक शक्ति और उत्साह, वर्गगत, जातिगत अथवा विदेशी के प्रति घृणा उत्पन्न करके ध्वंसात्मक रूप में पैदा किया जा सकता है अथवा राष्ट्रीय, सामुदायिक तथा व्यक्तिगत विकास के कार्यों में सहयोग की भावना पैदा करके रचनात्मक रूप में पैदा किया जा सकता है।

× × ×

सामन्तवाद के स्थान पर स्वतंत्रता, मानवीय गौरव तथा आर्थिक विकास की स्थापना, औपनिवेशिक क्रान्ति के इन तीन पक्षों को क्या मिलाया जा सकता है, अथवा दूसरों को प्राप्त करने के लिए एक या अधिक का वलिदान करना पड़ेगा ? कभी कभी ये अप्रासंगिक प्रतीत होते हैं।

तथापि उनमें से केवल एक या दो पर केन्द्रित करने से क्रान्ति अधिक से अधिक अपूर्ण ही रह जाती ह, क्योंकि जनता में उसकी जड़ें गहराई तक नहीं पहुँच पातीं और विना पूर्व सूचना के उसमें परिवर्तन की सम्भावना वनी रहेगी। पूर्ण लोकतांत्रिक क्रान्ति के इन सभी पक्षों को मिलाना ऐसा उलजलूल कार्य है, जिसकी सफलता पर कभी-कभी गांधी को भी शंका होती थी।

वाण्डुंग में इनके विभिन्न रूपों पर स्पष्टतः विभिन्न मात्रा में वल दिया गया था। सऊदी अरव साम्राज्यवाद के जवर्दस्त विरोध का उपदेश देता है और खुले आम सामन्तवाद को प्रश्रय देता है। स्याम में साक्षरता और स्वास्थ्य का स्तर ऊँचा है और दीर्घकाल से वहाँ स्वायत्त-शासन है, परन्तु उसकी राजनीति में अधिनायकवाद के तत्वों को अस्वीकार करना कठिन है, यद्यपि १९५५ में प्रजातंत्रात्मक सहयोग की दिशा में आयोजित कार्यक्रम की घोषणाएँ कुछ विश्वास दिलाती है। चीन की साम्यवादी क्रान्ति अनुचित 'यथास्थिति' के उन्मूलन की ऐसी प्रणाली पर आधारित थी, जिसने अपनी प्रक्रिया में चीनी जनता की राजनीतिक स्वतंत्रता की आशाओं को ध्वस्त कर दिया।

कदाचित् वाण्डुंग की सवसे वड़ी आशा इस साक्ष्य में थी कि एशिया-अफ्रीकी जगत का नेतृत्व, वाधाओं के वावजूद पूर्ण चतुर्भुजीय क्रान्ति की पूर्ति के लिए चिन्तित था। पूर्ण प्रजातंत्रात्मक स्वराज्य के निश्चित उद्देश्य ने उपनिवेशवाद-विरोधी निरर्थक नारों का स्थान ग्रहण किया और वाण्डुंग का जातिवाद-विरोध अव केवल कालों के विरुद्ध गोरों के भेदभाव की प्रचलित विचार-धारा तक ही सीमित न था। यह ठीक है कि प्रस्तावों में उस जातीय पृथक्करण की नीतियों और तदनुसार उनके पालन पर खेद व्यक्त किया गया, जो अफ्रीका और

विश्व के अन्य भागों के विशाल क्षेत्र में शासन और मानवीय सम्बंधों का आधार है। ऐसे जातीय भेदभाव को उन्होंने एक प्रकार का "सांस्कृतिक दमन" माना।

परन्तु प्रतिनिधियों ने यह स्वीकार किया कि जातीय भेदभाव अन्तर-राष्ट्रीय रोग ह। शायद इस बात से चिन्तित होकर कि जापानी प्रतिनिधि तत्सुनोसूके ताकासाकी की भाँति कुछ प्रतिनिधियों न "एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों के जातीय सम्बन्धों" के विषय में कहा था और यह जानकर कि इस प्रकार की विचारधारा को बाण्डुंग की भावना का द्योतक समझ कर पश्चिम भयभीत है, सम्मेलन ने स्पष्ट रूप से इस बात का खण्डन किया कि एशियाई-अफ्रीकी सहयोग की कल्पना अन्य राष्ट्रों के साथ शत्रुता अथवा पृथकता की भावना से की गयी है। इसने आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के साथ बढ़ते हुए सहयोग के लिए विशेष आकर्षण प्रस्तुत किया। उन्हें आमंत्रण नहीं मिला था।

जापानी प्रभुता का यह युद्धकालीन अनुभव था, जिसने इस क्षेत्र को गोरे साम्राज्यवाद की जगह भूरे, काले या पीले साम्राज्यवाद के खतरों से सतर्क कर दिया। एशिया और अफ्रीका में शताब्दियों तक योरोपियनों द्वारा जान-बूझ कर किये गये अपमान के कारण हुए, जातीय घावों की गहराई ने अधिकांश जनता को उन जापानी आक्रमणकारियों के स्वागत के लिए उद्यत कर दिया था, जो मुक्तिदाता के रूप में सामने आये थे।

मलाया प्रायद्वीप से सिंगापुर की ओर बढ़ती हुई जापानी सेना की गोलाबारी ने पश्चिम की अजेय सैनिक शक्ति का भंडाफोड़ कर दिया। नौसेना का यह शक्तिशाली अड्डा और एशिया में ब्रिटेन के गर्वपूर्ण शासन का द्वितीय प्रतीक हांगकांग एशियाई सेनाओं के हाथ में आसानी से आ गया। जनेवा में "एशिया एशियावालों के लिए" के प्रथम उपदेशक नहीं थे। यह वही नारा था, जिसकी प्रेरणा से जापानी सेनाएँ समस्त सुदूर-पूर्व में विजय पर विजय प्राप्त करती चली गयीं।

स्थानीय जनता ने, जो शताब्दियों से पश्चिमी अत्याचारों से मुक्त होने के लिए चिन्तित थी, सर्वत्र जापानियों का स्वागत किया। यदि इस सद्-भावना से लाभ उठाने के लिए जापानी काफी नम्र होते तो उन्होंने एशिया में अधिक स्थायी सफलता प्राप्त की होती; परन्तु यूक्रेन में नाजियों की भाँति उन्होंने भी मौका खो दिया।

कुछ ही सप्ताहों में यह स्पष्ट हो गया कि वे पुराने योरोपीय शासन के स्थान पर और भी अधिक क्रूर तथा उत्पीड़क शासन की स्थापना करना

चाहते थे। ज्यों ही जापानियों ने अपने आपको एक नयी प्रभुतावादी जाति के रूप में सामने रखा, त्योंही पुराना उत्साह ढीला पड़ने लगा और उनका कटु प्रतिवाद होने लगा। युद्ध के बाद एकमात्र एशियाई उपनिवेश फिलीपाइन्स की जनता को स्वतंत्रता का वचन दिया गया था और वहाँ युद्ध-काल में जापानियों का प्रतिरोध अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से किया गया था।

जापानी शिक्षा के अतिरिक्त, अपनी सीमाओं में ही व्याप्त विभिन्न प्रकार के जातिगत तथा वर्गगत भेदभाव के प्रति एशियाई देश बड़े ही सतर्क थे। उदाहरण के लिए, भारत में, जिसने अन्तरराष्ट्रीय मंचों से श्यामवर्ण लोगों के साथ समानता के व्यवहार की माँगों की इतनी वकालत की, अस्पृश्यता का गहरा धब्बा है। जाति के लिए संस्कृत शब्द 'वर्ण' का अर्थ है 'रंग'।

जैसा कि हम देख चुके हैं, गाँधी ने अपने अनेक अत्यधिक महत्वपूर्ण आन्दोलनों को अस्पृश्यता-निवारण पर निछावर कर दिया था। १९५० के भारतीय संविधान में उनके प्रयत्नों का सुफल प्राप्त हुआ, जो वहिष्कृत जाति के साथ भेदभाव का सरकारी तौर पर निषेध कर देता है और जिसे १९५५ में भारी जुर्माना करने के निश्चित कानून के द्वारा और भी मजबूत बना दिया गया। तथापि आदतें और सामाजिक संस्थाएँ धीरे-धीरे ही समाप्त होती हैं और जाति-व्यवस्था, विशेष रूप से गाँवों में, भारतीय शक्ति के निरन्तर शोषण के रूप में पड़ी हुई है।

इसलिए प्रतिनिधियों ने अपने ही देशों में मौजूद जातिवाद का चिन्ह तक मिटा देने के लिए एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों का दृढ़ संकल्प दुहराया और प्रतिज्ञा की कि इसके उन्मूलन के लिए अपने संघर्ष में उसी का शिकार बन जाने के खतरे से रक्षा के लिए वे अपने पूर्ण नैतिक प्रभाव का उपयोग करेंगे।

× × ×

औपनिवेशिक संघर्षण के बाद बाण्डुंग-सम्मेलन ने आर्थिक विकास की रचनात्मक समस्याओं पर सबसे अधिक बल दिया। स्याम के राजकुमार वान ने कहा कि मौलिक स्वतंत्रता और मानवीय अधिकारों के उपभोग के अतिरिक्त, मनुष्य को अपनी भौतिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करनी है। एशिया और अफ्रीका की अतीव महत्वपूर्ण आवश्यकता आर्थिक कल्याण है और यदि उनको भूख, दरिद्रता और रोगों के खतरे से सुरक्षित रखना है तो अफ्रीका और एशिया के लोगों का जीवन-स्तर ऊपर उठाना अत्यन्त आवश्यक है।

राजकुमार वान को ज्ञात था कि विश्व में ढाई अरब मानवप्राणियों में से ६० प्रतिशत लोग आर्थिक दृष्टि से अर्धविकसित देशों में रहते हैं और उनमें से अधिकांश का बाण्डुंग-सम्मेलन में प्रतिनिधित्व हुआ था।

उनके विचार से उनकी आर्थिक दशा बहुत हद तक उपनिवेशवाद से बँधी हुई थी। सही या गलत, उनके आर्थिक विकास में जानबूझ कर बाधा डालने, स्थानीय उद्योग तथा क्षेत्रीय व्यापार के अभाव, सन, चाय, रुई, टिन, मैंगनीज, नारियल तथा अन्य चीजों के निर्यात के लिए कतिपय अनिश्चित पश्चिमी बाजारों पर अधिकतर निर्भर रहने और उनके कुशल प्रशिक्षण के अभाव के लिए साम्राज्यवादी शासकों को दोषी ठहराया गया। बाण्डुंग में एशिया और अफ्रीका के प्रतिनिधि इस पुरानी कहावत को नहीं भूल सकते थे कि प्रत्येक योरोपीय औपनिवेशिक शक्ति ने स्कूलों की अपेक्षा जेलों का अधिक निर्माण किया।

इस प्रकार बाण्डुंग के सर्वप्रथम वक्तव्य में ही "एशिया-अफ्रीका के क्षेत्रों में शीघ्र ही आर्थिक विकास की अत्यावश्यकता" को स्वीकार किया गया। एशिया और अफ़्रीका के विचारशील नेता यह जानते थे कि उपनिवेशों के पुराने कुशासन को दोष देने से ही काम नहीं चलेगा, क्योंकि उन्हें और भी अनेक कठिन समस्याओं का सामना करना था।

नये प्रकार की निश्चयात्मक विचारधारा के आरम्भ के लिए आवश्यक एशिया-अफ्रीका की पारस्परिक टेकनिकल सहायता सम्बन्धी विस्तृत प्रस्ताव स्वीकार किये गये। आर्थिक विकास के उद्देश्य से एक विशिष्ट संयुक्त-राष्ट्र-निधि की स्थापना के लिए प्रार्थना की गयी और साथ ही एशिया और अफ़्रीका के लिए विश्व बैंक से अधिक साधन-स्रोत निर्धारित करने और वस्तु-व्यापार तथा मूल्य को स्थिर करने की भी माँग की गयी। प्रतिनिधियों ने एशिया और अफ्रीका के देशों के हेतु शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए आणविक शक्ति के विकास के विशिष्ट महत्व पर भी बल दिया।

नये प्रबल राष्ट्रवाद और उपनिवेश-विरोधी जातीय चेतना के संदर्भ म आर्थिक विकास की नयी माँगों का अर्थ होता है कि अविकसित जगत में न तो सच्चे क्षेत्रीय सहयोग का विकास होगा और न योरोप और अमरीका के लिए नये और सुव्यवस्थित आर्थिक योगदान ही सरल होंगे।

फिर भी, कुछ अपेक्षाओं के विपरीत, बाण्डुंग के प्रस्तावों में क्षेत्र से बाहर के देशों से आर्थिक सहयोग की, जिसमें विदेशी पूंजी का विनियोग

भी सम्मिलित है, वांछनीयता और आवश्यकता दोनों को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया।

ठीक ऐसे समय में, जबकि विज्ञान और टेक्नोलाजी ने उग्र राष्ट्रवाद को देश की भावना के प्रतिकूल बना दिया है, एशिया और अफ्रीका में दीर्घ विलम्बित राष्ट्रवाद का उदय इस क्रान्तियों की सबसे बड़ी विडम्बना है राजनीतिक एकता का उच्च स्तर और शान्ति-स्थापना में समर्थ विश्व-संघ आवश्यक प्रतीत होते हैं, क्योंकि प्रजातंत्रात्मक विकास तथा सुधार के किसी भी महत्वपूर्ण कार्यक्रम की सफलता के लिए शान्ति की नितान्त आवश्यकता है। तथापि शान्ति और आक्रामक राष्ट्रीय प्रभुसत्ता, ये दोनों ही जिनका एशिया और अफ्रीका के प्रबल नये राष्ट्र दावा कर रहे हैं, आज तक इतिहास में परस्पर विरोधी शब्द रहे हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका को एक शताब्दी की स्वाधीनता का लाभ प्राप्त रहा है, जिसके दौरान में वह सन्धियों और विश्व-संगठनों के झमेले से बच रह सकता था और अपने भीतरी मामलों पर अपना पूरा ध्यान दे सकता था वह विश्व को सलाह देता है कि किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए और परिणाम के दायित्व से बचना चाहिए, तथापि एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों के लिए इस तरह की पृथक्ता स्पष्टतः असम्भव है। कदाचित् बाण्डुंग में उनका एकत्र होना ही इस बात का प्रमाण है कि वे महसूस करते हैं कि विशाल क्षेत्रीय अथवा विश्व-एकता में उनके नये राष्ट्रवाद का किसी हद तक समन्वय, उनके भाग्य के लिए आवश्यक है।

सम्मेलन ने निश्चय किया कि, 'शान्ति और स्वतंत्रता अन्योन्याश्रित हैं', जिसका यही अर्थ है कि कहीं भी स्वतंत्रता का अभाव शान्ति के लिए खतरनाक है, ठीक वैसे ही जैसे बिना शान्ति के सर्वत्र स्वतंत्रता के विकास में बाधाएँ पड़ती हैं।

विश्व-शान्ति के उपायों के रूप में सम्मेलन ने एक प्रभावशाली अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण में "शस्त्रीकरण में कटौती और अणु-अस्त्रों की समाप्ति" के लिए अपील की और कहा कि अणु-शक्ति का उपयोग केवल शान्तिमय उद्देश्यों के लिए होना चाहिए, जो सर्वत्र जीवन-स्तर को उठाने में सहायक होकर "अधिक स्वतंत्रता" को संभव बना सके।

संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन अनेक अनुमोदित सिद्धान्तों में से सर्वप्रथम था। संयुक्त राष्ट्र संघ को, शान्ति-स्थापना में अधिक समर्थ बनाने के उद्देश्य से

सुदृढ़ बनाने के लिए विशेष कल्पनाशील प्रस्ताव नहीं प्रस्तुत किये गये, वल्कि अधिकांश एशियाई और अफ्रीकी जनता के लिए कुछ स्पष्ट वातों पर ध्यान दिया गया। सम्मेलन ने निश्चय किया कि संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता सबके लिए खुली होनी चाहिए और इसीलिए कम्बोडिया, लंका, जापान, जॉर्डन लाओस, लीबिया, नेपाल और संयुक्त वियतनाम को भी स्थान मिलना चाहिए।

सुरक्षा-परिषद में एशिया और अफ्रीकी क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व को अपर्याप्त वतलाया गया। एशियावासी यह कहते हुए कभी नहीं ऊवते कि संसार की दो तिहाई आवादी वाले एशियाई और अफ्रीकी क्षेत्रों का सुरक्षा-परिषद में प्रतिनिधित्व राष्ट्रवादी चीन-सरकार द्वारा हो रहा है, जो केवल ९० लाख लोगों पर शासन करती है और जिसे वाण्डुंग में नहीं बुलाया गया था।

सम्मेलन ने "प्रत्येक राष्ट्र के अपने अकेले या मिलकर, संयुक्त राष्ट्र संघ के नियमानुसार, आत्मरक्षा करने के अधिकार को स्वीकार किया", परन्तु सामूहिक सुरक्षा की ऐसी व्यवस्थाओं के विरुद्ध आगाह किया, जिनसे किसी वड़ी शक्ति के कुछ विशिष्ट स्वार्थो की सिद्धि होती हो।

इसने मनीला में स्थापित दक्षिण पूर्वी एशिया संधि संगठन (सीटो) में सम्मिलित होनेवाले राष्ट्रों को एक प्रकार की मान्यता प्रदान की, परन्तु यह उस क्षेत्र की सामान्य सुरक्षा की समस्या का पर्याप्त समाधान था। साम्यवादी चीन की उपस्थिति के कारण वाण्डुंग में शायद इससे अधिक समाधान की संभावना न थी; परन्तु क्षेत्रीय सुरक्षा के लिए क्षत्रीय संघ, जिसमें भारत जसे सभी तटस्थ राष्ट्र शामिल होते, शान्ति के लिए सचमुच एक महत्वपूर्ण योगदान होता।

समस्त क्षेत्र के विश्वविद्यालयों में एशियाई--अफ्रीकी अध्ययन के लिए संस्थाओं की स्थापना का वाण्डुंग-प्रस्ताव सचमुच अधिक घनिष्ठ क्षेत्रीय सौमनस्य और अतीत की प्रभावकारी गवेषणा की दिशा में एक अन्य मूल्यवान कदम था।

परन्तु वाण्डुंग में एक जागतिक दृष्टिकोण वनाये रखने का निरन्तर प्रयत्न होता रहा। जनरल रोमुलो ने अपने अन्तिम भाषण में कहा, "इस सम्मेलन की सफलता की माप इससे नहीं होगी कि हम अपने लिए क्या करते हैं, वल्कि इससे होगी कि हम समस्त मानव समाज के लिए क्या करते हैं।"

एशिया और अफ्रीकावासियों के अतिरिक्त, जो लोग केवल पर्यवेक्षण के लिए वाण्डुंग गये थे, वे व्यापक मानव समाज पर पड़ने वाले वाण्डुंग के